भारतीय कला

(BHARATIYA KALA)

[प्रारंभिक युग से तीसरी शती तक]

वासुदेवशरण अग्रवाल

AGRAWALA

आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, कला एवं
स्थापत्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पृथिवी प्रकाशन

वाराणसी—५

१९६६

विषय सूची

भूमिका

भारतीय कला में यहाँ के मस्तिष्क और हस्तकौशल का सर्वोत्तम प्रमाण पाया जाता है। भारतीय कला की सामग्री वैसी ही समृद्ध है जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। भारतीय कला के वातायन द्वारा हम यहाँ के शिल्प, मूर्तियों, चित्रों और खिलौनों का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सकते हैं और उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना एवं प्रतिभा से भी परिचित हो सकते हैं।

यद्यपि भारतीय कला विश्व कला के मंच पर अपना पद प्राप्त काफी देर से कर पाई किन्तु अब उसका सौन्दर्य और अर्थ विद्वानों और रसिकों के मन में पूरी तरह बस गया है। भारतीय कला और वास्तु के सम्बन्ध में कई इतिहास ग्रन्थ पहले लिखे जा चुके हैं। फर्गूसन, स्मिथ, कुमारस्वामी और परसी ब्राउन के लिखे हुए ग्रन्थ बहुगुण-विशिष्ट हैं और आज भी उनका सम्मान है। किन्तु अधिकांश वर्णनात्मक हैं और उनमें कला के अर्थों पर विचार प्रायः नहीं है। उनमें स्थापत्य और वास्तु-शिल्प का विचार अलग-अलग किया गया है। पिछले पन्द्रह वर्षों में एम० ए० कक्षाओं को भारतीय कला का अध्यापन कराते समय मैंने अनुभव किया कि भारतीय कला के नये तथा ऐसे इतिहास की आवश्यकता अभी बनी है जिसमें स्थापत्य और वास्तु दोनों का संयुक्त अध्ययन किया जाय जैसे कला-निर्माताओं ने अपने ध्यान में उनकी एक साथ कल्पना की थी। दूसरी बात मेरे मन में यह आई कि अवशेषों का केवल बाह्य वर्णन पर्याप्त नहीं। उसके साथ उनके भीतरी अर्थ पर विचार करना आवश्यक है जिससे वस्तुतः वे कला-कृतियाँ अस्तित्व में आई थीं। भारतीय कला के इस नए इतिहास में मैंने इन दोनों दृष्टियों का समावेश किया। इनके अतिरिक्त मैंने संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि भाषाओं की मूल शब्दावली का भी यथासंभव उपयोग किया जिससे इस बात का परिचय मिल सके कि वास्तु और स्थापत्य के निर्माता और जनता उन्हें किन नामों से जानते थे। इसके लिए कला की साहित्यिक पृष्ठभूमि की छान-बीन करनी पड़ी जिससे मुझे स्वयं भी बहुत लाभ हुआ और मैं कला-कृतियों की मानसिक पृष्ठभूमि के अधिक निकट पहुँच सका। भारतीय जनता की सांस्कृतिक चेतना में भारतीय कला के जो अर्थ किसी समय निहित थे और बहुत से उदाहरणों में जिनकी परंपरा लोक में चली आई है उन्हें कला और साहित्य के अन्योन्याश्रित सहयोग से अधिक स्पष्टता से पहचाना जा सका। इस प्रणाली का नगद लाभ यह हुआ कि प्राचीन साहित्य के सैकड़ों पारिभाषिक शब्द कला के इस इतिहास के लिए प्रयुक्त किए जा सके। यूनानी और रोमन कला के अध्ययन में इस परिपाटी से बहुत लाभ उठाया जा चुका है और वहाँ कोई देवमूर्ति, अलंकरण या मिट्टी के बर्तन-भाँडे ऐसे नहीं हैं जिनके मूल शब्दों की छान-बीन न की गई हो। भारतीय कला के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयत्न का आरम्भ श्री आनन्द कुमारस्वामी ने किया था और इससे उनके लेखों में नई चमक और रुचि भर गई। इस इतिहास में एक विशेषता और है। शुंग, आन्ध्र और कुषाण युग के लेखों से अनेक पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं जो उन युगों में प्रयुक्त होते थे जब उन-उन कलाकृतियों का निर्माण हुआ। साहित्य तथा लेखों से गृहीत कुछ शब्द उदाहरण के लिए ये हैं—घरमुख (चैत्य का मुहार), पानिय पोढ़ि (जल द्रोणि), द्विगर्भ (दो कोठों की गुफा), चतुष्पद पंक्ति, सिंह स्तम्भ, दर्पणा (आदर्श में मुख देखकर प्रसाधन करती हुई स्त्री मूर्ति), पद्मवर वेदिका (कमल के फुल्लों

से सजी हुई वेष्टिनी), परिचका सूची, आदि। साहित्य और कला की परिभाषाएँ तथ्यात्मक हैं। इस प्रकार की सैकड़ों परिभाषाएँ इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हैं। शब्द-सूची में उनका संग्रह किया गया है।

मैंने यह भी प्रयत्न किया है कि प्रत्येक युग से सम्बन्धित विशेष कलाओं की ओर ध्यान दिलाया जाय। इसका उद्देश्य यह था कि भारतीय कला के विकास-क्रम को समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जा सके।

इस अध्ययन की दूसरी विशेषता कला सम्बन्धी अभिप्रायों और अलंकरणों के विकास पर भी ध्यान देना है। उदाहरण के लिए भरहुत, बोधगया और मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण शाल-भञ्जिका मूर्तियों से लेकर कोणार्क के सूर्य मन्दिर के जंघा भाग की नाटकीय मुद्राओं में उत्कीर्ण स्त्री-मूर्तियाँ देश और काल में एक दूसरे से बहुत दूर हटी हुई हैं किन्तु उनकी परंपरा में एक सूत्र पिरोया हुआ है। उन्हें देवाङ्गना, माङ्गलिक कन्या, अलसा, सुरसुन्दरी, शालभञ्जिका, प्रेक्षणिका, नाटकस्त्री, मदनिका आदि नामों से अभिहित किया जाता था। इनके मूल में उद्यान-क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा की बहुरूपी मुद्राओं की प्रेरणा थी। इनकी साहित्यिक पृष्ठभूमि पाणिनि और जातकों से लेकर हेमचन्द्र तक पाई जाती है।

प्रत्येक युग की विशेषताओं और समस्याओं के अध्ययन में भारतीय दृष्टिकोण को प्रधानता देना मुझे उचित ज्ञात हुआ। इस पद्धति से मैं परम्परागत भारतीय सामग्री पर आश्रित साक्ष्य से इस ग्रन्थ में बहुत लाभ उठा सका। यदि कभी इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण हुआ तो इस प्रकार की सामग्री का और भी परिवर्धन किया जा सकेगा।

पहले अध्याय में ग्रन्थ का आरम्भिक अवलोकन है जिसमें देव मूर्तियों के अर्थों के विषय में संक्षिप्त ध्यान दिलाया गया है जिससे ज्ञात होता है कि कला के अभिप्राय धर्म और दर्शन से व्यतिरिक्त या हटे हुए न थे। कला का विशेष मूल्य इस बात में है कि वह मनोमय जगत् और भूतमय जगत् के मध्य में एक सेतु है। इस पुल पर चढ़कर हम जान सकते हैं कि मनुष्यों ने राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में एक ओर कितना सोचा था और दूसरी ओर कितना निर्माण किया था, जैसे विद्वान् लेखक ग्रन्थ लिख जाते हैं वैसे ही शिल्पी काष्ठ या चित्र में बहुत से अर्थों को नित्य बना जाते हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः" (ऋ०) मन्त्र के शुद्ध अर्थ को सारनाथ के स्तम्भ पर चरितार्थ देखा जा सकता है जिस पर दो हंस अंगूर की बेल लिए हुए हैं। उनमें से एक खा रहा है और दूसरा केवल देख रहा है। कला किसी विचार या कल्पना को दृश्य रूप देती है। कला का यही रहस्य है कि उसमें लोक की सांस्कृतिक परम्परा की व्याख्या होती है। भारतीय कला-तत्त्व के अनुसार कला स्वर्गिक भावों का पृथिवी पर अवतार है। बाह्य रूप कितना ही सुन्दर हो वह उसके पूरे मण्डल का अधोभाग है जिसमें उसके पूरे मण्डल का शेषांश भरा रहता है। इस प्रकार जो कला के मूर्त्त रूपों को अमूर्त रूप की पृष्ठभूमि में जानता है वही सच्चा जानने वाला है। गुप्त युग में शून्य भित्ति को अमाङ्गलिक या असुरों का स्थान समझा जाता था। अतः शिल्प या चित्र में लिखे हुए पत्रलता, पत्राङ्गुलि आदि अभिप्रायों से उसे सुन्दर बनाया जाता था। कला का उद्देश्य शोभा और माङ्गलिक दिव्य पदार्थों के अंकन द्वारा आरक्षा भी था। रानी यशोमती जब अपने प्रसूति गृह में लेटी थी तब कवि ने लिखा कि उन भित्तियों पर पत्रलता के अभिप्राय इसलिए बनाए गए कि उसके नेत्रों को सुख भी हो और देवों के सौंदर्य-दर्शन से रक्षा भी हो। कला का कोई भी प्रतीक कल्याण या मंगल का

सूचक है। इस प्रकार के १०८ मंगल चिह्नों की सूची हरिवंश (अध्याय १०९, ७४-१०३) और वास्तुरत्न कोष (पृ० ३३) में दी हुई है।

उदाहरण के लिए बुद्ध के जीवन के संबंध में ये प्रतीक हैं—माया के गर्भ में श्वेत हस्ती की अवक्रान्ति, बुद्ध का अपनी मातृ कुक्षि से तिरश्चीन जन्म, बुद्ध की सप्तपदी, बुद्ध का गरम और ठण्ढे पानी के सोतों से प्रथम स्नान, बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में जाना और वहाँ से सोने, चाँदी, और ताम्बे की तीन सीढ़ियों से पृथिवी पर आना, ब्रह्मा और इन्द्र देवताओं का उनका साथ देना, ऋषि काश्यप के आश्रम में अग्नि की ज्वालाएँ और जल की धाराएँ प्रकट होना, सहस्र बुद्ध चमत्कार इत्यादि। ये सब प्राचीन वैदिक अभिप्राय थे जिनका बौद्धों ने खुलकर उपयोग किया।

अध्याय २, प्रागऐतिहासिक युग—इसमें उन आदि मानवों के रहन-सहन और कला का विश्लेषण है जो पूर्व पाषाण युग और नूतन पाषाण युग में यहाँ की भूमि पर निवास करते थे। उपलब्ध सामग्री से सूचित होता है कि प्रागऐतिहासिक मानव कश्मीर से मद्रास तक फैला हुआ था। प्रागऐतिहासिक मानव के औजारों के लिए प्रयुक्त नई शब्दावली तो है ही किन्तु यहाँ हम दो वैदिक शब्दों की तरफ ध्यान दिलाना चाहते हैं—'अश्मन्मयी वाशी', तथा 'ताम्रमयी वाशी'—इन दोनों शब्दों का अर्थ आज तक ठीक नहीं समझा गया। हमारी समझ में इनका तात्पर्य अं० celt से है। वाशी दो प्रकार की होती थी, एक पत्थर की और दूसरी टाँगी। इन दोनों के नमूने प्रागऐतिहासिक अन्वेषण में प्राप्त हुए हैं और सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी उनके नमूने पाए गये। स्वधिति शब्द भी ऋग्वेद में आया है। यह कुठार का पर्याय था।

अध्याय ३, सिन्धुघाटी की कला—इस अध्याय में मातृदेवी की पहचान की गई है और यह सुझाव दिया गया है कि सिन्धुघाटी का निर्माण असुर जाति ने किया था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के आदर्श दुर्ग-विधान के जो दस अंग थे उनकी ओर पहली बार ध्यान दिलाया गया है और उनसे सूचित होता है कि वे उस भारतीय दुर्ग संन्निवेश के समान थे जिसका वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किया गया है। ये दस अंग इस प्रकार हैं—प्राकार, वप्र, द्वार, अट्टालक, महापथ, प्रासाद, आपण, पुष्करिणी, संथागार, और कोष्ठागार। इन अंगों में भारतीय दुर्ग रचना का पूरा रूप आ जाता है।

इसी अध्याय में सैन्धव मुद्राओं पर अंकित स्तम्भ की पहचान रुद्र-शिव के स्तम्भ से की गई है जिसके पक्ष में बहुत से सम्भाव्य प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। उसकी चोटी पर एक कटोरा या चमस और उसके ऊपर वेदिका चित्रित की गई है जो अग्नि प्रज्वलित करने की थी। यह स्मरण ही है कि अग्नि का ही रूप रुद्र-शिव था (अग्निर्वै रुद्रः)।

अध्याय ४ (अ), वैदिक कला और शिल्प—इस अध्याय की अधिकांश सामग्री वेदों के संहिता साहित्य से ली गई है जिसमें अनेक प्रकार के शिल्पों का उल्लेख है। अथर्ववेद में दो शाला सूक्त (अथर्व-३-१२, ९-३) हैं। उनकी पूरी सामग्री का भी उपयोग इस अध्याय में किया गया है। विशेषतः गृह निर्माण के लिए दारुशिल्प और काष्ठकर्म की जो सामग्री काम में आती है उसका भी ब्योरेवार वर्णन है।

अध्याय ४ (आ), कला में वैदिक प्रतीक—यह एक नया अध्याय है जिसमें मानव, पुष्प और पशुओं से संबन्ध रखनेवाले अनेक वैदिक प्रतीकों का अर्थ समझाया गया है। देवासुरम्, श्रीलक्ष्मी, कुमार, त्रिविक्रम, पूर्ण कुम्भ, यूप एवं कल्पवृक्ष के अर्थों की तरफ विशेष ध्यान दिलाना आवश्यक है।

अध्याय ५ (अ), महाजनपद युग की कला—इस अध्याय में उन अनेक प्रतीकों की व्याख्या है जो महाजनपद युग के जैन और बौद्ध साहित्य एवं कला में विकसित हुए थे। पाणिनि ने भी इनमें से कुछ का उल्लेख किया है। जनपदों में विकसित अनेक शिल्पों को जानपदी वृत्ति या केवल 'जानपदी' कहा गया है। ये शिल्प अनेक प्रकार की विद्याएँ थीं जिनमें निपुणता प्राप्त करने से पुरुष को विशेष सम्मान प्राप्त होता था। जानपदीषु विद्यातः पुरुष विशेषो भवति—निरुक्त। इस अध्याय में महाउम्मग्ग जातक की सामग्री के आधार पर जो राजप्रासाद में भित्तियों पर बने हुए चित्रों की व्याख्या की गई है उससे ज्ञात होता है कि भारतीय चित्रकला के इतिहास को कई शताब्दि पूर्व तक ले जाना संभव है। राजप्रासाद के उदयछन्द के वर्णन के लिए मैं श्री कुमारस्वामी के लेख का अनुगृहीत हूँ। पाली ग्रन्थों की सामग्री को जैन आगमों से पल्लवित किया गया है।

अध्याय ५ (आ), आहत मुद्राओं पर माङ्गलिक चिह्न—नामक अध्याय में भारतीय मुद्राओं से संग्रहीत चिह्नों का अध्ययन किया गया है। ७ वीं शती ई० पू० से १ शती तक वे इस देश में चालू थे। बहुविध पाषाण कला में भी उनको ग्रहण किया गया।

अध्याय ५ (इ), भारत और जम्बू द्वीप की कला—यह लगभग नया दृष्टिकोण और नया नाम है। श्री कुमारस्वामी ने जिसे पश्चिमी एशिया की कला का नाम दिया है यहाँ हमने उसके लिए जम्बूद्वीप की कला का नाम दिया है। और जम्बूद्वीप की भौगोलिक परिभाषा जो पुराणों में दी है भद्राश्व या चीन देश से शकद्वीप या ईरान-तुर्की और कुशद्वीप या अफ्रीका तक के एक देश पर ही लागू होती थी। इस अध्याय में जम्बूद्वीप की कला की भारतीय पृष्ठभूमि की ओर ध्यान दिलाया गया है।

अध्याय ६, शैशुनाग-नन्द युग की कला—इसमें प्राचीन और नवीन राजगृह के वास्तु या नगर विधान का वर्णन है। इसीका एक महत्त्वपूर्ण अंश मातृदेवी की चकियों से संबंध रखता है। इन चकियों को अंग्रेजी में Ring-stone कहने की चाल पड़ गई है। पर भारतीय परंपरा में इनकी संज्ञा श्रीचक्र थी और इनके द्वारा श्री देवी और मातृदेवी की पूजा की जाती थी। श्री देवी या श्री लक्ष्मी की प्राचीन पूजा यजुर्वेद (पुरुष सूक्त) एवं ऋग्वेद खिलसूक्त (५वाँ मण्डल) में वर्णित है। धर्म, कला और साहित्य में श्री पूजा की अटूट परंपरा पाई जाती है। भारतीय कला के इतिहास में इस मूर्ति का भरापूरा और सचित्र अध्ययन नहीं किया गया है। भारत में मही माता की जो पूजा ऋग्वेद से चली आती थी उसके सूत्रों की ओर विशेष ध्यान देना होगा। जैसा हमने अपनी 'प्राचीन लोकधर्म' पुस्तक में श्री लक्ष्मी का स्वरूप सप्रमाण उद्धृत किया है। विश्व के अनेक धर्मों में जो बड़ी मातृदेवी की परंपरा प्रचलित थी, भारतवर्ष भी उससे शून्य नहीं रहा।

अध्याय ७ (अ), मौर्यकला—इस अध्याय में चन्द्रगुप्त सभा नामक मौर्य राजप्रासाद का विशेष अध्ययन किया गया है। मौर्य आस्थान-मण्डप के विषय में युधिष्ठिर सभा का विशेष अध्ययन किया गया है। इसी प्रसंग में मौर्य कला के स्रोत और मौर्यकालीन चमक का विशेष अध्ययन किया गया है। इस प्रकार की ओप या चमक उस युग के भाण्डों की विशेषता थी जिन्हें अंग्रेजी में N. B. P. W. कहते हैं। उत्तरापथ के घृष्ट-मृष्ट भाण्ड इन्हें किसी समय कहा जाता था।

इसी अध्याय में सारनाथ के सिंहशीर्षक के छह विभागों पर बहुत ध्यान दिया गया है। सारनाथ का सिंहशीर्षक बुद्ध के महापुरुष रूप का साक्षात् अंकन है। इस विषय का ब्योरेवार वर्णन अपनी पुस्तक 'चक्रध्वज' (The Wheel-flag of India) में हमने किया है। उससे ज्ञात होता है कि सिंहशीर्षक, बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों की कल्पना का मूर्त रूप था। इसकी सिद्धि के लिए सैन्धव घाटी से उन्नीसवीं शती तक इस दीर्घकालीन परम्परा में ५० नये प्रमाण दिये गये हैं।

अध्याय ७ (आ), मौर्य लोक कला—इसमें यक्ष और नाग देवताओं के लोक धर्मों का इतिहास और उनकी मूर्तियों का वर्णन किया गया है। मौर्य, शुंग और कुषाण कला में इनकी मूर्तियों का बहुत महत्त्व रहा है।

अध्याय ८, शुंग कला—इस अध्याय में स्तूप के महाप्रतीक की व्याख्या की गई है। इसमें बौद्ध धर्म से लेकर ऋग्वेद के समय तक स्तूप की प्रतीक-परम्परा पर ध्यान दिलाया गया है। वैदिक यूप और बौद्ध स्तूप के पारस्परिक सादृश्य और तादात्म्य के सम्बन्ध में शतपथ ब्रा० और बौद्ध साहित्य की साक्षी की ओर पहली बार ध्यान दिलाया गया। महाचेतिय या महास्तूप की रचना सार्वजनिक एवं सार्वलौकिक आनन्द का विषय था। इस अवसर पर समस्त जनता अपने हार्दिक उल्लास का प्रदर्शन करती थी। राव-रङ्क सभी महास्तूप की पूजा करते थे। महापुरुष के रूप में जो स्वर्गिक ज्योति पृथिवी पर अवतरित हुई थी उसके प्रति सम्मान का प्रदर्शन सब का कर्तव्य था। उसकी पूर्ति स्तूप निर्माण और स्तूप पूजा के रूप में की जाती थी। महावंस नामक पाली ग्रन्थ में महास्तूप के निर्माण का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। उसमें नीचे की चौकी या अधिष्ठान से लेकर ऊपर की हर्मिका और छत्रावली तक के सम्बन्ध में अनेक पारिभाषिक शब्द आये हैं। उनका उपयोग यहाँ पहली बार किया गया है। उनसे सूचित होता है कि स्तूप की रचना एक विराट प्रयत्न समझा जाता था। स्तूप ईंट और पत्थर का ढेर मात्र न था, वह तो महापुरुष का दिव्य मूर्त रूप था। स्तूप के स्वरूप-सम्पादन में यक्ष, नाग, किन्नर, सुपर्ण, देव, लोकपाल, वृक्ष, आदि लोक धर्मों का भी सन्निवेश किया जाता था। अनेक छोटी-बड़ी धार्मिक मान्यताओं को जोड़-बटोर कर स्तूप का कलेवर बनाया जाता था। भरहुत, साँची, अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड के बड़े स्तूप मामूली घटना न थे। उनके पीछे सैकड़ों वर्षों की शिल्प परम्परा, सैकड़ों लोक विश्वास, असंख्य धन और जनता की सम्मिलित धार्मिक भावना छिपी हुई थी। स्तूप को ठीक तरह समझने के लिये इन सब दृष्टियों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस अध्याय में भरहुत और साँची के महास्तूपों का नया अध्ययन किया गया है। इसमें उत्तरकुरु स्वर्ग सम्बन्धी अनेक दृश्यों की ओर भारतीय कला के इतिहास में पहली ही बार ध्यान दिलाया गया है। उत्तरकुरु का वर्णन रामायण, महाभारत, जातक और अन्य साहित्य में प्राप्त होता है और उसके दृश्यों का अंकन शिलापट्ट एवं वेदिकास्तम्भों पर पाया जाता है।

अध्याय ९ (अ), पर्वतीय चैत्यघर और शिल्प—इस अध्याय में उड़ीसा की पर्वत गुफाओं के वास्तु और शिल्प का विस्तृत वर्णन है। रानी गुम्फा और गणेश गुम्फा के शिलापट्टों पर अंकित कहानियों की पहचान पहली ही बार की गई है। इनमें उदयन-वासवदत्ता की कथा सबसे महत्त्वपूर्ण है।

अध्याय ९ (आ), पश्चिमी भारत में बौद्ध पर्वतीय शिल्प—इस अध्याय में हीनयान युग के इतिहास में निर्मित हुए बौद्धों के चैत्यगृह और विहारों का विस्तार से वर्णन है। भाजा विहार के

मुखमण्डप में उत्कीर्ण दो बड़े दृश्यों की पहचान नये सिरे से की गई है, उनमें चक्रवर्ती सम्राट मांधाता का उत्तरकुरु प्रदेश में जाकर दिग्विजय करने का प्रदर्शन है। भाजा, कोण्डाने, पीतलखोरा, अजन्ता, बेडसा, नासिक, जुन्नार, कार्ले, कन्हेरी नामक स्थानों के बौद्ध विहार और चैत्य घरों का विस्तृत वर्णन देते हुए दिखाया गया है कि दो सौ ई० पूर्व से लेकर दो सौ ई० तक चार सौ वर्षों के हीनयान युग में पर्वतीय शिल्प का महान् आन्दोलन कितना प्रभावशाली था।

अध्याय १०, मथुरा की कुषाण कला—इस अध्याय में मथुरा के जैन और बौद्ध स्तूप और इनकी शिल्पकला का तथ्यात्मक वर्णन देने के अतिरिक्त बुद्ध की मूर्ति के आदि स्रोत और प्रथम बार रचे जाने के प्रश्न पर भी विस्तार से विचार किया गया। यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध मूर्ति की कल्पना और रचना मथुरा की शिल्पकला में हुई। मथुरा की धार्मिक परम्परा और कला परम्परा में ही बुद्ध मूर्ति का निर्माण संभव था। इसके ठोस प्रमाण यहाँ दिये गये हैं। अतः गन्धार में बुद्धमूर्ति के प्रथम निर्माण का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। मथुरा के भक्तिधर्म ने वैष्णव मूर्ति, बुद्ध मूर्ति और जैन मूर्ति को जन्म दिया। इन तीनों के तत्त्व अलग-अलग थे और मथुरा में ही थे, गन्धार में उनकी गन्ध भी न थी। यह सिद्ध करना असंभव है कि गन्धार में बुद्धमूर्ति का निर्माण हुआ हो। इस विषय में धर्म, कला, और पुरातत्त्व तीनों की साक्षी एक नक्के में पिरोई हुई है। हमारे अध्ययन की मुख्य रेखा यह है कि बुद्धप्रतिमा के एक-एक अंग को लेकर उसके स्रोत को ढूँढ़ा गया है। उससे पता लगा कि वे सब अंग शुद्ध भारतीय थे। केवल बुद्ध का तेजचक्र ईरान से लिया गया। चक्रवर्ती और योगी के लक्षणों के मिलाने से बुद्धमूर्ति को जन्म दिया गया, और वह भी उस समय जब भक्तिधर्म के फलस्वरूप उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। केवल छायामण्डल का ग्रहण ईरान देश से किया गया जहाँ दिव्य ज्योतिश्चक्र (ह्वर्र) या फर्र, संस्कृत स्वर, की कल्पना पहले से चली आती थी।

मथुरा कला के अन्तर्गत ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवमूर्तियों की नई सामग्री पहली बार यहाँ जोड़ी गई है।

मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर शालभंजिका नामक स्त्री-मूर्तियों की नितान्त नई व्याख्या यहाँ की गई है, जिसमें उनकी पहचान उद्यान-क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा सम्बन्धी नाना मुद्राओं से की गई है। देखिये मत्स्यपुराण (अध्याय २५५)।

अध्याय ११, गन्धार कला—इस अध्याय में सिन्धु से वंक्षु तक के विस्तृत प्रदेश में फूलने-फलने वाली गन्धार कला का ब्योरेवार वर्णन किया गया है। यह कला बहुमुखी थी। धार्मिक और सांस्कृतिक सहिष्णुता में इसका जन्म और विकास हुआ। भारतीय, यूनानी और ईरानी प्रभावों के आदान-प्रदान से गन्धार कला भरी हुई है। यहाँ के स्तूपों और विहारों से सहस्रों मूर्तियाँ पाई गई हैं। ये कुषाण काल में सलेटी पत्थर की हैं और गुप्तकाल में गचकारी और चूने की हैं। बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ, पांचिक और हारीती की मूर्तियाँ, यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ, विष्णु, सूर्य, कार्तिकेय आदि ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ गन्धार कला में पाई गई हैं। इनके अतिरिक्त यक्षों, नागों, साधु-सन्तों, दार्शनिक चिन्तकों, युवक, युवतियों की बहुसंख्यक मूर्तियाँ गन्धार कला में मिली हैं। गन्धार कला में बुद्धमूर्ति के जन्म का भूत बहुत दिनों तक व्यर्थ ही माना जाता था। पर अब इस भ्रम का अन्त समझना चाहिये क्योंकि इस पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिला। दिव्यावदान में भी

२

लिखा है कि बुद्धमूर्ति की सबसे पहली रचना मथुरा में हुई। इससे भी इस विवाद का अन्त हो जाना चाहिए। पर गन्धार कला के रचनात्मक महत्त्व, भौतिकता और उत्पादन शक्ति को किसी प्रकार कम नहीं आँका जा सकता। उसने ऐसी क्षमता दिखाई कि भारतीय, यूनानी, रोमन, ईरानी, मध्य एशियाई एवं चीनी प्रभावों के लिये अपना द्वार खोल दिया। और कला के सौन्दर्य की रक्षा करते हुए जितना जहाँ से लिया जा सका उसे लिया।

अध्याय १२, आन्ध्रप्रदेश के सातवाहन युगीन स्तूप—इस अध्याय में आन्ध्रप्रदेश के उन स्तूपों का वर्णन है जो द्वितीय शती ईसा पूर्व से तृतीय शती ई० तक सातवाहन और इक्ष्वाकुवंशी सम्राटों के एवं समृद्ध जनता के प्रयत्न और सहयोग से बनते रहे। अमरावती, नागार्जुनीकोण्ड के महान् स्तूपों पर प्राप्त लेखों से एवं महावंश के वर्णन से बहुत ही अच्छी पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त हुई है जिसका प्रथम बार उपयोग यहाँ किया गया।

कृष्णा नदी के तटवर्ती स्तूपों से प्राप्त तथा कथित संगमरमर की मूर्तियाँ ऐसी सुकुमार हैं मानों मक्खन में ढालकर बनाई गई हों। यह दिखाया गया है कि मगध, कलिंग, मध्य भारत, पश्चिमी भारत, और दक्षिणी भारत की प्रभावशालिनी कला-धारा आन्ध्र देश की ओर प्रवाहित हो रही थी। उससे आन्ध्र-स्तूपों में कला के नये अलंकरण और अभिप्रायों का जन्म हुआ और स्तूपों की आन्तरिक रचना का भी नया विकास हुआ।

अध्याय १३, भारतीय मिट्टी के खिलौने—भारतीय मिट्टी की मूर्तियों का विषय भी इतिहास के लिये नया है। मृण्मय मूर्तियों का देशकालिक विस्तार पत्थर की मूर्तियों जैसा ही है, अतः उसके काल-विभाग, शैली, युगानुसारी पृथक् रूपों का अध्ययन पहली बार विस्तार से किया गया है। मिट्टी के खिलौनों को दरिद्रों की कला कहा जाता है पर सुन्दरता का संदेश घर-घर पहुँचाने के लिये इससे सस्ता और अच्छा साधन नहीं है। सिन्धु घाटी से लेकर १८वीं शती तक भारतीय खिलौनों का इतिहास पाया जाता है। खिलौनों में अनेकजातीय विदेशी स्त्री-पुरुषों के चेहरे और धड़ अंकित मिले हैं जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिये बहुमूल्य हैं।

इस विषय पर एक बड़ा ग्रन्थ रचना है।

अध्याय १४, संस्कृत युग में प्रतीक और मूर्तियाँ—इस अध्याय में प्राचीन परम्परा में प्राप्त प्रतीक और उनके आधार पर नई मूर्तियों की कल्पना का अध्ययन किया गया। भारतीय धार्मिक विश्वासों में अनेक छुटभैये देवी-देवता चले आ रहे थे पर अब उनको परिनिष्ठित रूप दिया जाने लगा। ईसवी शती के आरम्भ में धर्म, मूर्तिशास्त्र और कला की परिभाषाएँ व्यवस्थित रूप लेने लगीं। पहले के अनेक देवी-देवताओं के वर्गीकृत लक्षणों में से विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, स्कन्द, श्री लक्ष्मी, दुर्गा आदि नये देवता और देवियों के परिनिष्ठित रूप व्यवस्थित किये गये। यह काम कैसे हुआ, इसका कुछ चित्रण इस अध्याय में पहली बार दिखाया गया है। भारत के धार्मिक इतिहास में यह बड़ी क्रान्ति थी जिसके सुनिश्चित प्रमाण भारतीय कला की देवमूर्तियों में सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिये सुपर्ण और लक्ष्मी की धार्मिक मान्यता विष्णु के साथ सम्बद्ध हो गई। गंगा और यमुना की पूजा को विष्णु और शिव मंदिरों के द्वार स्तम्भों पर गौण स्थान दिया गया। पद्म, चक्र और शंख की पूजा का सम्मिलन विष्णु मूर्ति के साथ हो गया। हरिवंश में एक सौ आठ माङ्गलिक चिह्नों का उल्लेख है। ये कुम्हार की मिट्टी

की भाँति हैं। उससे घूमते हुए चाक पर बहुत से नये मूर्तरूप बनते गये और उन मूर्तियों में पुराने एक या अधिक प्रतीक घुलते-मिलते गये। उनका विश्लेषण बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक है, और भारतीय कला के इतिहास को समझने के लिये प्राणतन्तु के समान है। यक्ष की स्वतन्त्र सत्ता बहुत कुछ समाप्त हो गई। वह बुद्ध और तीर्थङ्कर, कुबेर, शिव आदि देवों के परिवार का छोटा देवता बन गया। चार लोकपाल देवताओं का भी पहले जैसा बड़प्पन न रहा। इस प्रक्रिया का बढ़िया प्रमाण साहित्य में और मूर्तियों में बच रहा है। काश्यप संहिता के रेवती कल्प में सैकड़ों देव-देवियों की सूची है जो धार्मिक समन्वय के आन्दोलन में घिस-पिटकर एक हो गये। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपनी "प्राचीन लोक धर्म" नामक पुस्तक में किया है। जातहारिणी का विकास हारीती या रेवती के रूप में हुआ जिसकी मूर्तियाँ मगध से गन्धार तक मिलती हैं। नागदेवताओं का मेल बलराम के साथ हो गया और प्राचीन नागमह एवं संकर्षणमह एक दूसरे के साथ मिलकर एक हो गये हैं। पाँच सौ वर्षों तक (लगभग पहली शती ई० से ५वीं शती ई० तक) धार्मिक आचार्य और कलाकार शिल्पी इसी दृष्टि से मौलिक रचना का काम करते रहे। हर्ष का विषय है कि उनकी कृतियाँ आज भी बहुसंख्या में हमें प्राप्त हैं। इससे यह भी सूचित है कि जनता उनके साथ थी। लोक-मान्यताओं में रूढ़िवाद का अस्तित्व न था। स्त्री और पुरुष एक ही देवता के कई-कई रूप सुख से मान लेते थे। पुराण, आगम और संहिता ग्रन्थों में उस युग के धार्मिक समन्वय की सामग्री भरी हुई है। कला के इतिहास के लिये उसे अथाना होगा। कुषाण और गुप्तकाल के सांस्कृतिक इतिहास का यह महत्त्वपूर्ण पक्ष है। पुराने प्रतीक और नये रूपों की संघटना से ब्राह्मण देव-मन्दिर का जन्म हुआ। ब्राह्मण देव-गृह को साङ्गोपाङ्ग रीति से जानने के लिये इस दृष्टिकोण की व्याख्या आवश्यक है। गुप्तयुग की कला का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में करेंगे। मेरा विचार भारतीय प्रासाद शिल्प पर भी एक अध्याय यहाँ देने का था किन्तु जब मैंने उस विषय को लिखना शुरू किया तो वह एक पूरी पुस्तक ही बन गई। और अब 'भारतीय प्राचीन प्रासाद शिल्प' अलग छपाने का विचार है। भारतीय कला का यह इतिहास लिखने में मैंने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रन्थों से बहुत सहायता ली है और मैं हृदय से उन सबका ऋणी हूँ। मैंने भारतीय कला का १५ वर्षों तक अध्ययन-अध्यापन कराते समय निजी दृष्टिकोण और व्याख्या और विवेचन से बहुत अधिक काम लिया है। उसका दायित्व मुझ पर है। ग्रन्थ के अधिकांश रेखाचित्र मेरे शोध छात्र श्री शिवकुमार ने बनाए हैं। हाफटोन चित्रों का चुनाव मेरे सुपुत्र श्री पृथिवी कुमार ने किया है। ग्रन्थ की शब्द सूची बनाने, प्रेस कापी तथा प्रूफ इत्यादि देखने और उत्तरदायित्वपूर्ण संपादन का कठिन कार्य भी पृथिवी भाई ने पूरा किया। इन दोनों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

—वासुदेवशरण

फलक चित्रों का परिचय

५१. वही, मूल रूप में।

५२. पाटलिपुत्र का प्राचीन साखू के लट्ठों का बना हुआ परकोटा या शाल-प्राकार। बुलन्दीबाग, पटना। लगभग चौथी शती ईसवी पूर्व का अन्तिम भाग।

५३. अशोककालीन ओपदार स्तम्भ शीर्षक। रामपुरवा। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५४. वृष युक्त स्तम्भ शीर्षक। रामपुरवा। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५५. सारनाथ सिंह शीर्षक। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५६. लोमश ऋषि गुफा का मुहार (निकट से)। बराबर पहाड़ी, गया। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५७. पाषाण-मस्तक। पाटलिपुत्र। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५८. यक्ष–मूर्ति। बम्बई के निकट संभवतः प्राचीन शूर्पारक स्थान से। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

५९. यक्षी मूर्ति। दिल्ली के पास मेहरौली से। गुलाबी रंग का बलुआ पत्थर। तीसरी-दूसरी शती ईसवी पूर्व।

६०. द्विमुखी यक्षी मूर्ति। पश्चिम से सम्मुख दर्शन। दूसरी शती ईसवी पूर्व।

६१. वज्रासन या बोधिमण्ड। बोधगया। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

६२. पाषाण-वेदिका। पाटलिपुत्र। तीसरी शती ईसवी पूर्व।

६३. मथुरा के देव निर्मित जैन स्तूप की पुनः अभिरचित वेदिका। देखिए पृ० २१८ आदि। लखनऊ संग्रहालय।

६४. पाषाण-वेदिका। बोधगया। द्वितीय-प्रथम शती ईसवी पूर्व।

६५. भरहुत स्तूप की अभिरचित वेदिका। द्वितीय शती ईसवी पूर्व। कलकत्ता संग्रहालय।

६६. हँसतामुखी बालक। मृण्मय मूर्ति। पटना। द्वितीय शती ईसवी पूर्व।

६७. मृण्मय स्त्री मूर्ति। बुलन्दीबाग। द्वितीय शती ईसवी पूर्व।

६८ मृण्मय मातृदेवी। मथुरा।

६९. मृण्मय स्त्री मूर्ति की अंग यष्टि (अंगलेट)। गोलकपुर। लगभग दूसरी शती ईसवी पूर्व।

७०. सुदर्शना यक्षी। भरहुत स्तूप। कलकत्ता संग्रहालय।

७१. भरहुत स्तूप का वेदिका स्तम्भ। राष्ट्रीय संग्रहालय।

७२. खण्डित स्तम्भ जिसपर लंघक नटों द्वारा सुमेरु निर्माण का खेल अंकित है। भरहुत से प्राप्त। प्रयाग संग्रहालय।

७३–७४. वेदिका स्तम्भों के गोल परिचक्र। भरहुत। कलकत्ता संग्रहालय।

७५. साँची के महास्तूप के पूर्वी तोरण के बाँयें खम्भे का पूर्व-मुखी दर्शन।

७६. साँची के महास्तूप के दक्षिण द्वार-तोरण के दाहिने स्तम्भ का पूर्व-मुखी दर्शन।

७७. साँची के महाचेतिय के पूर्व द्वार-तोरण की मुँडेरी का उत्तर-पूर्व से दर्शन।

७८. साँची के स्तूप संख्या ३ के द्वार-तोरण का दक्षिणी दृश्य।

७९. साँची के महाचेतिय के द्वार-तोरण में बने हुए किंकर यक्षों की मूर्तियाँ।

८०. साँची के महास्तूप के पश्चिमी तोरण के दक्षिणी स्तम्भ पर निचले भाग में अङ्कित सिंह मूर्तियाँ।

८१. मृण्मय वृषभ। कौशाम्बी। शुंग।

८२. मृण्मय स्त्री मूर्ति की मध्य यष्टि। हस्तिनापुर। तीसरा युग।

८३–८४. मान्धाता का उत्तरकुरु प्रदेश में गमन। भाजा विहार। द्वितीय शती ईसवी पूर्व। दृश्यों की पहचान के लिए देखिए पृ० १९१–९२।

८५. भाजा के विहार सं० २० की उत्तरी भीत पर अलंकृत मूर्तियाँ। दूसरी शती ईसवी पूर्व।
८६. भाजा विहार सं० २० के पश्चिमाभिमुखी मण्डप की भीत पर उत्तर दिशा से पहली मूर्ति। दूसरी शती ईसवी पूर्व।
८७. भाजा के विहार सं० २० की पश्चिमाभिमुखी भीत पर जालीदार वातायन और कुंतधारी रक्षाधिकार-पुरुष। दूसरी शती ईसवी पूर्व।
८८. कार्ले के चैत्यघर का प्रवेशद्वार और मुखमंडल एवं सिंह स्तम्भ (पश्चिम की ओर से)। प्रथम शती ईसवी पूर्व।
८९. उकेरी हुई सज से युक्त शोभापट्टी। रानीगुम्फा, उदयगिरि। प्रथम शती ईसवी पूर्व।
९०. वृषारोही। मथुरा। प्राक् कुषाण काल।
९२-९३. दो पुरुष मूर्तियों की अंगयष्टि (अंगलेट)। संभवतः मोरा लेख के पंच वृष्णि वीरों में से दो की मूर्तियाँ। मोरा गाँव, मथुरा। प्रथम शती ईसवी पूर्व।
९४. पुरुष-मस्तक। मथुरा। कुषाण काल। बुदापेस्ट संग्रहालय।
९५. विपंची बजाती हुई स्त्री मूर्ति। कुषाण काल। मथुरा।
९६. स्त्री मूर्ति की मध्य-यष्टि। मथुरा। कुषाण। विजयसिंह नाहर संग्रह। इण्डियन म्यूजियम।
९७. मथुरा से प्राप्त मिथुन मूर्ति। पटना संग्रहालय। कुषाण काल।
९८. पुरुष-मस्तक। मथुरा। कुषाण काल।
९९. शुक क्रीड़ा में निरत युवती। मथुरा। कुषाण काल।
१००. मथुरा से प्राप्त स्त्री मूर्ति की मध्य यष्टि। बोस्टन संग्रहालय। कुषाण काल या उससे पूर्व।
१०१-१०४. तोरण की बँडेरी, बौद्ध, मथुरा संग्रहालय एम ३। कुषाण।
१०५. शोभापट्टी का खण्डित भाग जिसमें ऊपर मालाधारी देव और नीचे तपस्वी। मथुरा। कुषाण।
१०६. वेदिका स्तम्भ जिस पर युवा ब्रह्मचारी के रूप में ऋष्यशृंग अङ्कित है। मथुरा। कुषाण।
१०७-१११. उत्कीर्ण वास्तु शिलापट्ट। मथुरा। कुषाण।
११२. खड़ी हुई बोधिसत्त्व मूर्ति। कनिष्क के राज्यकाल में उत्कीर्ण। सहेत-महेत से प्राप्त। कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित।
११३. खड़ी हुई बोधिसत्त्व मूर्ति। कनिष्क के द्वितीय राज्य संवत्सर में उत्कीर्ण। कौशाम्बी से प्राप्त। प्रयाग संग्रहालय।
११४. बोधिसत्व की बैठी हुई मूर्ति। लेखयुक्त, कटरा से प्राप्त। कुषाण। मथुरा संग्रहालय। देखिये पृ० २४२–४।
११५. सिंहवाहिनी दुर्गा। मथुरा। कुषाण।
११६. कुबेर और उसकी दो पत्नियाँ, लक्ष्मी और हारीती। मथुरा। कुषाण।
११७. गेनीमीडी का धर्षण। मथुरा। कुषाण।
११८. अशोक वृक्ष। मथुरा। कुषाण।
११९. वेदिका सूची का परिचक्र या फुल्ला। मथुरा। कुषाण। बोस्टन संग्रहालय।
१२०–२२. चाँदी की पात्री। उत्तर-पश्चिम या गंधार से प्राप्त। सेटिस्लाव रोरिक संग्रह।
१२३. रजत पात्री जिस पर भारतमाता की मूर्ति अंकित है। लम्सकस से प्राप्त। इस्तम्बोल संग्रहालय। द्वितीय शती ई०। इस्तम्बोल संग्रहालय के सौजन्य से प्राप्त चित्र।
१२४–१२५. आभूषण। तक्षशिला से प्राप्त।

१२६. बुद्ध और उपासक । तख्तेबाही से प्राप्त । पेशावर संग्रहालय ।

१२७. तपस्या से कृश बोधिसत्त्व । सीकरी से प्राप्त । लाहौर संग्रहालय ।

१२८. तपस्वी और वज्रपाणि के साथ बुद्ध । गंधार । पेशावर संग्रहालय ।

१२९-१३१. गंधार से प्राप्त मस्तक । गचकारी का काम । चौथी-पाँचवी शती ई० ।

१३२. बोधिसत्त्व मैत्रेय । गंधार । गचकारी का काम । पाँचवी शती ई० ।

१३३. अलंकृत बुद्ध पादुका । अमरावती । आरंभिक युग । ब्रिटिश संग्रहालय के सौजन्य से ।

१३४. पूर्णघट पट्ट । अमरावती । आरंभिक युग ।

१३५. वेदिका स्तम्भ पर उत्कीर्ण दृश्य । अमरावती । द्वितीय युग । ब्रिटिश संग्रहालय के सौजन्य से ।

१३६. पुरुष की महाकाय मूर्ति का ऊर्ध्व भाग । काय परिमाण से अधिक बड़ा । नागार्जुनीकोंड । तीसरी-चौथी शती ई० ।

१३७. ऊर्ध्वकाय स्त्री मूर्ति । नागार्जुनीकोंड । तीसरी-चौथी शती ई० ।

१३८. यक्षी मूर्ति । नागार्जुनीकोंड ।

१३९. बोधिमण्ड और धर्मचक्र की पूजा । नागार्जुनीकोंड ।

यहाँ मुद्रित फोटो चित्रों के लिए मैं भारतीय पुरातत्त्व विभाग का अनुगृहीत हूँ । जो चित्र अन्यत्र से प्राप्त हुए हैं, उनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है ।
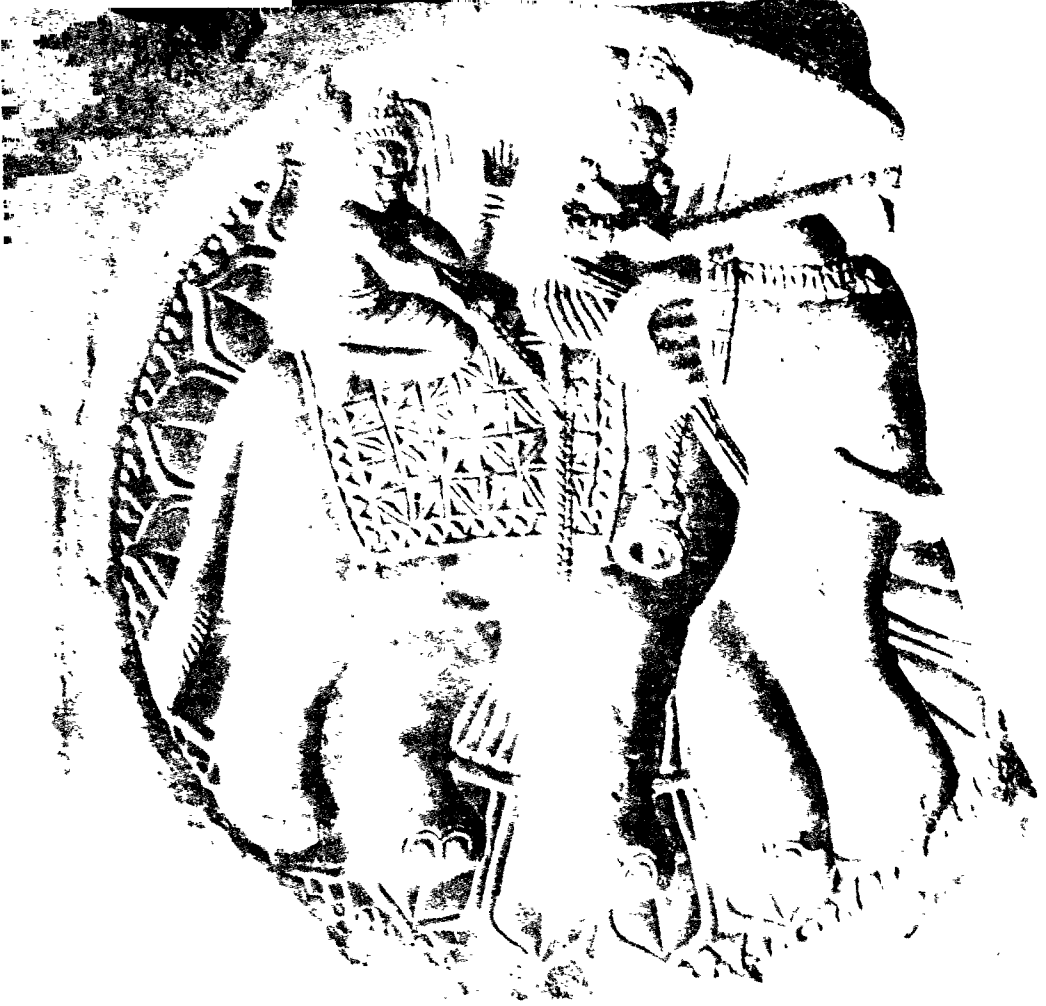
हस्त्यारूढ उदयन-वासवदत्ता, मथुरा २री श० ई० पू०

अध्याय १

१. आरम्भिक अवलोकन

स्थापना—भारतीय कला भारतवर्ष के विचार, धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जन-जीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। यहाँ के लोगों का रहन-सहन कैसा था, उनके भाव क्या थे, देव तत्त्व के विषय में उन्होंने क्या सोचा था, उनकी पूजा-विधि कैसी थी और पंचभूतों के धरातल पर उन्होंने कितना निर्माण किया था, इसका अच्छा लेखा-जोखा भारतीय कला में सुरक्षित है। वास्तु, शिल्प, मूर्तियाँ, चित्र, कांस्य प्रतिमा, मृण्मयी प्रतिमा, मृद्भाजन, दन्तकर्म, काष्ठकर्म, मणिकर्म, स्वर्णरजतकर्म, वस्त्र आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पाई जाती है। देश के प्रत्येक भाग में कला के निर्माण की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक युग से दूसरे युग में कलात्मक निर्माण के केन्द्र दिशा-दिशाओं में छिटकते रहे। किन्तु यह विविध सामग्री समुदित रूप से भारतीय कला के ही अन्तर्गत है।

भारतीय कला को दीर्घकालीन 'रूपसत्र' कहना उचित है जिसने देश के प्रत्येक भूभाग में अपना अर्घ्य अर्पित किया। इस रूपसमृद्धि में अनेक जातियों ने भाग लिया है किन्तु इसकी मूल प्रेरणा और अर्थ-व्यञ्जना मुख्यतः भारतीय ही है। जब भारतीय संस्कृति का प्रसार समुद्र पार और पर्वतों के उस पार हुआ तब भारतीय कला के रूप और उसके अर्थ भी उन-उन देशों में बद्ध-मूल हुए। सुभाग्य से वह सामग्री आज भी अधिकांश में सुरक्षित है और भारतीय कला के यशः-प्रवाह की कथा कहती है। द्वीपान्तर या हिन्देशिया से लेकर मरुचीन या मध्यएशिया तक का विशाल भूखण्ड भारतीय कला की मेघवृष्टि से उत्पन्न फुहारों से भर गया। वह आन्दोलन कितना गम्भीर और बलिष्ठ था, इस कल्पना से आज भी आश्चर्य होता है। भारतीय कला के सम्पूर्ण ब्यौरेवार अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के साथ मिलाकर उसे देखा जाय जिसकी सामग्री वेद, पुराण, काव्य, त्रिपिटक, आगम आदि नानाविध भारतीय साहित्य में पाई जाती है।

तिथि-क्रम—कला की यह सामग्री देश और काल दोनों में महाविस्तृत है। इसका आरम्भ सिन्धु उपत्यका में तृतीय सहस्राब्दि ईसवी पूर्व से होता है और लगभग पाँच सहस्र वर्षों तक इसका इतिहास पाया जाता है। इस तिथि-क्रम का लगभग सुनिश्चित आधार इस प्रकार है—

१—सिन्धु सभ्यता की कला—लगभग २५००-१५०० ई० पू०

२—वैदिक सभ्यता—लगभग २०००-१००० ई० पू०

३—महाजनपद युग—लगभग १२००-६०० ई० पू०

४—शैशुनागनन्द युग—लगभग ६००-३२६ ई० पू०

५—मौर्य युग—लगभग ३२५-१८४ ई० पू०

६—शुंग काल—लगभग १८४-७२ ई० पू०
७—काण्व वंश—लगभग ७२-२७ ई० पू०
८—वाह्लीक-यवन और मद्रक-यवन—लगभग २५०-१५० ई० पू०
९—क्षहरात-शक—लगभग प्रथम शती ई० पूर्व-३९० ई०
१०—सातवाहन वंश—लगभग २०० ई० पू०-२०० ई०
११—शक-कुषाण—लगभग ८० ई० पू०-दूसरी शती ई०
१२—आन्ध्र देश का इक्ष्वाकु वंश—तीसरी शती ई०
१३—गुप्त युग—लगभग ३१९ ई०-६०० ई०
१४—चालुक्य युग—लगभग ५५० ई०-६४२ ई०
१५—राष्ट्रकूट युग—लगभग ७५३ ई०-९७३ ई०
१६—पल्लव युग—लगभग ६०० ई०-७५० ई०
१७—चोल युग—लगभग ९००-१०५३ ई०
१८—पांड्य वंश—लगभग १२५१ ई०-१३१० ई०
१९—होयसल वंश—१२-१३वीं शती
२०—विजयनगर वंश—लगभग १३३६-१५६५ ई०
२१—उड़ीसा के गंग और केसरी वंश—११वीं से १३वीं शती
२२—मगध का पाल और बंगाल का सेन वंश—लगभग ९वीं से १२वीं शती
२३—गुर्जर-प्रतिहार वंश—७५०-९५० ई०
२४—चन्देल वंश—९००-१००० ई०
२५—गहड़वाल वंश—१०८५-१२०० ई०
२६—सोलङ्की वंश—७६५-१२०० ई०

कला के आन्दोलन एक समय जन्म लेकर फूलते-फलते और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। जल-तरङ्गों की भाँति वे अपना वेग दूसरे युग की प्रेरणाओं को सौंप कर विलीन हो जाते हैं। कला के तिथि-क्रम को इसी उदार भाव से देखना चाहिए। राजाओं के छत्र या नृपावली के पर्यवसान के साथ कला का प्रवाह ठप्प नहीं हो जाता। ऊपर जिस तिथि-क्रम का उल्लेख है उसमें सिन्धुघाटी से लेकर नन्दवंश के पूर्व तक भारतीय कला का आद्य युग है। तदुपरान्त मौर्य काल से हर्ष के समय तक उसका मध्य युग है जो उसके समुदीर्ण यौवन का युग है। इसके भी दो भाग हो जाते हैं—एक के अन्तर्गत मौर्य, शुंग, काण्व और सातवाहन युग की महान् कलाकृतियाँ हैं। इस पूर्व युग में कला के अंकुर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उठाव ले रहे थे। सारनाथ, भरहुत, साँची, बोधगया, अमरावती, भाजा उसी के केन्द्र हैं। इस युग के उत्तरार्ध में प्रथम शती ई० से लेकर लगभग ७वीं शती तक अर्थात् कनिष्क से हर्ष तक की कलाकृतियाँ आती हैं। यह भारतीय कला का मार्गी युग है। इसमें कला की प्रौढ़ता राष्ट्रीय स्तर पर देश के चारों खूँटों में फैल जाती है। उसका बाह्य रूप और भीतरी अर्थ दोनों राष्ट्रसम्मत स्तर पर मान्यता प्राप्त करते हैं। और न केवल देश में किन्तु विदेशों में भी भारतीय कला का प्रभविष्णु रूप व्याप्त हो जाता है। इन ७०० वर्षों में भारतवर्ष में कला, साहित्य, दर्शन और जीवन का सर्वोच्च विकास हुआ और जनता के मन में इस प्रकार की धारणा बनी—न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः। यह कथन बहुत अंशों में सत्य था। उस युग में भारत, चीन, ईरान और रोम इन चारों का एकाधिपत्य साम्राज्य था और इनके

शासक जगदेकनाथ समझे जाते थे। किन्तु इनमें भी भारत की श्री समस्त जम्बूद्वीप में सर्वोपरि थी।

हर्ष युग के बाद भारतीय कला का चरम युग आता है जिसे मध्यकाल (७००-१२००) भी कहते हैं। उसके भी दो भाग हैं, पूर्व मध्यकाल (७००-९०० ई०) और उत्तर मध्यकाल (९००-१२०० ई०)। काल के इस दीर्घ पथ पर भारतीय कला के सन्तत और दृढ़ पदचिह्न महान् कृतियों के रूप में हमारे सामने हैं। मानों सौन्दर्य का कोई विराट् देवता पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में चला हो और अपने पीछे नाना प्रकार की शिल्प, वास्तु, चित्रादि सामग्री भरता गया हो। इस कला की कथा एक ओर सरल है क्योंकि उसमें एक सूत्र पिरोया हुआ है, दूसरी ओर जटिल है क्योंकि उसके ताने-बाने में नानाविध तन्तुओं का समावेश है। भारतीय कला के पारखी इतिहासवेत्ता को चाहिए कि जहाँ जो स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय सन्दर्भ, वितान, रूप, शैली, अलंकरण, प्रभाव और अर्थ हैं उनको अलग पहचान कर उनकी व्याख्या करे।

प्राप्तिस्थान—प्राप्तिस्थान और तिथिक्रम ये दोनों कलावस्तु के अध्ययन में सहायक होते हैं। इनका आधार प्रख्यात्मक होता है और सावधानी से प्राप्तिस्थानसम्बन्धी सूचना का संग्रह करना चाहिए। अधिकांश अवशेषों और वस्तुओं के प्राप्तिस्थान विदित होते हैं। उनके द्वारा कला की वस्तुओं का सन्दर्भ सुविज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाषाण की प्रतिमाओं और वास्तु-खण्डों के लिए पत्थर की जाति और रंग से ही उनके सन्दर्भ का संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए सिन्धुघाटी में कीरथर पहाड़ी की खदानों का सफेद खड़िया पत्थर (भौलाभाटा या limestone) काम में लाया जाता था। मौर्य कला के लिए चुनार की खदानों का हल्के गुलाबी रंग का ठोस बलुहा पत्थर काम में लाया गया। मथुरा कला में मँजीठी रंग का चित्तीदार बलुहा पत्थर जो सीकरी, बयाना आदि स्थानों में मिलता है, प्रयुक्त किया गया। गन्धार कला में नीली झलक का सलेटी या पपड़िया या परतहा तिलकुट पत्थर काम में लाया जाता था। गुप्त कला में स्थानीय लल्छौंह या महावरी पत्थर का प्रयोग होता था। पाल युग में काले या गहरे नीले रंग का गयावाल तेलिया पत्थर (नीलोपल black basalt) काम में लाया गया। चालुक्य कला में पीले रंग का बलुहा पत्थर काम में आता था। अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड आदि के स्तूपों में विशेष प्रकार का श्वेत खड़िया पत्थर (white limestone) काम में आता था जिसे वहाँ की भाषा में अमृतशिला कहते हैं, और जो हमारे यहाँ के संगमरमर से मिलता है। इसी प्रकार उड़ीसा के मन्दिरों में राजारनिया या मुगनी (chlorite) पत्थर, कहीं कुरथा (granite) और कहीं दुसरिया पत्थर (laterite) और कहीं सेलखड़ी या संग-जराहत (alabaster) और कहीं संगमरमर (संस्कृत मुक्ता शैल) काम में लाया गया। इस प्रकार भिन्नभिन्न पत्थरों की चाल से कलात्मक सामग्री के स्थानीय भेदों का निर्देश मिल जाता है।

काल-निर्धारण—वस्तुओं का काल-निर्धारण प्रायः उत्कीर्ण लेखों के आधार पर किया जाता है। जैसे स्तूप, मन्दिर, शिलापट्ट या मन्दिर की चौकी पर उत्कीर्ण लेख सम्बन्धित सामग्री के काल की सूचना देता है। इस साक्षी के अभाव में शैली ही समय का संकेत देती है। पुरातत्त्व की खुदाई में प्राप्त सामग्री जैसे लेख, मुद्रा, मृत्पात्र, खिलौनों आदि को पूर्वापरीय स्तरों के आधार पर जाँच कर उनका समय निश्चित करते हैं। कलासामग्री के बहिरंग अध्ययन का उद्देश्य उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अवधारण करना है जिसके लिए प्राप्तिस्थान, समय और शैली इन तीनों के परिचय की आवश्यकता होती है।

अर्थ-व्यंजना—कलात्मक वस्तु की बहिरंग परीक्षा हमें उस बिन्दु पर ले जाती है जहाँ उसकी अन्तरंग परीक्षा या अर्थ की व्याख्या आरम्भ होती है। प्रत्येक कलावस्तु किसी मनोगत भाव का स्थूल प्रतीक है। अतएव सच्चे कला पारखी की रुचि कला द्वारा भाव या अर्थ की व्यंजना में है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला और काव्य के चार तत्त्व या अंग माने गए हैं—(१) रस, (२) अर्थ, (३) छन्द, और (४) शब्द (काव्य के लिए) या रूप (कला के लिए)।

रस—रस कला की आत्मा है। यह वह अध्यात्म गुण है जिसमें कृति का स्थायी मूल्य निहित रहता है। इसे मौलिक, आवश्यक और अतर्क्य दिव्य गुण कहना चाहिए जो प्रत्येक सच्ची काव्य-कृति या कलाकृति में पाया जाता है। मनुष्य का मन भावों का समुद्र है। भावों की समष्टि से ही रस का उदय होता है। मनुष्य के मन में जो नाना भाव जन्म लेते हैं उन्हें ही कला और काव्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। काव्यशास्त्र के पंडित आलंकारिकों के अनुसार काव्य में ८ या ९ रस माने गए हैं जिनके पृथक् पृथक् भाव हैं। कलाकृति से रसिक के मन में भावों का उद्वेग होता है। कवि और कलाकार सर्वप्रथम अपने मानस में रस या भावविशेष की आराधना करते हैं और फिर उसे शब्द या रूप के द्वारा स्थूल या इन्द्रियगाही माध्यम से व्यक्त करते हैं।

अर्थ—मन में रस का स्मरण होने पर कवि और कलाकार उस अर्थ या विषय को चुनते हैं जिसके द्वारा रस या भाव स्फुटित होते हैं। अर्थ का अभिप्राय वर्ण या आलेख्यगत विषय से है। भारतीय कला की अर्थसम्पत्ति के अन्तर्गत नाना देव और देवियों का विस्तार है जो विश्व की दिव्य और भौतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। इन देव-देवियों के विषय में वेदों और पुराणों में अनेक महदाख्यान आए हैं। उनका उद्देश्य ज्योति और तम, सत् और असत्, अमृत और मृत्यु के द्वन्द्व की व्याख्या करना है। प्राचीन परिभाषा में इस द्वन्द्व को दैवासुरम् कहा गया है, अर्थात् देवों और असुरों के शाश्वत संग्राम की परिकल्पना। ये संग्राम इतिहास की कालविजड़ित घटनायें नहीं किन्तु दिव्य भावों की नित्य लीलायें हैं जो देश और काल में सदा और सर्वत्र घटित होती हैं। बुद्ध, महावीर आदि महापुरुष और इन्द्र, शिव, विष्णु, कुमार आदि देव प्रकाश और सत्य के प्रतीक हैं। इसके विपरीत वृत्र, मार, महिष, त्रिपुरासुर और तारकासुर असत् या अन्धकार के प्रतीक हैं। अर्थ ही कला का सच्चा चक्षु है। प्रत्येक कला की कृति के ललाट पर उसकी अर्थ-लिपि अंकित रहती है। उसे उसी प्रकार पढ़ना चाहिए जिस प्रकार की अर्थवत्ता के लिए उसके निर्माताओं ने उसे लिखा था। भारतीय कला का सांस्कृतिक उद्देश्य जानने के लिए उसके अर्थ का परिचय आवश्यक है। अर्थ की जिज्ञासा हमें कला के प्रतीकात्मक स्वरूप के समीप ले जाती है। जैसे चक्र, पूर्णघट, स्वस्तिक, पद्म, श्रीलक्ष्मी, अष्टमंगल अथवा अष्टोत्तरशत मंगलचिह्न एवं गरुड़, नाग, यक्ष आदि कला के प्रतीकों द्वारा अर्थ की प्रतीति कलासम्बन्धी अध्ययन का समीचीन क्षेत्र है।

छन्द—पुराणों में कहा है कि इस विश्व की रचना छन्दज सृष्टि है। इसके मूल में एक विराट् छन्द, ताल, लय या मात्रा है। उसी छन्द से सौन्दर्यतत्त्व के लिए आवश्यक सामंजस्य और संपुंजन, संतुलन एवं संगति का निर्धारण किया जाता है। अतएव भारतीय कला का आवश्यक अंग तालमान है। विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रमाण से सुनियत है। वही कलाकार के लिए प्रमाण या नमूना बनती है। उसे वह ध्यान की शक्ति से चित्त में उतारता है और फिर अंकन, लेखन या वर्णन में लाता है।

रूप या शब्द—कला का चौथा अंग भाव को भौतिक धरातल पर लाना है। इसे काव्य के लिए शब्द और कला के लिए रूप कहते हैं। शिल्प, चित्र, वास्तु को व्यक्त करने के माध्यम अलग हैं। किन्तु वे सब भावों के मूर्त्त रूप हैं। उनकी भाषा प्रत्यक्ष होती है और वे इन्द्रियों के माध्यम से मन पर प्रभाव डालते हैं। कला के इस तत्त्व-चतुष्टय के सम्बन्ध में गोस्वामीजी का 'वर्णानामर्थ-संघानां रसानां छन्दसामपि' यह सूत्र स्मरणीय है।

चित्त का महत्त्व—मनोभाव और बाह्यरूप, इन दोनों को जोड़ने वाला माध्यम कला है। मन के भाव को अधिकतम सौन्दर्य के साथ मूर्त्त रूप में प्रगट करना ही कला है। कला के द्वारा मनोभावों की छाप भौतिक पदार्थों पर अंकित की जाती है। इसी विशेषता के कारण कला मानवीय हृदय के इतनी निकट होती है। जो कुछ मन में है वह कला में आता है किन्तु सर्वातिशायी सौन्दर्य गुण के साथ। जैसे मधुर संगीत से श्रोत्र वैसे ही रूप से नेत्र तृप्त होते हैं। वे भाव हृदय में पहुँच कर विचित्र प्रकार के सूक्ष्म रस को उत्पन्न करते हैं। सच्चा कला-पारखी, रसिक, सहृदय या विचक्षण कला के सौरभ का देर तक अनुभव करता है और उसके अमृत-आनन्द का पान करता है। इस प्रकार कला-सौन्दर्य से मुग्ध हो जाने की जो मानसी शक्ति है उसे ही संवेग कहते हैं।

सच्ची कला एक शाश्वत रूपसत्र है। उसका सौन्दर्य छीजता नहीं। उसके लावण्य की ध्वनि फिरफिर कर मन में आती है। समस्त कला मानुषी शिल्प है। किन्तु वह देव शिल्प की अनुकृति है। कलाकार के हृदय में जो दैवी प्रेरणा आती है वही शब्द और रूप एवं अर्थ को दिव्य सौन्दर्य से प्लावित कर देती है।

अलंकरण—भारतीय कला अलंकरण-प्रधान है। आरम्भ से ही कलाकारों ने अपनी कृतियों को अनेक भाँति के अलंकरणों से सज्जित करने में रुचि ली। वे अलंकरण या साज-सज्जा के अभिप्राय तीन प्रकार के हैं—(१) रेखाकृतिप्रधान, (२) पत्रवल्लरी प्रधान और (३) ईहामृग या कल्पनाप्रसूत पशु-पक्षियों की आकृतियाँ। इन अभिप्रायों के मूल रूप प्राकृतिक जगत से लिए गए हैं किन्तु कलाकारों ने अपनी कल्पना के बल पर उन्हें अनेक रूपों में विकसित किया है। कहीं गौण आकृति के रूप में, कहीं मूल अर्चा या प्रतिमा को चारों ओर से सुसज्जित करने के लिए, कहीं रिक्त स्थान को रूपाकृति से भर देने के लिए अलंकरणों का विधान किया गया है। उनका उद्देश्य कला में सौन्दर्य की अभिवृद्धि है। किन्तु शोभा के अतिरिक्त अभिप्रायों के दो उद्देश्य और थे, एक तो आरक्षा या मंगल के लिए, दूसरे विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए। इन अलंकरणों को भारतीय परिभाषा में मांगल्य-चिह्न कहा गया है, और उनकी रचना का द्विविध उद्देश्य माना है—शोभनार्थ एवं आरक्षार्थ। शोभा या सौन्दर्य का उद्देश्य तो स्पष्ट ही है। आरक्षा का तात्पर्य है अमंगल या अशुभ से मुक्ति। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार शून्य या रिक्त स्थान में असुरों का वासा हो जाता है किन्तु यदि गृहादिक आवास या देवगृह में मांगलिक चिह्न लिखे जाँय तो दैवी श्री और रक्षा उस स्थान में अवतीर्ण होती है। स्वस्तिक, पूर्णघट या कमल के फुल्ले (पदुमक) को जब हम देखते हैं तो उनसे नाना प्रकार के मांगलिक अर्थ मन में भर जाते हैं। इस प्रकार के मांगलिक चिह्न अनेक हैं। वे सब भगवान की विभूतियों के कलात्मक रूप हैं। उनमें से इच्छानुसार एक या अनेक का वरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक गजचिह्न इन्द्र के श्वेत ऐरावत का द्योतक है, अश्व उच्चैःश्रवा अश्व का प्रतीक है जो समुद्रमंथन से उत्पन्न हुआ था और स्वर्गलोक का मांगलिक पशु है। सूर्य ही तो वह विराट अश्व है जो काल या संवत्सर के रूप में सबके जीवन में प्रविष्ट है। जब हम गौ का अलंकरण

उत्कीर्ण करते हैं तो उस अदिति संज्ञक देवमाता के दर्शन करते हैं जिसे वेदों में गौ कहा गया है। ऐसे ही नर रूप में गौ वह वृषभ है जो इन्द्र या रुद्र का रूप है। इस प्रकार भारतीय कला के सुन्दर अभिप्राय धर्म और संस्कृति की पृष्ठभूमि में सार्थक हैं। गुप्तयुग में पत्रलता की सरल और पेचीदा आकृतियाँ बनाने की बहुत प्रथा थी। उनके कई अच्छे नमूने धमेख स्तूप के आच्छादन-शिलापट्टों पर सुरक्षित हैं। एक मूल से उठकर लताओं के प्रतान पेचक बनाते हुए कहीं से कहीं जा मिलते हैं एवं वल्लरियों का वह बिखरा हुआ किन्तु संश्लिष्ट रूप नेत्रों को अत्यन्त प्रिय लगता है। उससे कला को नई रमणीयता प्राप्त होती है। इस प्रकार की पत्ररचना से उत्कीर्ण एक शिलापट्ट का भी बहुत महत्त्व समझना चाहिए। इसका मूल भाव यही था कि प्रकृति की जो विराट् प्राणात्मक रचनापद्धति है उसी के अंग-प्रत्यंग पशु-पक्षी, वृक्ष और फल-फूल, यक्ष, वामन, कुब्जक, मनुषादि हैं। सच्चा मनुष्यजीवन वही है जो इन सब में रुचि लेता है। बाणभट्ट ने लिखा है कि रानी विलासवती के प्रसूतिगृह की भित्तियों को पत्रलताओं की मांगलिक आकृतियों से भर दिया गया था जिन पर दृष्टि डालने से रानी के नेत्रों को सुख मिलता था और जिनके द्वारा आसुरी शून्यता से उसकी रक्षा होती थी। गुप्तकालीन कला, शिल्प, चित्र और स्थापत्य इस प्रकार के अलंकरणों से बहुत भरे हुए हैं। कुषाण काल की कला ईहामृग या विकटाकृति पशुओं से भरी हुई है क्योंकि इस प्रकार के ऐंठे-गैंठे शरीरवाले पशुओं में शकों को स्वयं बहुत रुचि थी।

सांस्कृतिक जीवन—भारतीय कला की एक विशेषता उसमें अंकित सांस्कृतिक जीवन की सामग्री है। राजा और प्रजा दोनों के ही जीवन का खुल कर चित्रण किया गया है। कला मानों साहित्यिक वर्णनों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। कोई चाहे तो कला की सामग्री से ही भारतीय जीवन और रहन-सहन का इतिहास लिख सकता है। भारतीय वेशभूषा, केशविन्यास, आभूषण, शयनासन आदि की सामग्री चित्र, शिल्प आदि में मिलती है। छोटी मिट्टी की मूर्तियाँ भी इस विषय में सहायक हैं। उनमें तो सामान्य जनता को भी स्थान मिला है। भरहुत, साँची, अमरावती, नागार्जुनीकोंड आदि के महान स्तूपों पर मानों जनता के जीवन की शतसाहस्री संहिता ही लिखी हुई है। भारतीय कला सदा जीवन को साथ लेकर चली है। अतएव उसमें समसामयिक जन-जीवन का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

धार्मिक जीवन—देश में समय-समय पर जो महान् धार्मिक आन्दोलन हुए हैं और जिन्होंने लोकजीवन पर गहरा प्रभाव डाला उनसे भी कला को प्रेरणा मिली और उनकी कथा कला के मूर्त्त रूपों में सुरक्षित है। इस विषय में कला की सामग्री कहीं तो साहित्य से भी अधिक सहायक है। यक्षों और नागों का बहुत अच्छा परिचय भरहुत, साँची और मथुरा की कला में मिलता है। इसी प्रकार उत्तरकुरु के विषय में जो लोकविश्वास था उसका भी उत्साहपूर्ण अंकन भाजा, भरहुत, साँची आदि में हुआ है। मिथुन, कल्पवृक्ष, कल्पलता आदि अलंकरण उसी से सम्बन्धित हैं जिनका वर्णन जातक, रामायण, महाभारत आदि में आया है। दुकूल वस्त्र, पनसाकृति पात्रों में भरा हुआ उत्तम मधु, आम्राकृति पात्रों में भरा हुआ लाक्षारस, सिर, कान, ग्रीवा, बाहु और पैरों के आभूषण, एवं स्त्री-पुरुषों की मिथुन-मूर्त्तियाँ—सबका जन्म कल्पवृक्ष और कल्पलताओं से दिखाया गया है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति का समस्त जीवन ही एक कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में वह अपनी इच्छा के अनुसार फूलता फलता है। प्रत्येक का मन ही महान् कल्पवृक्ष है, कल्पना या संकल्प जिसका सुन्दर रस है।

कला के प्रतीकात्मक विषय—भारतीय कला के जो वर्ण्य विषय हैं वस्तुतः उनका महत्त्व सबसे अधिक है। उनमें भारतीय जीवन और विचारों की ही व्याख्या मिलती है। भारतीय जीवन की पूरी छाप कला पर पड़ी है। इसकी एक विशेषता तो यह थी कि सामान्य जनता के धार्मिक विश्वास कला में बुद्ध, महावीर, शिव और विष्णु के उच्चतर धर्मों के साथ मिल कर परिगृहीत हुए। कोई भी धर्म जनता के विश्वासों से इतना ऊपर नहीं उठ गया कि उनमें आकाश-पाताल का अन्तर हो जाय और वे एक दूसरे से अलग जा पड़े। भारतीय धर्म की पूरी बारहखड़ी में एक ओर बुद्ध, रुद्र-शिव या नारायण-विष्णु का तत्त्वज्ञान भी है और दूसरी ओर उन अनेक देवताओं की पूजा मान्यता भी है जो माताभूमि से सम्बन्धित थे और जिन्हें मह, व्रत या यात्रा कहा गया है, जैसे यक्षमह, नागमह, थूपमह, नदीमह, सागरमह, धनुर्मह चन्दमह, सूरुजमह, इन्द्रमह, खन्द (स्कन्द) मह, रुद्रमह, रुक्खमह, चेतियमह, आदि। देवपूजा के ये प्रकार जैसे लोक में थे वैसे ही कला में भी अपनाए गए। इस प्रकार महाजन और सामान्यजन दोनों की धार्मिक मान्यताओं का समादर भारतीय कलाओं में हुआ।

बुद्ध—ऐतिहासिक गौतमबुद्ध का जीवन जैसा भी तथ्यात्मक रहा हो कला में लोकोत्तर बुद्ध का जीवन ही लिया गया है और उसका घनिष्ठ सम्बन्ध उन प्रतीकों से था जो मानवीय अर्थों से ऊपर दिव्य अर्थों की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए, तुषित-स्वर्ग से बुद्ध की अवक्रान्ति, श्वेत हस्ती के रूप में मायादेवी को स्वप्न और गर्भ-प्रवेश, माता की कुक्षि से तिरश्चीन जन्म, सप्तपद, नन्दोपनन्द नागों द्वारा प्रथम स्नान, चतुर्महाराजिक देवों के अर्पित चार पात्रों का बुद्ध द्वारा एक पात्र बनाया जाना, अग्नि और जल सम्बन्धी प्रातिहार्य या चमत्कार का प्रदर्शन, नलगिरि नामक मत्त हस्ती का दमन, सहस्रबुद्धात्मक रूप का प्रदर्शन, त्रिपरिवर्त द्वादशार धर्मचक्र का प्रवर्तन, त्रयस्त्रिंश देवों के स्वर्ग में माता को धर्मोपदेश, सोने, चाँदी, और ताँबे की सीढ़ियों से पुनः पृथ्वी पर आना इत्यादि कला के अंकन बुद्ध के स्वरूप के विषय में प्रतीकात्मक कल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक बुद्ध से न होकर लोकोत्तर अर्थात् बुद्ध के दिव्य स्वरूप से है।

शिव—सिंधुघाटी से लेकर ऐतिहासिक युगों तक लिंगविग्रह या पुरुषविग्रह के रूप में शिव का अंकन पाया जाता है। इन दोनों का विशेष अर्थ भारतीय धर्म और तत्त्वज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। एक ओर लोकवार्त्ता में प्रचलित शिव के स्वरूपों को ग्रहण किया गया किन्तु दूसरी ओर उनके साथ नये-नये अर्थों को जोड़ कर उन्हें धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नई प्रतिष्ठा दी गई। तत्त्व का चिन्तन करने वाले आचार्य और कलाकार दोनों ने प्रीतिपूर्वक समान उद्देश्य की पूर्ति की। उदाहरण के लिए, कला में शिव के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—पशुपति, अर्धनारीश्वर, नटराज, कामान्तक, गंगाधर, हरिहर, यमान्तक, चन्द्रशेखर, योगेश्वर, नन्दीश्वर, उमामहेश्वर, ज्योतिर्लिंग, रावणानुग्रह, पंचब्रह्म, दक्षिणामूर्ति, अष्टमूर्ति, एकादशरुद्र, मृगव्याध, मृत्युंजय आदि। कला के इन रूपों की व्याख्या भारतीय धर्मतत्त्व में प्राप्त होती है और यदि ठीक प्रकार से देखा जाय तो कला और धर्म का एक ही स्रोत जान पड़ता है।

देव—भारतीय कला देवतत्त्व के चरणों में एक समर्पण है। यूप, स्तूप एवं प्रासाद या देवगृह में सर्वत्र देवता निवास करते हैं। स्तूप की हर्मिका, मन्दिर का गर्भगृह एवं यूप का ऊपरी भाग ये तीनों देवसदन हैं। रूपों में भेद होने पर भी अर्थ एक ही है। एक देवतत्त्व अनेक देव और सिद्ध

योनियों के रूप में प्रकट होता है। गन्धर्व, अप्सरा, कुम्भाण्ड, नाग, यक्ष, नदी, देवता, सिद्ध, विद्या-धर आदि जितने अंतर देवता हैं वे सब एक ही महान देव के विभिन्न रूप हैं।

रूप और अर्थ की एकता—भारतीय कला के अध्ययन के कई दृष्टिकोण हो सकते हैं, जैसे पुरातत्त्वगत सन्दर्भ का निश्चय, निर्माण की विधि, शैली, तिथिक्रम, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सर्वोपरि उस कलावस्तु का प्रतीकात्मक अर्थ। जैसे प्लैटो के सौन्दर्यतत्त्व में, वैसे ही भारतीय सौन्दर्यतत्त्व में भी अर्थ का सर्वोपरि महत्त्व है। वाह्य रूप का भी निजी महत्त्व है, किन्तु वह भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। रूप को शरीर कहा जाय तो अर्थ कला का प्राण है। कालिदास ने शब्द या रूप को जगन्माता और अर्थ को जगत्पिता कह कर कला की सर्वाधिक अभ्यर्थना की है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

जो जगत के माता-पिता हैं वे ही कला के अर्थ और रूप के जनक-जननी हैं। अर्थ अमूर्त लोक का और रूप मूर्त जगत का प्रतिनिधि है। दोनों ही भगवान विष्णु के दो रूप हैं। एक को परमरूप और दूसरे को विश्वरूप कहा गया है (विष्णु पुराण ६।७।५४)। समस्त विश्व के नाना पदार्थों के मूल में अर्थतत्त्व ही नियमित है जिसे भावना कहते हैं; अर्थात् मनुष्यों के हृदय में जो मनोभाव रहते हैं वे ही कला और साहित्य में मूर्त होते हैं। यह भावना तीन प्रकार की होती है—

(१) **ब्रह्म भावना**—जिसका तात्पर्य है विश्वात्मक, परम, एक और अभिन्न मनोभाव जो ब्रह्म के समान निरपेक्ष और सर्वोपरि है। वही तो सब रसों और मनोभावों का मूल स्रोत है।

(२) **कर्म भावना**—उच्चतम देवों से लेकर मनुष्य एवं इतर प्राणियों तक के जो प्राकृत मनोभाव हैं वे इसके अंतर्गत आते हैं।

(३) **उभय भावना**—इसमें विश्वात्मक ब्रह्मतत्त्व और मानुषी कर्म इन दोनों का संयोग आवश्यक है। केवल कर्म भावना पर्याप्त नहीं है। यदि कला की सीमा वहीं तक हो तो कला का सोता सूख जायगा और वह फोटू चित्रों के समान निर्जीव ठठरी रह जायेगी। कला प्राणवन्त तभी बनती है जब उसके रूपात्मक पार्थिव शरीर में भावात्मक देवांश प्रवेश करता है। कलात्मक रूप में भावात्मक देव की प्रतिष्ठा ही कला की सच्ची प्राणप्रतिष्ठा है। मानुषी कर्म के साथ ब्रह्मज्ञान के सम्मिलन से ही राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर बनते हैं जो कला के सच्चे आराध्य हैं।

कला के रूपों के मूल में छिपे हुए सूक्ष्म अर्थ का परिचय प्राप्त करने से कला की सौन्दर्यानुभूति पूर्ण और गम्भीर बनती है यही भारतीय मत है। अध्यात्म के बिना केवल सौन्दर्य या चारुतत्त्व सौभाग्यविहीन है। उस अवस्था में कला की स्थिति उस स्त्री के समान है जो अपना पति न पा सकी हो। केवल रूप को कवि ने निन्दित कहा है, किन्तु अध्यात्म अर्थ के साथ वही पूजनीय बन जाता है। विश्वरूपों के भीतर जो भगवान का अध्यात्म रूप है उसी के ध्यान से आत्मशुद्धि होती है। जैसे अग्नि घर में प्रविष्ट होकर उसे दग्ध कर देता है वैसे ही कला के आधार से चित्त में जो भाव अनुप्राणित या प्रेरित होते हैं उनसे मन का मैल हट जाता है—

तद्रूपं विश्वरूपस्य तस्य योगयुजा नृप ।
चिन्त्यमात्मविशुद्धयर्थं सर्वकिल्बिषनाशनम् ॥
यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ॥
विष्णु पु० ६।७।७३-४

कलाकार और रसिक दोनों केवल ध्यान और मन की शक्ति से ही कला की चारुता का पूरा फल प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मूर्त्ति का आदि-अन्त धार्मिक या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में है; अर्थात् वह देवतत्त्व की प्रतीक मात्र है।

अध्याय २

२. प्राग् ऐतिहासिक युग

प्राग् ऐतिहासिक युग के मानव की कला के नमूने विश्व में बहुत जगह मिले हैं और भारत में भी वे अनेक स्थानों में पाए गए हैं। उस कला के तिथिक्रम का निर्णय कुछ कठिन है, किन्तु उसकी निजी विशेषताओं के आधार पर उसका अलग ही अस्तित्व प्रतीत होता है जिससे उसे मानवीय कला की पहली सीढ़ी कह सकते हैं। प्राग् ऐतिहासिक संस्कृति का मानव पाषाणयुगीन प्राणी था। जैसे अन्यत्र वैसे ही भारत में भी उस महायुग के दो भाग हैं—

१. पूर्व पाषाण युग
२. उत्तर पाषाण युग

इनके सन्धिकाल में मध्य पाषाण युग भी माना जाता है। पहले को पुराप्रस्तरीय और दूसरे नूतनप्रस्तरीय और बीच वाले को मध्यप्रस्तरीय काल भी कहते हैं।

पूर्व पाषाण युग की कला—उस युग में मानव कन्दमूलफल के आहार से या आखेट से अपना निर्वाह करता था। इसके लिए वह पत्थर के बने हुए भोंडे और भोथरे औजारों से काम लेता था जो उन पशुओं के अस्थिपञ्जरों में मिले हैं जो अब नामशेष हो गए हैं। उस युग के मानव को अपनी चतुर्दिक् परिस्थिति पर विजय पाने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा था फिर भी उसमें सोचने और करने की क्षमता थी जिससे वह अपने अनुकूल जीवन-विधि का निर्माण कर सका।

मद्रास, उड़ीसा, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश में पूर्व पाषाण युग के कई विशेष स्थान मिले हैं। मद्रास में चिंगलपुट जिले के आत्तिरमपक्कम स्थान में बिना हत्थे की पत्थर की बसूलियाँ हजारों की संख्या में पाई गई हैं। इसी प्रकार धाड़वाड़ में मलप्रभा नदी के किनारे ख्याद नामक स्थान में, हैदराबाद में पैठण के समीप मूँगी नामक स्थान में भी पूर्व पाषाण युग के मानव के अवशेष पाए गए हैं। वह मानव चट्टानों से सुरक्षित स्थानों या पर्वतकन्दराओं में नदियों के समीप निवास करता था। इन गुहाओं को लोकभाषा में आज भी 'दरी' कहते हैं। ऐसे स्थानों पर उसे सहज रक्षा और भरपूर जल की सुगमता थी। अपने औजार छाँटने-तराश कर बनाने के लिए वह प्रायः बूझा पत्थर काम में लेता था। उसके औजारों के दो रूप थे। किसी खड़ पत्थर या अनगढ़ टुकड़े को लेकर वह उसे दूसरे पत्थर की टक्कर से छाँटता था। उसके फलस्वरूप एक भारी नुकीला गाभा तैयार हो जाता था और दूसरी ओर उससे छाँटी हुई छोटी-बड़ी कत्तलें बचती थीं। इनके लिए हम प्राचीन संस्कृत साहित्य के आधार पर दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। पहले को वाशी और दूसरे को शिली कहना उचित होगा। ऋग्वेद में अश्मन्मयी वाशी का प्रयोग आता हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि वह अवश्य इसी प्रकार के पत्थर के औजारों के लिए प्रयुक्त था। दूसरी संज्ञा हमने शिलीमुख शब्द से ली है। संस्कृत में शिलीमुख बाण को कहते हैं। यह उस तरह का बाण रहा होगा जिसके सिरे पर शिली या पत्थर की नुकीली कत्तल बाँध कर लगाई जाती थी।

उत्तरपश्चिमी भारत में सिन्धु की एक छोटी शाखा-नदी सोहान है। उसकी पहचान श्री ऑरल स्टाइन ने ऋग्वेद की सुषोमा नदी से की थी जो ठीक जान पड़ती है। सुषोमा की घाटी में और कश्मीर प्रदेश के करेवा नामक भूगर्भीय मरकाँ या पहलदार प्रस्तरों में भारतीय प्राग् ऐतिहासिक मानव के सबसे प्राचीन औजार गाभे और कत्तलों के रूप में मिले हैं।

मध्य पाषाण युग—पूर्व पाषाण और नव पाषाणयुग के बीच का काल मध्य पाषाण युग था। इस युग में पत्थर के बहुत नन्हें औजार बनाए गए। इन्हें एक, दो या अधिक संख्या में किसी हत्थे में लगा कर काम में लाया जाता था। इन नन्हीं टुइयाँ चकमकी कत्तलों को भी सचमुच शिली कहना चाहिए क्यों कि यह बाण के सिरे पर लगाने से गहरा छेदती थी। इनके लिए चकमक (flint), हकीक (carnelian), बूझा (quartz), यशब (agate), कर्केतन (chalcedony) आदि संग काम में लाए जाते थे। इन नन्हें औजारों के नमूने इस प्रकार हैं—चाकू जैसे फल जो कभी कभी दाँतेदार भी मिलते हैं, चन्दबान, तिकोनिया कतरने, खुरचना या पलटा या राँपी (scraper)। गुजरात की नर्मदाघाटी और गोदावरी के निचले प्रदेश में ये अंगुष्ठनुमा नन्हें औजार पाए गए हैं। अंतिम स्थान में हाथ के बने हुए भाँड़े-बर्तन भी उनके साथ मिले हैं। तिथिक्रम की दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है कि नन्हें औजार नवपाषाण युग और कभी कभी ऐतिहासिक युग के साथ भी मिले-जुले पाए जाते हैं। ब्रह्मगिरि नामक स्थान में मध्यपाषाण और नवपाषाण युग की संस्कृति का सिलसिला आरम्भिक ऐतिहासिक युग के साथ मिला हुआ है।

नवपाषाण युग—पूर्व पाषाण युग की संस्कृति दीर्घकालीन थी। लगभग पाँच लाख वर्ष से दस या सात सहस्र वर्ष ई० पूर्व तक उसका काल माना जाता है इसकी तुलना में नवपाषाण युग की आयु कुछ सहस्र वर्ष ही थी, एवं उसका एक छोर भारत की ऐतिहासिक संस्कृतियों के साथ मिला हुआ है। नव पाषाण युग का मानव कृषि करने लगा था। कृषि में उत्पन्न किए हुए अन्न से उसका निर्वाह होता था। वह अपने लिए हाथ से ही बर्तन-भाँडे, विशेषतः भोजन बनाने के लिए, तैयार करता था। नवपाषाणयुगीय औजार घिसकर चिकने बनाए जाते थे।

इन औजारों में पत्थर की वाशी, फरसे, बसूले, और बड़े हथौड़े या मुँगरे तैयार किए जाते थे। पत्थर की चिकनी बनाई हुई हत्थेदार कुल्हाड़ी पूर्व पाषाणयुगीय मानव की विशेषता थी। ऋग्वेद में दो सार्थक शब्द आए हैं—१. अश्मन्मयी वाशी और २. आयसी वाशी। वाशी से ही हिन्दी शब्द बसूला या बसूली बने हैं। यह ही पूर्व पाषाणयुगीन मानव के काटने या तक्षणक्रिया का औजार था। जैसा ऋग्वेद में कहा है—वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः (ऋ० १०।१०१।१०)। त्वष्टा देवता को हाथ में आयसी वाशी धारण करने वाला कहा गया है (वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमंतर्देवेषु, ऋ० ।८।२९।३)। पूर्व पाषाणयुगीन मानव को धातुओं का परिचय नहीं था अतएव वह केवल पत्थर के औजारों से काम लेता था। दक्षिण भारत में उसके बाद आने वाले लोगों को लोहे का परिचय प्राप्त हुआ किन्तु उत्तरी भारत में पूर्व पाषाण युग के बाद ताम्रयुग की संस्कृति का विकास हुआ। जैसा कि सिंधुघाटी में पाया जाता है। वेद में ताँबे को ही अयस् कहा है। आगे चल कर जब उत्तर में भी लोहे का आविष्कार हुआ तब लोहे को कृष्णायस् (काला ताँबा) और ताँबे को लोहायस (लाल ताँबा) कहने लगे। इनमें से ताम्रायस् का ताम्र (ताँबा) और लोहायस् का लोह (लोहा) बच गया। अतएव ऋग्वेद के समय में आयसी वाशी का अर्थ ताँबे का बसूलीनुमा औजार भी था। सिंधुघाटी की सभ्यता में पत्थर की वाशी और ताँबे की वाशी साथसाथ मिली हैं। वैसे

ही ऋग्वेद आर्यों में भी इन दोनों का एक साथ प्रयोग चालू था। किन्तु पत्थर को पीछे छोड़कर ताँबे का रिवाज बढ़ रहा था। ऋग्वेद में त्वष्टा देवता को आयस परशु अर्थात् ताँबे का फरसा प्रयोग में लाने वाला कहा गया है (ऋ० १०।५३।९)। वाशी से काम करने वाले के लिए वाशीमान् विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

पत्थर के चिकनाए हुए परशु और वाशी पाषाण युग के विशेष साधन थे। ये औजार कई जगह मिले हैं, जैसे हमीरपुर, छतरपुर, हजारीबाग, राँची, संथाल परगना, सिंघभूम, दार्जिलिंग, नदिया, आसाम की नागा पहाड़ी, हैदराबाद में रायचूर, मैसूर में चित्तलद्रुग और मद्रास में अनन्तपुर, बिलारी, गुंटूर और तंजोर। उत्तरपश्चिम में भी सिंधु के तट पर ऐसे अवशेष मिले हैं किन्तु दक्षिण भारत में बिलारी, मैसूर और हैदराबाद इनके प्रमुख केन्द्र थे। ब्रह्मगिरि की खुदाई में पत्थर की चिकनी वाशियाँ मिली हैं, जिनकी अवधि एक सहस्र ई० पूर्व से तीन सहस्र ई० पू० तक अनुमान की गई है। इस युग में नव पाषाण युग की वाशियों के साथ मध्य पाषाण युग की नन्हीं चकमकी कतरनें या शिली (माइक्रोलिथ) भी पाई गई हैं।

नवपाषाण युग में धातुओं का विकास नहीं हुआ था; अर्थात् उन्हें खदानों में से प्राप्त कर गलाने की क्रिया का परिचय नहीं था। किन्तु ऋग्वेद में लोहार को कर्मार और भट्ठी में धातु गलाने की क्रिया को संधमन कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि उत्तरभारत में नव पाषाण युग ऋग्वेद काल से बहुत पहले ही बीत चुका था। नव पाषाण युग का मानव अपने हाथ से बर्तन बनाता, खेती करता और एक जगह टिक कर भूमि के साथ सम्बन्ध जोड़ने लगा था।

इस युग के प्रस्तरीय औजारों की घनी सामग्री का अध्ययन करने से उस काल के मानव की क्रियाकुशलता और हाथ से कर्म करने की चतुराई सूचित होती है और ऐसा जान पड़ता है मानों वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए संस्कृति की नींव रख रहा था। उसी दिशा में आगे चल कर धातुओं के औजार और चाक पर उतारे गए भाँडों का आविष्कार हुआ।

दरी-चित्र या रकत की पुतरियाँ—आदिम मानव खुले जंगलों में या नदी-घाटियों में पत्थर के औजारों से शिकार करता हुआ जीवननिर्वाह करता था। उसके बाद वह नदी-द्रोणियों में जल की सुविधा देख कर वहीं प्राकृतिक कन्दराओं में रहने लगा। इन्हें लोकभाषा में आज भी दरी कहते हैं, जैसे मिर्जापुर जिले में लिखुनिया दरी। इन कन्दराओं की भीतों पर लाल गेरू या धाऊ पत्थर (हेमेटाइट) से बनाए हुए बहुत से रेखाचित्र पाए गए हैं जिन्हें प्रस्तरचित्र कहते हैं। लोकभाषा में उन्हीं के लिए रकत की पुतरियाँ शब्द चालू है।

ये चित्र मुख्यतः चार स्थानों में मिले हैं—

१—मध्यप्रदेश में महादेव पहाड़ी के पचमढ़ी नामक स्थान के इर्द-गिर्द। यहाँ एक के ऊपर एक रक्खी हुई चित्रों की चार तहें मिली हैं।

२—मध्यप्रदेश में रायगढ़ के समीप सिंघनपुर और काबरा पहाड़ के चित्र।

३—विंध्य की कैमूर पर्वतमाला के भीतर शोण नदी की घाटी के मिर्जापुर क्षेत्र में कई स्थानों में रकत की पुतरियों के चित्र विद्यमान हैं, जैसे लिखुनिया दरी, कोहबर दरी, मेहरिया दरी, भलदरिया और विजयगढ़ दरी।

४—बाँदा जिले के मानिकपुर स्थान में।

सबसे अधिक संख्या में ये दरी-चित्र महादेव पहाड़ी में प्राप्त हुए हैं। पचमढ़ी के पाँच मील के मंडल में ५० से ऊपर दरियों में चित्र मिले हैं। ऐसा ही एक स्थान होशंगाबाद से ढाई मील पर आदमगढ़ है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि इन चित्रों से उस युग के मानव की संस्कृति का ब्यौरेवार परिचय प्राप्त होता है। लिखे हुए चित्रों की ऊपर-नीचे चार परत हैं—

पहली परत—इसमें कठखरे कढ़े हुए जैसे चित्र हैं। इनमें कुछ पहले के हैं, कुछ बाद के। पहले के चित्र मनुष्य और पशुओं की तीलीनुमा आकृतियाँ हैं जो लाल और पीले रंगों में लिखी गई हैं। चार तीलियों से घेरे हुए तख्तीनुमा धड़ के ऊपर तिकोना सिर जोड़ा गया है और काया के भीतर की सूनी जगह में कुछ लहरियादार खड़ी रेखाएँ बनाई गई हैं, मानों पेड़ की छाल या बल्कल जैसे वस्त्र की सूचक हों (चित्र १)। ये चित्र कुछ कम मिले हैं और इनके ऊपर दूसरी प्रकार के चित्र इन्हें ढँकते हुए पाए जाते हैं।

चित्र १

पहली श्रेणी के उत्तर कालीन चित्र वे हैं जिनमें तीलीनुमा रेखायें चौखटे के आकार की न होकर एक दूसरे को काटती हुई डमरुआ आकृति की हैं जिसके ऊपर पहले जैसा पर अधिक सुथरा तिकोना सिर जुड़ा हुआ है। पीले रंग पर बीच-बीच में लाल रेखाएँ हैं जो बालों की सूचक हैं। इस तरह की डमरुआ बन्दिश के साथ-साथ कुछ चौकोर बन्दिश वाले चित्र गुलाबी रंग में बने हैं जिनके ऊपर तिकोनिया मस्तक है और भीतर काया के चौखटे में एक दो खड़ी लहरिया लकीरें हैं (चित्र २)।

चित्र २

दूसरी परत—इसमें भूरे या पीले रंग के चित्र भोंडे होते हुए भी कुछ स्वाभाविकता लिए हुए हैं। ये भी पहले के और बाद के हैं। पहले के चित्र बेडौल और कुछ स्वाभाविक चाल के हैं। उनकी गर्दन लम्बी, बाल लहराते हुए, सिर बेहुलिया, टाँगें सलाई जैसी और घरारे किनारीदार हैं। उत्तर कालीन दूसरी श्रेणी के चित्रों में संपुंजन या एकजुट लिखने का भाव भी आ गया है। उनके हाथों में प्रायः धनुष-बाण दिखाया गया है जो पहले के चित्रों में कहीं-कहीं था (चित्र ३)। धातु के बने नोकदार तीर जो पहली श्रेणी के मानव प्रयोग में ला रहे थे दूसरी श्रेणी के युग में भी काम में आते रहे। किन्तु उसी के साथ गाँसदार भालों का प्रयोग भी आम हो गया। ये मानव आखेट से निर्वाह करते थे। बाघ, शेर, नर-मादा साँभर, हाथी और जंगली साँड़ इनके शिकारी जीवन का आधार था। कभी मस्ती में आकर ये अहेरिया मानव धनुष-बाण लेकर और पशुओं के मुखौटे लगा कर थरथराहटभरे नाच का सुख लूटते थे। बाँस की लम्बी सीढ़ियों पर

चित्र ३

चढ़ कर ऊँचे पेड़ों से या झुकी हुई पहाड़ियों से लटकते शहद के छत्तों से शहद उतारने का भी इन्हें बहुत शौक था जो तीसरी श्रेणी के मानवों में भी जारी रहा (चित्र ४)। महादेव पहाड़ी के इन अहेरिया और नाचते हुए चित्रों के तुल्यकालीन मिर्जापुर क्षेत्र के दरीचित्र हैं।
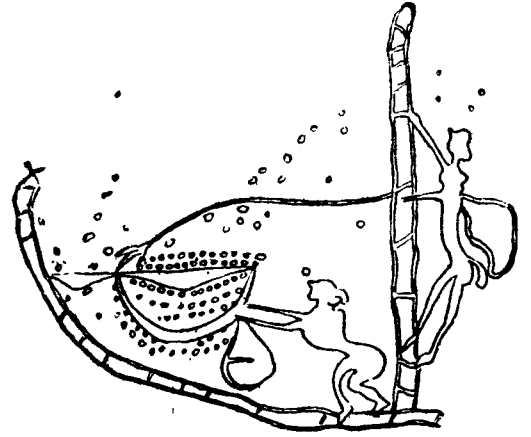
चित्र ४

तीसरी और चौथी परत——इनमें सांस्कृतिक रहन-सहन का नक्शा बदल जाता है। आदिम-कालीन शिकारियों के स्थान में शस्त्रधारी सैनिक और घुड़सवार योद्धा धनुष-बाण और तलवार से युद्ध करते हुए दिखाए गए हैं। गायों के लिये धाड़ा मारने वालों के चित्र भी हैं। घरेलू जीवन के चित्र भी बहुत हैं। जैसे एक आदमी तार का बाजा बजा रहा है, एक स्त्री कन्द कूटती और धान दरती हुई दिखाई गई है, छपरिया के भीतर स्त्रियाँ बैठी हैं, स्त्री-पुरुष झुण्ड में मिल कर जोड़े बना कर नाच रहे हैं, आदमी ढोल या दुहरी नाय बजा रहे हैं और बन्दर या भालू के नाच का मजा ले रहे हैं। हंस, मोर आदि चिड़िया और सूअर, कुत्ते आदि पशु भी दिखाए गए हैं। मानों लोकजीवन का एक छेवा उतार कर सामने रख दिया गया हो। होशंगाबाद के निकट आदमगढ़ के दरीचित्रों में एक बड़े हाथी का चित्र हैं जो वहाँ सबसे पुराना है, और दूसरी श्रेगी के उत्तरकालीन चित्रों के साथ का है। महादेव पहाड़ी के उत्तरकालीन तीसरी श्रेणी और पूर्वकालीन चौथी श्रेणी के चित्रों में जूड़ेदार बाल या खोंपा, टाँगों के बीच में लाँगदार धोती, तीर, कमान, तरकस, सीधी तलवार, पत्तीनुमा छुरी और गोल ढाल के चित्र भी मिले हैं। महादेव पहाड़ी के चित्र बीहड़ जंगल में बस्ती से दूर हैं जहाँ पहुँचना भी कठिन है। यही स्थिति सिंघनपुर चित्रों की भी है। वहाँ के आदिम मानव नन्हें चकमकी औजार, हाथ से बने भाँडे और धातु की गाँसवाले बरछे काम में लाते थे। कुछ चित्र धार्मिक भी हैं, जैसे विमान में बैठा हुआ एक व्यक्ति, या एक देव एक बाघ के गले में रस्सी बाँध कर पालतू कुत्ते की तरह उसे अपने पीछे लिए जा रहा है (चित्र ५)। एक चित्र में एक खड़ा आदमी एक ओर शेर से और दूसरी ओर जंगली साँड़ से जूझता हुआ उन्हें अड़ाए हुए है और उसके पशु या पोहे सामने चले जा रहे हैं। जंगली पशुओं का शिकार, नाच, युद्ध, और घरेलू रहन-सहन के चित्रों में कोई धार्मिक हेतु नहीं जान पड़ता। सिंघनपुर और काबरा पहाड़ के चित्र रायगढ़ के समीप हैं। ये चित्र लाल रंग के धाऊ पत्थर से लिखे गए हैं। लाल रंग में भी मिलती-जुलती कई रंगतें हैं। चित्रों में तख्तीनुमा नर आकृतियाँ और जंगली साँड़ लिखे हैं। महादेव पहाड़ी के

चित्र ५

तख्तीनुमा चित्रों में कई खड़ी हुई लहराती लकीरें भरी हैं पर सिंघनपुर में एक या दो ही बल खाती हुई लकीरें हैं।

(३) **मिर्जापुर क्षेत्र के चित्र**— सिंघनपुर-रायगढ़ के पुतरियाँ चित्र महानदी के क्षेत्र में हैं, पचमढ़ी (महादेव पहाड़ी) के चित्र नर्मदा नदी की द्रोणी में हैं और मिर्जापुर के दरीचित्र सोन नदी की घाटी में है। ये तीनों नदियाँ घने जंगल और पहाड़ों से भरी हुई हैं जहाँ आदिम मानव सुरक्षा से निवास कर सकता था। निषाद और शबरों के पूर्वज ये ही मानव थे।

सोन नदी की घाटी में बने चित्रों में आखेट और नृत्य के चित्र हैं और ये महादेव पहाड़ी के द्वितीय श्रेणी चित्रों के समकालीन हैं। यहाँ की भाषा में अभी तक चट्टानी खोह के लिए 'दरी' शब्द प्रयुक्त होता है। इन्हीं में से एक लिखुनिया दरी है जो छोटी पहाड़ी गरई नदी के किनारे हैं। यहाँ कुछ घुड़सवार पालतू गणिका हथिनी या कुमकी की मदद से जंगली हाथी पकड़ते हुए दिखाए गए हैं। घुड़सवारों के हाथ में लम्बे भाले हैं। तख्तीदार, डमरुआ और तीलीदार मानवीय आकृतियाँ सूचित करती हैं कि ये चित्र भी पचमढ़ी की पहली-दूसरी श्रेणी की पुतरियों से मिलते हैं। यहाँ के एक चित्र में एक चुटैल बनैला सूअर मुँह बाए व्यथा का अनुभव करता हुआ दिखाया गया है।

(४) **बाँदा जिले में मानिकपुर स्थान के चित्र**—यहाँ तीर-कमान लिए हुए घुड़सवार चित्रित हैं। बेपहिए की छकड़ा गाड़ी में बैठा हुआ व्यक्ति एक दृश्य में अंकित है। यहाँ के चित्र महादेव पहाड़ी के तीसरी श्रेणी के चित्रों के समकालीन हैं।

आदमगढ़ खदानवाले चित्रों में एक लम्बी गर्दनवाले जिराफ का चित्र हैं। वह कैसे यहाँ आ गया यह एक उलझन है क्योंकि जिराफ अफ्रीका का पशु है।

मोरी स्थान के चट्टान चित्र—मध्यप्रदेश के मन्दसोर जिले में मोरी गाँव के आसपास तीस पहाड़ी खोह हैं। उनकी छतों और भीतों पर लाल गेरू से चित्र लिखे हैं। उनमें कई भाँति के पशु, नाचते मानव और पशुओं के साथ ग्वालों के चित्र हैं जो पचमढ़ी की तीसरी और चौथी श्रेणी के चित्रों के समकालीन हैं। यहाँ की कुछ रेखाकृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं; जैसे मण्डल के भीतर चतुर्भुजी स्वस्तिक आकृति, आठ अरों वाला चक्र, अनेक रश्मियों के साथ सूर्य, तिकोनिया मुखौटे वाला घर, देहाती लढ़िया गाड़ी, स्वस्तिक की बेल में से निकाला हुआ सर्वतोभद्र चिह्न और एक अष्टदल कमल जिसके भीतर चार जुड़ी हुई पीपल की पत्तियाँ दिखाई गयी हैं और जो सिंधुघाटी की कला में भी मिलता है (इंडियन आर्कयालाजी १९५७-५८, पृ० २७, चित्र १४.१-४)।

चट्टानों पर खुदे चित्र—रकत की पुतरियों के चित्र तो पहाड़ी खोह की भीत या छत पर लिखे जाते थे किन्तु चट्टानों पर खरोंचे हुए ये चित्र खुले हुए स्थानों पर हैं। लिखित चित्रों की अपेक्षा इन उत्कीर्ण चित्रों का विस्तार कहीं अधिक है। अटक से लगभग छह मील नीचे की ओर सिंध के किनारे मन्दोरी, गंदाब और घड़ियाला नामक स्थानों में खुली चट्टानों पर खुदे हुए चित्रों में मानव और पशुओं की आकृतियाँ हैं जिनमें घोड़े, ऊँट और हाथियों पर चढ़े हुए योद्धा हथियारों से लैस होकर लड़ते हुए दिखाए गए हैं। उड़ीसा के सम्बलपुर, हैदराबाद के रायचूर और मद्रास के बिलारी स्थान में चट्टानों पर खुदे हुए अनेक चित्र मिले हैं। इन्हें चित्र तो क्या, चट्टान की छिताई करके बनाई हुई आकृतियाँ कहना चाहिए।

ताम्रयुग की संस्कृति——नवपाषाण युग का मानव क्रमशः घिसे और चिकने पत्थर के औजारों का प्रयोग पीछे छोड़कर उस अवस्था में आ गया जब वह खेती द्वारा अन्न उपजाने लगा। नर्मदा नदी से गोदावरी तक के फैले हुए क्षेत्र में संस्कृति का यह पूर्वापर क्रम कितने ही स्थानों में पाया गया है; जैसे महेश्वर (प्राचीन माहिष्मती, नर्मदा के उत्तरी तट पर), नवदाटोली और जोर्वे (अहमदनगर जिला)। यहाँ नवपाषाण युग के उत्तरकाल की संस्कृति के चिह्न मिले हैं; जैसे आकृतिलिखित भाँडे, नन्हें औजार, ताँबे की वस्तुएँ। कहीं-कहीं उन्हीं के साथ मिली घिसी चिकनी अश्मन्मयी वाशियाँ, चकमकी कतरनें या शिली, काली रेखाओं से अलंकृत मृत्पात्र और ताँबे के बर्तन या अन्य वस्तुएँ उस ताम्रयुगीन संस्कृति की ओर प्रगति की सूचना देती हैं जिसका विकसित रूप सिन्धुघाटी में पाया जाता है। अभी तक इसकी सामग्री पर्याप्त नहीं मिली क्योंकि भारत के पश्चिमी और मध्य भाग में ताँबे की वस्तुएँ कम पाई गई हैं। किन्तु उत्तरप्रदेश, बिहार और उड़ीसा में लगभग तीस स्थानों में ताँबे के भूतल-निधान मिले हैं। इनमें १५४ नमूने तो फरसे और रुखानियों के हैं जिनमें बहुत तरह की बसूलियाँ और गदेले शामिल हैं। दूसरी वस्तुओं में तलवार, कटार, भाले और मछली-मार बरछे भी हैं (चित्र ६)। इसके अतिरिक्त ताँबे की कुछ आकृतियाँ टेसूनुमा मानवों की है जो मनुष्य तो क्या मनुष्य की हुलियामात्र हैं (चित्र ७)। मध्यप्रदेश के गुँगेरिया नामक स्थान में प्राप्त एक ताँबे के बड़े निधान में मिली-जुली ताँबे की वाशियाँ थीं। ताँबे की वस्तुओं के दो केन्द्र थे, एक गंगाजमुना का काँठा और दूसरा बिहार में राँची का पठार।
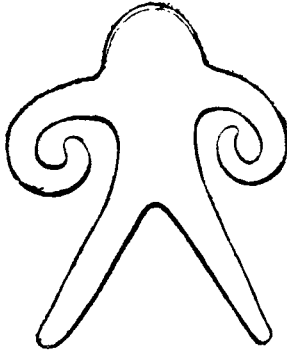
चित्र ७ चित्र ६

बसूलियों के नीचे का भाग किनारों की अपेक्षा लम्बाई में कुछ छोटा होता था। मछलीमार सलाखदार बरछों में आगे की ओर भालदार नोक और दोनों किनारों पर दो या तीन मुड़े हुए आँकुड़े बनाए जाते थे। कभीकभी बीच की रीढ़ के ऊपरी सिरे पर एक छेद या निकला हुआ कान भी मिलता है। उनकी लम्बाई १२″ से १७″ तक है और वे साँचे में ढालकर बनाए गए हैं। उनकी मध्य-यष्टि या मझलेट भारी-भरकम और मजबूत है। भालदार और ताँबे के आँकुड़ेदार भाले, तलवार और छुरियाँ भी पाई गई हैं। ऋग्वेद में ऋष्टि नामक आयुध का उल्लेख हैं जिन्हें मरुद्गण कन्धे पर धारण करते थे। उनकी पहचान इन ताम्र भालों से की जा सकती है। बसूलियों की पहचान तो त्वष्टा की आयसी वाशी से स्पष्ट प्रतीत होती है जिसके द्वारा तक्षणक्रिया की जाती थी (चित्र ८)। आँकुड़ेदार मछलीमार बरछे सम्भवतः इन्द्र के आयुध वज्र को सूचित करते हैं। ऐसे ही स्वधिति और परशु शब्द कुल्हाड़ी और फरसों के लिए आए हैं (चित्र ९)।

चित्र ८ चित्र ९

तिथिक्रम की दृष्टि से ज्ञात होता है कि पाषाणयुग की संस्कृति उस ऐतिहासिक युग की ओर पैर बढ़ा रही थी जिसकी एक छाप सिन्धुघाटी में और दूसरी गंगाघाटी की आर्य-संस्कृति के रूप में प्राप्त होती है। सिन्धुघाटी की सभ्यता का देश और काल में अत्यधिक विस्तार था। उसमें ऊँचे ढंग के रहन-सहन का विकास हुआ था और प्रायः सभी प्रधान कलाओं और धन्धों का भी वहाँ अच्छा

विकास किया गया। आर्य-संस्कृति के चिह्न अभी तक अनिश्चित हैं। पर कानपुर के पास बिठूर, शाहजहाँपुर के पास सरथौली, हस्तिनापुर के पास राजपुरपरसू से जो ताँबे के औजार और आकृतियाँ मिली हैं उनसे कुछ सांस्कृतिक संकेत प्राप्त होते हैं। एक नए प्रकार के भाँडे भी हमारे सामने आते है। हमें विदित है कि उत्तरापथ के काले-चमकीले पात्र जिन्हें अँग्रेजी में N. B. P. कहा जाता है, अनेक स्थानों में मिले हैं जिनसे लगभग मौर्य साम्राज्य की सीमाओं का दिक् निर्देश सूचित होता है। इन पात्रों का समय ६०० से २०० ई० पू० तक अनुमानित है। इनसे पहले दूसरी प्रकार के मृत्पात्र होते थे जिनके भूरे या राखी रंग पर काली रेखाओं से नाना प्रकार की आकृतियाँ लिखी गई हैं। अतएव इन्हें 'रेखांकित राखी पात्र' कहना उपयुक्त है। इनमें भी बहुत से बर्तनों पर काले पात्रों जैसी चमक मिली है। इनके ठीक काल का अनिश्चय है, पर इतना अवश्य है कि वे काले चमकीले पात्रों से पूर्वयुग के हैं। यदि वह युग वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल की संस्कृति के साथ कहीं जुड़ता हो तो आश्चर्य नहीं। इसका ठीक समाधान भविष्य के उत्खननकार्य से ही प्राप्त होगा।
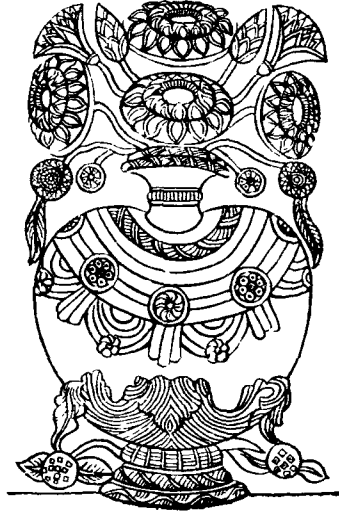
अध्याय ३

३. सिन्धुघाटी की कला

विषयारम्भ—सिन्धुघाटी कला की सामग्री हमें उन वस्तुओं के रूप में उपलब्ध है जो मुख्यतः हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो बड़े नगरों के खंडहरों से मिली हैं (ल० २५०० ई० पू०–१८०० ई० पू०)। कनिंघम ने १८७८ में हड़प्पा के टीले का पता लगाया था और उसकी कुछ मोहरें भी छापी थीं। पर उस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। १९२१ में श्रीदयाराम साहनी ने हड़प्पा में जो खुदाई कराई उससे उसके प्रागैतिहासिक स्वरूप पर प्रकाश पड़ा। १९२२ में श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय ने सिन्ध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो (सिंधीरूप, मुहें जो दड़ो, मरे हुओं का टीला) नामक स्थान का पता लगाया और उसकी खुदाई से सिन्धुघाटी की ताम्रयुगीन सभ्यता का अस्तित्व प्रकट हुआ। तदनन्तर मार्शल ने मोहनजोदड़ो में और श्रीमाधवस्वरूप वत्स ने हड़प्पा में कई वर्षों तक उत्खनन का कार्य किया जिससे प्राचीन विश्व की एक सबसे विस्तृत सभ्यता का स्वरूप सामने आया। इस सभ्यता की कालावधि लगभग एक सहस्र वर्ष कूती जाती है (२७५०–१७५०)। देश में इसका विस्तार लगभग १५०० मील था। अम्बाला जिले के रोपड़ स्थान से लेकर रावी स्थित हड़प्पा तक, वहाँ से सरस्वती के बीकानेर की मरुभूमि में फैले हुए काँठे को पार करते हुए सिन्धु नदी के तट पर स्थित मोहनजोदड़ो तक एवं वहाँ से सौराष्ट्र के नगर लोथल और रंगपुर तक सिन्धु सभ्यता का विस्तार था। हाल में नर्मदा के उस पार भगतराव में भी इस सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इधर मरुभूमि में उदयपुर के निकट आहार (प्राचीन आघाट) स्थान में एवं उसके आस-पास अन्यत्र भी सिन्धु संस्कृति के प्रसार की खोज हुई है। अबतक ऐसे स्थानों की संख्या लगभग १०० तक पहुँच गई है (दे० चित्र १०)।

सिन्धुघाटी सभ्यता का जितना देशगत विस्तार है वह उन प्राचीन सभ्यताओं से कहीं अधिक है जो मिश्र देश में नील नदी के तट पर एवं तिग्रा और उफ्रातु नामक नदियों के उपकंठ प्रदेश या अन्तरवेदि में फैली थी। इस ताम्रयुगीन सभ्यता की प्राचीनता के विषय में विद्वान प्रायः एकमत हैं कि इसकी समृद्धि का युग अक्कादी नरेश सारगन के समकालीन था (लगभग २३५० ई० पू०)। इसके जीवनकाल के दो छोर लगभग २५००–१५०० ई० पू० के सम्पुट में आ जाते हैं। इस कालगणना का आधार यह है कि सिन्धुघाटी की कुछ मुद्राएँ ऊर, किश, लघश, शूपा, तल्ल अस्मर, मेसोपोतामियाँ आदि के नगरों की खुदाई में प्राप्त हुई हैं जहाँ उनका काल पुरातत्त्व की दृष्टि से प्रमाणित है। तृतीय सहस्राब्दि के उत्तरार्ध काल के समीप कुछ मोहरें लार्सा नगर में (लगभग १८०० ई० पू०) और कुछ कस्सी युग के आसपास प्राप्त हुई हैं (लगभग १५०० ई० पू०)।

सिन्धुघाटी सभ्यता के उद्घाटन से भारतीय इतिहास और कला के क्षेत्र में चामत्कारिक परिवर्तन हुआ है। इसके कारण भारतीय सभ्यता की प्राचीनता लगभग २००० वर्ष और पीछे पहुँच गई है अर्थात् लगभग तीन सहस्र ई० पू० तक उसकी कालावधि का विस्तार हो गया। इसका यह भी सुन्दर फल हुआ कि भारतीय सभ्यता को क्रीट, एजियन सागर, पश्चिमी एशिया, मेसो-

HARAPPA CULTURE
SCALE OF KILOMETRES
SCALE OF MILES
LAHORE
R. JHELUM
R. RAVI
R. BEAS
RUPAR
BARA
HARAPPA
W. PAKISTAN
R. CHENAB
R. SUTLEJ
R. CHAGGAR
R. CHAUTANG
R. GANGA
ALAMGIRPUR
TKWD
KALIBANGAN
DELHI
R. YAMUNA
BAHAWALPUR SITES
R. INDUS
JHUKAR
MOHENJO-DARO
KOT-DIJI
AMRI
CHANHU-DARO
AREA OF MAP
THANO-BULAKHAN
KARACHI
BAY OF BENGAL
ARABIAN SEA
SOJANIPUR
R. SABARMATI
R. MAHI
DESALPAR
AHMADABAD
TODIO
KANASUTARIA
PANASNA
KOTH
CHACHANA
LOTHAL
LAKHABAWAL
PHALA
DEVALIA
GONI
BABARKOT
BHIMPATAL
RANGPUR
AMRA
R. NARMADA
GOP
ROJDI
ADKOT
MEHGAM
ARABIAN SEA
KINNARKHEDA
VENIVADAR
TELOD
R. TAPTI
SOMNATH
KANJETAR
BHAGATRAV
EARLY HARAPPA SITE
LATE HARAPPA SITE
MODERN TOWN

पोतामियाँ, ईरान आदि की प्राचीनतम सभ्यताओं की मण्डली में प्रतिष्ठित आसन प्राप्त हो गया है। इस सिन्धु सभ्यता ने यह भी प्रकट कर दिया है कि भारतवर्ष की स्थिति एक विशाल भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत थी जहाँ उसके पथ-सूत्र पूर्व में बिहार तक, दक्षिण में पांड्य देश तक, पश्चिम में तिग्रा-उफ्रातु एवं तुर्की तक और उत्तर में मध्यएशिया तक फैले हुए थे, जिनके द्वारा व्यापार सम्बन्धी यातायात होता था। सिन्धु सभ्यता का स्वरूप प्रधानतः नगरसंस्कृति से मिलता है जिसके पोषक धनी व्यापारी और शासक थे जो विविध कलाओं के प्रेमी और सुखी शान्त जीवनके अनुरागी थे। वे अपनी आर्थिक समृद्धि के लिये किसान और श्रमिकों के परिश्रम से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति और पदार्थों पर निर्भर थे। इस प्रकार अर्थशक्ति और प्रभुताशक्ति से सम्पन्न व्यापारी एवं शासक खाई और परकोटे से घिरे हुए दुर्गविधान से युक्त पुरों में निवास करते थे। शासक और व्यापारीवर्ग के अतिरिक्त पुरोहित-पाधाओं का भी एक वर्ग था जो जनता की धर्म भावनाओं की पूर्ति करता था। वहाँ के निवासी वास्तुकला में प्रवीण थे जैसा उनके पुरविन्यास, दुर्ग-विधान, महापथरथ्याविधि एवं गृह-निर्माण की कला से सूचित होता है। उनके घरों में जैसे उत्तम मार्जनगृह, वच्चकुटी और जल बहने की सुविहित नालियाँ हैं वे जनता के स्वच्छ रहन-सहन को प्रकट करती हैं। आग से पकाई हुई मिट्टी की करोड़ों ईंटें सिन्धुघाटी की निजी विशेषता थीं, जो आज भी वहाँ के घरों, महलों, जल-कुण्ड और कुओं में लगी हैं। ईरान से पश्चिमी एशिया तक इस प्रकार पक्की ईंटों का प्रयोग नहीं पाया जाता। ईंटों के इन भट्टों को जगाने के लिये ईंधन के जंगल भी काम में लाए गए होंगे। उससे अनुमान होता है कि यह प्रदेश किसी समय बहुत हरा-भरा था और जंगलों में पीपल, बरगद आदि महावृक्ष भरे थे एवं हाथी, सेर, साँप, गैंडे आदि महा-पशु भी उनमें विचरते थे। इस अवस्था के लिए दो बातें सहायक थीं; एक तो मेघों से होने वाली अधिक वृष्टि और दूसरे बड़ी नदियाँ जैसे हड़प्पा की रावी नदी और मोहनजोदड़ो की सिन्धु महानदी। सिन्धु सभ्यता का विस्मयकारी तथ्य यह है कि वहाँ के जीवन, कला और धार्मिक विश्वासों में गहरी एकता है जो एक सहस्र मील के विस्तार में और लगभग एक सहस्र वर्षों की अवधि में बहुत कुछ एक सी है। मोहनजोदड़ो के उत्खनन में एक दूसरे के ऊपर जमी हुए नौ परतें पाई गई हैं जिनकी कलाविधि लगभग एक सहस्राब्दि है। जो मुद्राएँ या अन्य सामग्री आरम्भिक परत से मिली हैं लगभग अन्त में भी वैसी ही हैं। यद्यपि उसमें कुछ विकास के चिह्न भी हैं तो भी इस प्रकार की अपरि-वर्तनशील स्थिरता उस सभ्यता के लिए गुणकारी सिद्ध हुई क्योंकि भूमि के साथ दृढ़ता से बद्धमूल होकर उसने न केवल एक सहस्राब्दि तक अपना स्वरूप सुरक्षित रक्खा वरन् आनेवाले युग के लिए भी अनेक संस्थाओं के रूप में वह अपना गहरा प्रभाव छोड़ गई।

ऐसा अनुमान होता है कि हरियूपीया (=हड़प्पा) सभ्यता और आर्य सभ्यता दोनों दीर्घकाल तक सहवासिनी रहीं और परस्पर के मेल से फूली-फलीं। पर अन्त में एक बड़ा संघर्ष हुआ जिसमें सिन्धु सभ्यता को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा। किन्तु उसके राजतन्त्र के विलीन हो जाने पर भी आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का नितान्त लोप नहीं हुआ होगा और वहाँ के निवासी बढ़ती हुई दूसरी सभ्यताओं के प्रभाव में आ गए यद्यपि पारस्परिक आदान-प्रदान के भी अनेक संकेत पाए जाते हैं। उनके ह्रास का एक कारण जलवायु की बढ़ती हुई प्रतिकूलता भी थी जिससे संघर्ष करते हुए वे हार गए। अपने यशःकाल में सिन्धु संस्कृति एक दिव्य महासौगन्धिक पुष्प के समान थी जिसका दिव्य सौरभ चारों ओर भर गया था और आज भी जिसकी गमक उस सुरुचिपूर्ण कला के रूप में हमारे सामने आती

है जो उन अवशेषों में प्राप्त हुई है। वहाँ का लोक-जीवन मानों रूप और सौन्दर्य का दीर्घकालीन सत्र ही था जिसके साथ शारीरिक स्वच्छता, वस्त्र और अलंकारों की सुरुचि एवं धार्मिक विश्वासों की स्पष्टता का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सोने-चाँदी के गहने, हरीतकी-आकृति के लम्बे मनके जो हकीक, तामड़ा आदि मूल्यवान मणियों से बने हैं, सुनहले छोर वाली गुरियाँ, काचली मिट्टी के आभूषण, नितान्त नन्हें खिलौने–जैसे बर्तन, भांडों पर काली रेखाओं से लिखे हुए नाना भाँति के अलंकरण और रेखाचित्र, एवं घीया पत्थर की सुन्दर कटावदार मोहरें जिन पर बलिष्ठ पशुओं की आकृतियाँ एवं चित्रलिपि के अक्षर अंकित हैं। इनका सौन्दर्य किसी प्रतिभाशाली जाति की मौलिक रचना-शक्ति के प्रकाश से आलोकित है। प्रत्येक कला प्रेमी और संस्कृतिप्रिय व्यक्ति के मन पर इनके समष्टिगत सौन्दर्य की छाप पड़ती है। यहाँ के लोग कई प्रकार के उद्योग और शिल्पों से परिचित थे, जैसे कृषि, वस्त्रशिल्प, मूर्तिशिल्प, स्वर्णकारी, मणिकारी (गुरिया या मनकों का काम), हाथी दाँत का काम, शंख की कटावदार पच्चीकारी, धातु प्रतिमा, लिपि, कई प्रकार के खिलौने, चाक पर बने बर्तन, मिट्टी के भाँडों पर बने हुए इकरंगे और बहुरंगे रेखाचित्र, नापतौल के बटखरे (प्रमाणोन्मान), वास्तु और स्थापत्यकला, पकेष्टका रचना, क्षौरकर्म और पहियेदार वाहन आदि।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि हड़प्पा संस्कृति का जन्म भारतभूमि में ही हुआ। वह सर्वथा स्वदेशी है यद्यपि उसने अपने समृद्ध युग में विदेशों के साथ सम्पर्क के लिए भी हाथ बढ़ाया। उत्खनन में प्राप्त हर प्रकार की सामग्री पर स्वदेशीपन की छाप है। इस सभ्यता के अंतरंग परिचय से इसके जन्म और विकास तथा बाहरी रूप और उनके अर्थों के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ उभर कर सामने आ रही हैं। अन्ततोगत्वा उनका समाधान भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम परम्परा में ही निहित ज्ञात होता है।

वास्तु कला—हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दोनों राजधानियाँ उत्तम नगरविन्यास के उदाहरण हैं। वहाँ के वास्तुविद्या-आचार्यों ने दुर्ग के रूप में उनका विधान किया। उनके पुरविन्यास में परिखा, प्राकार, वप्र, द्वार, अट्टालक, महापथ, प्रासाद, कोष्ठागार, सभा, चत्वर, वीथी, जलाशय आदि वास्तु के अनेक अंग प्राप्त हुए हैं। वप्र मिट्टी कूट कर बनाया हुआ थूहा था जिसके ऊपर प्राकार खड़ी करते थे। हड़प्पा के कोटले में पचीस फुट चौड़ा वप्र मिला है। उसके ऊपर ईंटों का परकोटा (इष्टका-प्राकार) बनाया गया था जिसके बीच-बीच में बुर्ज (अट्टालक) थे और मुख्य दिशाओं में ऊँचे गोपुर या द्वार थे। सम्भवतः चारों ओर परिखा भी थी जो नदी जल से भरी जाती थी। दुर्ग का यह रूप कौटिलीय अर्थशास्त्र के वर्णन से मिलता है। इसकी पहचान ऋग्वेद के पुर से की जाती है जो यथार्थ ज्ञात होती है। ऋग्वेद में असुरों के ९९ पुरों का उल्लेख आता है। अबतक की खोज में लगभग सिन्धु सभ्यता के इतने ही स्थान रावी, सरस्वती, सिन्धु और नर्मदा की नदी-

द्रोणियों में खोज से मिल चुके हैं। हड़प्पा का दुर्ग उत्तर से दक्षिण ४००–५०० गज और पूर्व
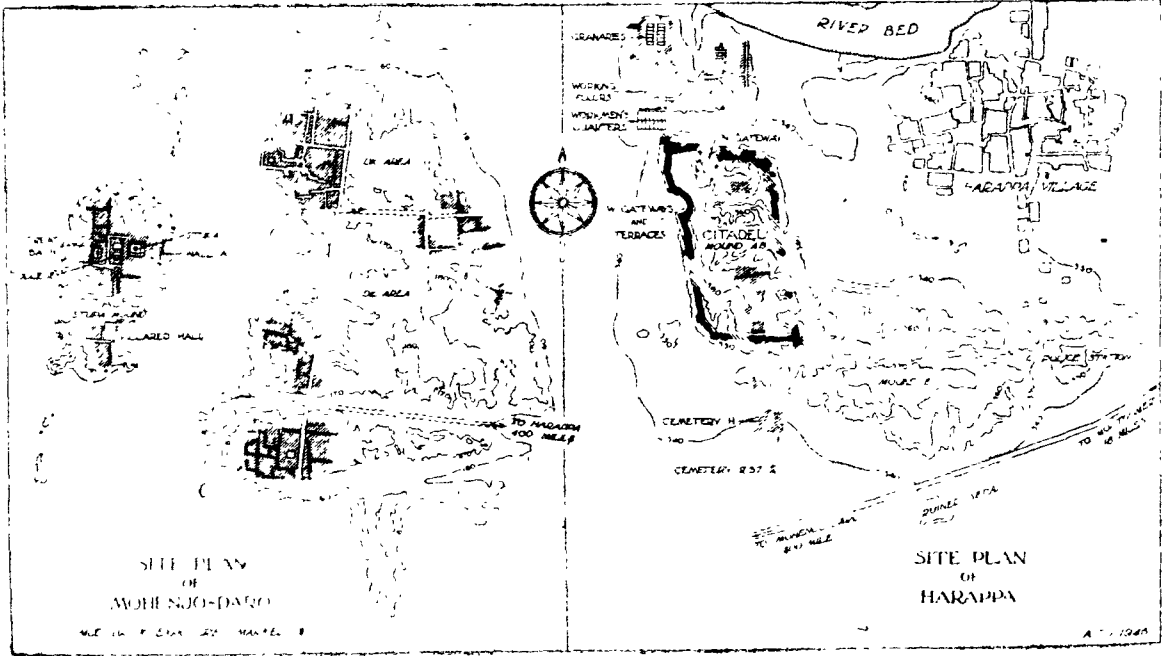
चित्र ११

से पश्चिम २००–३०० गज लम्बा है जिसका चौभीता घेरा तीन मील है।

कोट के भीतर नगर चौड़े महापथों से विभक्त था जो चतुष्पथों के रूप में एक दूसरे से मिलते थे और फिर उनसे कम चौड़ी रथ्याओं और वीथिओं में बँट जाते थे और समस्त पुर को भी कई चाक या मुहल्लों में बाँटते थे। पुरनिर्माण के आरम्भ में वास्तु-विद्याचार्यों ने उसका जैसा विन्यास किया था वह लगभग उसी रूप में एक सहस्र वर्षों के अन्त तक बना रहा। इससे यह भी सूचित होता है कि वहाँ के निवासी पौरसभा के निर्माणसम्बन्धी नियमों का धार्मिक आस्था से पालन करते थे। सड़क और गलियों की ओर घरों को फैला कर उन्हें दबाने के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। नगर के इतिहास के संध्याकाल में इस नियम की कुछ उपेक्षा पाई जाती है।

नगर का मुख्य राजमार्ग ३३ फीट चौड़ा है। उस पर कई गाड़ियाँ एक साथ चल सकती हैं। कम चौड़ी सड़कें १२ फीट से ९ फीट तक हैं। इसके बाद ४ फुट तक चौड़ी गलियाँ भी हैं। सड़कों पर ईंट बिछाकर उन्हें पक्की करने का रिवाज नहीं था। केवल बीच में बहने वाली नालियों को ईंटों से पक्की बनाकर ईंटों से ही ढँकते थे।

घर प्रायः एक सीध में और गलियों की ओर मुहार रख कर बनाए जाते थे। उनकी माप प्रायः २७ फुट × २९ फुट या बड़े घरों की इससे दुगुनी होती थी। उनमें कई कमरे, रसोईघर, स्नानघर और बीच में आंगन होता था और वे दुखण्डे बनाए जाते थे। सड़कों की ओर ईंटों से चिनी हुई भीतें १८ फुट मिली हैं और गलियों में २५ फुट तक ऊँची मिली हैं। घर एक दूसरे से सटा कर बनाने की चाल थी पर कभीकभी दो घरों के बीच में फुट भर का गलियारा भी रखा जाता था। सुरक्षा और परदे की दृष्टि से द्वार या ड्योढ़ी गली की ओर ही रखी जाती थी। भीतों के लिए पक्की

नींव देना, उन पर सीधी दीवारें खड़ी करना, ऊपर लकड़ी की धरन या पाटन दे कर छतें पाटना और भीतों में हवा और रोशनी के लिए पत्थर की जाली लगाना ये युक्तियाँ वहाँ की गृह-निर्माण कला का अंग थीं। चिनाई का ढंग एकदम सादा था और उसमें किसी तरह का मंडान बांधने की प्रथा न थी। घीया पत्थर की बनी हुई कुछ थोड़ी सी जालियाँ या दीवारों में लगे हुए झरोखे बचे हैं। औसत द्वार ३ फुट ४ इंच चौड़ा और ऊंचाई में इससे दुगुना होता था। उनमें लकड़ी की किवाड़ें थीं जो अब गल गई हैं। २७ फुट १० इंच तक चौड़े दरवाजे मिले हैं। घरों में पत्थर का काम बहुत करके नहीं था। पत्थर के खम्भे तो क्या ईंटों के खम्भों का रिवाज भी बहुत कम था। बचे हुए खम्भे चौकोर या आयताकार हैं, गोल नहीं।

कमरों में फर्श पक्के न थे केवल मिट्टी कूट कर कच्चे रखे जाते थे। स्नान की कोठरियों में छिली ईंटें लगाकर फर्श में एकदम ऐसी सच्ची जुड़ाई करते थे कि बूँद भर पानी भी न मरने पावे। मोटी दीवारों में पक्की मिट्टी के नल लगा कर ऊपरी कोठे का नहानेधोने का पानी नीचे उतार कर सड़क की ओर की नालियों में बहा दिया जाता था। इससे होने वाली स्वच्छता हड़प्पा संस्कृति की विशेषता थी।

प्रायः हर अच्छे घर में मीठे पानी से भरा हुआ गहरे सोते का कुआँ था। वह सूजापट्टी ईंटों की चोखी जुड़ाई से बनाया जाता था। कुएँ के मुँह पर कुछ ऊँची मुड़ेर रहती थी जिसकी ऊपरी कोर पर रस्सी आने-जाने के निशान अभी तक बने हैं। कुएँ की जगत पर घड़े या मटके रखने के स्थान में प्यालियों जैसे उथले गड्ढे मिले हैं। औसत कुएँ की चौड़ाई ३ फुट है पर उससे कम २ फुट तक के इनारे भी मिले हैं। पानी के बहाव के लिए बनाई हुई नालियों से जाना जाता है कि लोगों ने इस ओर बहुत ध्यान दिया। हरेक सड़क या चौड़ी गली के बीच में पक्की ईंटों की नालियाँ गारे की जुड़ाई से बनाई गई हैं। बड़ी नालियाँ १८ इंच तक चौड़ी हैं और उनमें ईंटों की जुड़ाई कंकड़ के चूने या फूँके हुए संगजराहत के चूने से की गई है। घर-घर की नालियाँ सड़क की नालियों से मिली रहती थीं। सड़क की बहती नालियों के बीच में लकड़ी के ढकन से ढके हुए उथले गड्ढे या भट रखे जाते थे जिससे पानी के साथ बहता हुआ कूड़ाकचरा और गरद या कीच उनमें बैठ जाए जिसे कुछ दिन पर साफ कर दिया जाता था। ये नालियाँ अन्त में जाकर दो ढाई फुट चौड़े ५ फीट ऊँचे छोटे नाले में मिल जाती थीं, जो धोवन के पानी के साथ मेह के पानी को भी बहा ले जाता था। जान पड़ता है कि लोग शरीर की स्वच्छता का उतना ही महत्त्व मानते थे जितना धर्म का। इसे देखकर हमें उपनिषद् के उस उल्लेख का ध्यान आता है जिसमें कहा गया है कि असुर जाति के लोग शरीर को ही आत्मा मानते थे। उनका विश्वास था कि प्रेत या मृत शरीर का संस्कार भोजन, वस्त्र और अलंकार से करना चाहिए (असुराणां ह् ्येषोपनिषन् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्ति, छां० उप० ८।८।५)। यह उल्लेख हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों के स्मशान या शिविकासम्बन्धी अवशेषों पर सटीक बैठता है। अतएव अनुमान होता है कि यह संस्कृति असुरों की ही थी।

वास्तुशास्त्र की दृष्टि से मोहनजोदड़ो में प्राप्त निम्नलिखित अवशेष ध्यान देने योग्य हैं—

१. परकोटा, गोपुरद्वार और अट्टालकों से युक्त दुर्ग या कोटला।

२. महाकुंड या जलाशय।

३. राजप्रासाद और उसका महासोपान तथा अनेक कमरे जिसे उत्खनन कराने वालों ने "महाविद्यालय भवन" कहा था। वह राजकुल या महल ज्ञात होता है।

४. कोष्ठागार जहाँ अन्न का भण्डार भरा जाता था। हड़प्पा में तो वह पहले ही मिल चुका था पर श्री ह्वीलर की खुदाई में मोहनजोदड़ों में भी उसी से मिलताजुलता कोठार प्राप्त हुआ। इससे सूचित होता है कि दोनों पुरों में शासन और रहन-सहन का बन्धन एक सा था।

ये सब बातेंवास्तुविद्या की उन्नति की सूचक हैं।

५. नगर में एक बड़ा भवन मिला है जो ८५ फुट से ८५ फुट है। उसमें २५ फुट ऊँचे २० खम्भे ५-५ की चार पंक्तियों में थे। ज्ञात होता है कि यह स्थान कई सार्वजनिक कामों में आता था और इसकी पहचान राजकीय सभा-भवन से की जा सकती है अथवा पौरपरिषद् की बैठकों के लिए यह संस्थागार (संथागार) का काम भी देता था।

महाजलकुंड—(३९ फु०×२३ फु०×८ फु०) यह जलद्रोणि एक बृहत् स्नानागार के मध्य में है जो १८० फु०×१०८ फु० लम्बा-चौड़ा था। सिंधु सभ्यता में धार्मिक कार्यों के लिए और शरीर-संस्कार के लिए स्वच्छता का जो ऊँचा आदर्श था उसी की व्याख्या मानों यह बृहत् स्नानागार या विशाल मार्जनगृह है। कुंड में उतरने के लिए आमनेसामने दो सीढ़ियाँ हैं और उसके पक्के बँधे हुए पाल
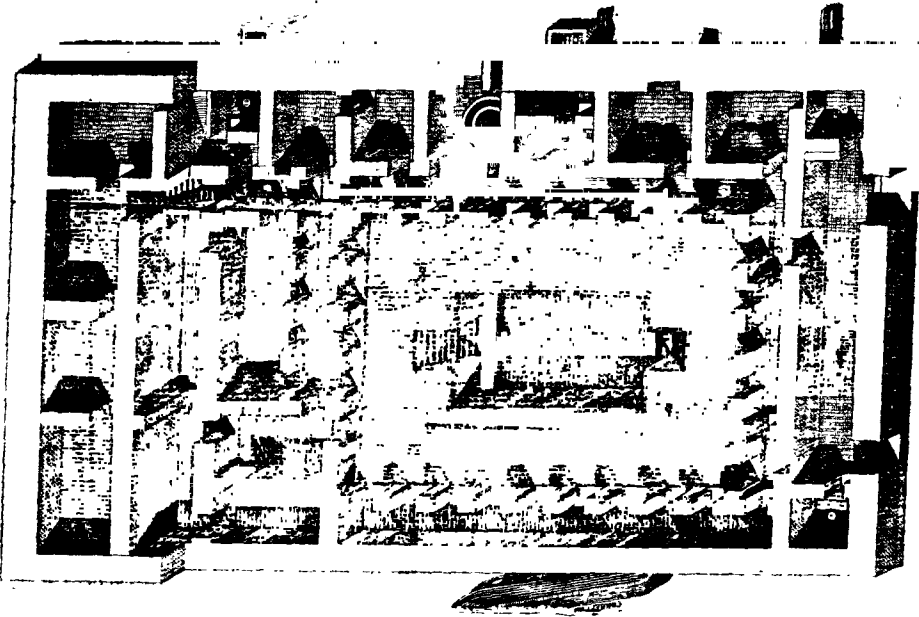
चित्र १२

या कगार पर तीन ओर खम्भे हैं। पास के एक पक्के कुएँ से स्वच्छ जल महाकुंड में भरा जाता था। कुण्ड का तलभाग ईंटों की सच्ची जुड़ाई से एकदम पक्का बनाया गया है कि पानी बिलकुल न छने। चारों ओर की बाहरी भीत भी ऐसी ही पक्की और पानी के रिसने के लिए अगम है। पहली भीत में भीतर की ओर एक इंच मोटा अलकतरे के मसाले का लेप है और बाहर की ओर भी चूने का मोटा पलस्तर है। दूसरी और तीसरी भीत पहली के साथ कुटी मिट्टी से जोड़ी गई थी जिससे तीनों एक-दिल बन गई थीं। एक कोने में बनी पानी निकालने की मोरी बाहर की ओर एक बड़े नाले में मिल जाती थी। कुंड के किनारे पतले खम्भों पर तीन ओर दालान और उसके पीछे कोठे बने हुए थे (चित्र १२)।

धान्यागार—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों स्थानों में दो बड़े धान्यागार या कोठार (१५० फु०×७५ फु०) हैं। पक्की ईंटों से रचे हुए इस भवन में २७ कोठे थे जिनमें अन्न भरा जाता था और वे यों बनाए गए थे कि हवा के आनेजाने का भी प्रबन्ध रहे। उसी के एक ओर माल भरने और निकालने
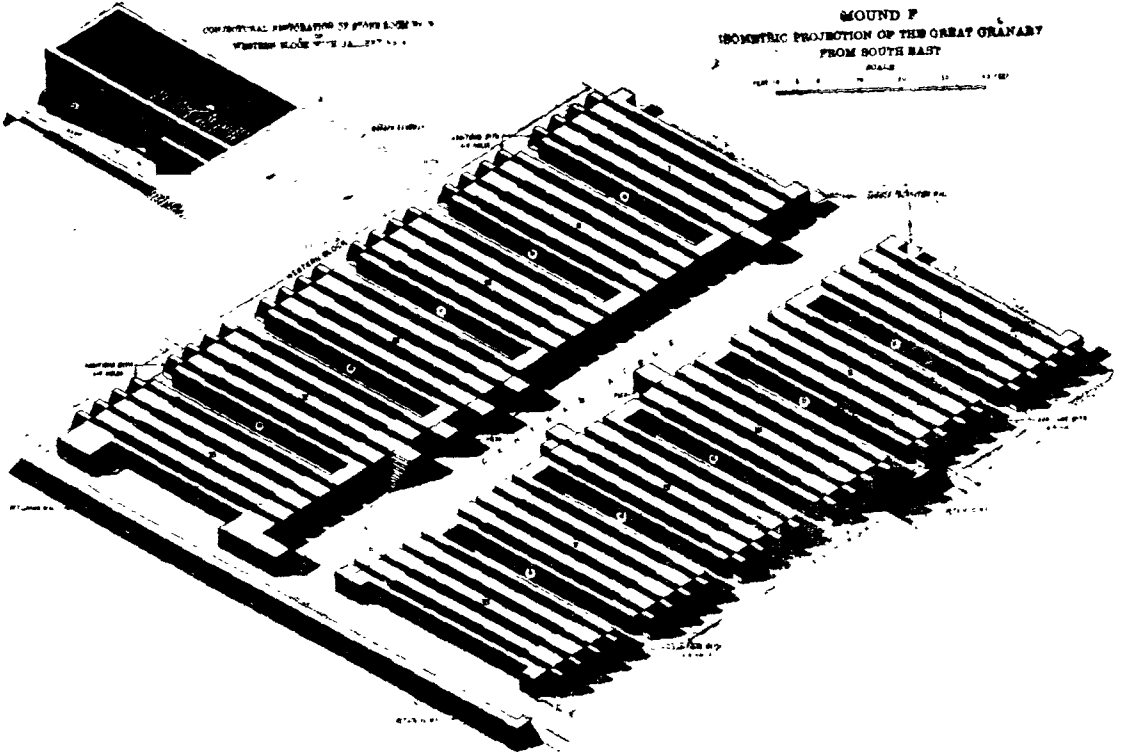
चित्र १३

के लिए मचान या ऊँचा मंच भी बनाया गया था (चित्र १३)। हड़प्पा में कोठार से लगे हुए कुछ गोल पक्के चबूतरे मिले हैं जिनपर ऊखलमूसल से अन्न कूट कर मेहनती लोग आटा बनाते थे। इस प्रकार नग का धनिक वर्ग किसानों के उपजाए अन्न से अपना पोषण करता था।

ऊपर कहे हुए वास्तु के अवशेष सूचित करते हैं कि कोट के भीतर राजनीतिक और आर्थिक संगठन कैसा था। उदाहरण के लिए, वप्र, प्राकार, गोपुर और अट्टालकों से रक्षायुक्त दुर्ग का निर्माण किया गया था जिसमें नगर-गुप्ति के सब साधन थे। दूसरे, बुखारियों के लिए अन्न के भाण्डार-रूप में धान्यागार की सुन्दर व्यवस्था की गई थी। अन्न से भरा हुआ कोठार वहाँ के आर्थिक जीवन की मानों धमनी थी। तीसरे, पौर-परिषदों के लिए बड़ा सभा-भवन या आस्थानमंडप था जिसकी तुलना संस्थागार से की जा सकती है। चौथे, वह स्थान जिसे भूल से "महाविद्यालय" कह दिया गया है; वह वहाँ का राजप्रासाद प्रतीत होता है जिसमें कार्यनिर्वाह और निवास के लिए अनेक खंड थे।

इसके अतिरिक्त पाँचवाँ बड़ा स्नानागार या कुंड है। इसकी रचना के मूल में सविशेष हेतु रहा होगा। ज्ञात होता है कालांतर में जिसे मंगल-पुष्करिणी कहते थे वही यह था। सम्भवतः पुर-

शासन के मूर्धाभिषिक्त सदस्य ही इसमें स्नान के अधिकारी थे; जैसी प्रथा वैशाली के राजाओं में थी। यही प्राचीन पुरविन्यास था जिसका सटीक उदाहरण मोहनजोदड़ो में उपलब्ध हुआ है। वास्तुकला का यह भरापूरा चित्र, जो पुरातत्त्व से प्रकाश में आया है, ताम्रयुग के इन पुरों की ऐतिहासिक युग के दुर्गविधान के साथ तुलना करने पर एक से दूसरे का विकास सूचित करता है। कालांतर में भी दुर्गों का सूत्रमापन इसी प्रकार का होता था जैसा कि अर्थशास्त्र में आया है। वहाँ के नगर-जीवन में अभी तक एक ही कमी रह गई है, वह यह है कि किसी मन्दिर या देवस्थान का अस्तित्व न होना। सम्भवतः बौद्धकालीन स्तूपवाले टीलों के नीचे वह ढँका है।

लोथल में उपलब्ध गोदी (अं० डौक)—अहमदाबाद जिले के लोथल स्थान में सरगवाला टीला ताम्रयुग का है। वहाँ दो मील के घेरे में बसा हुआ नगर मिला है जो छह खण्डों में विभक्त था। वहाँ १९५८-५९ में अन्य अवशेषों के साथ ही समुद्री जहाजों के काम आने वाली एक बड़ी गोदी पाई गई है।

इससे सिद्ध होता है कि लोथल सिन्धु सभ्यता के युग में सौराष्ट्र का बड़ा पोतपत्तन (बन्दरगाह) था जिसका जलीय सम्बन्ध सिन्धुसागरसंगम के समुद्रपत्तन के साथ जुड़ा हुआ था और वहां से वह स्थलमार्ग आगे बढ़ कर मोहनजोदड़ो तक चला जाता था। इस गोदी का आकार विषमभुज वर्ग जैसा है जिसके पूर्व-पश्चिम की लम्बाई ७१० फुट है, उत्तर की १२४ फुट और दक्षिण की
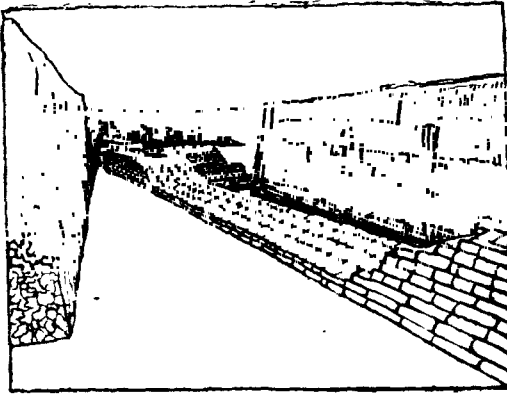
चित्र १४
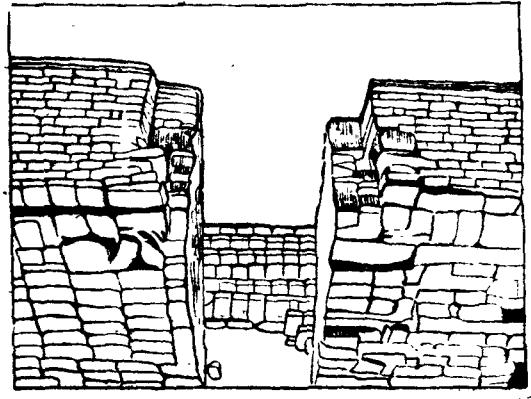
चित्र १५

११६ फुट। छलके या धक्के की ऊँचाई १४ फुट है। गोदी की रचना विचित्र ढंग से की गयी थी। ज्वार के समय बड़ी नावें पूर्वी द्वार से भीतर आ जाती थीं और उसी के पास बनी हुई छोटी भीत भाटे के समय पानी रोक रखती थी। दक्षिण की ओर अतिरिक्त पानी के निकास के लिए एक पुलिया थी जिसके मुहाने पर छलके के रूप में दो खाइयों में तख्ते फंसा कर जल-फाटक बनाया गया था जिसके ऊपर से बिखरता हुआ पानी बाहर बह जाता था (चित्र १४-१५)।

मूर्ति शिल्प—सिन्धु उपत्यका में पाषाण-शिल्प का भी विकास हुआ था। उसकी ११ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उनके अतिरिक्त हड़प्पा के टीले की खुदाई में दो छोटी मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें शरीर का केवल मध्ययष्टि या मझलेट भाग सुरक्षित बचा है।

इनमें सबसे विशिष्ट एक मूर्ति है जिसमें कायभाग के साथ मस्तक भी सुरक्षित है। वह उत्तरीय ओढ़े हुए है जिस पर तिफुलिया अलंकरण खचित है। उसमें किसी समय सिन्दूरिया रंग भर कर शोभा उत्पन्न की गई थी। त्रिफुलिया अलंकरण का प्रचार मिस्र, क्रीत, मेसोपोटामियाँ आदि देशों में भी था जहाँ उसका सम्बन्ध देव-मूर्तियों के साथ था। सिन्धुघाटी में भी त्रिफुलिया का प्रयोग सेलखरी की या उसके मसाले से बनी हुई गुरियों पर मिला है। सिर पर सावधानी से काढ़ी हुई पटियाँ हैं जो सामने की ओर पहने हुए 'पात' से जमाई जाती थीं। मूल में यह पात लम्बे, सुनहले फीते की भाँति था जिसके कई वास्तविक नमूने पाए गए हैं। मूर्ति के नेत्र लम्बे, कम चौड़े और अधमुँदे हैं। पर उसका ललाट छोटा और कुछ पीछे की ओर ढलुआँ है। उसकी तुलना में मुँह का गोला कुछ बड़ा है। इन लक्षणों से यह मूर्ति तिम्रा-उफ्रातु की समसामयिक मूर्तियों से अपनी भिन्नता रखती है। पर दोनों में कुछ साम्य भी हैं—जैसे सफाचट्ट ऊपरी होठ, आँखों में पच्चीकारी का काम और मोटी कोतल गर्दन। अर्धनिमीलित नेत्रों से सूचित होता है कि यह किसी नासाग्र-दृष्टि वाले योगी की मूर्ति थी। इसमें कुछ आश्चर्य न मानना चाहिए क्योंकि सिन्धुघाटी में योगविद्या का प्रचार पशुपति शिव की पर्यंकबन्ध मुद्रा से भी सूचित होता है। किश और ऊर से प्राप्त कुछ अति प्राचीन मृण्मूर्तियों में भी नेत्रों की यह मुद्रा मिली है।

चित्र १६

सिन्धुघाटी के कुछ दूसरे पाषाण मस्तकों में निम्नलिखित लक्षण देखे जाते हैं—

१—एक श्वेत पाषाण का मस्तक (५½ इंच)। इसकी एक आँख में पच्चीकारी का काम है और कान शुक्तिकर्ण या सीपी की आकृति के कुछ बैठे हुए हैं।

२—श्वेत पाषाण का मस्तक (ऊँचाई लगभग ७ इंच), छोटे कटे हुए बाल, पीछे की ओर बँधा हुआ जूड़ा, सामने पात, सफाचट उत्तरोष्ठ, सीपी जैसे कान, आँखों में पच्चीदार पुतली और गालों पर डौलियाया हुआ काम स्त्री मूर्ति जैसा है पर कुपटी हुई छोटी दाढ़ी से ज्ञात होता है कि यह अवश्य ही पुरुषमूर्ति का मस्तक था।

३—घीया पत्थर की पुरुष मूर्ति का अधोभाग (ऊँचाई ११ इंच), नीचे की धोती तहमद की तरह बँधी है, ऊपर बाँयें कन्धे पर शाल जैसा उत्तरीय है। पीठ पर गुँथे हुए बालों की वेणी है, जैसी स्त्री मूर्तियों में होती है। इसकी गढ़ाई साधारण है। पैर लटका कर बैठने का ढंग कुछ-कुछ मथुरा की वेम-तक्षम मूर्ति से मिलता है।

४—श्वेत पाषाण की मूर्ति का मस्तक (७ इंच ऊँचा); बालों का पीछे बँधा हुआ जूड़ा है जिसमें तीन पटियाँ हैं, कान सीपीनुमा हैं, आँखों में कभी पच्चीकारी का भी काम था। ठुड्डी सफाचट्ट है, चेहरा भी डौल से बेढब बड़ा है।

५—घीया पत्थर की बैठी हुई पुरुष मूर्ति (१६½ इंच ऊँची) जिसका दाहिना घुटना उठा है (उत्फुटितासन), हाथ जानुअवलम्बित मुद्रा में या घुटनों पर टिके हैं। ठुड्ढी पर दाढ़ी के बाल हैं पर उनकी फसल साफ स्पष्ट नहीं है। कभी आँखों में पच्चीकारी का काम था; सिर के चारों ओर पात का गहना था जिसके दोनों छोर पीछे लटकते हुए दिखाए गए हैं।

६—श्वेत पाषाण की खण्डित मूर्ति, जिस पर पहले ओप थी। एक घुटने पर हाथ टिका है।

७—श्वेत पाषाण की बैठी हुई दुटही मूर्ति (८½ इंच ऊँची)। हाथ घुटने पर टिका है, टखनों के चारों ओर छेद बने हैं जिनमें नूपुर पिरोए जाते थे।

८—पुरुष की बैठी हुई अधबनी श्वेतपाषाण मूर्ति (८½ इंच ऊँची); हाथ घुटनों पर टिके हुए हैं। टाँगों पर तहमद बँधी है। सिर के चारों ओर पात का गहना है।

९—श्वेत पाषाण की एक संयुक्त पशुमूर्ति (१०″ ऊँची) जिसमें शरीर मेढ़े का और माथा सूँड़दार हाथी का है। सम्भवतः इसका धार्मिक महत्त्व था। इस प्रकार के संयुक्त देहधारी पशु सिन्धु-घाटी की मोहरों पर भी अंकित हैं।

इन मूर्तियों की डौलाई बँधे हुए ढर्रेदार और घटिया है। ये बाद की परतों में मिली हैं।

हड़प्पा की दो कबंध मूर्तियाँ—हड़प्पा से दो मूर्तियों के रुण्ड पाए गए हैं जिन्हें प्रायः सभी विद्वान असल में वहीं की मानते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि हड़प्पा के शिल्पी कितने ऊँचे दर्जे का स्वाभाविक शिल्प गढ़ सकते थे। इन मूर्तियों की सजीव डौलाई बड़ी प्रभावशालिनी है और उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों भारतीय शिल्प के ऐतिहासिक युगों की दीदारगंज यक्षी जैसी कुछ मूर्तियाँ हमारे सामने आ गई हैं। ये दोनों लगभग ४ इंच ऊँचे केवल कबन्ध मात्र हैं। उनके मस्तक और पैर टूट गए हैं। एक लल्छौंह और दूसरी धुमैले रंग की है। एक सम्मुखदर्शन की है। उसके उरोभाग और पृष्ठभाग की डौलाई बड़ी सजीव है। उदर का भाग कुछ भारी है। उसके स्तनाग्र ऊपर से बैठाए गए थे (चित्र १७)।
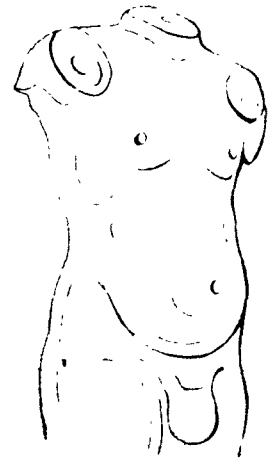
चित्र १७

धुमैले पाषाण की दूसरी मूर्ति नृत्यमुद्रा में है। इसके ऊपर मुण्ड भाग अलग से बैठाया हुआ था। भुजाएँ और टाँगें भी एक से अधिक भागों में अलग से जोड़ी गई थीं। चूचुक या दुद्धियों के सिरे पच्चीकारी से बैठाए गए थे (चित्र १८)। देह के विभिन्न अंगों का निम्नोनत विभाग या उतार-चढ़ाव का बँटवारा और भारी नितम्बभाग सूचित करते हैं कि यह स्त्री मूर्ति थी। इसके कई अंग स्त्री-सौन्दर्य की ओर संकेत करते हैं जैसे, मध्ये संग्राह्या पतली कमर, पश्चाद् वरीयसी चौड़े जघने, पृथुश्रोणि स्थूल नितम्ब (शतपथ ब्राह्मण १,२,५,१६), पीठ पर बींधे हुए छेद जो बाल लगाने के लिए थे, कम चौड़ा स्कन्ध देश (विमृष्टान्तरांसा, शतपथ ब्राह्मण १,२,५,१६;३,५,१,११), स्त्री-जनोचित सुकुमार अंगयष्टि व समस्त शरीर-भार का दाहिने पैर पर संतुलन और बाएँ पैर का नृत्यमुद्रा में दाहिनी ओर लयात्मक या तालात्मक प्रक्षेप। इन लक्षणों से इसका स्त्री मूर्ति होना ही संभव ज्ञात होता है। यह अवश्य मानवीय या दिव्य नर्तकी मूर्ति थी।

चित्र १८

इन दोनों मूर्तियों की ठीक पहिचान पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। वपुष्मान पुरुष मूर्ति सर्वथा असाधारण है। इससे हमारा ध्यान उस महानग्न देव की ओर जाता है जिसका अथर्ववेद में उल्लेख है। दिगम्बर रूपी देव रुद्र-शिव में वही

भाव चरितार्थ होता है। दूसरी ओर उसी मन्त्र में महानग्नी का भी उल्लेख आया है जो विश्व की प्रकृतिस्वरूपिणी शाश्वती स्त्री या मातृदेवी की सूचक है (महानग्नी महानग्नं धावन्तम् अनुधावती, अथर्वेद २०,१३६,११)। इस प्रकार की दो विशिष्ट दिगम्बर मूर्त्तियों का अंकन हड़प्पा की इन मूर्त्तियों के साथ नितान्त संगत है। सिन्धु संस्कृति में रुद्र-पशुपति और महीमाता इन दोनों की मूर्त्तियाँ मिली हैं। मातृदेवी की तो अनेक मृण्मय मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ज्ञात होता है कि किसी प्रतिभाशाली कलाकार ने आभरणादि उपकरणों के माध्यम से ऊपर उठकर दिगम्बर देव और महानग्नी देवी की इस कल्पना को मूर्त्त रूप से ढाला है और इसमें उसे आशातीत सफलता मिली है। उसने अपने ध्यान की शक्ति से मूर्त रूप की परिपूर्णता को व्यक्त कर दिया है। कला में इस प्रकार की असाधारण अभिव्यक्ति बहुत कम देखने में आती है। पुरुष मूर्त्ति में स्थितशील मुद्रा उस संयत शक्ति की परिचायक है जो कालान्तर में महाकाय यक्ष मूर्त्तियों में निबद्ध है। इसके विपरीत नृत्य करती हुई स्त्री की मूर्त्ति गतिभाव या संचरण-शीलता से उपपन्न है। इन दोनों मूर्त्तियों के विशिष्ट दर्शन से मन पर उनके दिव्य स्वरूप की छाप पड़ती है और दोनों से किसी अनुत्तर शक्ति का संस्कार परिगृहीत होता है।

ताम्र मूर्तियाँ—मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक नर्तकी की मूर्त्ति (४३/४") रुचिर और भावयुक्त है। उसके पैरों का भाग टूटा हुआ है। दाहिना हाथ लताहस्त या कट्यवलम्बित मुद्रा में है। बाहुओं में कटकावली या बंगड़ी भरी हुई हैं जिन्हें ऋग्वेद में खादयः कहा है। सिर एक ओर को कुछ झुका हुआ है और उस पर घुँघराले बाल हैं जिनका पीछे की ओर जूड़ा बँधा हुआ है। आँखे बड़ी और अधमुँदी सी हैं। लंबी टाँगों और भुजाओं के साथ सूक्ष्म कटि की मुद्रा सूचित करती है कि यह नृत्य-कला में चिर-अभ्यस्त किसी नर्तकी की मूर्ति है (चित्र १९)। ऋग्वेद में नृतु का उदाहरण इसी प्रकार की मूर्ति के लिए आया हुआ जान पड़ता है।
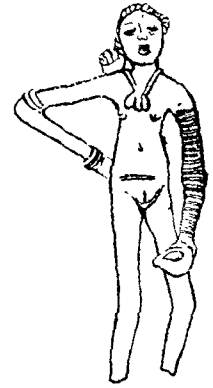
चित्र १९

इस मूर्ति से तथा ताँबे की अन्य मूर्तियों से ढलाई की वह प्रक्रिया सूचित होती है जिसे संस्कृत में मधूच्छिष्ट कहा जाता था। वह पाँच सहस्र वर्षों तक ज्ञात रही और उसीके द्वारा दक्षिण में नटराज एवं सुलतानगंज की ताम्रमयी बुद्ध मूर्ति का निर्माण हुआ। सिंधुघाटी में ताँबे का विशेष प्रयोग होता था जिसके लिए वैदिक शब्द अयस् था। उस समय लोहे का परिचय नहीं था। वे ताँबे में १०% राँगा मिला कर काँसा नामक मिश्रित धातु बनाते थे।

कालान्तर में बना हुआ किसी साँचे की मूर्ति का पैर जो नूपुर पहने हैं अधिक कलात्मक है। काँसे की मूर्तियों में महिष और मेढ़े की मूर्तियाँ अत्यन्त स्वाभाविक हैं जिनकी माँसपेशियों से सहज बल सूचित होता है।

सिंधुघाटी की मानव मूर्तियाँ अपनी विशेषता रखती हैं। सुमेर से प्राप्त मूर्तियों में नेत्रों की आकृति गोल होती है किन्तु हड़प्पा में वे लम्बोतरी और अधमुँदी पलकों वाली हैं। बेबीलोन और मिस्र में ऐसी आँखे पाई जाती हैं जिनमें पच्चीकारी का काम है। मोहनजोदड़ो की मूर्तियों में मेढ़े जैसी कोतल गर्दनें बावेरु की अपेक्षा अधिक मोटी हैं। पीछे की ओर ढलुआँ माथा और लम्बी नाक

वहाँ और यहाँ एक जैसी है। शुक्तिकर्ण या सीपीनुमा कान बनाने में भारतीय शिल्पी ने निजी विशेषता का पालन किया है। यद्यपि मूर्तियों की संख्या परिमित है पर उनसे सूचित होता है कि सिंधु-घाटी के शिल्पी अपनी विशेष शैली अपना रहे थे।

मृण्मयी मूर्तियाँ—वे लाल रंग की बढ़िया गूँधी हुई ठोस पकाई मिट्टी की बनी हुई हैं। उन पर लाल मिट्टी का पोत और कभी कभी चटक रँग भी है। मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं—एक मनुष्यों की, दूसरी पशुओं की। पहले वर्ग में स्त्री और पुरुष दोनों की मूर्तियाँ हैं।

पुरुष मूर्तियों में लम्बी नाक, सफाचट ठोड़ी, पीछे की ओर ढलुआँ माथा, लम्बी कटावदार आँखें, चिपकाया हुआ कटुआँ मुख, डौलिया कर बनाया हुआ भोंडा धड़ आदि लक्षणों से सूचित होता है कि बनाने वाले ने इनमें विशेष रुचि नहीं ली। वे या तो धार्मिक या सामान्य दुनियावी मनुष्यों की थीं। कुछ मूर्तियों के सींग हैं और कुछ सींगदार मुखौटे या चेहरे भी मिले हैं जो साँचों में ढाल कर बनाए गए थे और जिनकी आँखे तिरछी हैं। ज्ञात होता है कि वे आरक्षार्थ काम में लाए जाते थे। साँचों का प्रयोग सीमित होने पर भी उल्लेखनीय है। एक मूर्ति दोनों ओर से दो साँचों में दबा कर ढाली गई है। ऋग्वेद में द्विशीर्ष महादेव का उल्लेख आता है (ऋ० ४, ५८, ३)। यद्यपि सामग्री बहुत कम है पर एक विशेष जाति के लोगों की सूचना उस मूर्ति से मिलती है जो ह्वीलर को १९५० के उत्खनन में मोहनजोदड़ो से मिली थी और जिसमें पीछे की ओर ढलुआँ माथा, लम्बी नाक के साथ मोटी गर्दन और तिरछी टोपी ये लक्षण प्राप्त हुए। इस मूर्ति से अनुमान होता है कि खेतिहर लोगों में किसी विशेष जाति के व्यक्ति मिले हुए थे।

स्त्री मूर्तियाँ—मृण्मयी मूरतों में स्त्री मूर्तियाँ बहुत प्रभावोत्पादक हैं। वे गहनों से लदी हुई हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त DK. २३८४ संख्यक मूर्ति के मस्तक पर पंखे के समान फैला हुआ एक आभरण है जो ऋग्वेद में वर्णित ओपश जान पड़ता है। वह सुन्दर स्त्री का आभूषण था। और, उसके निचले भाग में एक पात या फीता बँधा हुआ है जिसका फुँदनेदार छोर दाहिने कान के पास दिखाया गया है। पटियादार बाल (कपर्द) और कानों के झुमके भी दिखाए गए हैं। कुछ मूर्तियों में कानों के पास तिकोनी कुल्फी जैसा आभूषण भी है जिसकी पहचान ऋग्वेद में उल्लिखित कुरीर से की जा सकती है। इस प्रकार के पात और सोने के बने कुल्फीनुमा नमूने भी पाए गए हैं। बाहुओं में भुजबन्द (खादि), गले में कंठा और छाती पर पाँच छोटे बड़े हार पहने हुए यह मूर्ति सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इन हारों में एक महाहार कन्धों पर चढ़ा हुआ है और नीचे करधनी को छू रहा है। इनमें से चार हारों में लम्बोतरी गुरियों की लटकन है और पाँचवें महाहार पर कमलों के फूल ठप्पे से बनाए गए हैं। करधनी के तीन चौड़े लपेट जो सामने की ओर पदक से कसे हैं उसके स्त्रीत्व के व्यंजक हैं। जंघाओं से नीचे का भाग खंडित हो गया है। कामस्थान का त्रिकोण भाग उभरा हुआ है किन्तु नग्नता का प्रदर्शन नहीं किया गया है। आँखों में गोल पुतलियाँ दिखाई गई हैं। नासावंश लम्बा और ढलुआँ माथे के साथ एक सीध में है। मुखभाग ऊपर से चिपकाई गई मिट्टी की छोटी पट्टी से दिखाया गया है जो बीच में से चीर दी गई है। हार के दोनों ओर ऊँचे उठे हुए स्तन हैं। स्पष्टतः मूर्ति के अलंकरण पर विशेष

चित्र २०

ध्यान दिया गया है। ज्ञात होता है कि उसके द्वारा किसी देवता का अंकन अभीष्ट था (चित्र २०)। एक दूसरी खड़ी हुई मूर्ति में इसी प्रकार के अलंकरण हैं किन्तु सिर पर ऊपर को उठा हुआ ओपश या पंखे जैसा उष्णीष है। डंडे जैसे हाथ-पैरों में उँगलियाँ नहीं दिखाई गई हैं (चित्र २१)। यदि इन मातृ-मूर्तियों की तुलना मथुरा और तक्षशिला से प्राप्त मिट्टी की प्राचीन मातृ-मूर्तियों से की जाय तो दोनों में एक ही परम्परा दिखाई पड़ती है (चित्र २१ अ-आ)। वे एक ही मातृदेवी या महीमाता की मूर्तियाँ जान पड़ती हैं (ऋ० ५।४७।१)। उसकी मान्यता और पूजा न केवल भारत में किंतु ईरान और मध्य-पूर्व एशिया के अन्य देशों में भी प्रचलित थी। साहित्य में उसे असुरों की देवी माया और देवों की माता अदिति कहा गया है। आगे चलकर उसे श्रीलक्ष्मी कहा जाने लगा जिसका एक ओर अपना स्वतंत्र अस्तित्व था और दूसरी ओर उसे विष्णुपत्नी माना गया। सिंधुघाटी से प्राप्त मूर्तियों में उसके कटिप्रदेश के पास एक बच्चा भी कभी-कभी दिखाया गया है जिससे उसका मातृत्व सूचित होता है। एक मूर्ति गर्भवती है जिससे उसका जननी रूप प्रकट होता है। हड़प्पा से प्राप्त एक मातृ-मूर्ति में योनि से निकलता हुआ एक पौधा दिखाया गया है जो मातृत्व का स्फुट प्रतीक है। मातृ-मूर्तियाँ प्रायः वस्त्रहीन हैं किन्तु कुछ मूर्तियों के अधोभाग पर लहँगे जैसा वस्त्र है जो चुन्नटदार ऊन का बना है और जो सुमेर एवं एलम से प्राप्त मूर्तियों में भी मिलता है। उसे वहाँ की भाषा में कउनकेस (सं० गोणी) कहा जाता था। कुछ स्त्री मूर्तियाँ घरेलू भी हैं जो आटा गूँथती हुई या रोटी लिए हुए दिखाई गई हैं।
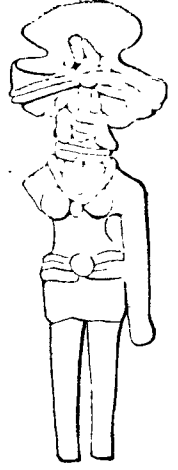
चित्र २१

चित्र २१ अ

मातृ-मूर्तियों की संख्या से प्रकट होता है कि मातृका-पूजन का लोगों के धार्मिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। अलंकरण की समानता, शैली की एक-रूपता एवं विस्तृत प्रदेश में उनकी प्राप्ति से यही प्रकट होता है कि उनका निर्माण धार्मिक पूजा के लिए किया गया था। इस प्रकार की मातृ-देवियों का विस्तार न केवल सिंधुघाटी और ब्लूचिस्तान में था किन्तु ईरान, मेसोपोतामियाँ, फारस, शूषा, लघु एशिया, क्रीट, साइप्रस, मिस्र और भूमध्य सागर तक था। सभ्यताओं के इस विस्तृत क्षेत्र में मातृदेवी की पूजा का विशेष गौरव था यद्यपि उसके नाम विभिन्न थे, जैसे आइसिस, इन्निनी (स्वर्ग की देवी), इश्तर, अनाहिता, अदिति (मातरमदितिं महीम्, यजुर्वेद १८।३०)। कुछ संस्कृतियों में और भारतवर्ष में तो निश्चय ही उसे महती मातृदेवी माना गया है। यह निश्चित है कि सिंधुघाटी के लोगों ने अपने पीछे मातृका पूजन की परम्परा छोड़ी जिसे भारतीय लोगों ने शक्ति, देवी, माताभूमि (हिन्दी भुइयाँ), ग्रामदेवता के रूप में स्वीकार किया और वही आज तक सर्वोपरि देवी या मही माँ के रूप में चली आती है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये मूर्तियाँ कल्याणमयी, भद्रकरणी देवी की हैं किन्तु कुल्ली से कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं जो भयंकर मुखवाली हैं। उन्हें बालकों का खिलौना नहीं माना जा सकता; किन्तु उनमें मृत्यु का भयंकर भाव स्पष्ट है और वे उत्तरकालीन चण्डिका का पूर्व रूप जान पड़ती हैं। उनकी आकृति बहुत ही भीषण है।
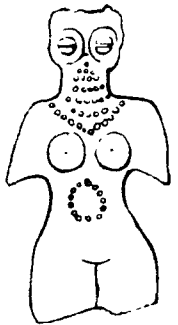
चित्र २१ आ

लगभग तीनचौथाई मिट्टी की मूर्तियाँ पशुओं की हैं जिनमें ककुद्मान् वृषभ विशेष रूप से पाए गए हैं। किन्तु गौ का एक भी नमूना नहीं पाया गया। अन्य पशुओं में हाथी, गैंडा, सूअर, बन्दर, बकरा, भेड़, कछुआ, पक्षी आदि हैं। मोहन-जोदड़ो की ऊपरी सतह से प्राप्त एक भोंडी मूर्ति में घोड़े का नमूना है किन्तु उसकी बनावट से यह पहचान पक्की नहीं जान पड़ती। इसका यही अर्थ हुआ है कि सिंधुघाटी के लोगों में घोड़े का परिचय नहीं था। वृषभ की जैसी उत्तम आकृति मोहरों पर है वैसी ही मिट्टी की बनी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें इस पशु के भीतर भरी हुई शक्ति तगड़ी गर्दन, लोटते हुए टाँट, लेवड़े जैसी मांसपेशियों, लटकते हुए गलकम्बल, त्यौरीदार आँखों और चढ़े हुए ढूसेदार मस्तक द्वारा दिखाई गई है (चित्र २२)।
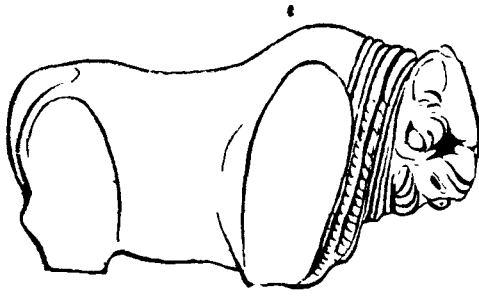
चित्र २२

बर्तन-भाँडे—सिंधुघाटी के कुम्हार मिट्टी के बर्तन-भाँडे चाक पर बनाते थे। ये भाँडे तो सादे हैं और कुछ पर लाल पोत दे कर काली रेखाओं से चित्र बनाए गए हैं। इन्हें भाण्डालेख कहा जा सकता है। कुम्हारों के मुहल्ले में आधे दर्जन आवे मिले हैं जिनमें ये भाँडे पकाए जाते थे। ये आवे ६-७ फुट गहरे गोल गड्ढे हैं जिनकी तली में छेद हैं और वहीं से धुँआ बाहर निकलने की भी युक्ति है। लाल गेरू या हिरमिजी मिट्टी इन बर्तनों पर पोत चढ़ाने के काम में लाई जाती थी।

इन पर रेखा-उपरेखाओं के आलेखन हैं। एक दूसरे के साथ लिपटवाँ घेरे जो सिंधुघाटी के चित्रों की विशेषता है, खड़ी त्रिभंगी या भंगिमायुक्त टेढ़ीमेढ़ी रेखा (sigmas), पड़ी लहरिया रेखाएँ, कंघा, सूर्य जो एक उदाहरण में सहस्ररश्मि का है (मैके, Further Excavation, फलक ७०, ३ अ), खोदी हुई नन्हीं घिर्रियाँ, तारे, बाणमुख, चौफुलिया, चौपड़ जिसमें लाल जमीन पर काले घर बने हैं, जाल, कुंजराक्ष या छोटे घरों की जाली, काटा-कूटीदार कीरीकाँटे का काम जो दो चौकोर या तिकोने घरों को अलग दिखाता है, उत्तानचमू या एक दूसरे पर औंधे ढके हुए जम्मू, मत्स्यशल्क या सहरेसा (fishscale), कलसे के कंठ के चारों ओर बँधा हुआ फीता, ज्यामिति की आकृतियों के अतिरिक्त फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों, और मछली आदि जलचरों के अभिप्राय भी हैं। कुछ चित्रों में चतुष्पद पंक्ति दिखाई गई हैं जो एलम और सुमेर में भी मिलती है। पशुओं की आकृतियों का संबंध वृक्ष-वनस्पतियों से देखा जाता है, विशेषतः पीपल के वृक्ष से जिसके ऊपर मोर बैठे हुए दिखाए गए हैं। मनुष्यों की आकृतियाँ बहुत कम हैं। एक मछुआ अपने कन्धों पर दो जातों की बँहगी (विहंगिका) उठाए हुए चल रहा है (वत्स, हड़प्पा, ६९,१६)। स्मशान एच से प्राप्त मिट्टी के एक ठिकरे पर मृगया का

चित्र हैं जिसमें दाहिनी ओर लुब्धक बाण से मृग का आखेट कर रहा है और बाईं ओर एक

चित्र २३ सैन्धव मृत्पात्रों के अलंकरण-अभिप्राय

कुत्ता हिरन के पीछे पड़ कर उसे फाड़ रहा है। बहुरंगी बर्तन-भाँडों की सामग्री प्राक् हड़प्पा युग की गहराई से अमरी और उत्तरी बलूचिस्तान के नाल में मिली है। (दे० चित्र २३)

बर्तन भाँडों में हैं नुकीली पेंदी के कुल्हड़, तश्तरी, कूँडे, बोतल जैसे अमृतघट, लम्बी गर्दन वाली उष्ट्रिकाएँ, गोल लम्बोतरे लोटे, बेपेंदी के आबखोर लोटे या लुढ़कवाँ घरिया, भागद्रोण या भगौने, टोंटीदार करवे या झारी और एक विशेष प्रकार की गोड़ेदार तश्तरी जो सम्भवतः धूप जलाने या पुष्पार्चन के काम आती थी। यह केवल सिंधुघाटी में मिली है और ताम्रयुग की सभ्यता का चिह्न है। (दे० चित्र २४)

विशेष प्रकार के बर्तन—बर्तनों में कुछ विशेष प्रकार के भाँडे उल्लेखनीय हैं—

(अ) नारियल की आकृति के नुकीली पेंदी के कुल्हड़, जिनकी ऊपरी फुटकदार सतह चेचक जैसे दानों से भरी हुई या कनूकेदार ज्वार की भुट्टियों की तरह है। सिंधुघाटी की तुल्य गहराई पर ऐसे ही कुछ बर्तन बाबेरु देश के तल्ल अस्मर स्थान में भी मिले हैं। वहाँ भी उनकी संख्या परिमित है। सम्भवतः उनका सम्बन्ध सहस्रस्तनों वाली मातृदेवी की पूजा से था।

(ब) **सछिद्र भाँडे**—दो इंच से लेकर ४० इंचों तक का उठान वाले कुछ भाँडे बहुछिद्र युक्त हैं। या तो वे कोयले से गरमाने की अँगीठियों के काम आते थे और या सहस्र जलधाराओं से स्नान का जल छोड़ने के लिए धार्मिक कर्मकाण्ड के विशेष पात्र थे। आज भी मूल नक्षत्र में जन्म लेने वाले बच्चों का स्नान ऐसे करवों से कराया जाता है जिन्हें सत्ताइसा कहते हैं।

(स) **वामनाकृति भाण्ड या कुतकने पात्र**—ये नन्हें बर्तन आध इंच से डेढ-दो इंच तक के हैं। इनकी रचना सुन्दर और ओपदार है और आकृतियाँ भी नेत्रप्रिय हैं। काफी नमूने पकाई मिट्टी के हैं पर उनसे भी कहीं अधिक काचली नफीस मिट्टी (faience) के हैं। समझा जाता था कि वे सुगंधित तेल और सिंगार सामग्री रखने के लिए बनाए जाते थे पर हमारी दृष्टि में इस प्रकार के नन्हें या बचकानी आकृति के कुतकने पात्र आज तक बच्चों के मनोरंजन के लिए बनाए जाते थे। हर घर में कुम्हार और कुम्हारी बड़े बर्तनों के साथ इन्हें भी लाते हैं जिन्हें पा कर बच्चे बड़े प्रसन्न होते हैं। इनमें वे सभी आकृतियाँ रहती हैं जो बड़े कामकाजी बर्तनों में होती हैं। ऐसे बौनी भाँत के लगभग ५०० नमूने राजघाट की खुदाई में मिले थे जो अब भारत-कला-भवन में सुरक्षित हैं। इनका उद्देश्य बालशिक्षण था जिससे बच्चे खेल-खेल में कितने ही प्रकार की आकृतियों से परिचित हो जाते थे।

(द) **खुदे हुए बर्तन भाँडे**—कुछ चौड़ी कढ़ाई या गोड़ेदार तश्तरियों की पेंदी पर चित्र लिपि वाले अक्षर खुदे हैं।

(इ) **हैवानी बर्तन**—कुछ बर्तन हैवानी या पशुओं की आकृति के हैं। एक बैठा हुआ मेढ़ा जिसकी पीठ में गञ्जा या गढ्ढा है इसी नमूने का है।

अन्नादि रखने के बड़े भाँडे नुकीली पेंदी के हैं जो गोल घिर्री या चकरियों को थालू में गाड़
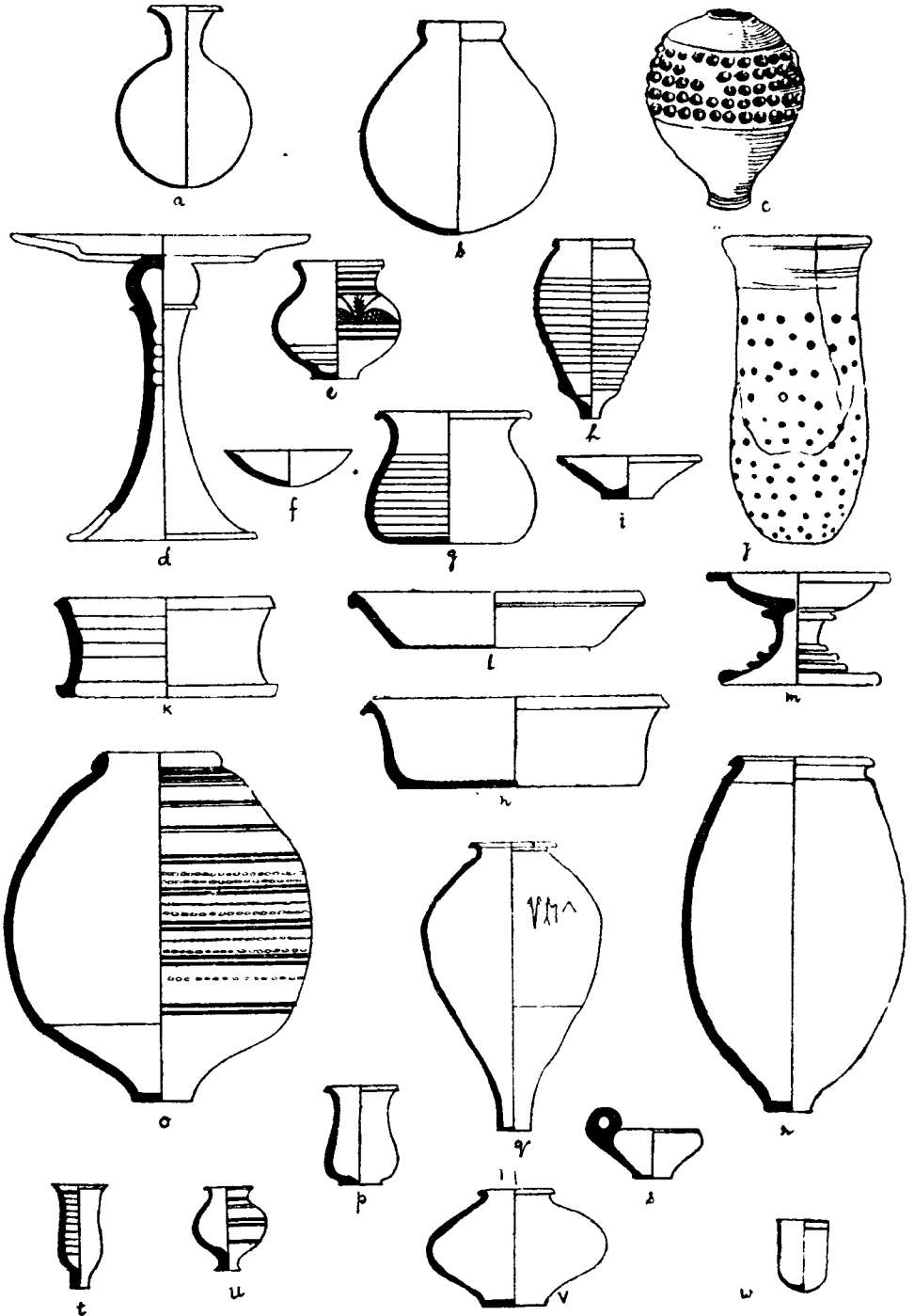
चित्र २४ बर्तनों के आकार-प्रकार

कर उन पर टिकाए जाते थे। कुछ इसी प्रकार गड़े हुए भी पाए गए हैं। सिंधुघाटी के कुम्हारों द्वारा बनाए गए ये बर्तन-भाँडे (कौलालक या कूजागिरी सामान) अधिकांश व्यवहार में प्रयुक्त या कामकाजी प्रयोग के थे। किन्तु रेखा-उपरेखाओं से युक्त उनके अलंकरणों में विशेष सौन्दर्य भी है। विशेषतः नन्हें पात्रों की शोभा तो अत्यन्त आकर्षक है। स्मशानों के शवनिखात-पात्र भी ऐसे ही श्लाघनीय हैं। (दे० चित्र २४)

एक विशेष प्रकार के बहुवर्न्नी या बहुवर्ण्णी पात्रों पर कई रंगों के अलंकरण हैं। पीले पोते या जमीन पर लाल और हरे रंगों में अभिप्राय लिखे गए हैं। चन्हुदड़ो से प्राप्त एक ठिकरा उल्लेखनीय है जिसकी पीली जमीन पर काले, श्वेत और लाल रंगों में पशुपक्षियों की आकृतियाँ चित्रित हैं। इनका सम्बन्ध प्राग् हड़प्पाकालीन नाल से मिले हुए पात्रों से है जिन पर पाँच रंगों से आकृतियाँ लिखी जाती थीं जैसे लाल, नीला, हरा, पीला तथा सफेद।

शवनिखात-पात्रों का वर्ग अलग ही है। हड़प्पा के स्मशान एच में दो ऐसे भूमितल खुदाई में प्रकट हुए जो कुम्हारी काम के बर्तनों से भरे हुए थे। ऊपरी तह में १२० शवनिखात के अर्थात् बड़े घड़ों में रखे हुए अस्थि-अवशेषों के नमूने मिले हैं जिनके आसपास छोटे भाँडे भी रक्खे हुए थे। उससे नीचे की सतह में भूमि पर रक्खे हुए शवों के उदाहरण थे जिनके साथ अनेक स्मशानपात्र भी सँजोए हुए पाए गए। इनमें करवे, प्याले, डंडीदार ऊँची तश्तरी या थालियाँ, ढकन, आबखोरे, गोल पात्र इत्यादि थे। शवकलश या धातुगर्भित घड़े ९$\frac{3}{4}$ इंच से लेकर २३$\frac{3}{4}$ इंच तक ऊँचे और आकृति में लम्बोतरे हैं। उनके निचले भाग में उँगलियों को दबा कर डाली हुई घाइयाँ हैं। छोटे कलश चाक पर उतारे गए थे पर जो बड़े हैं वे दो खण्डों में बनाए जाते थे और ऊपर नीचे के भागों को पिटने से पीटकर बाद में जोड़ दिया जाता था। प्रायः छोटे घटों में बाहर की ओर निकलते हुए ओंठ या कनोठे हैं। उनके ग्रीवाभाग में रेखाचित्र लिखे हैं। स्मशान या पितृवन एच से मिले हुए पात्र आकृति तथा बनावट में उन से भिन्न हैं जो अन्य टीलों की खुदाई में मिले हैं और जिन पर ज्यामिति की आकृतियाँ बनी हैं। शवपात्रों पर मोर का चिह्न सामान्यतः बना है। एक नमूने पर एक महाकाय बकरे (महाज) का चित्र है जिसके सिर पर बड़े सींग हैं जो त्रिशूलाकृति अलंकारों से सुशोभित हैं। दोनों का सम्बन्ध शिव से है। शवपात्रों पर अन्य अभिप्राय ये हैं—तारागण, रश्मिमाला-युक्त मण्डल, लहरिया रेखाएँ, एक दूसरे में पिरोए या नधे हुए त्रिभुजों की पंक्ति, मछली, पल्लव, पेड़-पौधे, उड़ती हुई चिड़ियाँ। भूमिनिखात से प्राप्त हुए शव घड़ों के चपटे पिधान या ढकनों पर लिखे हुए अभिप्राय अत्यन्त प्रभावशाली हैं। उन पर हिरन, मोर, वृक्ष, पल्लव, तारापंक्ति, पक्षी, मछली, पंजा या थापा, फुँदने इत्यादि के चित्र नीचे की ओर लिखे हैं। ये चित्र गोल वृत्त या मंडलों में उसी प्रकार सजावट के साथ लिखे हैं जैसे वेदिकाओं के फुल्लों पर उकेरी हुई पशुपक्षियों की आकृतियाँ और फूलपत्तों की पंक्तियाँ पाई गई हैं (वत्स, हड़प्पा, फलक ६४; स्मिथ, मथुरा का जैन स्तूप, फलक ७१-७३)

सिंधुघाटी से प्राप्त कुम्हारी का काम नाना प्रकार के अलंकरणों से समृद्ध है जिनके अर्थ और व्याख्या के पूरी तरह अध्ययन करने की आवश्यकता है। हमारे अब तक के परिचय से विदित होता है कि इन चित्रों के दो उद्देश्य थे—एक सौन्दर्य या शोभा का उत्पादन और दूसरे धार्मिक भावना की पूर्ति।

कुछ दूसरी फुटकर वस्तुओं में ठोस पहियों वाली एक लढ़िया गाड़ी, सीटीदार चिड़िया, भीतर पड़ी हुई गोलियों से बजते झुनझुने, वर्गाकृति पासे, चम्मच, खेलने की गोलियाँ या अंटे, तकुओं के दमकड़े, चिड़ियों के पिंजड़े और रोटियों के गिंदौड़े जैसे नमूने या टिकड़ हैं।

काचली मिट्टी की वस्तुएँ—(Faience) सिंधुघाटी के कुम्हार एक विशेष प्रकार की काचली नफीस मिट्टी की गूँथी हुई पिट्ठी या मसाला तैयार करते थे। इस मसाले से ये वस्तुएँ बनाई जाती थीं—खिलौने, गहने, कड़े-कंगन, कानों की लौ में पिरोई जाने वाली भोगली या डट्टक, रक्षाकरंडक या ताबीज, बटन, अँगूठी, नन्हें बर्तन, गोलियाँ, खेलने के अण्टे या गुल्ले, चौसर के पासे, पच्चीकारी के लिए तराशे हुए कटावदार टुकड़े, तकुओं के दमकड़े, मुहरें, टिकरे और बटखरे।

यह नफीस काचली मिट्टी, एक विशेष प्रकार के कर्केतन-जातीय संग (quartz) के चूर्ण या महीन पिसान से बनाई जाती थी। कभी-कभी इसके मसाले में जुड़ाई के लिए पिसा हुआ काँच भी डाला जाता था तब इसे तेज आँच दे कर पकाने से इसका रूप काँचला या कच्चे सीसे का हो जाता था। अन्त में इससे बनी हुई वस्तु पर काँच का पोत चढ़ा कर उसे दहकती भट्टी में रखते थे। बनाते समय खनिज द्रव्यों का कोई मन चाहा रंग मिला दिया जाता था। इसके तैयार करने की प्रक्रिया कुछ पेचीदी थी। इस काचली मिट्टी की बनी हुई तीन वस्तुएँ सुन्दर कला के ऊँचे नमूने हैं; जैसे कुतरती हुई मुद्रा में बैठी हुई गिलहरी, एक दबका हुआ मेढ़ा और लिपट कर बैठे हुए बानर। काचली मिट्टी के नमूने मेसोपोतामियाँ, सीरिया, पश्चिमी एशिया तथा मिस्र देश में भी मिले हैं। सम्भव है कि हड़प्पा के शिलिपयों ने यह कला अपने पड़ोसी दजला और उफ्रातु के दोआबे में रहने वालों से सीखी हो।

यद्यपि काचली मिट्टी का प्रचार तो कई देशों में था पर बर्तनभाँडों पर काच का ओप चढ़ाने की प्रक्रिया सबसे पहले सिन्धुघाटी में ही पाई गई है। मिस्र देश में काँचले भाँडों का रिवाज रोम युग से पहले नहीं मिलता। यूनान में यह सर्वथा अज्ञात था। मेसोपोतामियाँ में यह १००० ई० पू० के लगभग अस्तित्व में आया। इस कारण सिंधुघाटी के निवासियों को ही काचले भाँडों के सर्वप्रथम आविष्कार का श्रेय देना योग्य है। अतः यह भी सम्भव है कि काचली मिट्टी का विकास भी उन्होंने ही सर्वप्रथम किया हो। यह अवश्य है कि सच्चे शीशे का कोई नमूना सिन्धुघाटी में नहीं मिला पर काँचदार भाण्डों की निर्माणविधि से शीशा बनाने की प्रक्रिया कुछ बहुत दूर नहीं थी। पर मिस्र देश में वास्तविक शीशा सबसे पहले बना।

आभूषण—आभूषणों का एक निधान हड़प्पा में और ४ मोहनजोदड़ो में मिले हैं। हाल में ह्वीलर की खुदाई में हड़प्पा से एक दफीना और मिला है। मोहनजोदड़ो के दफीने चाँदी के निधान-कलशों में कपड़े से लपेटे पाए गए थे। हड़प्पा वाला निधान यों ही धरती में गाड़ा हुआ श्रमिकों के मुहल्ले में भू पृष्ठ से ७-८ इंच नीचे मिला था। इसमें भुजबन्द और सोने और मनकों के हारों के लगभग ५०० टुकड़े थे।

सिन्धु सभ्यता में चाँदी और सोने की बहुतायत थी। पासे का सोना सुदूर दक्षिण की कोलार खान से मँगाया जाता था एवं रवाला सोना (पैपीलिक सुवर्ण) साइबीरिया की खानों से और मध्य एशिया की नदियों के सोना धोनेवाले न्यारियों से विशेष व्यापारियों द्वारा प्राप्त होता था। ये

लोग कम्बोज-द्वारावती के मार्ग से अपनी व्यापारिक यात्रा पर आते थे जिस पर मध्य मार्ग में मोहन-जोदड़ो की भी स्थिति थी।

चाँदी मँगाने का स्रोत अफगानिस्तान में या उससे भी कहीं दूर के केन्द्र उत्तरी बर्मा की रजता-करा भूमि एवं चाँदी की खानों से था। सम्भव है कुछ मात्रा में चाँदी शीशा मिली हुई धातु को फूँक-कर वहीं निकाल ली जाती थी।

स्त्री-पुरुषों के गहने कुछ इस भाँति के थे—गोल और चौकोर सोने के सुहावनी सफेद पच्चीकारीदार पदक या टिकरे, सोने के सादा अंगद या भुजबन्द, कानों के नुकीले कर्णफूल, बहुत सी लड़ियों के नाना प्रकार के हार और मेखलाएँ। इन आभूषणों की सबसे बड़ी विशेषता सोने, चाँदी और दूसरे नगों और संगों से बने हुए मनके या गुरिया हैं जिनकी शोभा देखते ही बनती है। बहुत आकार-प्रकार की इन गुरियों को गूँथकर भाँतिभाँति के हार और कण्ठसूत्र बनाए जाते थे। मनके या गुरिया बनाने के लिए इन रत्न और संगों को चुना जाता था—तामड़ा (carnelian), करकेतन (chalcedony), लेखाश्म या गलवर्क या धारीदार हकीक (agate), राजावर्त (lapis lazuli), घीया पत्थर (steatite), शंख (shell), मसार या यशब (jadeite)। राजावर्त सिन्धुघाटी में कम होता था पर सुमेर में उसकी बहुतायत थी। पच्चीदार तामड़े की गुरिया मेसोपोतामिया और ईरान में अधिक प्रसिद्ध थी। खल्दी (Chaldees) जाति के राजाओं के समाधि-मन्दिरों में जो ऊर राजधानी की खुदाई में मिले हैं (३ और २ सहस्र ई० पू०) इस प्रकार के बहुत से पच्चीकारीयुक्त मनके श्री वूली को प्राप्त हुए थे। उनसे सूचित होता है कि हड़प्पा और ऊर, इन दोनों नगरों में वाणिज्य सम्बन्ध था।

चन्हुदड़ो में गुरिया बनाने वाले एक शिल्पी की पूरी कर्मशाला ही मिली है जिससे मनकों के निर्माण की पूरी प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। शुरू में खड़ संग या नग को लेकर उसे चीरकर लम्बी छड़ निकालते थे। आजकल के कारीगर तार लगी हुई धनुई और कुरण्ड के चूर्ण से चीरने का काम करते हैं। ज्ञात होता है कि यही प्रक्रिया उस समय भी थी। खड़ पत्थर में से चीरा हुआ लगभग ३ इंच का चौकोर टुकड़ा कोर कर गोल बनाया जाता था। अभी तक पुराने बेगड़ी (सं० वैकटिक) इसी भाँति से कोनों को छाँटकर गुरिया में गोलाई लाते हैं। इसे कोरना कहा जाता है (कोटि=किनारा, कोरना=किनारों का छाँटना)। इसके अनन्तर रगड़ने और घिसने से नग पर आप लाई जाती थी। इसके अनन्तर लम्बी यष्टि या पोरी को बींधने का काम किया जाता था। नग बींधने में शिल्पी चिर अभ्यास के कारण बड़ी दक्षता का परिचय देते थे। इस समय खम्भात इस कला का बड़ा केन्द्र हैं। आश्चर्य नहीं जो कि रंगपुर और लोथल के प्राचीन सिन्धुकालीन शिल्पी अपनी नग बनाने की परम्परा वहाँ छोड़ गए हों।

नगों की आकृति—लम्बे और पतले मनकों से लेकर छोटे नन्हें नगों तक सभी प्रकार की गुरियाँ पाई गई हैं। मसाले से बने हुए दमकड़े की भाँति के गोल मनके भी मिलते हैं। जौ के आकार के (यवमध्यक) छोटे मनके और हरड़ की आकृति के बड़े (हरीतिकीमध्यक) मनके मिले हैं। दूसरे प्रकार के मनके लम्बे, चौकोर या गरेरीनुमा अर्थात् घेर -घिरारे वाली मझलेट (मध्ययष्टि) के आकार के हैं। कुछ मनकों के दोनों छोर सोने से मढ़े हुए हैं।

गहनों के प्रकार--(अ) माथे पर गोलाई में बाँधने के लम्बे सुनहले पात (पत्रक) मिले हैं जो पतले फीते की भाँति के हैं। उनके दोनों सिरों पर बाँधने के लिए महीन सूराख हैं। अभी तक रोहतक जिले की जाट स्त्रियाँ उन्हें पात के नाम से पहनती हैं। सोने के ये फीतेनुमा पात लम्बाई में १६ इंच तक हैं। इनकी चौड़ाई प्रायः आधा इंच है। कुछ नमूनों में एक किनारे की ओर बहुत से महीन रोजन या छेद हैं जिनसे मोतियों के झुग्गे या झालरनुमा जाले लटकाए जाते थे।

(आ) **सोने के कुलफीनुमा कर्णाभरण**—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों जगह सोने के कुलफीनुमा नुकीले गोल आभूषण पाए गए हैं जिनके भीतर एक फन्दा जड़ा है। कई मिट्टी के खिलौनों से ज्ञात होता है कि ये कानों के पीछे पहने जाते थे। इनकी पहचान वैदिक कुरीर से की जा सकती है।

मेखला--स्त्रियाँ कटिप्रदेश में मेखला पहनने की शौकीन थीं। मोहनजोदड़ो के निधान संख्या २ में मिली हुई एक मेखला ३′ ४″ लम्बी है। इसमें ६ लड़ियाँ हैं जो लम्बोतरे मनकों को पिरो कर बनाई गई हैं। ये लम्बी गुरिया बुर्राक या चमकदार लल्छौंह तामड़े की बनी हैं। इसे ही संभवतः लोहितक मणि कहा जाता था। प्रत्येक गुरिया ४·८५ इंच लम्बी, बीच में ·४ इंच मोटी तथा सिरों पर ·३ इंच गोल है। प्रत्येक लड़ की गुरियों को एक दूसरे से अलग करने के लिए गरारीदार मनके एवं छह छेदों वाली खड़ी पत्तियाँ पिरोई गई हैं। लड़ियों के दोनों सिरों पर एक पोला ताबीजनुमा अर्धचन्द्रक है। सिन्धुसभ्यता के स्वर्णकार अपने शिल्प में जिस श्रेष्ठ कला के भागी बन चुके थे उसका अति उत्कृष्ट नमूना इस छह यष्टियों वाली मेखला या छल्लड़ करधनी में देखा जाता है जिसकी गुरियाँ आज भी उसी प्रकार दिपदिप कर रही हैं जैसी वे शिल्पी के हाथ से निकलते समय थीं। यह आश्चर्य है कि इतने लम्बे मनकों में छेद के भीतर भी ओप या चमक है। उन्हें दोनों ओर से बींधते हुए फिर बीच में भी छेद को बढ़ाया जाता था। सम्भवतः बींधने के लिए ताँबे का तकुआ काम में लाया जाता था और कुरुण्ड या किसी संग का महीन चूर्ण पानी के साथ डालकर छेदने की प्रक्रिया पूरी की जाती थी जो अवश्य ही कौशल के साथ श्रमसाध्य भी थी।

एक दूसरा हार हरियाले यशव के मोटे मनकों को पिरो कर बनाया गया है जिनका रंग चमकीला या बुर्राक और आकार ढोलने जैसा है। यह हरी घास (शाद्वल) के रंग का मसार या यशव मध्य एशिया में प्राप्त होता है और सिन्धुघाटी के लोग इसे वहीं से मँगाते थे। गुरियों को सोने के चकत्तेनुमा मनकों से अलग किया गया है और उनके बीचबीच में गलवर्क (हकीक) एवं सूर्यकान्त या जबरजद के बने (अं० jasper) पीले रंग के लटकन पिरोए गए हैं। दो अन्य हार छोटे सुनहले ढोलनाकार और चकत्तेनुमा मनकों को पिरो कर बनाए गए हैं जो बड़े आकर्षक हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक कण्ठे में सोने के मटर जैसे दानों की ६ लड़ियाँ हैं जिनके दोनों सिरों पर पोले अर्धचन्द्रक हैं और बीच-बीच में छिद्रयुक्त सोने की चौकोर पत्तियाँ हैं। इसे कई लड़ों की मटरमाला ही कहना उपयुक्त होगा।

विभिन्न गहने--कुछ अँगूठियाँ भी मिली हैं जो सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और शंख की हैं। कानों के बाली-पत्तों के भी थोड़े नमूने हैं। सम्भवतः मृत्यु के समय उन्हें स्त्रियों के कानों से हटाते न थे जैसी प्रथा आज तक है। नाक की कील-भोगली या नथ का एक भी नमूना नहीं है क्योंकि यह गहना मुस्लिम काल से पहले प्राचीन भारत में कहीं भी नहीं पाया जाता। हाथ के कंगन और कड़े

सोने, चाँदी, ताँबे और नफीस काचले मसाले के बनाए जाते थे। काचले मसाले के नमूने बहुत ही सुन्दर हैं और उनमें सच्ची कला है। मिट्टी के कड़े दरिद्र घरों की स्त्रियाँ पहनती थीं। प्रायः वे बनावट में भी भोंडे हैं पर एक नमूना बहुत ही साफ-सुथरा है जो खूब कमाई हुई महीन मिट्टी से बनाकर हल्के गुलाबी पोते से पोत दिया गया था।

बालों के आभूषण——स्त्री और पुरुष दोनों ही केशों को बढ़ाकर सिर के पीछे की ओर जूड़ा
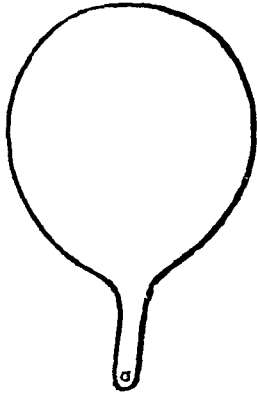
चित्र २५ चित्र २७ चित्र २८ चित्र २९

बाँधते थे। बालों के समूहन में प्रयुक्त काँटे, बेंटयुक्त दर्पण (चित्र २५), सुरमेदानी, सलाई आदि के मिलने से ज्ञात होता है कि सिन्धु के निवासी सौन्दर्य और प्रसाधनकला के प्रेमी थे। बालों में खोंसने के कई काँटे मिले हैं—(१) एक नमूने के सिरे पर दो कृष्णमृग (चित्र २६) पीठ फेरे बैठे हुए दिखाए गए हैं; (२) एक दूसरे नमूने में सिरे पर आमने-सामने दो घिरारे
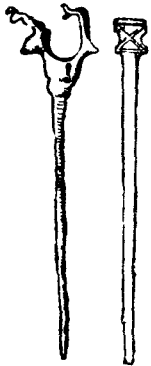
चित्र २६ चित्र ३० चित्र ३१ चित्र ३२ चित्र ३३
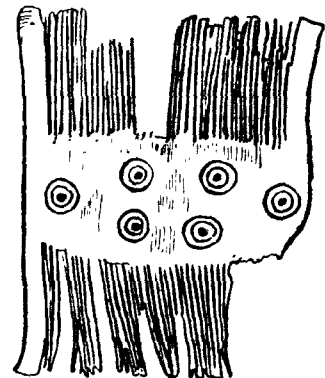
दिखाए गए हैं जैसे मिस्र में भी मिले हैं; (३) हाथी दाँत के बने एक नमूने के सिरे पर एक बड़े सींग वाली पहाड़ी बकरी बनी है; (३) एक सुन्दर नमूने के सिरे पर तीन बन्दर गलबहियाँ मुद्रा में परस्पर लिपटे हुए (चित्र २७) दिखाए गए हैं; (५) एक बालों के काँटे का सिरा कमल के फुल्ले की कर्णिका या बीजकोश की भाँति (चित्र २८) का है; (६) एक ऐसे ही काँटे में कुत्ते जैसा सिर दिखाया गया है (चित्र २९); तथा अन्य (चित्र ३०-३१)।

हाथी दाँत—दंत-शिल्प के कई नमूने हड़प्पा युग से इस कला का आरम्भ सूचित करते हैं। मोहरों पर अंकित हाथी मूर्तियों से ज्ञात होता है कि इस प्रदेश की जलवायु वृष्टि से भरपूर थी और वहाँ घने जंगल भी थे। एक छोटे दंतफलक (१'०५" × ·४" पतला) पर उत्कीर्ण एक पुरुष मूर्ति कट्यवलम्बित हस्तमुद्रा में है। उसका मस्तक बाईं ओर मुड़ा हुआ है। उसकी पीठ पर बाणों का तरकश है। इस भाँति की पुरानी मोहरें प्राचीन ईरान के शूषा नगर की खुदाई में मिली हैं। दन्तशिल्प की अन्य वस्तुएँ इस प्रकार हैं—सुरमे की शलाकाएँ, कंघी (चित्र ३२-३), दर्पणों की मूठ और लम्बोतरी डिबिया।

शंख—शंख अपेक्षाकृत निकटवर्ती ईरान की खाड़ी से, न कि दूरवर्ती मनार की खाड़ी से, प्राप्त किया जाता था। पच्चीकारी और आभूषणों के लिए शंख वैसा ही लोकप्रिय था जैसा आज है। पच्चीकारी के लिए पत्तियों के कटाव की आकृतियाँ काम में लाते थे। अलंकरणों के प्रकार—(१) फूल की कर्णिका या मध्यभाग की कटोरी को भरने के लिए दाँत की पंखुड़ियाँ काम में लाई जाती थीं। (२) पंचपट्टिक या कपिशीर्षक या कंगूरे जैसा अलंकरण जो आलेख्ययुक्त भाण्डों पर नहीं पाया जाता, यद्यपि यह उत्तरी बलूचिस्तान से प्राप्त और शूषा के आरम्भिक युग में निर्मित कुम्हारी के बर्तनों पर बहुतायत से पाया गया है। यह अनिश्चित प्रश्न है कि इस अलंकरण द्वारा प्राचीन जिग्गुरत का प्रदर्शन या ईरानी कला में प्राप्त दुर्ग-प्राकार के कंगूरों का अंकन किया गया है, जैसा कि भरहुत और साँची की कला में भी प्राप्त होता है। इसकी पहचान बौद्धसाहित्य के पंचपट्टिक नामक अलंकरण अभिप्राय से की जा सकती है। (३) आड़ी तिरछी रेखाओं का चौपड़—इसके दो प्रकार हैं, एक जिसमें दोनों भुजाएँ बराबर हों जो कई देशों में मिलता है, और दूसरा वह जिसमें लम्ब रेखा आधार रेखा से दुगुनी हो। दूसरे प्रकार के नमूने सिन्धुघाटी, एलम और बावेरु में मिले हैं। (४) फुल्ले—यह अलंकरण मिस्र, ईरान, मेसोपोतामिया एवं भारत में पाया जाता है। (५) दोहरी पंखुड़ियों को जोड़कर बनाया हुआ अलंकरण—सादे या पेचीदा रूप में केवल सिन्धुघाटी में मिलता है, बाहर नहीं। हिरन और गैंडों के बराबर में यह लिखित है। (६) जाली—गोल घेरों में भरी हुई जाली के कई प्रकार हैं। शूषा और मेसोपोतामिया में इस अलंकरण के नमूने नहीं मिले। (७) चक्षुराकृति—यह अलंकरण पच्चीकारी के लिए शंख के कटाव से या भाण्डों पर काली रेखाओं से लिखा जाता था। कुछ बरफीदार या शकरपारे जैसे टुकड़े भी पच्चीकारी में प्रयुक्त मिले हैं। (८) पीपल का पत्ता (अश्वत्थ पर्ण)—यद्यपि भाण्डों के आलेखन में इस अभिप्राय का बहुधा प्रयोग होता था पर पच्चीकारी के लिये इसका केवल एक नमूना मिला है। (९) पच्चीकारी के लिए शंख, दाँत या मसाले की पशु आकृतियाँ सिन्धुघाटी में इनी-गिनी हैं यद्यपि बावेरु में बहुशः प्रयुक्त हैं।

मुद्राएँ या मोहरें—सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध लगभग १२०० से अधिक घीया पत्थर की बनाई हुई मोहरें कला और लेखों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये उस संस्कृति के निश्चित चिह्न हैं। सामान्यतः ये ¾" से १¼" तक ऊँची हैं। इनके पीछे एक छेदा हुआ टुनटुना उभरा रहता है जिसमें धागा डालकर इन्हें काम में लाया जाता था। कुछ मोहरों में टुनटुना नहीं है और कुछ आकार में गोल भी हैं। लम्बोतरी ढोलनाकार मोहरों के केवल ६ नमूने मिले हैं। इन्हें बनाने के लिए पहले खड़े पत्थर को तार बँधे हुए धनुष से चीरते थे जैसे मनकों को। फिर तेज

चाकू से इन्हें चिकनाया जाता था। फिर बारीक बरमे और महीन रुखानी से इन पर भाँति-भाँति की आकृतियाँ चीथी जाती थीं। ये मुद्राएँ समूह में बनाई जाती थीं। इनके चीरने, कुतरने और छेदने के काम में बहुत सावधानी बरती जाती थी। इनमें उस्तादों ने सचमुच अपने हुनर का कमाल दिखाया। इनकी मूर्तियाँ छोटी हैं पर परिमाण के अनुपात से उनकी आकृतियों का प्रभाव बहुत दबंग है (ह्वीलर, सिंधु सभ्यता, पृ० ७६)।

एक मोहर पर अंकित वृषभ बहुत ही प्रशंसनीय है। उसकी हूसा मारने की मुद्रा, फैले हुए शृंग, झूलता हुआ गलकम्बल, लोटती हुई टाँट या उठे हुए खुम्भ (ककुभ) और शरीर पर चढ़े हुए मांसपेशियों के लेवड़े आज भी आश्चर्यजनक हैं। इन मुद्राओं पर बने हुए चित्रों में अनेक पशुओं की आकृतियाँ और चित्रात्मक लिपि के अक्षर भी हैं। कुछ मोहरों पर केवल रेखाकृतियाँ हैं जिनमें स्वस्तिक, एक दूसरे के पेटे में बैठाए गए वर्ग और चौपड़ के सादा और दोहरे तिहरे सटे हुए चिह्न मिले हैं। यह ज्ञातव्य है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता में प्राप्त मुद्राओं का लिपि-साम्य उन मोहरों से नहीं है जो सुमेरु एवं पश्चिमी एशिया में मिली हैं। मुद्राओं के काटने और उन पर श्वेत रंग का घोटा चढ़ाने की प्रक्रिया का आविष्कार केवल सिन्धुघाटी में हुआ। अन्य देशों के शिल्पी उससे परिचित न थे। उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा का प्रमाण और बातों में भी देखा जाता है; जैसे चित्र-लिपि के अक्षरों में उसके ४०० से अधिक अक्षरों से मिलता-जुलता एक भी अक्षर अन्यत्र किसी देश में नहीं पाया गया। नाना भाँति के बर्तन-भाँडे, गहने, अलंकरण आदि में भी उनकी मौलिकता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनका सम्पर्क दूर देशों से था और यह भी सम्भव है कि सैन्धव लोग कुछ संख्या में उन देशों में जा बसे हों। पर इस कारण न तो उन्होंने और किसी की नकल की और न वे बाह्य प्रभाव में आकर अपने कला-कौशल में झुके।

एकशृंग मुद्राओं पर स्तम्भ—अनेक मुद्राओं पर चित्रित एकशृंग (चित्र ३४) पशु की पहचान ऋग्वेद के शृङ्गवृष से की जा सकती है (ऋ० ८,१७,१३)—यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्य न्यस्मिन्दध्र आ मनः। इस मन्त्र में इन्द्र के नाती के नाती किसी कुण्डपाय्य, कूँडे में खाने-पीने वाले, वृषशृङ्ग का उल्लेख है जिसमें ऋषि अपना मन लगाना चाहता है। कुण्डपाय्य वृषशृङ्ग को व्यक्ति विशेष का नाम मान लिया गया है किन्तु स्पष्ट ही वह इस प्रकार के पशु का भी सूचक है जिसका सम्बन्ध विशेषतः इन्द्र से था। उसे ही आगे चलकर हम रुद्र के वृषभ में पाते हैं क्योंकि रुद्र को इन्द्र का ही रूप माना गया। पशु के सामने एक विचित्र स्तम्भ या ध्वज-चिह्न है। सभी मुद्राओं पर इस ध्वज के तीन भाग हैं (१) एक गोल सलामीदार यष्टिभाग या गावदुम मझलेट (२) लाट के ऊपर रखा हुआ कटोरा जिसके बाहरी भाग में कमल के बीजकोश की भाँति के दाने हैं या जो खाड़ेदार आकृति का है, या जो चौकोर या गोल वेदिका की आकृति का है। यह कटोरा वह कुण्ड जान पड़ता है जिसमें से शृङ्गवृष को खाने-पीने वाला कहा गया है। सम्भवतः वह इन्द्र का सोमभाग था और उसकी पहचान सोमकुण्ड या सोमकद्रुक से या सोमचमस से की जा सकती है। स्तम्भयष्टि ऊपर की ओर कटोरे से बाहर निकली हुई है जिसके सिरे पर वेदिकामय कटहरा है जो तीन सूची पिरोए हुए ऊँचे या खड़े स्तम्भों से बनी है, जैसी प्राचीन वेदिकाएँ हैं। मार्शल, वत्स और मैके के ग्रन्थों के चित्रों में ये सब भाग अलग-अलग और स्पष्ट देखे जाते हैं। जैसे वत्स, फलक ८६.२० वेदिका और उसकी तीन सूचियाँ स्पष्ट हैं; फलक ८६.२१; केवल एक सूची युक्त वेदिका, फलक ८६.१६ तथा ३४, सूचियों के बिना केवल वेदिका स्तम्भ। ये भेद और भी

कितनी ही मुद्राओं पर स्फुट हैं। वत्स, फलक ८८.२९ पर यष्टि का ऊर्ध्व निर्गत भाग अत्यन्त स्पष्ट है। कुछ मुद्राओं पर वेदिका की छत अंडाकार या गूमठ जैसी है। कुछ नमूनों पर स्तम्भ का शीर्ष-भाग और वेदिका सटी हुई है, जैसा मैके ने दिखाया है (फलक ९५.४७४,४८६)। कुछ नमूनों में स्तम्भ-यष्टि का वह भाग जो अंड के ऊपर निकला हुआ है, यूप जैसा टेढ़ा या एक ओर को झुका है। इससे सूचित होता है कि वेदिका का वह भाग बाँस-बल्लियों से बनाया जाता था, जैसा उस समय सचमुच होता था (मैके, फलक ९५.५७८,५८५,५८५ तथा अन्य बहुत से उदाहरण)। फूस की छतवाली पर्णशाला में भी कभी-कभी ऐसे झुके हुए खम्भे या वक्र स्तम्भ पाए जाते हैं। एक उदाहरण में वेदिका के दो खम्भों के बीच में ६ सूचियाँ हैं (मार्शल, १०५.६४१)। कुछ स्पष्ट उदाहरणों में स्तम्भ या लाट की ऊँचाई स्पष्ट परिलक्षित है (मार्शल, १०५. ५५३)।

इस स्तम्भ की पहचान एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। खम्भे के ऊपर कटोरा या चौड़ा वीरपात्र और उसके ऊपर वेदिका की खुली वेष्टिनी या अण्डाकृति गूमठ इन तीनों की सम्मिलित कल्पना जानबूझ कर किसी देवता के ध्वजचिह्न के रूप में की गई होगी। स्तम्भ की मध्ययष्टि ऐतिहासिक युगों के और स्तम्भों की डंडी से बहुत मिलती है। खम्भे के ऊपर जो चमस या वसुधान पात्र है वह ऐतिहासिक युग के स्तम्भों के शीर्षक के समकक्ष है। ऐतिहासिक युग के स्तम्भों में सबसे ऊपर का भाग धर्मचक्र या सिंह, हाथी जैसे धार्मिक आजानेय महापशुओं से अलंकृत है। सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर वह स्थान वेदिकामय भाग का है जो कालान्तर में बने हुए स्तूपों की हर्मिका से मिलता है जिसे देवसदन भी कहते थे। स्तूप के मस्तक पर हर्मिका के बीचों-बीच एक छत्रमयी यष्टि देखी जाती है। यहीं देवों का निवास माना जाता था। ज्ञात होता है कि सिन्धुघाटी के इन स्तम्भों पर भी वह भाग देवसदन या विश्वेदेवों का स्थान माना जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में वर्णन आया है कि सुपलाश या छतनार पत्तों वाले महावृक्ष की चोटी पर यम देवों के साथ सोमपान करते हैं (यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सं पिबते यमः, १०।१३५।१)। यह कल्पना यज्ञीय यूपों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से अंकित है जहाँ चषाल से ऊपर का भाग देवों का लोक या देवसदन माना जाता है। यज्ञीय यूप, बौद्ध स्तूप एवं मुद्राओं के इन स्तम्भों पर एक ही प्रतीकात्मक अंकन प्राप्त होता है जो सम्भवतः देश और काल में संविभक्त है। इस दृष्टि से स्तम्भ के कई भागों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए ज्ञात होता है कि उसका सर्वप्रथम रूप सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर है। हमें विदित है कि स्तम्भ-पूजा की धार्मिक प्रथा का सम्बन्ध इन्द्र, प्रजापति एवं अन्य कई देवों से था जिनमें त्रयस्त्रिंश देवों की गणना भी थी (देखिए, स्कम्भ सूक्त, अथर्ववेद, १०,७,१-४४)।

अनुमान होता है कि सैन्धव सभ्यता के मुद्रास्तम्भ रुद्रध्वज के रूप में कल्पित किए गए थे। इस मत के पक्ष में कई कारण बताए जा सकते हैं। पहला तो योगी और पशुपति के रूप में रुद्र-शिव कई मुद्राओं पर अंकित मिले हैं; इससे सिद्ध है कि वे सैन्धव लोगों के लिए अज्ञात न थे। दूसरे, यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय १६ के अनुसार रुद्र-शिव की पूजा देश के उत्तर-पश्चिम भाग में उस समय बहुत प्रचलित थी (ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशः, शुक्ल यजुर्वेद, १६,६), जैसा ग्रामणीगण, गणपति, व्रातपति आदि के उल्लेख से स्पष्ट संकेतित होता है। जिसे आजकल कबायली इलाका कहते हैं और जो सिन्धुनद के दोनों किनारों पर फैला हुआ है वही ग्रामणी, व्रातपति और गणपति आदि कबीलों का देश था। जैसा महाभारत में स्पष्ट आया है—सिन्धुकूलाश्रिताः ये च ग्रामणीयाः महाबलाः, सभापर्व। इन्हीं लोगों में बहुसंख्यक व्रात और पूग थे जिनके नेता ग्रामणी कहलाते थे। उनमें भूत, प्रेत, पिशाच

आदि की पूजा प्रचलित थी। उन सबका अन्तर्भाव क्रमशः रुद्र-शिव पूजा में हो गया। इसी कारण उनकी संज्ञाएँ महादेव, भूतपति, पशुपति आदि नामों से विख्यात हो गईं। तीसरी साक्षी यह है कि सिन्धुघाटी में प्राप्त मातृदेवी की मूर्तियाँ उस महीमाता या अम्बिका की हैं जिसे वेद में रुद्र की बहन कहा गया है (एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया, शुक्ल यजुर्वेद ३,५७)। इससे सूचित होता है कि रुद्र और अम्बिका पूजा का सह-अस्तित्व था जैसा सिन्धुघाटी में प्राप्त सामग्री से विदित होता है। चौथा हेतु यह है कि स्तम्भ के जिन तीन भागों का ऊपर उल्लेख आया है उनका सम्बन्ध रुद्र से था।

प्रमुख तथ्य यह है कि कुछ मुद्राओं पर स्तम्भयष्टि के ऊर्ध्वभाग में एक आड़ी रेखा है जिसके ऊपर निकलता हुआ स्तम्भ का भाग शिव के त्रिशंकु त्रिशूल की अनुकृति है। चाँदी की प्राचीन आहत मुद्राओं पर भी इस प्रकार की आड़ी रेखा पर आधारित त्रिभुज की आकृति मिलती है जो प्राचीनकाल में वैजयन्ती या इन्द्रध्वज का चिह्न था। यष्टिसहित लगभग वैसा ही चिह्न सैन्धव मुद्राओं पर है। कुछ मुद्राओं पर कमल के बीजकोश जैसा कटोरा या चमस रखा हुआ है, जिसकी पहचान वसुधान-उरु-कोश (अथर्ववेद ११, २, ११) अर्थात् वसु या रत्न रखने के बड़े पात्र से की जा सकती है। कुछ कटोरों में ऊपर उठते हुए तन्तु या जवारे भी दिखाए गए हैं (मार्शल १०४. ३८ जिसमें गावदुम यष्टि, उसके शीर्ष भाग की आड़ी रेखा, बुँदकीदार कटोरा, उठते हुए तन्तु और सबसे ऊपर की वेदिका स्पष्टतः अंकित है)। छोटे-छोटे वृत्तों या मण्डल के बीच में घिरी हुई बुँदकियाँ भी शिवपूजा का प्राचीन चिह्न था।

वेदिका—स्तम्भ के ऊर्ध्वभाग में जो अलंकरण है वह सूक्ष्म विचार करने पर वेदिका ही ज्ञात होती है, अर्थात् ऊर्ध्व स्तम्भ और सूचियों से बना हुआ कटहरा। सूचियों की संख्या कहीं-कहीं २ और कहीं ३ और एक नमूने में ५-६ तक है (मार्शल, १०३.१८)। कुछ मुद्राओं पर केवल स्तम्भ हैं, उनमें आड़ी सूचियों का भराव नहीं है। वेदिका का विन्यास दो प्रकार का है, एक चौकोर जिसे किन्हीं मुद्राओं पर कोणात्मक दृष्टि-विन्यास के रूप में भी दिखाया गया है। यह आकाश की ओर खुला हुआ रूप है; और दूसरा जिसमें अंडाकृति छत से गुम्मट ढँका हुआ है (मार्शल १०५.५२, ६०; १०६.७३; फलक १०६, १०७, १०८, १०९ और ११० पर कई उदाहरण हैं)। गोल पर्णशाला की आकृति मार्शल १०३.१६, १०४.३० में स्पष्ट है। स्तूप के मस्तक पर निर्मित वेदिकामय हर्मिका देवों का स्थान मानी जाती थी। उसी प्रकार रुद्र-शिव स्तम्भ अग्नि-रुद्र का स्थान था जैसा यज्ञीय कर्मकाण्ड की मान्यता थी। वेदिका के कोणात्मक चित्रण से नितान्त स्पष्ट है कि यह स्तूपगत हर्मिका जैसी ही थी। कुछ मुद्राओं पर वेदिका के खुले भाग से अग्नि की ज्वाला या धूआँ उठता हुआ दिखाया गया है। ज्ञात होता है कि आरम्भ में यह स्तम्भ रुद्र-शिव की पूजा के लिए था, पर आगे चलकर इसका मेल इन्द्रमह उत्सव में पूजी जानेवाली इन्द्रयष्टि के साथ हो गया। इस प्रकार रुद्रमह और इन्द्रमह, ये दो उत्सव एक दूसरे के निकट आ गए और दोनों में ही इस स्तम्भयष्टि की पूजा मान्यता स्वीकृत हुई। देवता के ध्वजरूप में इसकी स्वीकृति का प्रमाण मोहनजोदड़ो से भी पूर्व कुल्ली नामक स्थान से प्राप्त सामग्री में पाया जाता है। वहाँ विशाल शृंगान्तर से युक्त एक महावृषभ स्तम्भ के सामने खड़ा है और तीन रस्सियों से बँधा है जो ऋग्वेद के त्रिधाबद्ध वृषभ का स्मरण दिलाता है और जिसकी संज्ञा महादेव भी थी (त्रिधाबद्धो वृषभः महादेवः, ऋग्वेद ४, ५८, ३)। मुद्रांकित स्तम्भ का निचला भाग सलामीदार यष्टि के रूप में है। उसके ऊपर एक गोल खरबुजिया पात्र है (उर्वारुक) जिसके मुँह में गेंद जैसी

अंडाकार कोई वस्तु रखी है। इस गोल वस्तु के बीच में बारह अरे हैं, इसके भी ऊपर चोटी के भाग में एक चतुष्कोण चौखटा है। कुल्ली के स्तम्भ पर ये अंकन मोहनजोदड़ो के मुद्रागत अंकनों से तुलनात्मक समानता रखते हैं (स्टुअर्ट पिगट, प्रिहिस्टॉरिक इण्डिया, चित्र ७ पृ० १०२)। एक अन्य उदाहरण में वृषभ शक्ति या शूल से बँधा हुआ है (वही)। इसमें रुद्र पूजा के सब चिह्न उपलक्षित हैं। ज्ञात होता है कि मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित चिह्न रुद्र-शिव पूजा के ही अंग हैं। वही कुछ काल बाद आर्यों की इन्द्रपूजा और अग्निपूजा के प्रभाव से विकसित हुई। बौद्ध और जैनधर्म के ध्वजस्तम्भ उसी परम्परा में विकसित हुए। दिव्यावदान में एक स्थान पर बुद्ध ने स्वयं कहा है कि यूप धर्म का चिह्न है जिसे देखकर चक्रवर्ती सम्राट् और प्रजाजन अपने धर्म और कर्तव्य का ज्ञान करते हैं (कावेल सं०, पृ० ५९)।

मुद्राओं के प्रकार—सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राएँ कई प्रकार की हैं; जैसे चौकोर जिनकी पीठ पर सच्छिद्र उभरा हुआ बुलबुला या बटन है, चौकोर पर ऊपरी टुनटुने के बिना, कुछ नमूनों में दोनों ओर चित्रलिपि के अक्षर अंकित हैं, आयताकार मुद्राएँ जिनका पृष्ठभाग उन्नतोदर या कूबड़वाला है, आयताकार जिनमें बुल्ला नहीं है, बटन की आकृति की चकत्तेनुमा मुद्रा, घनाकार मुद्रा, गोल मुद्रा जिसकी पीठ पर बेधा हुआ बुल्ला है, आयताकार मुद्राएँ जिनके पीछे सच्छिद्र बुल्ला है, लम्बोतरी मुद्रा, ढोलनाकार मुद्रा, गोल मुद्राएँ जिनके पीछे उभरा हुआ बुल्ला नहीं है और जो चित और पट दाँव लेखयुक्त हैं।

कनिंघम ने हड़प्पा से प्राप्त एक मोहर सर्वप्रथम सन् १८८५ में प्रकाशित की थी, किन्तु मुद्राओं की लिपि अभी तक अनपढ़ी है। कई प्रयत्न किए गए हैं किन्तु कोई विद्वान अक्षरों को सन्तोष-प्रद रीति से पढ़ या काढ़ू नहीं कर सका। सुमेर और अन्यत्र भी ढोलनाकार मोहरें मिली हैं, पर सिन्धुघाटी में उनके केवल छह नमूने हैं।

सिन्धुघाटी की मुद्राएँ सम्भवतः व्यक्ति-विशेष को नामांकित करने के काम आती थीं जैसी उत्तरकालीन ऐतिहासिक युगों की नाम-मुद्राएँ हैं। पर जबतक लिपि न पढ़ ली जाय तबतक निश्चित मत व्यक्त करना कठिन है। सम्भव है वे देवपूजन में भी काम आती हों पर पीछे के उठे हुए सच्छिद्र बुल्ले का इस कल्पना से मेल नहीं खाता।

मुद्राओं पर अंकित पशु—मुद्राओं पर पशुओं के चित्र अंकित हैं जिनका दर्शन पार्श्वगत है। उनके ऊपर चित्रलिपि की एक रेखा न्यस्ताक्षरों में लिखी हुई है। अधिकांश मोहरों पर एकशृंग पशु अंकित है। पशु के सामने एक कुण्ड है जिसे पक्षी का पिंजरा कहा गया है। जैसा हमने ऊपर बताया है यह रुद्र-शिव पूजा के स्तम्भ का एक भाग था और वह पशु शृङ्ग-वृष अर्थात् सींगला या सींगों वाला बैल था। यह ध्वज सिन्धु सभ्यता से बाहर अन्यत्र नहीं पाया जाता और न अन्य सभ्यताओं में इसके अर्थ की कुछ संगति ही थी। अन्य पशु इस प्रकार हैं—महावृषभ, जो झूलते हुए गलकम्बल से युक्त ककुदवान् महाप्राण पशु है, छोटे सींग वाला नटुआ बैल, महिष, गेंडा, व्याघ्र, हाथी, खरगोश, हिरन, गरुड़ और मगर आदि।

जिसे हम एकशृंग कहते रहे हैं उसके लिए सार्थक नाम शृङ्गवृष ज्ञात होता है। इस वृषभ की सबसे बड़ी विशेषता उसका शृंग है। यह रुद्र-शिव का पवित्र पशु था। शिव का वाहन नन्दी

वृप आज तक उनका सर्वोत्तम चिह्न माना जाता है जिसके कारण उनकी वृषध्वज संज्ञा प्रसिद्ध है। मुद्रा पर अंकित एक अन्य पशु में वृषभ और हिरण का संयुक्त रूप है। दोनों का सम्बन्ध शिव-रुद्र से था; शिव का वर्णन मृगव्याध के रूप में किया गया है जिनके हाथ में मृग का चिह्न बनाया जाता है। एकशृंग पशु के कन्धे पर एक विचित्र त्रिसंस्थ चिह्न बना मिलता है। उसी प्रकार सामने का स्तम्भ भी एकशृंग वाली मुद्राओं के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। हम जानते हैं कि तीन की संख्या का सम्बन्ध सबसे अधिक त्रिशूलधारी त्र्यम्बक देव शिव से ही था। वस्तुतः इस चिह्न को त्र्यम्बक या त्रिकुटी संज्ञा दी जा सकती है जिसके तीन पुटाकृति भागों में तीन तारे या पुतलियों के चिह्न हैं (दे० चित्र ३४)।

छोटे सींगों वाला नटुआ बैल—दूसरा लोकप्रिय पशु छोटे सींगों वाला नटुआ बैल था जो मुहरों और बर्तनों पर बनाया गया है। इसका क्षुभ्यमान क्रोधाविष्ट मस्तक नीचे की ओर झुका हुआ वप्र-क्रीड़ा करने या हूसा मारने की मुद्रा में है। प्रत्येक मुद्रा पर उसके सामने एक चारा खाने की नाँद है। नाँद का यह रूप भी केवल सिन्धुघाटी में ही मिला है। श्री वूली को ऊर की खुदाई में ऐसी ही एक चौकोर मुद्रा मिली थी जिस पर कीलाक्षर लिपि में एक लेख था।

(iii) **महिष**—यह पशु बहुत ही कम मिला है। इसे गर्दन ऊपर उठाए हवा में सूँ सूँ करता हुआ दिखाया गया है।

(iv) **शिव का नादिया वृषभ**—(Brahmani bull) यह ककुदमान या लोटती टाँट वाला और भरे हुए कन्धोंवाला महाकाय पंजाबी वृषभ है जो गायों को गाभिन करने वाली अपनी वृषशक्ति के लिए प्रसिद्ध है। वह आज भी हरियाना क्षेत्र की नसल के रूप में पाया जाता है। उसकी मांसपेशियों के जमे हुए लेवड़े उसके भीतर भरे हुए बल का परिचय देते हैं। मुद्रा पर इसका अंकन अत्यन्त प्रभावशाली है और भारत से बाहर अन्यत्र नहीं मिलता। इसके उद्दाम बलिष्ठ रूप को चित्रित करने में शिल्पी ने अपनी बढ़ी-चढ़ी कला-निपुणता का परिचय दिया है (चित्र ३५)।

(v) **गैंडा**—यह महाकाय भारतीय पशु है जो किसी समय हिमालय से लेकर सिन्धुदेश तक घने वनों में विचरता था। लिखा है कि पेशावर के इलाके में बाबर ने इसका शिकार किया था जिससे सोलहवीं शती तक इसका वहाँ होना सिद्ध है। सिन्ध के सघन जंगलों में यह स्वच्छन्द घूमता था। इसका अंकन बड़ी यथार्थता से किया गया है जिसमें त्वचा की तहदार ढालें, बुन्दकीदार जिल्द और सिकुड़न स्पष्ट दिखाई गई हैं। इस पशु की आकृति के मिट्टी के खिलौने भी मिले हैं।

मुद्राओं पर ये पशु भी हैं—धारीदार त्वचा से युक्त व्याघ्र (चित्र ३७), लम्बे शुंडदंड से

चित्र ३४

चित्र ३५

चित्र ३६

चित्र ३७

युक्त मस्त हाथी (चित्र ३६), पेचदार लम्बे सींगों वाले हिरन और नदियों में पाए जाने वाले मगर-मच्छ। एक मुद्रा पर फैलती शाखाओं वाला पत्तों से भरा हुआ अश्वत्थ वृक्ष या पीपल है।

धर्म-सम्बन्धी काल्पनिक पशु—एक मुद्रा पर ऐसा पुरुष-पशु है जिसके पैरों में खुर, सिर पर सींग और पीछे पूँछ है जो एक काल्पनिक पशु से, जिसके शरीर का अधिकांश भाग व्याघ्र जैसा है, कुश्ती कर रहा है। यह भारत से बाहर सुमेर की गाथाओं का एक दृश्य है। वहाँ इस वीर की संज्ञा इनकिदू थी जो प्रायः सिंह के साथ कुश्ती करता हुआ मुद्राओं पर और अन्य वस्तुओं पर भी दिखाया गया है। उसका साथी गिलगमेश वृषभ के साथ लपट करता हुआ देखा जाता है। ऐसी सम्भावना है कि मोहनजोदड़ो में इनकिदू को व्याघ्र के साथ कुश्ती करते हुए चित्रित किया गया है जो भारतीय पृष्ठभूमि में सुसंगत परिवर्तन था। एक दूसरी मुद्रा पर संयोगात्मक शरीरों वाला एक पशु है, वह मेषाकृति है, उसके मस्तक पर बैल के सींग हैं, उसका मुख मनुष्य का है जिसमें हाथी की सूँड़ और दाँत जुड़े हुए हैं। उसके पूर्व-कायभाग में ऊर्णायुक्त त्वचा है पर पिछौंड का भाग और पिछले पैर बाघ के हैं। यह विकट पशु एक विचित्र कल्पना थी। एक अन्य मुद्रा पर तीन मस्तकों वाला एक पशु है जिसमें सिर और सींग हिरन के हैं, शरीर गेंडे का है, मस्तक और शरीर का जोड़ सावधानी से मिलाया गया है। एक टूटी हुई मुहर पर पशु के स्कन्धभाग से छह मस्तक और छह ग्रीवाएँ निकलती हुई दिखाई गई हैं जो मण्डलाकार वितान बनाती हैं। ये छह मस्तक क्रमशः एकशृंग, नटुआ बैल, हिरन, बाघ, सम्भवतः गेंडे और हाथी के हैं (मार्शल, सील सं० ३८३)।

एक अन्य मुद्रा पर किसी पशु की उकेरी हुई आकृति है जिसमें तीन व्याघ्रों के शरीर संयुक्त हैं (मार्शल, मुहर सं० ३८६) (चित्र ३८)। साथ ही एक नमूने में दो सर्पाकृतियों के जुड़े रूप से निकलती पीपल वृक्ष की शाखा महत्त्वपूर्ण है (चित्र ३९)। मुद्राओं पर वृक्ष-वनस्पतियों का अंकन

चित्र ३९

चित्र ३८

बहुत कम है। एक मुद्रा पर पीपल या अश्वत्थ का चित्रण (वही, ३८७) है जो भारतीय परम्परा में विश्व का प्रतीक माना जाता है। सिंधुघाटी की किसी मुहर पर सिंह नहीं पाया जाता किन्तु एलम, सुमेर, किश और बावेरु की मुद्राओं पर वह लोक-प्रिय पशु है। हिरन भी सिंधुघाटी की मुद्राओं पर कम है पर एलम और सुमेर में बहुत है।

मुद्राओं की छाप अलग से भी मिली हैं जैसे ५ कलशों पर, ३० टिकरों पर जिनमें १२ काचले नफीस मसाले के और १८ मिट्टी के हैं।

मुहरों की कुछ छाप तिकोनिया मिट्टी के टुकड़ों पर है जो सिंधुघाटी की अपूर्वता है क्योंकि वैसा कोई नमूना बावेरु, एलम या अन्य देशों में नहीं मिला। यह रोचक है कि कुछ मुहरों पर चलती हुई पशु पंक्ति अंकित है जिसमें एकशृंग, गेंडा मगरमच्छ, ठिंगने सींगों वाला नटुआ बैल,

हाथी और बाघ के रूप हैं (चित्र ४०)। मेसोपोतामिया और शूषा की पुरानी मुहरों पर पशु-पंक्ति का यह अभिप्राय बहुत व्यापी था। वहाँ की जंगम पशुपंक्ति में चलते हुए सिंह और हिरन दिखाए गए हैं। ऊपर की सूची में तीन पशु वही हैं जो अशोक स्तम्भ की गोल चौकी पर भी पाए जाते हैं, अर्थात् बैल, हाथी और बाघ। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध स्तूपों की सजावट में और मंदिरों के सोपान की चन्द्र-शिलाओं पर चतुष्पद-पंक्ति का अंकन बहुत आवश्यक और श्लाघनीय माना गया। चतुष्पद-पंक्ति के चार पशुओं का संबंध धर्म के बहते हुए प्रवाह में चार देवताओं से जुड़ गया; जैसे हाथी का इन्द्र के ऐरावत से, बैल का शिव के नादिया से, घोड़े का इन्द्र के उच्चैःश्रवा से, सिंह का शिव के कुम्भोदर नामक सिंह से या दुर्गा के सिंह से। मोहनजोदड़ो की चतुष्पद-पंक्ति में जो मगर की मूर्ति है, उसका संबंध कालान्तर में मकरवाहिनी गंगा से जुड़ गया। बौद्ध साहित्य या पाली में इन चार महापशुओं को महाआजानेय माना है जो निश्चित रूप से धार्मिक भावना के अंग थे। उनका संबंध चक्रवर्ती सम्राट् के राजप्रसाद के चार द्वारों से भी बताया गया है। इस प्रकार सिन्धुमुद्राओं पर बनी पशु मूर्तियाँ स्पष्टतः पशु-पूजा कि आरम्भिक परम्परा के सिरे पर हैं।
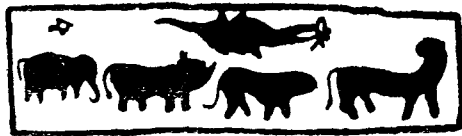
चित्र ४०

ताम्र मुद्राएँ—ताँबे के बने हुए ये छोटे पदक आयताकार (१·२″×·५″ से १·५×·१″) हैं। चौकोर (·९२″×·९२″) टुकड़े संख्या में कम हैं। इन पर भी मुद्राओं की भाँति पशुओं की आकृतियाँ और लेख खुदे हैं। अतः इन्हें भी ताम्रमुद्रा ही कहना ठीक होगा। ये अधिकांश में सावधानी से बनाई गई हैं। ये पहले ढाली और फिर हथौड़े से पीटकर ठीक रूप में लाई जाती थीं। कुछ मुहरों के ऊपर-नीचे या आगे-पीछे के भाग और टकरें बहुत साफ हैं। किन्हीं में इनके सिरे पीटकर डौलिया दिए गए हैं। कुछ मुहरें एक सिरे पर ऊबड़-खाबड़ हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे

चित्र ४१
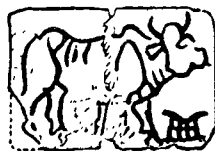
चित्र ४२

चित्र ४३

चित्र ४४

ताम्रमुद्राओं पर अंकित पशु

किसी लम्बी पट्टी में से काटकर बनाई गई हैं। ये लक्षण आरंभिक युग की चाँदी की आहत मुद्राओं के टुकड़ों में भी पाए जाते हैं। यह संभव है कि ये ताम्र मुद्राएँ भी आहत मुद्राओं की भाँति सिक्कों के रूप में ही चालू थीं। मार्शल का मत इनके विषय में निश्चित न था। वे इन्हें ताबीज ही समझते थे। पर इनका सिक्का होना अधिक संभव है। प्रथम तो वे ढालने और हथौड़े से पीटने के बाद ऐसी सफाई से लम्बी पट्टियों में से काटी गई, ठीक जैसे आहत मुद्राओं के सिक्के ढाल कर और गढ़ कर बड़ी चादरों में से काटे जाते थे, दूसरे इन पर अंकित पशु वे ही हैं जो आहत मुद्राओं पर पाँच-पाँच के थोक में पाए जाते हैं। यह अवश्य है कि इनका चित्रलिपि लेख ऐसी विशेषता

हैं जो आहत मुद्राओं पर नहीं है। सिन्धु उपत्यका में इन ताम्रमुद्राओं के अतिरिक्त किसी भी सिक्के का अस्तित्व नहीं पाया गया। इससे भी इन ताम्रमुद्राओं के सिक्के होने की संभावना को बल मिलता है।

सैन्धव सभ्यता का तिथिक्रम—ऊपर हमने सिन्धुघाटी की कला, शिल्प एवं अन्य अनेक संस्थाओं के और ऐतिहासिक युग की ऐसी ही वस्तुओं और संस्थाओं में जो समानताएँ हैं उनकी चर्चा की है। कई बातें तथ्यों से सिद्ध हैं; एक तो यह कि सिन्धुकालीन ताम्रसभ्यता का जन्म भारत की भूमि पर ही हुआ। दूसरी यह की वह सभ्यता लुप्त नहीं हो गई। वह अपनी दृढ़ परंपरा भारत की ऐतिहासिक संस्कृति के विकसित होते हुए रूप में छोड़ गई है। तीसरी बात यह है कि अपने युग में ही सिंधु सभ्यता का स्वदेश में दूर-दूर तक संपर्क था और भारत के बाहर के देशों से भी उसका व्यापारिक और धार्मिक संबंध था। चौथा तथ्य यह है कि सिंधु सभ्यता अत्यन्त उच्च कोटि की थी और उसमें कितने ही मौलिक तत्त्व थे। अनेक शिल्प-विधियों की तो वह पटरानी थी। पाषाण शिल्प, ताम्र शिल्प, रत्नों का तराशना और बेधना, चाँदी, सोने आदि धातुओं का काम, हाथी दाँत और शंख की उकेरी और पच्चीकारी, संग और नगों का तराशना और काटना, कृषि से गेहूँ और जौ का उत्पादन, रुई का उपजाना और उससे वस्त्र बुनने की कला, पहिएदार रथ और गाड़ियों का उपयोग, लिपि के अक्षरों का आविष्कार, शरीर का प्रसाधन, पुरुषों का मानमनोहर (जैसे पुरोहित मूर्ति में), गाजरपूंगी, बकरडड्डो आदि रूपों में दाढ़ियाँ कुपटना एवं स्त्रियों का जूड़े एवं माँग-पट्टियों के रूप में बाल सँवारना, भाँति-भाँति के वस्त्र और गहने, नृत्य कला, छुरे, दर्पण, जूड़े की सलाई और गन्ध, तैल, हार और मनके, काचले मसाले के कड़े-कंगन, पशुपालन, देवपूजा, स्तम्भोच्छ्रयण, योगविधि, पितृपूजा और परलोक में विश्वास, भवननिर्माण, कोष्ठागार और स्नानकुंड, स्वच्छ पानी के गहरे कुएँ, महापथ वाले नगरों का विन्यास, अट्टालक द्वार और प्राकार से युक्त दुर्गविधान, आत्मरक्षा के लिए आयुधों की कल्पना, नामांकित मुद्राओं का प्रचलन—ये सब ऐसे लक्षण हैं जिनसे सैन्धव सभ्यता के दिव्य स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। वे अपने पीछे पकाई हुई मिट्टी की करोड़ों ईंटें छोड़ गए हैं जिनसे कई महानगर भरे हुए हैं। वे नदियों में नावें और समुद्र में जहाज चलाते थे। रोपड़ से भगतराव तक १५०० मील लम्बे प्रदेश में राजधानी, नगरों और ग्रामों का निर्माण किया गया जो सुखी जनों से भरे हुए थे और जिनमें उनके व्यापारी और सार्थवाह निरंतर यात्रा करते थे। देश और विदेश में उनकी अबाध गति थी। मध्य-एशिया के रवेदार सोने और हरे यशब को वे काम में लाते थे। उत्तरी बर्मा की चाँदी की खानों तक उनकी पहुँच थी। मैसूर में कोलार की सोने की खान से भी उन्हें पासा सोना प्राप्त होता था। इस चौमुखी उन्नति के सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है। प्राचीन जगत् की अन्य महती सभ्यताओं से उनकी बराबरी की टक्कर थी, और कितनी ही बातों में पहल सैन्धवों के हाथ थी। ऐसी शिरोमणि सभ्यता का प्रथम निर्माण भारत की भूमि पर होना गौरव की बात है। जब से सिन्धु-सभ्यता का परिचय हुआ तब से भारतीय संस्कृति के देश-काल और यश में अभिवृद्धि हुई है। इस देश की ऐतिहासिक संस्कृति से लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व सिंधु सभ्यता का काल माना गया है।

सिन्धु-सभ्यता के विषय में दो समस्याएँ हैं जिनकी ओर ध्यान जाता है। तिथि-क्रम को ध्यान में रखकर पहली बात तो यह कि सुमेर, एलम, शूषा आदि पश्चिमी एशिया, ईराक और ईरान की प्राचीन सभ्यताओं से उसका समसामयिक संबंध है। दूसरी बात भारत की ऐतिहासिक

सभ्यताओं के साथ प्रवाह या उसके रूप का मिलान और समानताएँ हैं। यहाँ की तो वह विभूति ही थी अतः इस देश में उसका सर्वथा विलोप नहीं माना जा सकता। प्रसन्नता की बात है कि पुरातत्त्व के द्वारा पहली समस्या पर काफी प्रकाश पड़ा है। सिन्धुघाटी की लगभग ३० मुद्राएँ सैन्धव क्षेत्र से बाहर मेसोपोटामिया के नगरों में मिली हैं। मेसोपोटामिया की कई निराली विशेष वस्तुएँ सिन्धु-सभ्यता में पाई गई हैं जो पारस्परिक आदान-प्रदान की सूचक हैं। सी० जी० गैड ने इन मुद्राओं का इस प्रकार विवेचन किया था--

सिन्धुघाटी की ऊर से प्राप्त १६ मुद्राएँ, बावेरु से प्राप्त दो मुद्राएँ, किश, शूषा, उम्म और तल्ल अस्मर से पूर्व प्राप्त आठ मुद्राएँ, और दो अन्य अज्ञात स्थानों से प्राप्त मुद्राएँ। इनमें वे दो मोहरें भी जोड़ देनी चाहिएँ जिनमें एक तल्ल अस्मर से, दूसरी मोसल के पास के टीबागौरा से मिली है। एक तीसरी मुहर और पश्चिम के प्रदेश सीरिया में मिली है। ह्वीलर ने इन सब मुहरों की उपलब्धि के संदर्भों का एक आलोचनात्मक अध्ययन किया है और उसने एक सूची बनाई है जिसमें बारह मुहरें ऐसी हैं जिनके संबंध में तिथिक्रम की कुछ निश्चित बात स्वीकार की जा सकती है। उनमें से एक सम्राट् सारगन से पूर्व की (२३५० के लगभग) है, जिस पर सामने सिर झुकाए हुए एक नादिया बैल है। सात मुद्राएँ सारगन युग की (२३५० से २००० ई० पू० की) हैं।

चार मुद्राएँ लारसा युग (लगभग १८०० ई० पू०) और परवर्ती कस्सी युग (लगभग १५०० ई० पूर्व) की हैं। इससे सूचित होता है कि २५०० ई० पू० से १५०० ई० पू० के बीच में सहस्र वर्षों तक सिन्धु-सभ्यता के फूलने-फलने का युग निश्चित रूप से मेसोपोटामिया के साथ सम्पर्कों के आधार पर माना जा सकता है।

अन्य प्रकार की वस्तुओं से भी इन सभ्यताओं की समसामयिकता और सहकालीन अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे सफेद मसाले से पच्ची किए हुए तामड़े के मनके, गुर्दे की शकल के हाथी दाँत के पच्चीकारी के टुकड़े, मिट्टी के ऐसे बर्तन जिनके पीछे पकड़ने का बेंट बना है और जो तल्ल अस्मर में भी पाए गए हैं, हरी झलक के भूरे पत्थर (हरीयाले सलेटी हीरा पत्थर) की बनी छोटी मंजूषा जिस पर चटाईदार अलंकरण बना है और जिसका एक ही नमूना मोहनजोदड़ो में मिला है पर कई नमूने ऊर, किश, लघश और शूषा में मिले हैं।

इस प्रकार पश्चिमी जगत् की प्राचीन सभ्यताओं से सिन्धु-संस्कृति की समसामयिकता का कुछ आधार प्राप्त हो जाता है और तिथि-क्रम-संबंधी प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। अब हमें वैदिक सभ्यता के साथ इसकी समानता देखनी चाहिए। यद्यपि लिपि का पढ़ना अभी तक किसी के वश में नहीं आया है फिर भी सैन्धवजनों के और वैदिकजनों के बीच कई बातों में ऐसी समानताएँ हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। यह विषय विशेष स्थान की अपेक्षा रखता है। विचार और साक्षी का निष्कर्ष यह है कि आर्य लोग सहसा कहीं से प्रकट नहीं हो गए जिन्होंने हड़प्पा निवासियों के साथ संघर्ष करके उन्हें एकदम उखाड़ फेंका। किन्तु कई सदियों तक और पूरे सहस्र वर्षों तक आर्य और हड़प्पा निवासी एक साथ फूलते-फलते रहे, उनमें मेल भी रहता था और संघर्ष भी। और, दोनों के बीच धर्म और संस्कृति का निर्बाध आदान-प्रदान या बेरोक टोक लेना देना चलता था। इन संपर्कों के सूत्रों को खोलने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया। इसके कुछ संकेत हैं कि सैन्धव-संस्कृति के अनेक प्रभाव उत्तरकालीन भारतीय संस्कृति में सुरक्षित हैं। ये संकेत बहुत से तो उस युग के बाद लिपिबद्ध किए गए जब आर्यों और हड़प्पा निवासियों में खुलकर दो बड़े संग्राम हुए; एक हरियूपीया (हड़प्पा) में परुष्णी (रावी) के तट पर और दूसरा पश्चिम की

ओर हटकर यव्यावती (अर्वाचीन झौब) नदी के क्षेत्र में जो इस समय उत्तरी बलूचिस्तान में है (ऋग्वेद ६।२७।५-६)।

यह प्रश्न तीखे रूप में बना रहता है कि हड़प्पा निवासी किस सभ्यता के थे। भारतवर्ष में संहिता, ब्राह्मण और पुराणों का जो साहित्य सुरक्षित है, उससे यही संभव जान पड़ता है कि हड़प्पा के निवासी असुर जाति के थे और आर्य देव संस्कृति के माननेवाले थे। देव और असुर सहस्रों वर्षों तक एक दूसरे के साथ मिलते-जुलते रहे। परस्पर संघर्षों की कथा भी आती है। उन्होंने आपस में विवाह संबंध और सामाजिक संपर्क स्थापित किए। दोनों के आचार्य और ऋषि भी परस्पर मिलते थे। दोनों में मातृदेवी की पूजा प्रचलित थी। दोनों में रुद्र-शिव की देवपूजा का अत्यधिक प्रचार था। असुरों में आर्यों की अपेक्षा रुद्र-शिव के नाना भाँति के गणों का और भी अधिक प्रचार था। कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय की रचना ठीक उसी कबायली क्षेत्र में हुई जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के बीच में है। यह व्रातों और व्रातपतियों का प्रदेश था जिनका उल्लेख शतरुद्रिय में है। यही आजकल के कबीले हैं जिनका सिलसिला सिन्धु नदी के किनारों पर दूर तक चला गया है। इनके नेता ग्रामणी कहलाते थे और इनका संविधान ग्रामणीय कहा जाता था जिसका उल्लेख शतरुद्रिय और पाणिनि में आया है। सभापर्व में इनकी भौगोलिक स्थिति के बारे में स्पष्ट लिखा है कि ग्रामणी-संविधान अर्थात् जिरगा शासन मानने वाले लोग सिन्धु के किनारे रहते थे।

वृत्र, संबर, नमुचि, बल आदि असुर जाति के महान् नेता थे। इन्द्र आर्य जाति का महान् देव था। आगे चलकर रुद्र-शिव की पूजा दोनों जातियों में समान रूप से मान्य हुई। और भी देवों का आदान-प्रदान हुआ जैसे वरुण का। असुरों में शव-निखात की प्रथा थी जब कि आर्यों में शव को अग्निसात् करने या जलाने की प्रथा थी। आर्य 'भस्मान्त' शरीर में विश्वास करते थे किन्तु असुर जाति का बहुत बड़ा दार्शनिक सिद्धान्त था कि वे स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को ही आत्मा मान के उसे चिरकाल तक सुरक्षित रखना चाहते थे। इस विषय में दोनों का मतभेद बहुत आगे बढ़ गया। छान्दोग्य उपनिषद् में एक बहुत पुरानी कहानी दी गई है जो इन दो संस्कृतियों के दृष्टिकोण के मौलिक भेद का परिचय देती है।

एक बार देवों का नेता इन्द्र और असुरों का नेता विरोचन दोनों प्रजापति के पास आत्मा के विषय में पूछने गए। प्रजापति ने कह दिया कि शरीर ही आत्मा है, गहनों से सजाओ, सुन्दर कपड़े पहनो, प्रसाधन से इसका परिष्कार करो (सुलंकृतौ, सुवसनौ, सुपरिष्कृतौ)। असुरों को यह बात जँच गई और वे वैसा ही करने लगे। यह पते की बात है जो हड़प्पा के निवासियों पर पूर्ण घटित होती है। उनके गहने और शृंगारप्रसाधन उसके साक्षी हैं।

दूसरी बात यह कही गई है कि असुरों का यह मुख्य सिद्धान्त ही बन गया। देह को आत्मा समझ कर मृतक शरीर को गहनों से, वस्त्रों से और संस्कारों से खूब सजाने लगे क्योंकि वे उन पर समाधि बनाकर प्रेत की देह को बहुत दिनों तक सुरक्षित रखना चाहते थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में जो भूमि-निखात शव मिले हैं वे इस प्रथा की साक्षी देते हैं—असुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ८।५।

सैन्धव संस्कृति की व्याख्या करने का यह अमोघ सूत्र है। इसे आसुरी सभ्यता का उपनिषद् कहा भी गया है। इससे यह परिणाम निकालना समीचीन है कि सिन्धुघाटी में जो सभ्यता पाई गई है वह असुरों की है। वह आर्य सभ्यता से टक्कर लेती थी। अथर्ववेद के पृथिवी

सूक्त में लिखा है कि इस पृथ्वी पर देवों और असुरों में संग्राम हुआ और देवों ने असुरों को परास्त किया (यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्, अ० वे० १२।१।५)। सिन्धुघाटी की सभ्यता समुद्री मार्ग से दक्षिण की ओर अंत में दबती चली गई। लिखा है कि ययातिके एक पुत्र तुर्वसु के वंशज पश्चिम की ओर गए थे और फिर उनका पता न चला। सम्भवतः सैन्धव लोग तुर्वसु की सन्तति थे या तुर्वसु को अपना पूर्वज मानते थे। उनमें से कुछ तो वहीं बसे रह गए और कुछ सुदूर दक्षिण में केरल, चोल, पाण्ड्य और कूल्य (समुद्रतटवर्ती) प्रदेश में जा बसे क्योंकि पुराणकारों ने इन्हें तुर्वसु का वंशज कहा है।[1]

इस प्रसंग में यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि तमिल भाषा का ही एक रूप ब्राहुई भाषा है जो सिन्धु देश में आज तक बची रह गई है। ब्राहुई का यह भाषा-द्वीप सिन्धु देश में कैसे बचा रह गया, इसकी व्याख्या आज तक इसी प्रकार से की गई है कि प्राचीन तमिल निवासी सैन्धव लोगों से सम्बन्धित थे और उनका अभिजन या पूर्व-निवास सिन्धु देश में था। दक्षिणापथ के लोगों में भी मातृदेवी और रुद्र-शिव की पूजा-मान्यता की प्रधानता है जैसी सैन्धव जाति में थी।

एक अन्य समानता तमिल और सैन्धव लोगों में यह है कि दोनों अधोवस्त्र या धोती तहमद के रूप में बाँधते थे। दक्षिणापथ के समस्त तमिल प्रदेश में यह प्रथा आज तक है। इसके अतिरिक्त पश्चिम एशिया की सैमेटिक जाति के लोग प्राचीन काल से लेकर आजतक बिना कच्छ के धोती या तहमद ही पहनते हैं। सैन्धव लोगों में उत्तरोष्ठ की मूँछें मुड़ने की प्रथा थी जो असुर जाति या सामी वंश के लोगों में भी थी। सैन्धव लोग जल पीने के लिए नुकीली पेंदी के पात्र या कुल्हड़ काम में लाते थे जिससे अनुमान होता है कि जल पीने के बाद उन्हें औंधा रख देते थे। हमारा अनुमान है कि सामी या आसुर जातियों में भी यही प्रथा थी। ये सब प्रमाण तो अनुमानगम्य हैं। सम्भवतः उनके संकेत सत्य की दिशा में हों पर सिन्धु-सभ्यता के मूल रूप पर सच्चा प्रकाश तो वहाँ की लिपि के अक्षरों के पढ़ लेने से ही पड़ सकेगा। यदि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की मुहरों के कुछ अक्षर भी पढ़ लिए जाँय तो इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की व्याख्या के साथसाथ वैदिक और पौराणिक साहित्य का महत्त्व भी बहुत बढ़ जायगा।

---

१. तुर्वसोः पौरवं वंशे प्रविवेश पुरा किल।
पाण्ड्यश्च केरलश्चैव चोलः कुल्यास्तथैव च।
तेषां जनपदाः स्फीताः पाण्ड्याश्चोलाः सकेरलाः ॥

अध्याय ४

४ (अ). वैदिक कला और शिल्प

वेदों में शिल्पों का उल्लेख---वैदिक संहिताओं से हमें कुछ ऐसे शिल्पों का परिचय प्राप्त होता है जो भौतिक सामग्री के माध्यम से विरचित किए जाते हैं, यद्यपि अभी तक सचमुच ऐसे शिल्प के नमूने नहीं मिले हैं, जिन्हें वैदिक युग का कह सकें। महत्त्व के उल्लेख स्तूप (जैसा हिरण्यस्तूप शब्द में है), रशना और चषाल से युक्त यूप या यज्ञीय स्तम्भ के हैं जो वन में बड़े-बड़े वनस्पतियों को काट-छाँटकर बनाए जाते थे। यूपव्रस्क नामक काष्ठवर्द्धकी कुल्हाड़ी-बसूले लेकर जंगल में जाते और यूपों के लिए वनस्पति-वृक्षों का छेदन करते थे जैसा उनके नाम से प्रकट होता है। उनके पास ताँबे के बने हुए औजार रहते थे जिन्हें आयसी वाशी कहा गया है। यह एक प्रकार की कुल्हाड़ी थी। बसूला शब्द इसी से बना है। शतवल्श और सहस्रवल्श वनस्पति अर्थात् सौ और सहस्र शाखाओं वाले वन के सम्राट् जैसे महावृक्षों का उल्लेख आता है।

ऐसे बड़े वृक्षों का तक्षण करके भारी-भारी महल बनाने की प्रथा थी जिन्हें सहस्र-स्थूण प्रासाद कहा गया है। अथर्ववेद के शाला सूक्त में कहा है कि भवन-निर्माण से पूर्व लकड़ी के संभार का प्रबन्ध कर लेना चाहिए। पहाड़ी इलाकों में जहाँ देवदारु और साल के बड़े वृक्ष होते हैं, अब भी यही प्रथा है कि मकान बनाने से पहले सौ-सौ फुट लम्बे और ऊँचे भारी पेटे और ठोस गाभे के १०-२० वृक्षों को इकट्ठा कर लिया जाता है। तब गाँव के बढ़ई उनसे भीत, खम्भे, पटाव, अटाली आदि का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार के काष्ठ-शिल्प से प्राचीन काल में यहाँ प्रासादों का निर्माण होता था। कालक्रम से वे सड़-गल गए और उनके चिह्न अब शेष नहीं रहे। यही दशा वैदिक और महाजनपद युग के प्रासादों की हुई। उनका बचे न रहना कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि भारतीय जलवायु में वृष्टि और ग्रीष्म ऋतुओं का खुले हुए काष्ठ-शिल्प पर विध्वंसकारी प्रभाव होता है। काष्ठ-शिल्प के पूर्व अस्तित्व का सुनिश्चित प्रमाण पश्चिमी भारत के गुहा-रचित चैत्यगृहों में सुरक्षित है जहाँ कीर्तिमुखों के द्वार में बने हुए काष्ठपंजर या वातायन एवं भीतर की छत के कंठभाग में पहनाए हुए लकड़ी के बहुत भारी गर्दने अभी तक बच गए हैं।

विश्वकर्मा---यह विश्व जिसका कर्म है उसे विश्वकर्मा कहा गया और उसके आधार पर प्रजापति के विश्वकर्मा रूप की कल्पना की गई। भुवनों के रचने वाले को "भौवन विश्वकर्मा" कहा गया। यह भी कल्पना की गई कि संसाररूपी महावृक्ष को गढ़-छील कर या तक्षण करके द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया (ब्रह्म उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः)। इससे भी आगे बढ़कर यह सोचा गया कि इस प्रकार के शत-सहस्र (सैकड़ों) वृक्षों की समष्टि एक महावन है जैसे पृथिवी के बड़े-बड़े अरण्य होते हैं। ऐसे अरण्यों की अधिष्ठात्री देवी "अरण्यानी" मानी गई जो अपने जंगलों में झंकारते नूपुरों से स्वच्छन्द विचरण करती है। वह एक जांगल प्रदेश से दूसरी ओर चली जाती है और गाँवों की ओर देखती भी नहीं। उसके प्रदेशों में झिल्ली झंकारती है और महावृषभ

दड़ूकते हैं। सायंकाल के समय बड़े-बड़े शकटों की पंक्ति अरण्यों से सामग्री ढोती हुई आती है। कोई चलने के लिए गोयूथों को पुकारता है। दूसरे ने वन के किसी प्रदेश में महावृक्ष वनस्पतियों को काट गिराया है। अरण्य में निवास करने वाला कोई सोचता है कि जंगल में दूर से किसी के चिल्लाने की ध्वनि आ रही है। देवी अरण्यानी किसी का हनन नहीं करती जब तक कोई हिंस्र शत्रु न हो। अरण्य के वृक्षों पर लगे हुए स्वादिष्ट फलों को खाने के लिए लोग यथाकाम वहाँ जाते हैं। जंगल में या वनों में बिना जोते-बोये अन्न भी होता है। वहाँ नाना प्रकार की सुगन्धियाँ अरण्यानी देवी के शरीर का अंजन हैं। इस प्रकार बड़े-छोटे पशुओं की माता अरण्यानी की प्रशंसा का गान करता हूँ।*

भारतीय सघन वनों के इस विभ्राट् वर्णन को पढ़कर विश्वास होता है कि कार्ले चैत्यगृह की ढोलाकार छत में लगे हुए महाकाय गर्दनों के काष्ठशिल्प की सामग्री प्राप्त करने के लिए ये ही स्रोत थे। हाथी, शेर और गैंडों से भरे हुए जंगलों में दिव्य वनों की अधिष्ठात्री के रूप में अरण्यानी देवी की कल्पना वास्तविक जीवन से सम्बन्धित कविता है। इन बड़े जंगलों में वृक्षों के काटने और गिराने का निश्चित उल्लेख इस सूक्त में आया है जिससे वैदिक काष्ठशिल्प या दारुकर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

ऋग्वेद में रूपों के निर्माण का प्रायः उल्लेख आता है। देवों के वर्धकी या बढ़ई को त्वष्टा कहा गया है जो विश्वकर्मा की भाँति एक देवता की ही संज्ञा है। रूपपिंशन या तक्षणकर्म द्वारा विविध वस्तुओं का निर्माण करना त्वष्टा का काम था (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु)। वस्तुओं के भौतिक रूप का अधिक महत्त्व माना जाता था। इन्द्र के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि वह अपनी माया या शक्ति से अनेक रूपों को रचता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, ऋग्वेद; रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव)।

वर्धकियों के काष्ठशिल्प की भाँति ही ऋग्वेद में कर्मार या लोहार के पेशे का भी उल्लेख है। कहा है कि जैसे लुहार अपनी भट्टी के सामने बैठकर धातुओं का संधमन करता या गलाता है वैसे ब्रह्मणस्पति प्रजापति सब देवताओं के रूपों को ढालता है (ब्रह्मणस्पतिरेताः स कर्मार इवाधमत्, ऋग्वेद १०।७२।२)। वेदों में करघे पर कपड़ा बुनने वालों और सोने-चाँदी के गहने बनाने वालों का भी उल्लेख आता है।

शिल्प—कला और उद्योगों के लिए शिल्प शब्द था। सौन्दर्यमय शिल्प के रचयिता को स्वरूप-कृत्नु कहा गया है। उत्तम सुगठित शरीर के लिए सुशिल्प विशेषण आया है। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी की संज्ञा श्री थी। उसी की सहचारिणी लक्ष्मी थी। दोनों मिलकर कालान्तर में देवी श्रीलक्ष्मी के रूप में विकसित हुईं। देवी श्रीलक्ष्मी को भारतीय कला के मूर्त सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी कहा जा सकता है। उसकी पूजा और मान्यता वैदिक युग से लेकर आज तक चली आई है। पद्महस्ता

---

* ऋग्वेद मण्डल १०।१४६

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ॥ १ ॥
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥ २ ॥
उत गावइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥ ३ ॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्। वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥ ४ ॥
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ ५ ॥
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥ ६ ॥

पद्मिनी या गजलक्ष्मी वही है जिसका पूजन लोक में दीपावली के अवसर पर किया जाता है। श्री का विपरीत भाव अश्री था, सुन्दर मुख को सुप्रतीक और कुरूप चेहरे को अश्लील कहते थे, अर्थात् जो श्री हीन हो। ज्ञात होता है कि स्त्री और पुरुष अपने शारीरिक प्रसाधन में पर्याप्त रुचि लेते थे। वैदिक भाषा में प्रयुक्त अनेक शब्द इस बात के साक्षी हैं—हिरण्यमय द्रापि (सुनहले या जरीके काम के वस्त्र), ओपश (सिरे के ऊपर उठा हुआ एक अलंकार), पेशस् (बुनावट में कामदानी के वस्त्र), ऊर्णा (ऊनी वस्त्र), पवस्त (भेड़-बकरी के कमाए हुए चमड़े के पोस्तीन आदि वस्त्र)।

ओपश दो-तीन इंच ऊँचा झालरदार गहना था जो केशों में सुनहले सिक्के से बाँध लिया जाता था। इसके साथ ही प्रायः कुरीर का उल्लेख आता है जो कुल्फीनुमा गहना था।

कुरीर घाघरे की तरह एक ओर खुला हुआ, दूसरी ओर से तंग और नुकीला होता था। तंग भाग नीचे और खुला भाग ऊपर रखकर इसे पहनते थे। केशों को पटिया में बाँध लिया जाता था। इसे कुमारी अपने सिर के चारों ओर पहनती थी (चतुष्कपर्दा युवती सुपेशाः, ऋ० १०।११४।३)। स्त्रियाँ सिर पर बालों का जूड़ा बाँधती थीं। इसे कुम्ब कहते थे (तुलना कीजिए—कोप्पू, हिन्दी खोपा)। एक जगह एक सुन्दरी को स्वोपशा, सुकुरीरा, सुकपर्दा कहा गया है (शु० यजु० ११।५६)। स्त्रियाँ मुखसौन्दर्य की वृद्धि के लिए घृत या भाँति-भाँति के रोगनदार तेलों का लेपन करती थीं और इस आधार पर उन्हें घृतप्रतीका कहा जाता था।

बुनाई—साड़ी आदि भाँति-भाँति के बुने हुए वस्त्र वयून कहे जाते थे। उनका पहनना सौन्दर्यवर्द्धक था। ऋग्वेद में रुई के वस्त्र का उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि ऊनी वस्त्रों का वर्णन है; उदाहरण के लिए शमुल्य (ऋग्वेद १०।८५।२९; संभवतः इसी से निकला हुआ पगड़ी के लिए शमला शब्द प्रचलित है), दूर्श्य (लौकिक सं० दूष्य; हिन्दी धुस्सा)। बुनने के अर्थ में 'वय' धातु थी और बुनाई के काम को वयन कहा जाता था। करघा तन्त्र, ताना तत , बाना ओतु, ढरकी तसर, खूँटियाँ मयूख, ताना भरी हुई कंघी को आगे-पीछे हटाना प्रवय-अपवय, सूत को तन्तु, कपड़े को वस्त्र, बुने हुए थान को वयून कहा जाता था। तन्त्र या करघे की उपमा काल से दी गई है जो दिन और रात के धागों से अपना वस्त्र बुन रहा है। एक मन्त्र में कहा गया है कि माताएँ अपने पुत्रों के लिए वस्त्र बुनती हैं (वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति, ऋ० ५।४७।६)। पुरुषों को भी करघे पर बुनने वाला कहा गया है (इमे वयन्ति पितरो य आययुः, ऋ० १०।१३०।१)। एक मन्त्र की व्यंजना है कि जैसे सृष्टि का कार्य १०१ यन्त्रों (देवकर्म) से चल रहा है वैसे ही ताने में १०१ तन्तु या धागों का वितान किया जाता है। ताना बुनने के स्थान या करघाघर के लिए सदस् शब्द का प्रयोग किया गया है (१०।१३०।२)।

यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में रुई का नाम न आने पर भी सिन्धुघाटी में रुई के सूती वस्त्र का नमूना मिला है। बुनाई का काम अत्यन्त सम्मानित समझा जाता था और उसे कलात्मक शिल्प की कोटि में रखते थे। घर की स्त्रियाँ और पुरुष, युवक और युवतियाँ सब वस्त्र बुनने की कला में रुचि लेते थे और घरेलू सम्बन्धी एक दूसरे के लिए स्वयं वस्त्र बुनकर एक दूसरे के प्रेम का प्रदर्शन करते थे, जैसे माता पुत्रों के लिए, पत्नी पति के लिए। विवाह में सुमंगली वधू अपने हाथ का बुना वस्त्र पति को भेंट करती थी।

रथकार—रथ बनाने की कला का वैदिक युग में बहुत विकास हुआ था। कई देवताओं के रथों का वर्णन मिलता है। रथ बनाने वाले वर्धकी को रथकार कहा जाता था। रथ के विभिन्न भाग या रथाङ्गों का भी कितनी बार उल्लेख आया है, जैसे रथ, अक्ष (धुरा), चक्र (पहिया), अर (पहिए के डंडे), नभ्य (नाह), प्रधि या पहिए का बाहरी गोल भाग, नेमि (प्रधि के ऊपर जड़ा हुआ गोल चक्कर), कोष (रथ का कलेवर या मुख्य भाग), बन्धुर या गर्त (रथ के भीतर बैठने का स्थान, इसे ही रथोपस्थ कहने लगे; कभी इनकी संख्या तीन होती थी जिसके कारण रथ को त्रिबन्धुर कहा जाता था), ईषा (रथ के अग्रभाग का लम्बा डंडा), युग (जुआ), रथवहन (कड़ौची, जिसके सहारे रथ खड़ा किया जाता था या जिस पर रथ को सहारते थे), रथमुख (रथ के सामने का खुला भाग)। भारी बोझ ढोने की गाड़ी को अनस या शकटी कहते थे। इसे खींचने वाले तगड़े बैल अनड्वान कहे जाते थे (ऋ० १०।१४६।३)।

बर्तन-भाँडे—कुम्हार का काम भी कला-शिल्प के रूप में प्रचलित था। घरेलू भाँडों के नाम इस बात के सूचक हैं, जैसे अमत्र (हाँडी), आहाव (डोल), ऊखा (कड़ाही), उदञ्चन (पानी उलीचने या उठाने का डोल जैसा मात्र, चाक या गगरी), कंस (काँसे का धातुपात्र या काँसे का भिगोना), कलश (कलसा), कुम्भ (घड़ा), उदक कुम्भ (पानी का गगरा या बड़ा घड़ा), इसके मुखभाग को बिल और पेंदी को बुध्न कहते थे, द्रोणकलश (लकड़ी का बड़ा गगरा), चमस (बड़ा कटोरा), चरु (औटाने का बड़ा कड़ाह), दृति (मशक या चर्मपात्र) जिसमें पानी और दूध भी भरा जाता था, सूर्प (फटकने का सूप या छाज), परिणह्य (घरेलू बर्तन टाँगने का छींका), मणिक (पानी के लिए लटकाने का बर्तन), गोल या जेठ माठ, स्थाली (बटलोही, इसका मुँह स्थालीबिल कहलाता था), सुशिरा सूर्मि (छेदने का बर्मा), दृषद् (पीसने की सिल)। इतने प्रकार के बर्तन-भाँडों से भरी-पूरी गृहस्थी वैदिक कालीन या वैदिक युग की गृहस्थ-संस्कृति का परिचय देती है।

धन्धे या पेशे—विभिन्न कलाओं का विकास पेशेवर लोगों के हाथों में हुआ। इन पेशों को पाणिनि ने जानपदीय वृत्ति कहा है। ये भाँति-भाँति के शिल्प थे। कुछ पेशेवरों के नाम ये हैं—कीनाश या कृषिवल (किसान), कर्मार (लुहार), कैवर्त (मछुआ), गोपा (ग्वाला), नावाज (नाविक), नापित (नाउ), ज्याकार (धनुषकार या प्रत्यञ्चा बनाने वाला), तक्षा, तष्टा (बढ़ई), ध्मातृ (धातु गलाने वाले), पक्तृ (पाचक), पाणिघ (ताल देने वाले संगीतकार), विदलकारी (बेंत का काम करने वाले), मणिकार (मुटके बनाने वाले मनिआर), मल्ग (धोबी), रज्जुसर्ज (रस्सीबट्टा), रजयितृ (रंगरेज), वंशनर्तिन् (बाँस पर कला दिखाने वाले नट), वयतृ (बुनकर), सूर्पकार (सूप बनाने वाले), हिरण्यकार (सोना ढालने वाले सुनार), वीणागाथिन् (वीणावादक) इत्यादि।

गृह-निर्माण कला—गृह-निर्माण की कला का अच्छा विकास हुआ था। वास्तुकला सम्बन्धी अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं, जैसे स्कम्भ (घरों की छत आदि टेकने के खम्भे), इन्द्र को स्कभीयान अर्थात् सर्वोत्तम खम्भे का स्वामी कहा गया है (ऋ० १०।११।५)। घर का मापन सूत्र छोड़कर किया जाता था (धाम ममे), इस अर्थ में मा धातु का बहुधा प्रयोग हुआ है। घर के भिन्न भागों को खम्भों पर टिकाते थे (स्कम्भेन धारयेत्, ऋ० ८।४१।१०)। एक मन्त्र में दृढ़ आधार पर खड़े किए गए तीन

खम्भों का उल्लेख है, उनके ऊपर तिकोनी या ढोलाकार छत बाँधी जाती थी (त्रयः स्कम्भासः स्कभितासः, ऋ० १।३४।२)। स्तम्भ के अधिष्ठान या बुनियाद को धरुण कहते थे (स्कम्भं धरुणे, ऋ० १०।४४।)।

बड़े खम्भे को महन् स्तम्भ कहा जाता था (महन् स्कम्भ, ऋ० ६।४७)। उसकी लाट की ऊँचाई को वर्ष्मन् (ऋ० ३।८।३) कहते थे। ऊँचे खम्भे (ऊर्ध्वं तिष्ठ, ऋ० ३।८।१) को महान् लोकव्यापी सौभाग्य का प्रतीक माना जाता था (उच्छ्रयस्व महते सौभगाय, ऋ० ३।८।२)। उसी से यूप या इन्द्रध्वज का विकास हुआ। लिखा है कि इन्द्र ने ऊँचे खम्भे पर द्युलोक को स्तम्भित कर रक्खा है (अयं महान् महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान्, ऋ० ६।४७।५)। इस मन्त्र में उत्तरकालीन लौकिक संस्कृत के स्तम्भ शब्द की स्तभ धातु का प्रयोग हुआ है, उसी का यह सहयोगी शब्द स्कम्भ है। उनसे हिन्दी के थम्भ और खम्भ शब्द निकले हैं। काष्ठकर्म के शिल्पी बनों में जाकर ऊँचे वृक्षों को मापते थे और स्वधिति या कुल्हाड़ी से उन्हें काटकर गिराते थे। उन्हें ही बड़े खम्भों का रूप दिया जाता था (वनस्पते स्वधितिस्ततक्ष ऋ० ३।८।६)।

वास्तु-विन्यास या गृहमापन—घर के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे दम, गृह, पस्त्या, सदन, दुरोण, हर्म्य, अस्त, शरण। उसके तीन मुख्य भाग होते थे। यह स्पष्ट योजना गृह या प्रासाद निर्माण की भारतीय परंपरा में बराबर चलती रही। पहला भाग सामने के आँगन या अजिर समेत गृहद्वार था। दूसरा भाग सदस् या बैठक थी जिसे सभा और बाद में आस्थानमण्डप भी कहा गया है। यह राजप्रासादों का वह भाग था जिसमें दरबार और अतिथिस्वागत भी किया जाता था। घर का तीसरा भाग पत्नीसदन कहलाता था; उसी की संज्ञा अन्तःपुर हुई। वैदिक युग में घर का चौथा भाग अग्निशाला थी जहाँ श्रौत अग्नियों का आधान किया जाता था, इसे अग्निशरण भी कहते थे। कालान्तर के राजप्रासादों में यही देवगृह कहा जाने लगा। यहाँ राजा ऋषि-मुनि, पुरोहित आदि अतिथियों का स्वागत करता था। व्यवस्था के अनुसार गृहनिर्माण से पूर्व उसका विन्यास या मापन किया जाता था। उसके लिए निमित या मित शब्द प्रयुक्त हुए हैं (अथर्व० ९।३।१९)। घर छोटे बड़े कई प्रकार के होते थे। बड़े को बृहत् मान (ऋ० ७।८८।५, बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः) और अपेक्षाकृत छोटों को शाला करते थे जो मध्यम श्रेणी का घर होता था। किन्तु नामों के इस भेद का आग्रह नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में महाशाला शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में सहस्रस्थूण या सहस्र थूनियों वाले घरों का उल्लेख है (ऋ० १।४१।५; ५।६२।६)। निःसंदेह इन महाप्रासादों के सभामण्डप में उसी प्रकार के सहस्रस्थूण लगाए जाते थे जैसे मध्यकाल में मदुरा एवं चिदम्बरम् के सभामण्डपों में सुप्रतिष्ठित किए गए। सहस्रस्थूण वाले इस प्रासाद भाग को सदस् कहा गया है जिससे सूचित होता है कि वह आस्थानमण्डप ही था। वैदिक युग में सभा और समिति इन दो संस्थाओं का उल्लेख आया है। सभा छोटी होती थी; समिति में समस्त जनता या विश् का अधिवेशन किया जाता था जिसमें कई सहस्र जनसंख्या एकत्र होती थी। उसी के लिए सहस्रस्थूण सदन का निर्माण संभवतः किया जाता था। इसी के समकक्ष ऐसे बड़े गृह या प्रासाद का उल्लेख है जिसमें सहस्रद्वार होते थे। इसे बृहत् मान भी कहते थे (ऋ० ७।८८।५)। मुख्य प्रवेशद्वार को प्रथम द्वार कहते थे जो कालान्तर के द्वारप्रकोष्ठ के समान था। इनसे छोटे घरों का भी उल्लेख है जिन्हें शतभुजी अर्थात् १०० खम्भों वाला और शतद्वार कहा गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र या कुमराहार में चन्द्रगुप्त-सभा के जो अवशेष मिले है उनमें ८० खम्भों वाला मण्डप लगभग शतभुजी सदन के अनुरूप है। अन्तर इतना ही है कि ये खम्भे मौर्यकालीन

चमकीले पत्थर के हैं जिनकी छत सम्भवतः काष्ठशिल्प की थी। दिव्य शिल्प के लिए सहस्रस्थूण शब्द था और मानुषी को शतस्थूण कहा जाता था। एक स्थान पर सुनहली चमक के अयःस्थूण या ताँबे की पतली चादर का खोल चढ़े हुए लकड़ी के स्तम्भ का भी उल्लेख है जिस पर सुनहला काम किया गया था। घर में कई पक्खे या भित्तियाँ या दीवारें होती थीं जिनके आधार पर उन शालाओं को द्विपक्ष, चतुष्पक्ष, षट्पक्ष आदि विशेषण दिए जाते थे (अथर्व० ९।३।२१)। पक्ष का अर्थ वही था जो आज भी है, अर्थात् पक्खा, पाख या भित्ति। कोठे या कोठरी को कुलाय कहते थे और कोठों के भीतर कोठे या कोठों की कई-कई पंक्तियाँ बनाने की प्रथा थी (कुलाये अधि कुलायम्)। खण्ड या भूमि को कोष कहा जाता था। कई खण्डों में बने हुए घरों का उल्लेख है (कोषे कोषः समुब्जितः, अथर्व० ९।३।२०)। सिन्धुघाटी में भी कितने ही द्विभूमिक घर पाए गए हैं। घर के आँगन या चौक को उदर कहा जाता था। इसे ही कालान्तर में कक्ष्या कहने लगे। घर का पत्नीसदन नामक भाग भी चौक या कक्ष्या ही थी जिसके आगे का भाग सदस्, सदन या उदर-सभा कहलाता था। सदस् और पत्नीसदन के बीच के चौड़े खुले मैदान में संभवतः अग्निशाला का निर्माण कराया जाता था।

घर के अवान्तर भाग और अंगप्रत्यंग—अथर्ववेद के दो शाला सूक्तों (९।३; ३।११) में घर के अवान्तर भागों का विवरण दिया हुआ है। पहली उल्लेखनीय बात यह है कि बड़े घरों का निर्माण भी काष्ठशिल्प से किया जाता था। लिखा है कि परमेष्ठी प्रजापति के बड़े महल का निर्माण दारुकर्म से हुआ। उसी की अनुकृति मानवीय घरों में की जाती थी। गृहनिर्माण के आरम्भ में एक मूल स्तम्भ की स्थापना की जाती थी। इनकी संख्या आवश्यकतानुसार एक या अधिक हो सकती थी (स्कम्भ और उपमित्)। प्रथा के अनुसार छत को खम्भों की तीन पंक्तियों पर टिकाया जाता था (त्रयः स्कम्भासः स्कभितासः, ऋ० ३५।१।११)। इन ऊर्ध्व स्तम्भों पर प्रतिमित् नामक आड़े मँगरे या बल्ले रक्खे जाते थे। स्तम्भों के बीच की पंक्ति के ऊपर, जो कुछ ऊँची होती थी, रक्खा हुआ मोटा बल्ला परिमित् या प्राग्वंश कहलाता था। यह ठाट आड़े-तिरछे बाँसों से आच्छादित किया जाता था जो रस्सियों और अन्य बन्धानों से नाधे या कसे जाते थे (नद्ध)।

आच्छादन या छत—छत के लिए बहुत से आड़े-तिरछे साबुत बाँसों (वंश) का जाल बिछाया जाता था। इन अनचिरे बासों को अब कोरे कहते हैं। इन बासों के एक सिरे पर मूँज की यून नामक मोटी रस्सी बाँधी जाती थी, जिसे आजकल जून कहते हैं। इसके कारण पूरी छत को यून-बद्ध कहा जाता था। शाला सूक्त में संभवतः इसी कायबंधनी या काँधनी रस्सी को प्राणाः कहा गया है। इन बाँसों को आड़े-तिरछे दाँव और भी बहुत सी रस्सियों से कसा जाता था जिन्हें वंशनहन (वंशानां नहनानां, अथर्व ९।३।४) कहा जाता था। छत पाटने की इस प्रक्रिया के दो अंग हैं; पहले कोरे बाँसों का एक जाल बिछाना और फिर चीरे हुए बाँस के फट्टों से उसे ढँकना। यह आयाम कहा जाता था जिसे अब ठाट या ठट्टर कहते हैं। दूसरी प्रक्रिया में इस ठाट के ऊपर फूस की कई तहें बिछाई जाती थीं जिसे यहाँ बर्हण कहा है (अथर्व ९।३।३)। यह यज्ञवेदि के बर्हास्तरण या बिछावन जैसा था। फूँस के इस बिछावन के ऊपर पुनः बाँस की खपच्चियों की एक तह लगाई जाती थी। बाँसों की ऊपर और नीचे की तहों को एक दूसरे के साथ दृढ़ करने के लिए गठियाते थे (ग्रन्थिश्चकार ते दृढान्, अथर्व० ९।३।२)। इसे अब गूँथना कहते हैं।

इसी सूक्त में फूँस के घर के संबन्ध में दो शब्द आए हैं। पहला तृण है जिसका अर्थ फूँस है। तृण कई प्रकार की घासों के लिए है, जैसे मुञ्ज (मूँज), शर (सरपत), कुश (डाभ), कास, वीरण

आदि। दूसरा शब्द पलद है जो धान और गेहूँ के पौधों का पयार था। इसके मुट्ठे भी छप्पर छाने के काम में बहुत आते हैं (तृणैरावृता पलदान् वसाना, अथर्व० ९।३।१७)। छप्पर की एकपलिया या दुपलिया छतों को खिसकने से रोकने के लिए मँगरे और खम्भों के साथ उसे मोटी रस्सियों से बाँधा जाता था जिन्हें परिष्वञ्जल्य कहते थे। इनके लपेट व फन्दों के लिए संदंश शब्द था। घर के भीतर छतों से झूलते हुए छीके या फन्दों को शिक्य कहते थे (अन्तः शिक्यानि, अथर्व० ९।३।६)। आज भी यह प्रथा है। इन छीकों में सुरक्षा के लिए भोजन, दूध-दही के भांड लटका दिए जाते हैं। दुपलिया छत (उभयतश्छदि, श० ब्रा० ३।६।२२) के बीचोंबीच लगा हुआ मोटा मँगरा (मांग का डंडा) या बलैंडा (संस्कृत बलदण्ड) परिमित् या विषुवत् कहा गया है। इसी का आगे चलकर प्राग्वंश या प्राचीनवंश नाम पड़ा। यह भी कहा है कि वंश या प्राचीन वंश को स्थूणाओं के ऊपर ठहराया जाता था (ऋतेन स्थूणामधिरोह वंश, अथर्व ३।१२।६)। व्यवहार में इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि दुपलिया छत के बीच का विषुवत् दण्ड और दोनों पार्श्वों के मोटे बल्ले भी स्थूणा या थूनियों पर रोके जाते थे। विषुवत् के ऊपर आकाश की ओर बहुत से औंधे हंडे और हँड़िया ढीक दी जाती थीं। इसका उद्देश्य अक्ष या धुआँ निकलने के छेदों या धमालों को ढँकना था। इन्हें पाली साहित्य में धूमनेत्त (संस्कृत धूमनेत्र) कहा गया है। इस समय गाँव की बोली में इन्हें नयन या नयनुवा कहते हैं। वैदिककालीन बड़े घरों में भी यह विशेषता थी और इसके लिए सहस्राक्ष ओपश विशेषण का प्रयोग हुआ है अर्थात् मँगरे के ऊपर हजार नेत्रों की उठी हुई पंक्ति। ओपश को ही बौद्ध परिभाषा में स्तूपिका या थूपी कहने लगे। यह चैत्यों की ढोलाकर छत के ऊपरी भाग की अनिवार्य विशेषता थी। इसकी अनुकृति काष्ठशिल्प से पाषाणशिल्प में भी की गई जैसा महाबलीपुरम् की गजपृष्ठाकृति छतों में पाया जाता है। ओपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति (अथर्व ९।३।८)—इस अवतरण के चारों शब्द पारिभाषिक हैं और विषूवति या बीच के बलदण्ड के ऊपर हजार नेत्रों या छेदोंवाले ओपश या स्तूपिकाओं की पंक्ति का स्पष्ट वर्णन करते हैं। घर को रमणीय (रम्य) और अलंकृत बनाया जाता था जिससे वह सबके लिए आकर्षक (विश्ववारा) हो सके। उसके रूप की कुछ कल्पना इस बात से होती है कि उसकी उपमा खड़ी हुई अलंकृत हाथिनी से दी गई है (हस्तिनी पद्वती मिता पृथिव्यां तिष्ठति, अथर्व ९।३।१७)। इसमें सादृश्य की दो बातें हैं—एक तो घर की छत हथिनी की पीठ की भाँति ढोलाकर होती थी और काष्ठशिल्प वाले घरों में तो यह विशेषता और स्फुट हो उठी है।

ऐसा कार्ले चैत्यगृह की छत में देखा जा सकता है। दूसरे हथिनी के शरीर पर नाना भाँति की चित्र-विचित्र भक्तियाँ लिखी जाती थीं। जब किसी श्रीकरेणुका को शोभा-यात्रा के लिए सजाया जाता था तो इस प्रकार की गवाक्षयुक्त सुन्दर भक्तियों की रचना आवश्यक थी। उसी के शरीर से गवाक्षयुक्त शाला की तुलना की गई है।

घर के सामने के चौड़े प्राङ्गण या अजिर में जिसे प्रथम कक्ष भी कहते थे गायों और घोड़ों के रखने का स्थान (गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालयां विजायते, अथर्व ९।३।१३) बनाया जाता था। गायों और बैलों के गोठ, घोड़ों की मन्दुरा और हाथियों के अवस्थानमण्डप की यह व्यवस्था धनिकों के लम्बे-चौड़े आवासों में बनाई जाती थी और कालान्तर के राजप्रासादों की प्रथम कक्ष्या में भी यह प्रथा जारी रही। किन्तु ये पशु गृहस्वामी या राजा के निजी उपयोग में आनेवाले होते थे।

घर के सौन्दर्य की पराकाष्ठा बताने के लिए उसकी तुलना ब्याहली बहू से की गई है (वधूमिव ते शाले, अथर्व ९।३।२५)। आज तक लोक में ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है—लिपा पुता घर दिपै, ओढ़ी पहरी धनि दिपै।

वैदिक शालापति या गृहस्वामी उसे अपने घर की देवी समझकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करता था क्योंकि उसी स्थान में उसके समस्त जीवन का विकास होता था। उसे यह सोचकर आनन्द मिलता था कि उसका घर अन्न और दूध के भंडारों से भरा है। वहाँ भूख-प्यास का अवसर नहीं है। वह हास और प्रमोद का स्थान है। जब वह घर बनवाता था तो सोचता था कि यह शाला गोमती, अश्वावती, पयस्वती, घृतवती, ऊर्जस्वती और सूनृतावती बनकर मुझे महान् सौभाग्य को देने वाली होगी—

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ अथर्व ३।१२।२

शालानिर्माण के संबंध में एक विशेष शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। शाला को बृहच्छन्दाः (अथर्व ३।१२।३) अर्थात् बृहच्छन्दवाली कहा गया है। गृहनिर्माण के बृहच्छन्द से तात्पर्य उसके ब्रह्मसूत्र और गर्भसूत्र के विस्तार से है। ब्रह्मसूत्र से घर या प्रासाद का उत्सेध, उदय या भूलम्ब समझा जाता है जिसके लिये सूक्त में कोशे कोशः समुब्जितः कहा है, अर्थात् एक तल्ले पर दूसरा तल्ला उठाया गया। गर्भसूत्र से तात्पर्य भूमितल पर ही बनी हुई कक्ष्याओं या मण्डपों से है जिसे सूक्त में कुलायेऽधि कुलायम् (९।३।२०) कहा गया है। ऊर्ध्वछन्द और भूमिछन्द दोनों का विस्तार बृहच्छन्द पद से अभीष्ट है।

शतपथ ब्रा० के अनुसार घर के दो भाग होते थे, एक पूर्वार्ध या सदस् जो मर्दानी बैठक या दीवानखाना था। इसी बैठक या ठाई (संस्कृत स्थायिका) में बड़ा खम्भा या मूल स्तम्भ खड़ा किया जाता था जिसके लिए वरसिष्ठ स्थूणाराज (श० ३।५।१।१) नाम दिया है। पूर्वभाग में इधर-उधर के अवान्तर भाग पुरुषशरीर से मिलते होने से अंस और श्रोणि कहे जाते थे। इससे ज्ञात होता है कि सामने के हिस्से में आगे-पीछे प्रायः चार बड़े कोठे होते थे। घर के पिछले भाग में पत्नीसदन या अन्तःपुर बनाया जाता था। उसे भी पर्याप्त लम्बाचौड़ा या फैला बनाते थे। जैसे सुन्दर स्त्री वरीयसी और पृथुश्रोणि होती है वैसे ही यह शाला का उत्तरार्ध भाग होता था (अथ यत् पश्चात् वरीयसी भवति। पश्चात् वरीयसी पृथुश्रोणि वै योषां प्रशंसन्ति॥ श० ३।५।१।११)।

शाला की आगे-पीछे की नाप के लिए पैरों से चलकर लम्बाई चौड़ाई स्थिर की जाती थी और शंकुओं की स्थापना की जाती थी। शाला का मुखमण्डप या मुखभाग उसकी नासिका थी जैसे यज्ञभूमि में उत्तरवेदि होती है। यह नासिकाभाग ही बाद में द्वारप्रकोष्ठ या अलिन्द कहा गया। घर का मुहार किस ओर रखना चाहिए इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि देवताओं को पूरब-पश्चिम का विन्यास अधिक रुचिकर था और मनुष्यों के घरों में उत्तर-दक्षिण का विन्यास अधिक पसंद किया जाता था, जैसा आज तक है (प्राचीनवंशं हविर्धानमेतद्धै देवानां निष्केवल्यं यद्धविर्धानं··· उदीची वै मनुष्याणां दिक् तस्माद् उदीचीनवंशं सदो भवति, श० ब्रा० ३।६।१।२३। मनुष्यों के घरों में सदस् या आस्थानमण्डप उदीचीमवंश अर्थात् उत्तरी मुहारे का रखते हुए बनाना अच्छा समझते थे।

शतपथ ब्रा० में लम्बे-चौड़े सदः या स्थानमण्डप को उदर कहा है (उदरमेवास्य सदः, श० ३।६।१।१)। क्योंकि वह अन्तरिक्ष के समान बीच में पड़ता था इसलिए उसे अस्थानमण्डप के समकक्ष उदर-स्थानीय कहा गया।

ऊपर लिखे हुए प्रमाणों को ध्यान में रखकर वैदिक गृह या प्रासाद के वास्तु के सम्बन्ध में सामग्री के अभाव की शिकायत उचित नहीं है (वैदिक इंडेक्स, पृ० २३०)। सच तो यह है कि गृहनिर्माण कला के सभी मूल तत्त्व यहाँ विद्यमान हैं। घर की नींव बहुत पक्की (ध्रुवा) या बुनियाद पुख्ता (इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शाले, अथर्व ३।१२।२) रक्खी जाती थी।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि गृहवास्तु विद्या के आचार्यों ने वैदिक युग में ही उन तत्त्वों का अविष्कार कर लिया था जो ऐतिहासिक युगों की गृहनिर्माणकला में पाए जाते हैं, जैसे नींव, कोठे, पक्खे, सभा, अन्तःपुर, द्वार, अलिन्द, ऊर्ध्व छन्द, अधःछन्द, सूत्रमापन, स्तम्भ, छत आदि।

उनके द्वारा भारतीय जीवन की नाना सुविधाओं का विधान गृहवास्तु में किया गया था। इससे स्पष्ट है कि आर्य गृहवास्तु का विन्यास स्पष्ट और सरल था। उसके तीन भाग थे, प्रथम कक्ष्या जिसमें पशु-गोष्ठ के लिए भी स्थान था, दूसरा मर्दानी बैठक और तीसरा स्त्रियों का अन्तःपुर। इन्हीं की बहुत सी विशेषताएँ और नाम ऊपर बताए गए हैं। महाभारत-रामायण युग के राजप्रासाद या महल भी इन्हीं तीन कक्ष्याओं के अनुसार बनाए जाते थे। कालान्तर में कक्ष्याओं की संख्या सात तक हो गई। यह भी उल्लेखनीय है कि हर्ष आदि के समय में जो संचारी घासफूँस और बाँसबल्ली के महल बनाए जाते थे उन्हें भी कायमान कहा गया है। इसी में राजाओं के अधिकरण या दफ्तर (काय) और राजकीय निवास का भी प्रबन्ध रहता था। अतएव ऐसा ही मानना चाहिए कि वैदिक बृहन्त मान या बड़े घरों की परम्परा उत्तरकाल में भी बनी रही।

विशेष शिल्पों में तक्षा, कर्मार, इषुकार, धनुष्कार, कुम्भकार महत्त्वपूर्ण पेशे थे। संगीत और नृत्य का भी अभ्यास किया जाता था। उनकी भी गणना शिल्पों में थी जैसा जातकों और अष्टाध्यायी में कहा है।

ऋग्वेद में इन्द्र को नृतु अर्थात् नटराज कहा है (न हि अङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे, ऋ० ८।२४।१२)। स्त्री नर्तकी की संज्ञा नृतू थी। गायन और वाद्य दोनों प्रकार के संगीत का सामगान के लिए अभ्यास किया आता था। वीणा एवं उसी का सप्ततन्त्री भेद ज्ञात था। सप्ततन्त्री, सप्तधातु (ऋ० १०।३२।६), शततन्तु या शततन्त्री अर्थात् सौ तारों वाली वल्लकी या गन्धर्व वीणा का भी उल्लेख है। इन वाद्यों का आविष्कार सप्त मूलभूत स्वरोंपर किया गया था और अभी तक भारतीय संगीत में वे ही मान्य हैं (वैदिक इण्डेक्स, १।२८३)।

शारीरिक सौन्दर्य और भौतिक रूपों में उसकी अनुकृति से वैदिक युग के कलाविदों के सौंदर्य बोध का परिचय प्राप्त होता है। देवी श्रीलक्ष्मी के रूप में उसी को मूर्त या ग्राह्य किया गया।

अध्याय ४ आ

४ (आ). कला में वैदिक प्रतीक

वैदिक युग की जीवन-विधि या साहित्य से अनेक प्रतीक कालान्तर की भारतीय संस्कृति में अपनाए गए।

१—देवता—श्री-लक्ष्मी, यक्ष, नाग, सूर्य, चन्द्र, वामन-विराट्, त्रिविक्रम विष्णु, सुदर्शन चक्र, अर्धनारीश्वर, कुमार, गणपति, अम्बिका, त्र्यम्बक, पशुपति, मातृका, द्विमाता, सप्तमातरः, सप्तस्वसारः, दशमातरः, तिस्रो देवीः, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, समुद्र, हिरण्यगर्भ, नारायण, दक्ष, असुर, अग्नि, सहस्राक्ष, नृतु (नटराज), गन्धर्व, अप्सरा, ब्रह्म, वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विन्, गण देवता, प्रमथाः, यक्ष, राक्षस, सप्तर्षि, अष्टमूर्ति शिव, कुम्भमुष्क (कुम्भाण्ड, चतुर्दंष्ट्रांश्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्, अथर्व ११।९।१७), नारद, केशिनी (मि० कोट्टवी और कालिका), रुद्र महादेव, यम, विश्वरूपा नारी, कश्यप, शतरूपा, अग्नि-सोम (अग्नि तत्त्व और जल तत्त्व, तु० बुद्ध के अभिषेक के लिए गर्म और ठण्डी जल धाराएँ) इत्यादि।

२—**वैदिक धार्मिक और दार्शनिक भाव**—स्वस्तिक, दैवासुरम् (देवों और असुरों के संग्राम), त्रिविक्रम, ज्योतिर्लिङ्ग, पृथु द्वारा पृथिवी-दोहन, मांधाता और उत्तरकुरु का सुदर्शन नगर (दिव्यावदान), वराह द्वारा पृथिवी का समुद्र से उद्धरण (वराहेण पृथिवी संविदाना, अथर्व १२।१।४८), सहस्र पुरुष=अनन्त पुरुष (सहस्रात्मा), सप्तपदी, तिरश्चीन निर्गमन (इन्द्र, बुद्ध और स्कन्द का मातृकुक्षि से तिर्यक् जन्म), अग्नि-स्कन्ध=ज्योतिर्लिङ्ग (आग का खम्भा) इत्यादि।

३—**पशु-पक्षी**—सुपर्ण, सुपक्षी, हंस, एकशीर्ष दशशरीरी वत्स (तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येक शीर्षाणो युता दश, अथर्व १३।४।६), द्विशीर्ष वृषभ (दो सिरों वाला बैल), गृध्र, श्येन, वर्तिका, द्विशीर्ष्णी सुपर्णी (उभयतः शीर्ष्णी, श० ब्रा० ३।२।४।१६ दो सिर की चुड़कली), सप्ताश्व, नन्दी (आनन्द का वृषभ रूप), अनन्त (सहस्रशीर्षा शेषनाग), वराह, वृषभधेनु (वृषभश्च धेनुः, गाय बैल का जोड़ा ३६० कील का शंकु, त्रिचक्र रथ, पञ्चार, षडर द्वादशार, त्रिनाभि चक्र, देवजात अश्व (महाकाल उच्चैःश्रवस्), महिष (ऋ० १०।१८९।२), महोरग (अहिवृत्र), महास्य श्वा (भौंकता कुत्ता, रेवन्त के शिकारी कुत्ते, अथर्व ११।२।३०), चतुर्दंष्ट्र, सहस्रशृङ्ग वृषभ (अथर्व ११।१।१२), सरमा देवशुनी, हरिहंस (सुनहला हंस, हिरण्यपक्ष शकुनि, अथर्व १३।३।१४), ऐरावत (इन्द्र का श्वेत हस्ती, तु० तुषित स्वर्ग से उतरता हुआ श्वेत हस्ती जो बुद्ध की माता की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ), इत्यादि।

विविध वस्तुएँ और पदार्थ—पूर्ण-कुम्भ, चक्र, यूप, स्कम्भ (स्तम्भ), इन्द्रयष्टि (त्रिभुजाङ्कित ध्वज), वैजयन्ती, वेदिका, सप्त रत्न (तु० चक्रवर्ती के सात रत्न), त्रिशूल, वज्र, वसुधारा (सुवर्ण वृष्टि, हिरण्यवर्षा), देवरथ (महाकालरूपी विश्वरथ), केतु (ध्वज), मण्डल (कुण्डल, कानों के दो कर्णाभरण), चमस (कटोरा), चमू (बड़ा घट), देवज मणि (माङ्गलिक रत्न, अथर्व० १०।६।३१),

वसुधान-कोश (रत्नों की पेटी, अथर्व० ११।२।११), अरणी (अग्नि-मंथन), घर्म (दूध औटाने का बड़ा घड़ा), अपूप (मीठा मालपूआ, सोम) (मोदक), धनुर्-इषुः, कुम्भी (अथर्व० ११।३।११, इवमेव पृथिवी कुम्भी), चरु (पञ्चमुखी कड़ाह, अथर्व० ११।३।१८), निधि (= निधान-कलश, अथर्व० १२।१।४४), भुजिष्य पात्र (अन्नपूर्ण कपाल, भिक्षापात्र, अथर्व० १२।१।६०, तु० बुद्ध का भिक्षापात्र), चतुर्चमस (तु० चार लोकपालों द्वारा बुद्ध को दिए गए चार पात्र), मधुकोश (तु० कपियों द्वारा बुद्ध को प्रदत्त शहद भरा कटोरा), इन्द्रासन (स्वर्ग में इन्द्र का महान् आसन, तु० बोधिमण्ड), दैवी नाव (दिव्य संतरण नौका), आदि।

५—**वृक्ष-वनस्पति और पुष्प-पौधे**—पद्म या पुष्कर, कल्पवृक्ष, कल्पलता, वनस्पति, पुण्डरीक, (पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्, अथर्व० १०।८।४३), हिरण्यस्रक्, पुष्करस्रज् (गुप्तकाल की किङ्कल्किनी माला) आदि।

विविध—मिथुन (नरनारीमय अलंकरण), चतस्रः प्रदिशः, सुमेरु (स्वर्ण पर्वत), द्यावा-पृथिवी (विश्व के माता-पिता, द्यौः पिता पृथिवी माता, उत्तान चमू), विमान (देवगृह), सलिलम्, (आपः, समुद्रम्), वातरशना (नग्नत्व या दिगम्बरता), महानग्न (= दिगम्बर), महानग्नी (काली), पुर (= देवपुरी; तु० अयोध्या, अपराजिता पुरी), देवसदन (= नाक; तु० बौद्ध स्तूपों की हर्मिका), ग्रावाणौ, उलूखलमुसल (= प्राणापान), दृषदुपल गुहा, अग्निगुहा (तु० बुद्ध की इन्द्रशैल गुहा), आदि।

ऊपर की सूची से ज्ञात होगा कि भारतीय कला और धर्म में वैदिक अभिप्रायों की कितनी अधिक सामग्री प्राप्त होती है। वह नए-नए रूपों में विकसित हुई और उसने कितने ही नए अलंकरणों को जन्म दिया।

धार्मिक सम्प्रदाय कुछ भी हो भारतीय परम्परा में अभिप्रायों की यह बारहखड़ी नाना अर्थों को प्रकट करने के लिए एक भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। जैसे साहित्य में भारतीय मानस की अभिव्यक्ति हुई वैसे ही कला भी भारतीय अध्यात्म विचारों का दर्पण है। कला के मूर्त रूपों में शिल्पियों ने प्राचीन धर्म और विचारों की परम्पराओं को प्रकट किया है। भारतीय कला के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए आवश्यक है कि पुराकाल से समागत इन धार्मिक अभिप्रायों का अर्थ जाना जाय। उदाहरण के लिए कुछ की व्याख्या यहाँ लिखी जाती है।

श्री-लक्ष्मी—श्री-लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं। विष्णु विश्व के अधिदेवता हैं। श्री-लक्ष्मी सौन्दर्य और समृद्धि की लोकव्यापिनी अधिष्ठात्री देवी हैं। पुरुष सूक्त के युग से आज तक श्री-लक्ष्मी सुखसम्पन्न गृहस्थ की देवी मानी जाती रही। वह समुद्र की दुहिता, सरोवर की पुत्री, कमलासन पर विराजमान, कमल-वन में खड़ी पद्मिनी या पद्ममालिनी देवी का रूप है। कला में प्रदर्शित दो या चार हाथी सूड़ों में आवर्जित घट उठाए हुए दिव्य जलों से देवी का अभिषेक कर रहे हैं। ये हाथी दिशाओं के सूचक दिग्गज हैं और पूर्णघटों में भरा दिव्य जल अमृत या सोम है। कमलों के जिस सरोवर में वह दिखाई जाती है वह उन दिव्य जलों का स्रोत है जिनसे विश्व का जन्म होता है और उन्हें ही आपः, समुद्रः, सलिलम् कहा जाता है। पद्म या कमल उस जीवन तत्त्व के सूचक हैं जो सृष्टि के आदिकारण रूप समुद्र के मन्थन से प्रकट होते हैं

और जिसे भागवतों द्वारा भूपद्मकोश कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि प्रतीक या निदान का अर्थ निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता जाता है और उसके साथ नई-नई व्यञ्जनाएँ जुड़ती जाती हैं। दन्दानेदार पहियों की भाँति प्रतीक के पहल नए-नए सम्पर्क बना लेते हैं। भारतीय धर्म में तो ऐसा विशेषकर हुआ है।

श्री के वृक्ष का अभिप्राय संसाररूपी वृक्ष से है जिसे अश्वत्थ कहा गया है। वही पीपल या वोधिवृक्ष हुआ। उसके भीतर की दुर्धर्ष शक्ति फूल और फलों के रूप में प्रकट होती है। वही पीपली के रूप में और बड़बट्टों के रूप में प्रकट होती है जो महती प्राणशक्ति का ही रूप है। विष्णु और लक्ष्मी विश्व के माता-पिता के प्रतीक हैं जैसे द्यावापृथिवी, शिवपार्वती या राधाकृष्ण। ये दोनों विश्व के आदि कारण हिरण्यगर्भ या हिरण्याण्ड के दो शकल या पूर्वार्ध और उत्तरार्ध हैं जिनसे अनन्त स्त्री-पुरुषों की परम्परा प्रवृत्त हुई (द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत प्रभुः॥ मनु० १।३२)।

श्री-लक्ष्मी का अंकन भरहुत, साँची, अमरावती, बोधगया, मथुरा, खण्डगिरि, उदयगिरि एवं पश्चिम भारतीय गुफाओं में किया गया है। उसे किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित न मानकर समस्त भारतीय जनता के गृहस्थ आदर्श की देवी कहना ही यथार्थ है। भरहुत में उत्कीर्ण सिरिमा देवता इसी का रूप है। मथुरा की दुद्धाधारणी मुद्रा में खड़ी पद्मिनी देवी भी यही है।

यक्ष—महाकाय, महद्‌भूत की संज्ञा यक्ष थी; वह ब्रह्म का ही दूसरा नाम था। भुवनों के अन्तराल में प्रविष्ट महद्‌भूत जो सृष्टि के आदि कारण जलों पर तप या अग्नि से गतिशील हो जाता है वही विश्व का अधिदेवता महान् यक्ष था (महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये, अथर्व० १०।७।३८)। वह महावृक्ष के समान है जिसकी शाखा प्रशाखाओं पर अनेक देवों का निवास है। जीवन और विश्व के महान् रहस्यमय देव का उपयुक्त प्रतीक महद्‌भूत या यक्ष के रूप में माना गया। यक्ष-पूजा लोक धर्म का व्यापक अंग थी जो ऋग्वेद काल से लेकर अब तक चली आई। जैन, बौद्ध, ब्राह्मण सब ने इसे समान रूप से स्वीकार किया। इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा इनकी यक्षों से तुलना की गई। कालान्तर में बुद्ध और महावीर की भी यक्ष से समानता दी गई। हर गाँव में यक्ष का स्थान या चौरा बनाया जाता था और वहाँ वार्षिक मेला लगता था जिसे यक्षमह कहते थे। यक्ष को ही बीर कहने लगे और यह उक्ति प्रसिद्ध हुई--गाँव-गाँव को ठाकुर, गाँव-गाँव को बीर। जैन-बौद्ध साहित्य में कई यक्षचेतिय या यक्षायतनों का वर्णन आता है। इन्हें वैदिक युग में यक्षसदन कहते थे।

नाग—नाग भी लोकधर्म के देवता थे। वे नर और व्यालविग्रह में अंकित किए गए। यह विचारधारा वैदिक अहि-वृत्र से आरम्भ हुई। उसे ही अहिर्बुध्न्य देवता की संज्ञा दी गई थी। जो महासमुद्र से उत्पन्न नाग का रूप था वही अनन्त शेषनाग के रूप में विष्णु का वाहन कल्पित किया गया। नाग पाताल लोक के अधिपति थे जो देवता रूप में मान्य हुए। कथाओं में नागों को मृत्यु, तम और अनृत का प्रतीक माना गया और इसके विपरीत देवों को अमृत, सत्य और ज्योति का। बौद्धों ने नागों को संभ्रान्त देवों की कोटि में स्थान दिया। बुद्ध, महावीर और कृष्ण के जीवन में नाग देवता की कथा है। जैसे इन्द्र ने अभिशंसी वृत्र नामक ओजायमान अहि का दमन किया था वैसे ही इन्होंने भी अपलाल, चन्द, कालिय आदि नागों को वश में किया। शिव ने विषपान करके सर्पों को अपने शरीर पर स्थान दिया।

सूर्य और चन्द्र—ये ऐसे प्रतीक हैं जो वैदिक युग से आज तक लोक में मान्य हैं। हिम और ग्रंस अर्थात् सर्दी और गर्मी के दो रूप चन्द्र और सूर्य हैं। इन्हीं के समान सृष्टि में और भी कई द्वन्द्व हैं जैसे, स्त्री-पुरुष, माता-पिता, प्राण-अपान, पिङ्गला-इडा। अथर्ववेद में इन्हें अग्नि के दो रूप कहा है (तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं ग्रंसं च रोहितः, अथर्व० १३।१।४६)-एक ही रोहित देव सूर्य ने सर्दी गर्मी इन दो अग्नियों का आधान किया। सूर्य और चन्द्र का अंकन गुप्त और सासानी कला में पाया जाता है। सूर्य के पार्श्वचर दण्ड और पिङ्गल की कुलह टोपी पर चन्द्र-दिवाकर का प्रतीक अङ्कित किया गया। लोक वार्ता और लोक कला में चन्द्र-सूर्य का रूप अभी तक लिखा जाता है। यह स्फुट है कि विश्वरचना की द्वन्द्वमयी प्रवृत्ति ही अग्नि के दो रूप या चन्द्र-सूर्य के रूप में मान्य हुई। सूर्य स्वयं-प्रकाश, ध्रुव और अपरिवर्तनीय है। चन्द्र परतःप्रकाश एवं क्षयवृद्धि से युक्त है। सूर्य उच्च विज्ञान या बुद्धि का प्रतीक है और चन्द्र इन्द्रियानुगामी मन या प्रज्ञान का प्रतीक है।

अर्धनारीश्वर—अर्धनारीश्वर नरनारीमय वपु की कल्पना का रूप है। विश्व को जन्म देने वाले सुवर्णाण्ड से उत्पन्न दो शकल स्त्री-पुरुष हैं। इन्हें ही द्यावापृथिवी कहा गया है जो विराट् विश्व के माता-पिता हैं (द्यौः पिता पृथिवी माता)। इन्हें ही पार्वती-परमेश्वर या उमामहेश्वर कहा गया (जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ)। शिव का लिङ्गविग्रह प्राण-सृष्टि का रूप है और उमा-महेश्वर मैथुनी सृष्टि के जिससे स्कन्द रूप कुमार जन्म लेता है। वेदों में इसी द्वन्द्व को स्त्रीपुरुष या कुमार-कुमारी कहा है (त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी, अथर्व० १०।८।२७)। प्रत्येक स्त्री अर्धभाग में पुरुष और प्रत्येक पुरुष अर्धभाग में स्त्री है (स्त्रियः सतीस्ता उ मे पुंस आहुः, ऋ० १।१६४।१६)। मिथुन या अर्धनारीश्वर अभिप्राय का यही स्वरूप है। वह अग्नि और सोम का संयुक्त रूप है। इसे कुषाण, गुप्त और मध्यकालीन कला में अङ्कित किया गया है किन्तु साहित्य में इसकी मान्यता पूर्व युगों से थी।

कुमार—चित्रशिशु, अद्भुत वीर, देवसेना का पति, अग्नि का पुत्र और गङ्गा का पुत्र, विराट् प्राण या जीवन तत्त्व का प्रतीक है। इसी की संज्ञा स्कन्द है। कुमार को षाण्मातुर या छह माताओं का पुत्र कहा गया है और कला में इसके छह सिर भी दिखाए गए हैं। इसके वाहन कुक्कुट और मयूर हैं। शक्ति इसका आयुध है। ब्रह्मा और शिव इसका अभिषेक कराते हैं। इसकी प्रतिमाओं के पीछे कई प्रतीकों का योग पाया जाता है। इसका जन्म शरवण या सरपत के बन में कहा गया है जहाँ प्रत्येक शरकाण्ड प्राण के अंकुर या घटक कोश का प्रतीक है। कालिदास ने स्कन्द को अग्नि अर्थात् सुषुम्णा के मुख में संभृत शिव का तेज कहा है जो सूर्य से भी अधिक तेज वाला है (अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धितेजः, मेघदूत १।४३)। स्कन्द और तारकासुर के आख्यान में कुमार के जन्म और कर्म का भव्य रूप चित्रित किया गया है जहाँ कुमार विज्ञानात्मक दिव्य तेज और तारकासुर इन्द्रियानुगामी अवर मन का सूचक है। दोनों के संघर्ष में विज्ञान की ही विजय होती है। तारक का अर्थ तारा या चन्द्रमा है जो प्रजापति या नारायण पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ (चन्द्रमा मनसो जातः, ऋ० १०।९०।१३)। प्रत्येक प्राणमय जीवन-केन्द्र कुमार का ही रूप है। कुमार या बालक के रूप में ही प्रकृति अपनी प्राणमयी शृङ्खला की सहस्रों पीढ़ियों से आगे बढ़ती आई है। वस्तुतः पुरुष की रचना में तीन कुमार हैं। इन तीनों का वर्णन कालिदास ने किया है। एक मनोमय विराट् कुमार जो स्कन्द है और कुमारसंभव में जिसके दिव्य जन्म का वर्णन है; दूसरा प्राणमय कुमार जिसकी संज्ञा आयु

है और जिसके जन्म का वर्णन पुरूरवा और उर्वशी के पुत्र रूप में विक्रमोर्वशीय में पाया जाता है; तीसरा पंचभौतिक कुमार है जिसकी संज्ञा भरत है और जिसका वर्णन दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र रूप में किया गया है। मत्स्य पुराण में वीरक या स्कन्द का विस्तृत वर्णन लगभग १००० श्लोकों में है किन्तु कुमारसंभव में कालिदास ने कुमार या स्कन्द के रूप को साहित्य और कला की परकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। वह ऐसा धरातल है जहाँ कुमार का राष्ट्रव्यापी उदात्त रूप दृष्टि में आता है।

गणपति—गणपति का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। वहाँ वह ब्रह्मणस्पति सोम और महाप्राण इन्द्र का प्रतीक है। ब्रह्मणस्पति सोम सृष्टि का निर्माण करने वाला सर्वव्यापी विराट् तत्त्व है। वही प्रत्येक शरीर के प्राण रूपी पवित्र या छानने के वस्त्र से होकर व्यक्ति केन्द्र में आ रहा है (पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः, ऋ० ९।८३।१)।

ब्रह्मणस्पति का मस्तक सब पशुओं में बृहन्त है और ब्रह्मणस्पति सोम का सूचक है। सोम की एक संज्ञा मधु है। उसी का वैदिक प्रतीक अपूप था जो गणपति का मोदक हो गया और वही कर्मकाण्ड में प्रायः बतासे के रूप में लिया जाता है। गणपति का छोटा आखु या चूहा वह इन्द्रियानुगामी मन है जो भूतों या विषयों में छिपा रहता है।

अम्बिका—ऋग्वेद की मही माता ही अम्बिका है। इस मूलभूत मातृ-शक्ति को अदिति कहा गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः माता-पिता-पुत्र, भूत-भविष्य-वर्तमान, विश्वेदेव और पञ्चजन ये सब मही माता अदिति के रूप हैं (ऋ० १।८९।१०)। अनेक मातृकाएँ उसी मही माता अदिति की रूप हैं जिनकी संख्या एक, तीन, सात, दस, सोलह आदि कही गई है। शिव की शक्तियों के रूप में सप्त मातृकाओं का अंकन कुषाण मूर्ति शिल्प से मिलने लगता है। अदिति, हैमवती उमा और पार्वती उसी महती देवता के नाम हैं। त्रिक के धरातल पर उसे ही महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली या दुर्गा कहा जाता है।

समुद्र—समुद्र से तात्पर्य सृष्टि के उन आरम्भकालीन मातृसंज्ञक जलों से है जिनकी मन्थन-शक्ति से विश्व जन्म लेता है। ब्रह्म और उसका मन वह समुद्र है जिसमें विश्व लीन रहता है और वहीं से एक मधु-बूँद के रूप में टपकता है या तरंग के रूप में प्रगट होता है। आनन्द और सौन्दर्य उसकी दो कलाएँ हैं जो विश्व सुपर्ण के दो सुनहले पंख हैं। उदयगिरि के महावराह दृश्य में समुद्र का अंकन किया गया है। कालान्तर में समुद्रमन्थन के दृश्यों में भी उसका चित्रण है। सहस्रशीर्षा पुरुष नारायण को क्षीरसागरशायी विष्णु कहा गया जो अनन्त शेष की शय्या पर शयन करते हैं। सान्त विष्णु और अनन्त शेष की यह कल्पना मनोहर है। अनन्त ब्रह्म और सादि, सान्त विश्व के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए यह समीचीन सूत्र है।

नारायण पुरुष, जिसका स्थान जलों में होने के कारण नारायण नाम हुआ, उस हिरण्यगर्भ की संज्ञा है जिससे प्राणमय विश्व उत्पन्न होता है। वेदों में प्राण की संज्ञा हिरण्य है। प्राणमय को हिरण्यमय कहा जाता है। सूर्य का रथ प्राणमय या हिरण्यमय है। यद्यपि नारायण पुरुष का उल्लेख ऋग्वेद और श० ब्रा० में है पर भागवतों ने उसका अत्यधिक प्रचार किया। कला में अनन्तशायी विष्णु इसका रूप है जो देवगढ़ में दशावतार मन्दिर के एक शिलापट्ट पर रथिका-बिम्ब के रूप में पाया जाता है।

स्वस्तिक—चार दिशाओं में व्याप्त विश्व-मण्डल के चतुर्भुजी रूप का यह प्रतीक सूर्य से सम्बन्धित है। यह मण्डल प्राची, दक्षिणा, प्रतीची और उदीची दिशाओं से बना है और सूर्य उसका मध्य है। प्राची, प्रतीची एवं दक्षिण और उदीची के विकास से स्वस्तिक बनता है। यह मानव और विश्व का सर्वोत्तम माङ्गलिक चिह्न है। रेखाओं को हम इच्छानुसार घटा बढ़ा सकते हैं पर इससे स्वस्तिक के पूर्ण मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। जब इसकी चार भुजाओं या रेखाओं को अपने से दाहिनी ओर वितान देते हैं तो उससे स्वस्तिक का और भी सुन्दर रूप संपादित हो जाता है। सूर्य के साथ जीवन के कल्याणमय रूप का प्रतीक स्वस्तिक है।

चार दिशाओं की मान्यता या चार लोकपालों की पूजा या व्रत के रूप में स्वस्तिक की पूजा का ही विकास हुआ। इस मान्यता के अनुयायी दिशाव्रतिक कहे जाते थे। ऋग्वेद और अथर्व वेद में अनेक बार पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इन चार दिशाओं का एक साथ उल्लेख आता है। अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये चार देवता चार दिशाओं के अधिपति थे। किन्तु लोकधर्म में यह कल्पना बदली और चार दिशाओं के चार लोकपाल माने जाने लगे। वे ही चतुर्महाराजिक देव कहलाए। बौद्ध स्तूपों में चार तोरणद्वारों पर उनकी मूर्तियाँ स्थापित की जाने लगीं। लोक के अनेक देवता स्वस्तिक की चार दिशाओं से संबद्ध मान लिए गए—धृतराष्ट्र एवं गन्धर्व पूर्व से, कुम्भाण्ड एवं विरूढक दक्षिण से, विरूपाक्ष और नाग पश्चिम से, वैश्रवण एवं यक्ष उत्तर से। लोक मान्यता के अनुसार गन्धर्वों का अधिपति धृतराष्ट्र, कुम्भाण्डों का विरूढ़क, यक्षों का वैश्रवण और नागों का विरूपाक्ष था। प्रत्येक वृत्त चक्र की कुक्षि में स्वस्तिक का रूप रहता है। उसका निर्माण ९०°, ९०° की चार नवतियों या चतुष्कोणों से होता है। यही ३६० अहोरात्र या शङ्कु हैं जिनसे कालचक्र या पृथिवी के अक्ष-चक्र का स्वरूप बनता है। स्वस्तिक को चतुष्पाद् ब्रह्म का भी उपलक्षण कह सकते हैं अथवा यह चतुर्मुख ब्रह्म का रूप है जो विश्व का प्रजापति, आधान और विधान करनेवाला है। कहा जाता है चतुष्टयं वा इदं सर्वम्—यह विश्व चतुर्धा विभक्त है। इसके अनेक प्रतीक प्राचीन युग में विभिन्न क्षेत्रों में कल्पित किए गए, जैसे चार वेद, चार लोक, चार देव, चार दिशाएँ, चार वर्ण, चार आश्रम, चार होता आदि।

देवासुरम्—देवों और असुरों के युद्धों का वर्णन वेदों और पुराणों में कितने ही रूपों में आया है। यह अमृत और मृत्यु, ज्योति और तम एवं सत्य एवं अनृत के विश्वव्यापी संघर्ष का प्रतीक है। धर्म और कला दोनों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। दैवासुरम् के बिना दोनों का स्वरूप सारहीन हो जाता है। प्राणों की संज्ञा देव और भूतों की असुर है। भूतों का प्राणों के वश में होना यही देवों की असुरों पर विजय है। देव अमर और असुर मृत्यु के अधीन होते हैं। देव द्युलोक की शक्तियाँ हैं और असुर तमोमद भूतों की। जब प्राण भौतिक देह में प्रत्यक्ष होता है तभी देवासुर संग्राम शुरू हो जाता है। देव और असुर दोनों मन की शक्तियाँ हैं। एक ऊर्ध्व दूसरी अधः, एक ज्योतिर्मय दूसरी तमोमय; जीवन के प्रत्येक धरातल पर देवों-असुरों का द्वन्द्व प्रकट होता रहता है। वे एक दूसरे को परास्त करना चाहते हैं पर अन्तिम विजय देवों के पक्ष में है। बीच-बीच में असुर बली होते रहते हैं। धार्मिक आख्यान और कला के अंकन इसके साक्षी हैं। ऋग्वेद के आख्यान दैवासुरम् युद्ध के साँचों में ढले हैं। दैवासुरम् कल्पना के मूल में ऐतिहासिक तथ्य के अपलाप की आवश्यकता नहीं किंतु यह अवश्य है कि युद्धों के भौतिक वर्णन को ही आधार मान कर अनेक वर्णन किए गए हैं। वैदिक युग में ही यह कहा गया कि इन्द्र के युद्धों का वर्णन

माया (मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः, ऋ० १०।५४।२, श० ब्रा० ११।१।६।१०) या कल्पना है जो इतिहास-पुराणों में बढ़ा चढ़ा कर रखी गई। बुद्ध का मारधर्षण, शिव का मदनदहन, देवी का महिषासुर से युद्ध और महिषवध, शिव का अन्धकवध और स्कन्द एवं तारक युद्ध, विष्णु का मधुकैटभ वध, ये देवासुरम् संघर्ष के ही नाना प्रकार हैं। मथुरा शिल्प कला में प्रदर्शित गरुड-नाग युद्ध भी इसी का अवान्तर भेद है। यह सौपर्णाख्यान का अभिप्राय था। इसमें देवों को सौपर्णेय एवं असुर या नागों को काद्रवेय माना गया। इसी प्रसङ्ग में सृष्टि की मूलभूत शक्ति को उभयतः शीष्णी सुपर्णी कहा गया है जो प्राची और प्रतीची दोनों को अपने प्रचण्ड वेग से कम्पित रखती है (एति च प्रेति च)। वस्तुतः इन विविध गतियों में सुपर्ण रूपी महाप्राण का ही संकोच और प्रसार देखा जा है। गति और आगति सुपर्ण के दो पक्ष हैं। सुपर्ण ही सुनहला हंस है। प्रजापति ने सूर्य को सुपर्ण का रूप दिया जो अनादि अनन्त काल से ही गतिशील है या नील आकाश के गर्भ में पंख फैलाकर उड़ रहा है (सहस्राह्वयं वियतावस्य पक्षौ हरे हंसस्य पततः स्वर्गम्, अथर्व० १०।८।१८)। देवों और असुरों की युद्ध कथाएँ अन्य देशों के गाथा शास्त्र में भी मिलती हैं। वे उनके धर्मों को समझने की कुंजी हैं। इन आख्यानों में इतिहास की घटनाओं की खोज असमीचीन है क्योंकि इससे उनके मुख्य उद्देश्य की हानि होती है। ऋग्वेद में तो स्पष्ट लिखा है कि इन आख्यानों पर इतिहास-पुराण की छाप लगाना उचित नहीं।

त्रिविक्रम—विष्णु के तीन चरणन्यासों का वैदिक आख्यान पुराणों में वामन और विष्णु की कथा के रूप में पल्लवित हुआ। यह काव्य और कला दोनों के उपयुक्त था। यह त्रेधागति का सूचक है। भूत, भविष्य और वर्तमान एवं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः त्रिविक्रम विष्णु के ही तीन चरण हैं। तीन पार्थिव लोकों का और काल में तीन खण्डों का विमान, मापन या विस्तार यही विष्णु के त्रिविक्रम का संकेत है। (इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्)। यह विश्व की रचना का मौलिक सत्य है। जन्म, वृद्धि और ह्रास के बीज प्राणिमात्र में हैं। वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ये तीन ऋतुएँ संवत्सर रूपी विष्णु के तीन चरण हैं। इन्हें ही और गूढ़ परिभाषा में गायत्री-त्रिष्टुभ्-जगती नामक तीन छन्द या तीन सुपर्ण बताया गया है जो अपने पंखों की शक्ति से दिव्यलोक का अमृतघट पृथ्वी पर लाते हैं अर्थात् गति द्वारा ही पृथ्वी की तरंगे आकाश तक जाती और अमृत लेकर पृथ्वी पर लौटती हैं। जीवन का कोई भी क्षण या भाग इस त्रिसौपर्ण सामगान से विरहित नहीं है। विज्ञान की परिभाषा में जिसे हम केन्द्र से परिधि की गति, परिधि से केन्द्र की ओर आगति और केन्द्रस्थ स्थिति कहते हैं वह भी विष्णु के तीन विक्रमण या चरणन्यास से मिलता हुआ वर्णन है। विश्व-रचना और जीवन के लिए गति आवश्यक है। इसका सबसे प्रकट रूप काल की गति है जिसके वेग से संसार-चक्र घूम रहा है। जीवन भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल खण्डों में विभक्त है। सर्वत्र ही सब वस्तुओं पर उनकी छाप है, अतः विष्णु के तीन पादन्यासों से कोई बचा नहीं है। त्रिविक्रम विष्णु सबमें व्याप्त है। काल की अप्रतिहत शक्ति से ही वृद्धि पाकर वामन विराट् बन जाता है। बालक का युवा और वृद्ध होना इसी का फल है। जीवन के साथ जन्म, वृद्धि और ह्रास का अटल नियम लगा हुआ है।

ज्योतिर्लिंग—ज्योतिर्लिंग या प्रकाश का स्तम्भ यह भी प्राचीन कल्पना थी क्योंकि कोई भी देव ऐसा नहीं जिसका स्वरूप ज्योति न हो। स्वयं ब्रह्म को सूर्य के समान कहा गया है (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः, यजुः २३।४८)। सूर्य ज्योतिर्लिङ्ग का प्रकट रूप है। ऐसे ही कोटि-कोटि सूर्य हैं जो एक अक्ष-

परम्परा में पिरोए हुए हैं। वही सहस्रादित्य सूर्यों से बना हुआ महान् ज्योतिर्लिङ्ग है। उसे ही शिव का अग्नि-स्कन्ध रूप भी कहते हैं। पाशुपत आचार्यों ने ज्योतिर्लिङ्ग के आधार पर एक सुन्दर आख्यान की रचना की। ज्योतिर्लिङ्ग की इयत्ता जानने के लिये ब्रह्मा हंस पर ऊपर की ओर गए पर उन्हें उसकी अनन्तता का पता न लगा। तब उन्होंने मिथ्या भाषण से प्रतिज्ञा की कि उन्होंने पता लगा लिया। अतः वे शापवश पूजा से बहिष्कृत हुए। विष्णु अपने गरुड़ पर ज्योतिर्लिङ्ग की थाह लगाने के लिये पाताल की ओर जाना चाहते थे कि उन्हें लगा कि यह ज्योति का स्कम्भ तो अनन्त है। यह सोचकर उन्होंने वहीं उसकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया। इस कहानी के दो अंगों से वैज्ञानिक की और ऋषि की दृष्टि सूचित की गई है। एक बुद्धि बल और दूसरा हृदय बल से ज्योतिर्लिङ्ग या अनादि अनन्त विश्व का एवं उसके मूलकारण ब्रह्म को जानना चाहता है पर सफल नहीं होता, केवल जानना चाहता है। हृदय की श्रद्धा से ऐसा सम्भव है, प्रज्ञा बल से नहीं।

शिवलीला के और भी ऐसे ही रूप धर्म और कला में प्राप्त हैं, यथा—कामान्तक मूर्ति, योगेश्वर मूर्ति, दक्षिणामूर्ति, रावणानुग्रहमूर्ति, मखान्तकमूर्ति, यमान्तकमूर्ति, कैलासोत्तोलनमूर्ति, विष्णु द्वारा चक्षुप्रदानमूर्ति, विषपानमूर्ति, नटराजमूर्ति, नरनारीश्वरमूर्ति, हरिहरमूर्ति आदि। मध्यकालीन शिव के मन्दिरों और मूर्तियों में इन विविध रूपों का अत्यधिक महत्त्व देखा जाता है। पुराणों और स्तोत्रों में भी इन रूपों का विस्तार हुआ है। वेदों में शिव या रुद्र को अग्नि का स्वरूप बताया गया है (यो वै रुद्रः सोऽग्निः, श० ब्रा ५।२।४।१३; त्वमग्ने रुद्रः, ऋ० २।१।६)। शिव के पुत्र स्कन्द को अग्नि का पुत्र कहा गया है। ज्योतिर्लिङ्ग मूर्ति का एक अच्छा उदाहरण भारतकला भवन में सुरक्षित है।

सुपर्ण—इसकी संज्ञा गरुत्मा सुपर्ण भी है। यह सूर्य का रूप है। यह काल और संवत्सर दोनों का अभिन्न प्रतीक है। अग्नि भी सूर्य का रूप है अतः विश्व की विराट् शक्ति को सुपर्ण और उसके व्यष्टि रूप को वर्तिका कहा गया। प्रत्येक वर्तिका (बटेर) सुपर्ण के पंजे में जकड़ी है (ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाम्, महाभारत; याभिर्वर्तिकां ग्रसिताममुञ्चतम्, ऋ० १।११२।८)। आकाशचारी गरुड़ या विराट् महाप्राण पृथ्वी पर स्थित वर्तिका या अल्पप्राण की ओर झपट कर उसे दबोच लेना चाहता है, यही जीवन की लीला है।

कला में गरुड़-नाग का अभिप्राय सुपर्णाख्यान का ही अंग है जैसा कि आदिपर्व में स्पष्ट है। विनता और कद्रू दोनों प्रजापति की पत्नी हैं, एक गरुड़ की, दूसरी सर्पों की माता है। एक को ज्योति और दूसरी को तम में रुचि है। विनता ने सूर्याश्व को श्वेत और कद्रू ने काला कहा। किन्तु निर्णय विनता के पक्ष में रहा क्योंकि वस्तुतः गरुड़ देवमय और उसका प्रतिपक्षी सर्प आसुरी है। ऋग्वेद में एक, दो, तीन अथवा अनेक सुपर्णों का उल्लेख है (सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, ऋ० १०।११४।५)। परमात्मा और जीवात्मा को दो सुपर्ण कहा है जो संसार रूपी वृक्ष पर एक साथ बैठे हैं, एक उसका फल चखता है, दूसरा केवल देखता है। इन सुपर्णों को मध्वद भी कहा है, जहाँ मधु का अर्थ अमृत या प्राण है। सारनाथ की शिल्प कला में 'द्वा सुपर्णा' एवं 'त्रयः सुपर्णाः' इन दोनों रूपों का अंकन है।

महिष—महिषासुर वह असुर है जो अनियन्त्रित शक्ति का प्रतीक है। वह सब देवों की माता देवी अदिति या दुर्गा के बल को चुनौती देता है। ऋग्वेद (१०।१८९।२) में लिखा है कि जब द्यावापृथिवी का मण्डल सब ओर से अच्छिद्र या परिपूर्ण हो जाता है और उसके भीतर देवों की

ज्योति प्राण से अपान और अपान से प्राण की ओर स्पन्दित होने लगती है तब महिषासुर को बड़ी ईर्ष्या होती है और वह उस मण्डल के चारों ओर इसलिए चकराने लगता है कि कहीं छेद पाकर प्रविष्ट हो जाय, पर देवी की शक्ति के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। इसी युद्ध का वर्णन देवी-माहात्म्य में आया है। कला में भी महिषासुर-मर्दिनी देवी की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। उनमें महाबलीपुरम् की मूर्ति विशिष्ट है। महिषमर्दिनी देवी को कात्यायनी भी कहा गया। महिष वृत्र का ही दूसरा रूप है जो इन्द्र की शक्ति से लोहा लेना चाहता है और कुछ समय के लिए इन्द्र बन भी जाता है (इन्द्रोऽभून्महिषासुरः, देवीमाहात्म्य २।२)। महिषासुर पाप एवं तम का रूप है जो जीवन के भद्र एवं ज्योतिर्मय रूप पर आक्रमण करना चाहता है।

पूर्णकुम्भ—फूलपत्तियों से समृद्ध पूर्णघट सुख-सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। घड़े में भरा जल जीवन या प्राण का रस है (सलिलम्, ऋतम्, आपः)। उसके मुख पर लहराती हुई पत्तियाँ और पुष्प जीवन के नानाविध आनंद और उपभोग हैं। मानव ही पूर्णघट है। उसी प्रकार विराट् विश्व भी पूर्णकुम्भ है। ये दोनों ही पूर्णता के सूचक हैं; उस समष्टि पूर्ण से यह व्यष्टि पूर्ण उत्पन्न हुआ है (पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते)। ऋग्वेद में जिस पूर्ण या भद्र कलश का उल्लेख है वह सोम से भरा पात्र है। सोम जीवन का अमर और मीठा रस है। अथर्ववेद में घृत और अमृत से भरे पूर्ण कुम्भ का उल्लेख है (अथर्व० ३।१२।८)। घर को मङ्गल घट या मङ्गल कलश कहा गया है। अथर्ववेद में पूर्णकुम्भ नारी का भी उल्लेख आया है। इस अभिप्राय के मूल में ऐसा माङ्गलिक चिह्न लिया जाता था जिसमें कोई सौभाग्यवती स्त्री मङ्गलघट लिये शोभा यात्रा में चलती थी। उसे उदककुम्भिनी (ऋ० १।१९१।१४) भी कहते थे। आज भी यह चिह्न माङ्गलिक है। ललितविस्तर में मायादेवी की उद्यानयात्रा के प्रसंग में पूर्णकुम्भ कन्या का उल्लेख है। इसकी गणना अष्टकन्याओं में होती थी जो राजकीय शोभा यात्रा का अंग थीं। रामायण में रावण के साथ भी अष्टकन्याएँ चलती थीं। राम के अभिषेक के लिए ऐसी ही आठ कन्याएँ और सुग्रीव के अभिषेक के लिये सोलह कन्याओं को आमन्त्रित किया गया। उनमें एक पूर्णकुम्भ या उदककुम्भ कन्या अवश्य रहती थी। युधिष्ठिर अपने नित्य आह्निक में अष्टकन्याओं के दर्शन करते थे। मथुरा की शिल्पकला में इनका अंकन मिलता है। भारतीय कला में पूर्णकुम्भ का चित्रण भरहुत, साँची, अमरावती, मथुरा, कपिशा, नागार्जुनीकोण्ड, सारनाथ, अनुराधपुर आदि स्थानों में पाया जाता है। भारत के बाहर जावा के बोरोबुदूर स्तूप पर भी पूर्णघट का अंकन मिला है। पश्चिमी भारत के चैत्य घरों के भीतरी मण्डल के स्तम्भों पर शीर्षक और अधिष्ठान में भी पूर्णघट दिखाया गया है। जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में पूर्णघट की कल्पना मानवाकृति के रूप में है जो नेत्रों से सुसज्जित है और जिसमें फूलपत्तियों की मेखला भी है, उसे मेखली घट कहते थे। धार्मिक पूजा में पूर्णघट को ब्रह्मा, विष्णु और शिव का प्रतीक मानकर सबसे पहले उसकी स्थापना की जाती है।

चक्र—यह सूर्य या काल का प्रतीक है (कालचक्र)। इसे विश्व का भवचक्र या संसारचक्र कहा जाता है। इसी दृष्टि से प्राणमय जीवन को जीवनचक्र और विराट् विश्व की स्थिति को ब्रह्मचक्र कहा जाता है—येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रं, ब्रह्म की शक्ति इस चक्र को पहिए की तरह घुमा रही है। चक्र वह है जिसमें नियमित गति या छन्दोगति होती है। चक्र के दो भाग होते हैं—एक उद्ग्राभ या ऊपर उठता हुआ और दूसरा ओर निग्राभ या नीचे की ओर आता हुआ। उद्ग्राभ का प्रत्येक बिन्दु निग्राभ में

प्रतिफलित होता है। इसीके लिए कवि ने कहा कि नीचैर्गच्छत्यूपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। उद्ग्राभ और निग्राभ के मिलने से ही चक्र की छन्दित गति का जन्म होता है। विश्व को नियमित करने वाले ऋत संज्ञक विधान को ही आगे चलकर धर्मचक्र और सुदर्शनचक्र की संज्ञा दी गई। दोनों को सहस्रार (एक सहस्र अरों से युक्त) कहा गया है। यहाँ सहस्र का अर्थ अनन्त है, यों भी चक्र के अरों की संख्या नाना दृष्टियों से भिन्न-भिन्न है। संसार को त्रेधा मानकर चक्र को त्र्यर कहा गया है। ७२ दिन की एक ऋतु मानकर काल को पंचार (पंचारे चक्रे परिवर्तमाने ऋ० १।१६४।१३) या ६० दिन की मानकर कालचक्र को षडर कहा गया है। षडर से निकला हुआ (पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणाम्। अथ मे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितामिति। ऋ० १।१६४।१२) छैरिया शब्द लोक भाषा में आज भी चलता है। १२ महीनों की दृष्टि से कालचक्र को द्वादशार (द्वादशारं न हि तज्जराय, वर्वर्तिचक्रं, ऋ० १।१६४।११) भी कहते हैं। प्रतीकों की कल्पना में इस प्रकार का भेद प्रायः विविध अर्थानुसारी होता है। संवत्सर ही कालचक्र है। उसकी ऋतुओं की संख्या ३,४,५,६ कई रूपों में मानी गई है।

जैसे चक्र में गति होती है वैसे ही रथ में। वस्तुतः रथ की गति उसके चक्रों पर आधारित है। इस दृष्टि से भवचक्र को देवरथ भी कहा गया है। दोनों का तात्पर्य गति से ही है। सारनाथ में अशोक स्तम्भ मूल में चक्रस्तम्भ ही था। उसके शीर्षभाग पर एक महाचक्र लगा हुआ था। बौद्ध धर्म के अनुसार उसकी संज्ञा धर्मचक्र थी। मथुरा की जैन कला में वैसा ही चक्रस्तम्भ अंकित है। ऋग्वेद में इसे विष्णु का वृत्तचक्र कहा है (ऋ० १।१५५।६) और वहाँ यह भी बताया है कि पूर्ण चक्र में चार नवतियाँ या नब्बे-नब्बे अंश के नमन या कोण होते हैं (चतुर्भिः साकं नवतिं चनामभिश्चक्रं न वृत्तम्, ऋ० १।१५५।६)। कालान्तर में भागवतों ने विष्णु के इस वृत्तचक्र को सुदर्शन नाम दिया। सुदर्शनचक्र का शब्दार्थ है सुन्दर दर्शन वाला या सुलभ प्रत्यक्ष दर्शनयुक्त। अतः काल ही सुदर्शन है क्योंकि काल का प्रत्यक्ष दर्शन सबको सदा सर्वत्र हो रहा है। इसी प्रकार जीवन भी सुदर्शनचक्र का रूप है जिसका दर्शन सबके लिए सुलभ और सुन्दर है।

यूप या यज्ञीय स्तम्भ—यह विश्व एक यज्ञ है। इसको धारण करने वाले स्कम्भ को ही यज्ञ का स्तम्भ या यूप माना गया। दिव्यावदान ने यूप को धर्म का चिह्न कहा है (कावेल, पृ० ५९, किञ्चित् त्वं अस्माकं चिह्नं स्थापय···यूपं चोच्छ्रापयोर्ध्वम्)। इससे सिद्ध है कि बौद्ध साक्षी के अनुसार यूप का ही दूसरा रूप चक्रयुक्त धर्म स्तम्भ या चक्रध्वज था। यूप के दर्शन से चक्रवर्त्ती सम्राट् को अपने धर्मयुक्त कर्तव्य-पालन का स्मरण होता था। शतपथ ब्रा० के अनुसार यूप का भूमिनिखात अंश असुरों के अधिकार में समझा जाता था। रशनायुक्त भाग मनुष्यों का, चषालपर्यन्त देवों का और उससे ऊपर का भाग देव-सदन समझा जाता था। यूप का यह संविभाग स्तूप से मिलता है। उसमें भी क्रमशः चार भाग होते हैं— भूमिप्रविष्ट भाग, मेधि भाग, अण्ड भाग, और छत्रयष्टियुक्त हर्मिका जहाँ देवों का निवास (देव-सदन) माना जाता था।

स्तम्भ ऊँची लम्बाई का होता था (उच्छ्रय, वर्ष्मन्)। यह ज्येष्ठ ब्रह्म और उसके द्वारा निमित विश्व दोनों का प्रतीक था। जैसा स्कम्भ सूक्त में कहा है (अथर्ववेद १०।७), सब लोक और सब देव स्कम्भ के आश्रित हैं। स्कम्भ परमेष्ठी प्रजापति की ऊर्ध्व और प्रभविष्णु शक्ति का प्रतीक था। इन्द्रयष्टि इन्द्र के सम्मान में खड़ा किया हुआ ध्वजस्तम्भ था। इन्द्र को वृष्टि, मेघ और जन-जीवन के

हास-प्रमोद का देवता माना जाता था। इस प्रकार का इन्द्र-ध्वज योरप में भी मे-पोल के नाम से पूजा जाता है। वन के किसी वृक्ष या वनस्पति को काटकर बड़ी धूम-धाम से खड़ा किया जाता था। प्राचीन आहत मुद्राओं पर त्रिभुजशीर्षक युक्त एक यष्टि चिह्न पाया जाता है। उसकी पहचान इन्द्रयष्टि या वैजयन्ती से सम्भव है। इन्द्रध्वज के उत्सव को इन्द्रमह कहा जाता था।

सप्तरत्न—सप्तरत्नों का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। अग्नि प्रत्येक घर में सप्त रत्नों का आधान करता है (दमे-दमे सप्तरत्ना दधानः)। कालान्तर में सप्तरत्नों की कल्पना का सम्बन्ध चक्रवर्ती सम्राट् से जोड़ लिया गया, जैसा बौद्ध साहित्य और पुराणों में मिलता है। इन सात रत्नों के नाम ये थे—चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गृहपति (श्रेष्ठी) रत्न और परिणायक (मन्त्री) रत्न। मत्स्य पुराण में इनके नाम ये हैं—

चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ १४२।६३

पद्म या पुष्कर—भारतीय कला, धर्म और दर्शन में कमल सबसे अधिक महत्त्व का प्रतीक है। यह अगाध जलों के ऊपर तैरते हुए प्राण या जीवन का चिह्न है। यह पुष्प सूर्योदय के समय अपनी पंखड़ियाँ खोलता है। सूर्य ब्रह्म का प्रतीक माना गया है (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः, ऋ० २३।४८), अतः कमल प्राण का वह रूप है जो भूतों में समष्टिगत प्राण या जीवन का आवाहन करता है। कमल का संकेत अनेक विशिष्ट अर्थों की ओर था। यह विष्णु की नाभि या केन्द्र से उद्भूत होने वाले बलों का प्रतीक था जिनसे प्राण का संवर्धन होता है। विष्णु की नाभि के कमल पर ब्रह्मा का विकास हुआ जो सृष्टिकर्ता हैं (ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे, गोपथ ब्रा० १।१।१६)। कमल के पर्ण या पुरइन बेल को सृष्टि की योनि या गर्भाधान की शक्ति कहा है (योनिर्वै पुष्करपर्णम्, श० ब्रा० ६।४।१।७)। कमल विराट् मन का प्रतीक है और व्यष्टिगत प्राण शक्ति का भी। भागवतों के अनुसार संसार को भू-पद्मकोष कहा गया है और सृष्टि का जन्म पद्म से माना गया है। वे दो प्रकार की सृष्टि मानते हैं, एक पद्मजा दूसरी अण्डजा। पद्मजा सृष्टि क्षीरशायी विष्णु की नाभि से होती है। अण्डजा सृष्टि हिरण्यगर्भ से होती है। वैदिक मान्यता में जो स्थान हिरण्यगर्भ का था वही भागवत दर्शन में पद्म का है। वेद के अनुसार पृथ्वी पर अग्नि और द्युलोक में आदित्य ये दो बड़े पुष्कर हैं। हिरण्यगर्भ सृष्टि अग्नि पर और पद्मजा सृष्टि जलों पर निर्भर है। ये अग्नि और सोम के प्रतीक थे। मातृकुक्षि से उत्पन्न होने वाले शिशु का प्रतीक कमल था। पूर्णघट में अण्डजा और पद्मजा अर्थात् कमल और जल इन दोनों कल्पनाओं का समन्वय है। भारतीय कला में कमल का चित्रण अनेक रूपों में मौर्य युग से लेकर अन्त तक पाया जाता है। उत्पल, पुण्डरीक, कल्हार, शतपत्र, सहस्रपत्र, पुष्कर, पद्मक, इत्यादि नामों से कमल का उल्लेख होता है। कमल को "सूरजमुखी के फुल्ले" भी कहते हैं।

कल्पवृक्ष—कल्पवृक्ष का जन्म समुद्र मन्थन से हुआ। यह इच्छाओं की पूर्ति करने वाला वृक्ष और मन का प्रतीक है। कल्प का अर्थ चिन्तन, विचार या मन है। कल्पवृक्ष के नीचे मनुष्य जो सोचता है वह उसे मिल जाता है। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वृक्ष था। उसकी शाखाओं और पल्लवों पर देवों का निवास था। इस वृक्ष की चार दिशाओं में चार शाखाएँ मानी जाती थीं। इससे इसका सम्बन्ध विश्वस्वस्तिक से भी ज्ञात होता है। सदा यौवन का उपभोग करने वाले स्त्री-पुरुषों के

मिथुन या जुगलिये कल्पवृक्ष से ही जन्म लेते हैं। इस दृष्टि से घर भी कल्पवृक्ष का रूप है जिसमें स्त्री और पुरुष विवाह कर माता-पिता बनते हैं। उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों का वर्णन रामायण, महाभारत, पाली वाणिज जातक, पुराण, जैन ग्रन्थ और काव्यों में बहुत आया है। भरहुत, भाजा, साँची आदि स्थानों की कला में कल्पवृक्ष और कल्पलताओं का अङ्कन बहुशः मिलता है। गुफा और मन्दिरों के द्वार-स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिथुन-मूर्तियों का अभिप्राय वहीं से लिया गया। जैन ग्रन्थों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष कहे हैं (दे० अध्याय ८, भरहुत स्तूप)। इसी अभिप्राय का एक रूप लहराती हुई कल्पलता थी जिसके मोड़ों में से भाँति-भाँति के वस्त्र और आभूषण जन्म लेते हुए दिखाए गए हैं। इसी से सम्बन्धित एक अवान्तर अभिप्राय नारीलता या कामलता था जो गढ़वा के मन्दिर के स्तम्भों पर मिला है।

सुमेरु—सुमेरु विश्व के ध्रुव केन्द्र का प्रतीक है। वह सुवर्ण का पर्वत है। सुवर्ण प्राण का वाचक है। मेरु के चार तटों पर चार पर्वत और चार महाद्वीप माने जाते हैं। मेरु समस्त विश्व की विधृति है। चार दिशाओं में बहनेवाली चार महानदियाँ मेरु से जन्म लेती हैं। उनके स्रोत चार सरोवर हैं। पुराणों में मेरु की भव्य कल्पना पाई जाती है। चार महापशु और चार देवताओं का संबंध भी मेरु से माना गया है। मेरु पर सब देवों का निवास है। गाथाशास्त्र और कला में प्रदर्शित हिमालय को मेरुसखः (मेरु का मित्र) कहा गया है।

बुद्ध—गौतम के मानुषी रूप के विषय में जो चाहे कहा जाय किंतु बुद्ध के लोकोत्तर रूप का आधार वैदिक प्रतीक थे। ललितविस्तर में बुद्ध के जीवन का वर्णन करते हुए लोकोत्तरवादी आचार्यों ने वैदिक प्रतीकों के साँचे में ढालकर ही बुद्ध के जीवन की लीलाओं का विस्तार किया। तुषित स्वर्ग का श्वेत हस्ती, मातृकुक्षि से तिरश्चीन जन्म, सप्तपद, शीतोष्ण जलधाराओं से प्रथम अभिषेक, बोधिवृक्ष, बोधिमण्ड, मारधर्षण, इन्द्रशैल गुहा, वानरों द्वारा मधु का उपहार, लोकपालों द्वारा प्रदत्त चार भिक्षापात्रों का एक पात्र में परिवर्तन, अग्नि की ज्वालाओं और जल धाराओं का शरीर से प्रकट करने का चमत्कार एवं सहस्रबुद्ध रूप प्रदर्शन—इन का कोई अर्थ बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। ये मानुषी बुद्ध की जीवित घटनाएँ नहीं, बुद्ध के प्रतीकात्मक जीवन की लीलाएँ हैं। इन कड़ियों की व्याख्या की कुंजी प्राचीन वैदिक परंपरा में ही पाई जाती है। बुद्ध स्वयं सूर्य के अवतार हैं। श्वेत हस्ती विराट् संवित् या चेतना शक्ति का रूप है। तिरश्चीन जन्म का संकेत यह है कि जीवन या प्राण का स्रोत अज्ञात है, उसे ऊर्ध्व या अधः, परस्तात् या अवस्तात् नहीं कहा जा सकता। किंतु जैसे कोई सुवर्ण या श्वेत पक्षी तिरछा झपटता है वैसे ही प्राण या जीवन का भूतों में आगमन होता है। शीतोष्ण जल के दो स्रोतों से प्रथम स्नान का अभिप्राय विश्व के ठंडे और गरम या अग्निसोमात्मक द्वन्द्व से है जिससे प्रत्येक प्राणी का स्वरूप बनता है। मधु सोम, ज्योति और अमृत का प्रतीक माना जाता है। वानर इन्द्र का सहयोगी वृषाकपि है। मधुविद्या या सोम का रहस्य इन्द्र के पास है। उसी के दूत वानर बुद्ध को मधुपात्र या सोमचमस प्रदान करते हैं। इन्द्र गुहा भी वैदिक कल्पना है क्योंकि अग्नि का जन्म सर्व प्रथम सानु या पर्वत के गुह्य स्थान में कहा गया है। चार पात्रों को एक बनाना यह उस वैदिक कल्पना से संबंधित है जिसमें ऋभु देवों ने एक के चार चमस बनाए (एकं चमसं चतुरः कृण्वोतन)। इसका अर्थ यह है कि एक मूलभूत आदि कारण से यह विश्व चतुष्टयात्मक बन रहा है।

बुद्ध के जीवन में अग्नि और जल के चमत्कार स्पष्ट ही अध्यात्म प्रतीक हैं। ऋग्वेद में आया है कि विश्वरचना के संबंध में दो प्रकार के विचार थे--एक आग से (अग्निभूयिष्ठ) और दूसरा पानी से (आपोभूयिष्ठ, ऋ० १।१६१।९)। उन्हीं को अग्नि और सोम कहा है और वही बुद्ध के जीवन की इस लीला के प्रतीक हैं। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर और जीवन आग और पानी की महती शक्तियों से बना है। सहस्र बुद्ध का प्रतीक सहस्रशीर्ष पुरुष का स्मरण दिलाता है। सहस्र का अर्थ अनन्त भी था अतः सहस्र बुद्ध का संकेत यही है कि बुद्ध बोधिसत्त्व या अर्हत् अनन्त हैं। ललितविस्तर में तो अत्यन्त स्पष्ट कहा गया है कि जो धर्मचक्र प्रवर्तन बुद्ध ने किया उसे अनेक तथागत, अर्हत्, सम्यक् संबुद्ध पूर्व में कर चुके थे। उन्हीं की प्रेरणा से वह 'सर्वत्र, सहस्रार, सहस्ररश्मि, सनाभि, सनेमि, सपुष्पदाम, सहेम जाल, सगन्धहस्त, संपूर्णकुम्भ, सनन्दिकावर्त, सस्वस्तिकालंकृत' (ललितविस्तर, वैद्य सं० पृ० ३०२) धर्मचक्र बुद्ध के सामने भी आकर उपस्थित हो गया। इस प्रकार धर्मचक्रप्रवर्तन की परंपरा आदि और अन्त से रहित नित्य है। शाश्वत ब्रह्मचक्र का भी यही रूप है। इस प्रकार चक्रस्तम्भ और यूप एवं धर्मचक्र तथा सुदर्शनचक्र इनका तादात्म्य प्राचीन काल में मान्य था। बुद्ध का जीवन भारतीय कला में सर्वाधिभावी है। उसकी कल्पना वैदिक अभिप्रायों के दिव्य संदर्भों के द्वारा हुई। विष्णु और शिव की दिव्य लीलाओं के समान ही इन लीलाओं का आकलन किया गया। महायान बौद्ध धर्म में रुचिपूर्वक इन 'ललित' या लीलाओं का विस्तार किया गया। बुद्ध के भिक्षापात्र का पूर्वरूप वह भुजिष्य पात्र था जिसमें प्रजापति ने पृथ्वी या माता भूमि के लिए सब प्रकार की हवि रक्खी थी। इस क्षेत्र में पाषण्ड और संप्रदायों की सीमाएँ विलग नहीं एक दूसरे के साथ घुल मिल जाती हैं। यहाँ हमारा साक्षात्कार ऐसी भाषा से होता है जो विश्व के अध्यात्मशास्त्र की बोधक एवं "सनातन धर्म" (शाश्वत दर्शन) की जनित्री है (तु० बुद्ध का वाक्य, एष धम्मो सनन्तनो)।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय कला को दोनों पक्ष इष्ट थे, अर्थात् सुन्दर वस्तुओं का बाह्य रूप एवं उनका आन्तरिक अर्थ। अर्थ के बिना कला रिक्त, तुच्छ या छूँछी है। शुक्र ने केवल प्रतिकृति को अस्वर्ग्य माना गया है। कालिदास ने इस बात को वाक् और अर्थ का संपृक्त या मिला हुआ रूप कहा है। उसमें वाक् कला और काव्य का बाह्य रूप है। अर्थ उसकी भीतरी व्याख्या है। शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की भाँति वाक् और अर्थ भी उभयनिष्ठ हैं। इन दो पक्षों को हम बहिर्वेदि और अन्तर्वेदि भी कह सकते हैं। शिल्पी और विचक्षण को प्रयत्न करना चाहिए कि इन दोनों पक्षों में रुचि ले। कलाकार शिल्पी अपने चित्त या ध्यान की शक्ति से कला रूपों का विचार करता है। रसिक, सहृदय या विचक्षण अध्यात्म सुख के लिए रूपों के अर्थ की जानकारी प्राप्त करता है।

भारतीय रसशास्त्र का यह परिपूर्ण सिद्धान्त शब्दमय और अर्थमय दोनों पक्षों को लिए हुए था। भारतीय प्रज्ञाशील मनीषी इन दोनों नेत्रों से कला और काव्य को देखते थे। कला की प्रभूत सामग्री काव्यों में भरी हुई है। कला, धर्म, काव्य और दर्शन ये चार सरस्वती के चार स्तन हैं जिनसे वह मानवीय मन की सृष्टि के लिए दुग्ध की पोषणात्मक धाराएँ प्रवाहित करती है। उसकी दुग्धाधारणी मुद्रा में इन चारों का समन्वय है। वैदिक संहिता, ब्राह्मण, पाली और आगम साहित्य, बौद्ध और जैन भाष्य और टीकाएँ, पुराण और काव्य, इन सबमें हम एक ही अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ पाते हैं। इस सूत्रात्मा का दर्शन भारतीय संस्कृति के अध्ययन की सिद्धि है। उनकी एकता और विभिन्नता

भारतीय कला के सहस्र रूपों में अंकित है। उसमें हमें पृथ्वी और स्वर्ग की भाषा का समन्वय मिलता है--

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्। (अथर्व १२।१।६३)

कला का उद्देश्य जीवन के लिए है। वह उद्देश्यहीन साधना नहीं। दिव्यावदान के विचारशील लेखक ने यही भाव प्रकट करते हुए लिखा है कि कला के अभिप्राय शोभा एवं जीवनरक्षा दोनों के के लिए होते हैं--सुदर्शननगरे एकोनद्वारसहस्रं देवानां (रूपाणि) आरक्षणार्थम् इत्यर्थं शोभनार्थम्।

(दि०, पृ० २२१)

अध्याय ५

५ (अ). महाजनपद युग की कला

(लगभग १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)

आर्य सभ्यता का विकास उन विश् नामक कबीलों से शुरू हुआ जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते थे। अन्त में वे ही 'जनपद' नामक भूमियों में बस गए। जन का अर्थ है कबीला और पद का स्थान। अतः जनपद जातीय भूमियों के रूप में इस युग के अन्त में दिखाई पड़ते हैं। यह भू-संनिवेश का अन्तिम युग था। ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, पाली त्रिपिटक, जैन आगम और अष्टाध्यायी में उनका उल्लेख आया है और भरापूरा चित्र खींचा गया है। प्रायः सारा देश ही जनपद भागों में बँट गया था। जनपद लगभग यूनानी पुर-राज्यों के समान थे पर उनकी अपेक्षा इनका भूविस्तार कहीं बड़ा था। इनमें शासन करने वाले मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय जनपदिन् कहलाते थे। पाली साहित्य में १६ महाजनपदों का उल्लेख आया है जो मध्य एशिया में वंक्षु के तटवर्ती कम्बोज से लेकर गोदावरी के तटवर्ती अश्मक जनपद तक फैले हुए थे जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान या पैठण में थी। यह बुद्ध के समय की स्थिति रही होगी। फिर जैन साहित्य में २४ जनपदों का उल्लेख है जो संभवतः मौर्ययुग की स्थिति थी। पुराणों की भुवनकोष सूची में लगभग १७५ जनपद हैं जिनका विस्तार उत्तर में कम्बोज से लेकर पूर्व में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग तक और पश्चिम में सौवीर और दक्षिण में अपरान्तभूमिक और माहिशक तक था। हमने जनपदों के संस्कृतिक और राजनीतिक महत्त्व का विवेचन अपने पाणिनिकालीन भारतवर्ष ग्रन्थ (अ० २, पृ० ४८-७४) में किया है।

वैदिक चरण या विद्यालयों में ज्ञान का मानदण्ड ऊँचा उठा और अनेक विद्याओं का विकास किया गया। चरणों का विकास जनपद युग की विशेषता थी। इनमें व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, ज्योतिष, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र, धर्म, वास्तु आदि अनेक शास्त्रों का विकास किया गया। इसी के साथ श्रौत और गृह्य कर्मकाण्डों की भी उन्नति हुई जिनकी सामग्री श्रौत और गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है। इसी प्रकार इस युग में शिल्पों पर भी विशेष ध्यान दिया गया और अनेक पेशों के रूप में उनकी उन्नति हुई। इन शिल्पों के लिए, जो सैकड़ों थे, 'जानपदी वृत्ति' यह नया नाम अस्तित्व में आया (पाणिनि, ४।१।४२)। शतरुद्रिय अध्याय १६ से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में ही इस प्रकार के पेशेवर शिल्पी अस्तित्व में आ गए थे, जैसे—भिषक्, वणिक्, स्थपति, धन्विन्, इषुमत्, धनुष्कृत्, इषुधिमत् (तरकश बनाने वाले), रथकार, तक्षक, यूपव्रस्क, कुलाल, कर्मार, वर्म-कवच और आयुध बनाने वाले, वास्तुक, वास्तव्य, तल्प(शयन)कार, चटाई बनाने वाले, वयतृ (बुनकर), कीनाश (किसान), अन्नपति, योद्धा, नावाज, अरित्र (पतवार) से नाव चलाने वाले, द्युम्न, नौका, मण्ड (कर्णधार), रजयितृ (रँगरेज), रज्जुसर्ज (रस्सीबटा), वीणागाथिन्, वप्तृ (नाऊ), श्रपयितृ (पाचक), हस्तिप (हाथीवान्), हिरण्यकार, मणिकार, विदलकार, पेशयितृ एवं पेशस्कारि, ध्मातृ (धातु गलाने वाले), दुन्दुभ्याघाट (ढोलिए), तलव (वैद्य), उपलप्रक्षिणी, कृषीवल आदि। वाद्य यन्त्रों के नाम भी मिलते हैं, यथा—वीणा, नाडी, दुन्दुभि (ढोल), काण्डवीणा, कर्करी (वीणाभेद)

आडम्बर (ढोल), आघाटि (मँजीरे), लम्बर (लम्बा पटह), भूमि-दुन्दुभि (भूमि पर रक्खा नगाड़ा)।

ऊपर की सूचियों से कई प्रकार के शिल्पों के विकास और उन्नति का परिचय प्राप्त होता है। गन्धर्ववेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद और वास्तुवेद—इन चारों उपवेदों का अभ्यास और अध्ययन शुरू हो गया था। गन्धर्ववेद के अन्तर्गत नाट्य का भी विकास हुआ। पाणिनि ने आचार्य शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जिनका साहित्य वैदिक चरणों के अन्तिम युग में निर्मित हुआ। आचार्य शिलाली के नटसूत्रों का विकसित रूप भारत के नाट्यशास्त्र में पाया जाता है। ज्ञात होता है कि उक्त चारों उपवेदों का आरम्भ वैदिक चरणों में हुआ। इनके प्रणेता या प्रेरक वैदिक आचार्य या उनके शिष्य-प्रशिष्य थे जो वैदिक शाखा या ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ाते थे। कालक्रम से यह परम्परा और समुन्नत हुई और इसके अन्तिम छोर पर हम पाते हैं कि अनेक शिल्प और शास्त्रों का वैदिक चरणों के बाहर भी स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। श्रौतसूत्रों और जातकों में उन शिल्पों का अच्छा वर्णन है जिन्हें गाँवों में विभिन्न पेशेवर लोग चला रहे थे। इन पेशों के अनुयायी लोगों ने श्रेणियों के रूप में अपना संगठन बना लिया था। ऐसे अट्ठारह शिल्पों या श्रेणियों का उल्लेख है (अट्ठादस शिल्प, जातक २।२४५)। इन पेशों को वृत्ति कहते थे। यास्क ने लिखा है कि जो व्यक्ति इन जानपदी वृत्तियों में से जितनी अधिक जानता था, वह उतना ही विशिष्ट समझा जाता था (जानपदीषु विद्यातः पुरुष विशेषो भवति)। शिल्प दो प्रकार के थे—उत्कृष्ट और हीन (विनय-पिटक ४,६)। शिल्पियों को जनता और राजा दोनों सम्मान देते थे। लिखा है कि राजा कुम्हारों को बुलाकर उन्हें ईंटें बनाने का काम सौंपते थे और यज्ञ के लिये छोटे-बड़े आकार के भाँडे-बर्तन भी बनवाते थे (बौधायन १५।१४)। कुम्भ, कुम्भी, कुसूल आदि की रचना होती थी; और भी कई प्रकार के भाण्ड और स्थालियाँ बनाई जाती थीं। कुम्हारी के काम की बड़ी माँग थी, जिसके लिए नया शब्द कौलालक (कुलाल कर्म) प्रयोग में आया। कुम्हार के लिये कुम्भकार नया शब्द चालू हुआ क्योंकि वह नए प्रकार के छोटे-बड़े घट और हंडियाँ बनाने लगा था जो उसके पेशे की विशेषता थी।

पेशेवरों में तक्षा और रथकार की वृत्ति सबसे महत्त्वपूर्ण थी। रथकार साधारण वर्धकियों से ऊँचा पद रखते थे और उनका अलग ही वर्ग था। वर्धकी या तक्षा श्रेणी के व्यक्ति नाना प्रकार के स्थूण या खम्भे, यज्ञीय यूप और भाँति-भाँति के काष्ठपात्र, चमस और सोमग्रह, पलंग-पीढ़े बनाते थे। सिन्धुघाटी और वैदिक युग में ही सुवर्णकारों का शिल्प बहुत आगे बढ़ चुका था। वही स्थिति सूत्र युग में भी रही जब स्वर्णकारों से अनेक भाँति के गहने बनवाए जाने लगे, जैसे कर्ण-वेष्टक (कानों के गोल कुण्डल या बेढ़ी), निष्कहारों के गोल पदक, रुक्म (एक विशेष आभूषण जो कण्ठ में पहना जाता था, जिसमें २१ स्पुट या खड़ी बुन्दकियों का जड़ाव रहता था, तुलना कीजिए ग्रैवेयक और सुवर्ण स्रज्)।

श्रौतसूत्रों में पत्थर के सिल-बट्टे, कूँडे-कूँडियाँ आदि गढ़ने वाले संगतराशों का उल्लेख है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिट्टी, पत्थर लकड़ी आदि के बर्तनों का वर्णन आया है (आश्वलायन गृह्यसू० ४।३।१८, ४।७।७)।

पाली दीघनिकाय में २५ शिल्पियों की सूची है। बड़े शिल्पों की सूची (पृथु सिप्पायतन), यथा—कुम्भकार, नळकार, पेशकार (बुनाई-कढ़ाई का काम करने वाले), रजक, मालाकार, कप्पक,

चेलक, धनुग्गह, रथिक (सामञ्ञफलसुत्त, १४)। ब्रह्मजाल सुत्त में इससे भी बड़ी सूची है। नच्चगीत-वादित्त, मालागन्ध-विलेपन, तुलामान (नाप तौल के बट्टे), कंस (कांसे के बर्तन), दीघदसवथ्थ (चौड़ी किनारी के वस्त्र), आदास (=आदर्श, दर्पण), कोसेय्य, तूलिक, पट्टिक, चित्तक, गोणक, पटलिक, उद्दलोमि, हत्थत्थरण (हाथी की झूल), असत्थरण (घोड़े की पलान), रथत्थरण (रथ ढकने का वस्त्र), वत्थ-लक्खण, मणि-लक्खण, असि-लक्खण, उसु (=इषु, बाण) लक्खण, धनु-लक्खण, आयुध-लक्खण। विशेष विद्याएँ जैसे, वत्थु-विज्जा (वास्तुविद्या), खेत्तविज्जा (क्षेत्रमापन), वत्थुकम्म (वास्तुकर्म), वत्थु परिकम्म (वास्तु-परिकर्म)।

चक्रवर्त्ती महासुदस्सन के राजप्रासाद के वर्णन में वास्तु-विद्या का कुछ उल्लेख है। लिखा है कि उसके महल की ऊँचाई तीन पोरसा (पुरुष) थी। एक पुरुष की माप छह फुट समझी जाती थी। यह प्रासाद के बाह्य प्राकार की माप की सूचना है। उसमें चार प्रकार की इष्टकाएँ लगी थीं। स्तम्भों की संख्या ८४००० कही गई है जो ८४ की सहस्रगुणित आदर्श संख्या ज्ञात होती है। पाटलिपुत्र की चन्द्रगुप्त-सभा में ८४ स्तम्भ थे जिसमें से ८२ उपलब्ध हैं। वह प्रासाद लकड़ी के चार रंगों के फलक, सोपान, सूचियाँ, उष्णीश, कूटागार (कोठे), सोने-चाँदी के शयन-पर्यङ्क, हाथी दाँत और स्फटिक का काम, द्वार के दोनों पार्श्वों में तालवृक्ष, प्रासाद के चारों ओर दोहरी वेदिका, किंकिणी-जाल, कई प्रकार के कमलों के फुलों से युक्त पोक्खरिणी (=पुष्करिणी), सोपान और खुले मंच, इन सब अंगोपांगों से युक्त था (महासुदस्सन सुत्त, दीघ निकाय)।

पाटलिपुत्र-पुटभेदन (वह स्थान जहाँ माल की गाँठें खोली जाँय) अर्थात् व्यापारिक नगर के मापन का भी वर्णन आया है (पाटलिगामे नगरं मापेन्ति पाटलिपुत्रं पुटभेदनं, महापरिनिब्बाण सुत्त, दीघ निकाय)।

स्तम्भ—शतपथ ब्रा० में कहा है कि काम्यक वन के गृहपति अयस्थूण वाले घरों में रहते थे। अयस्थूण का तात्पर्य ताम्बे की पच्चीकारी से युक्त लकड़ी के खम्भे ज्ञात होता है। संभव है लकड़ी पर ताम्बे की पतली चादर या खोल चढ़ाने की भी प्रथा रही हो। अयस्थूण का उल्लेख ऋग्वेद में भी है। ताम्बे की कुम्भी, मेखला, शीर्षकों के जड़ाऊ काम से युक्त स्तम्भ की शोभा और दृढ़ता बढ़ जाती थी (श० ब्रा० ११।४।२।१७)। लकड़ी के ऊँचे स्तम्भ वास्तु या गृह निर्माणकला के सबसे प्रभावशाली अंग थे। उन्हीं की अनुकृति पर अशोककालीन ऊँची पत्थर की लाटें या शैलस्तम्भ और पश्चिमी भारत के चैत्यघरों के सामने के कीर्त्तिस्तम्भ बनाए गए। चैत्यघरों की छत के नीचे जो लकड़ी के मोटे गर्दने बैठाए गए हैं उनसे कुछ अनुमान लगता है कि जब ऐसे चैत्यगृह पूरी तरह लकड़ी के होते थे तो उनके भीतर के स्तम्भ कितने भारी, स्थूल और ऊँचे होते होंगे। एक जातक में वर्णन है कि काष्ठकर्म करने वाले वर्धकियों का एक ग्राम था। उसके निवासी अपने बनाए काष्ठ शिल्प को नावों पर लादकर गंगा में उजानी या बहाव के ऊपर की ओर बेचने जाते थे। पाणिनि ने गणपाठ में (५।१५१) ऐसे वणिजों का उल्लेख किया है जो स्थूण भार या लकड़ी के खम्भे बेचने निकलते थे। उनकी संज्ञा स्थौणभारिक थी। कुछ ऐसे व्यापारी थे जो पत्थर का सामान (अश्मभार) बेचते थे। भाषा में ऐसे नामों की आकांक्षा से सूचित होता है कि इस प्रकार के शिल्पों का वास्तविक अस्तित्व था।

गंगा के तट पर एक नगर-निर्माण का वर्णन है (यथा परिच्छिन्नके स्थाने नगरं मापेतुं आरभि नगरकरणं विचारेन्तु एतक इदं करोन्तु ति सर्वकम्मानि विभजत उम्मगे कम्मं पटिथापेसु

महाउम्मगद्वारं गंगातित्थे अहोसि, जा०, ६, पृ० ४३१)। महाउम्मग्ग जातक में वर्णित इस प्रासाद को पूर्व लेखकों ने सुरंग कहा है पर वह एक नगर और राजमहल है, जैसा स्वयं जातक में लिखा है। इसके निर्माता वास्तुविद्याचार्य को महावर्धकी कहा गया है। वत्थु-विज्ञाचार्यों का भी उल्लेख आया है, जो इस प्रकार का बड़ा निर्माण कार्य कराते थे।

महा उम्मग्ग नाम का अर्थ है मार्ग से हटकर बनाया हुआ बड़ा महल और यह नाम वर्तमान कुमराहार की चन्द्रगुप्त सभा या मौर्य प्रासाद के लिए ठीक घटित होता है, क्योंकि वह गंगा के मार्ग से हटकर कई मील दूर पर बना है।

उस प्रासाद की लम्बाई-चौड़ाई राजमहल के योग्य थी। बहुत बड़ी मात्रा में गंगा जी से बालू और मिट्टी लाई गई। उसे हाथियों के पैरों से रौंदवा कर जमाया गया। हाथियों के पैर चमड़े के जूतों से मढ़े थे। जब इस प्रकार मिट्टी-कुट पिट गई तब उस चौड़े वप्र या टीले पर प्राकार या नगर का परकोटा चिनवाया गया। मिटी को खूब पानी मिलाकर साना गया जिससे धूलकोट खूब पोढा रहे (पतितपतितच्च उदकेन सन्नीत्वा पाकारं चिनन्ति)। प्राकार में बहुत से द्वार थे। उनमें से एक द्वार का मुँह नगर की ओर था। प्राकार या परकोटा २७ फीट या १८ हाथ ऊँचा था। द्वारों में महा-कपाट और उनके खोलने-बन्द करने के यन्त्र लगाये गये थे (यन्त्रयुक्त द्वार) जिन पर कपाटों के बड़े पल्ले आगे-पीछे दौड़ते थे। पल्लों के पीछे एक अणि लगी थी जिसमें अणिद्वार झूलता था। उसमें एक खड़ी हुई इन्द्रकील या बड़ी सिटकनी भी थी जिसका एक सिरा भूमिछिद्र में पिरोया रहता था। संभवतः यही यन्त्रखनक या भुइँनासी ताला था। तोरण द्वार के दोनों ओर ईटों की बनी दीवारें (इष्टका प्राकार) थीं (इट्ठिका हि चिनित्वा)। भीतों पर सुधाकम्म या चूनेबरी का पलस्तर चढ़ाया हुआ था। कोठों के ऊपर लकड़ी के बड़े पटरों की छत बाँधी गई थी (पदरछन्न)। छत के नीचे की ओर विशेष प्रकार की मिट्टी का लेप किया गया (उल्लोयमत्तिका)। उल्लोयमत्तिका के कई मोटे-महीन लेप किए जाते थे (लेपयित्वा) जिनमें से अन्तिम पोत श्वेत रंग का होता था जिसे आजकल की भाषा में दोगामस्का कहते हैं क्योंकि वह मस्का या मक्खन के समान चिकना या घुटा हुआ होता है। इसके लिए विशेष प्रकार का मसाला बनाया जाता था। महावंश में इसे नवनीत-मत्तिका कहा है। उसी नाम का अनुवाद मस्का है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में उसके लिए 'मषर्क कषमू' अर्थात् मस्के का कस प्रयुक्त हुआ है। यह कस छोटी नहला या नख जैसी कन्नी से घोटा जाता था। चित्र लिखने के लिए भीतों पर इसी मस्का नामक मसाले से अन्तिम भूमिबन्धन किया जाता था।

राजप्रासाद के वर्णन में ८० महाद्वारों का और ६० छोटे द्वारों (चुल्ल द्वार) का उल्लेख है। वे राज प्रासाद के चतुर्दिक प्राकार में लगे थे और प्रायः सभी यन्त्रों की सहायता से खुलते और बन्द किए जाते थे। उन्हें बन्द करने के लिए और खोलने के लिए अलगअलग सिटकनियाँ थीं। प्रासाद की महती कक्ष्या में सौ कमरे थे। वे भी खोलने और बन्द करने के लिए यन्त्रों से युक्त थे (यन्त्र युत्ता)। दीप रखने के लिए सौ आले बने थे। स्वाभाविक है कि इतने बड़े राजप्रासाद में १०१ बड़े कमरे हों, जिन्हें शयनगर्भ यह सार्थक नाम दिया गया है (एकशत शयना गम्भा)। गर्भ शब्द शाला या कोष्ठ का पर्याय था। पश्चिमी भारत के विहारों में जो भिक्षुओं के लिए अपवरक या कोठरियाँ बनी हैं, उन्हें भी गर्भ कहा गया है और उनके मण्डपों को द्विगर्भ, पंचगर्भ या दशगर्भ कहा है। प्रत्येक गर्भ में एक महाशयन या पलंग बिछाया गया था। उस पलंग के ऊपर श्वेत छत्र लगाया गया और इसी के पास

बैठने का आसन रक्खा गया। हरेक पलंग के पास मिट्टी और गच की ढाली हुई एक स्त्री मूर्ति या पुतली खड़ी की गई (मातु-गाम पोत्थक रूपक)। वे अत्यन्त सुन्दर थीं (उत्तम रूपधरा), वे बिल्कुल ऐसी जीती-जागती जान पड़ती थीं कि बिना छुए यह नहीं ज्ञात होता था कि सचमाच की हैं या कृत्रिम (हत्थेन अनमसित्वा न मनुस्स-रूपकं ति न सका ञातुम्)। ये पुतलियाँ हाथों में धूप-दीप आदि लिए हुए थीं। बाद के शयन गृहों में इसी रूप में उनका वर्णन आता है। तब उन्हें अञ्जलि-कारिका संज्ञा दी गई, जैसे बाण के हर्षचरित में। महाउम्मग्ग प्रासाद के मुख्य गर्भ में जो बड़ा आस्थान-मण्डप ज्ञात होता है चतुर चित्रकारों ने बहुत से भित्तिचित्र लिखे थे (कुसल चित्तकारा नानप्पकार चित्तकम्मं करिंसु)।

सौभाग्य से आस्थान-मण्डप के इन चित्रों की सूची यहाँ दी गई है। आरम्भकाल में ही भारतीय चित्रकला का यह बड़ा सटीक वर्णन प्राप्त है, जो इस प्रकार है—सक्कविलास-सिनेरुपरिभण्ड-सागर-महासागर-चतुमहादीप-हिमवन्त-अनोतत्त-मनोसिलातल-चन्दसूरिय-चातुम्महाराजिकादि-छकामसग्गादि विभक्तयो, महाउम्मग्ग जातक, ५।४३२।

१—सक्क विलास—सुधर्मा सभा में इन्द्र द्वारा अप्सराओं के नृत्य और नाटय प्रदर्शन रूप में उपभोग। इसका एक दृश्य भरहुत वेदिका पर अंकित है।

२—सिनेरु परिभण्ड—सुमेरु पर्वत के चार तटों या चार दिशाओं में कई प्रकार की शोभाओं से युक्त परिषण्डा या मेधिका दिखाई जाती थी। इनकी कुछ झाँकी पुराणों में है। प्रत्येक दिशा में एक-एक पर्वत, सरोवर, नदी, उद्यान, देवता, द्वीप और महाआजानेय पशु आदि विभिन्न भक्तियों का चित्रण किया जाता था।

३—सागर-महासागर—अर्थात् छोटे-बड़े सरोवर जिनमें नाना प्रकार के पुष्प, पक्षी और जलचर दिखाए जाते थे। पद्मों से भरे हुए हाथियों की क्रीड़ा से युक्त सरोवर इसी के अंग थे।

४—चतुमहाद्वीप—सुमेरु के चार तटों के अभिमुख चार द्वीप, जैसा जैन जीवाभिगमसूत्र में आया है। इनकी बहुमुखी कल्पना एक दूसरे से विभिन्न थी। ये द्वीप इस प्रकार थे—पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में जम्बूद्वीप, पश्चिम में केतुमाल और उत्तर में उत्तरकुरु।

५—हिमवन्त—अर्थात् महाहिमवन्त पर्वत जिसकी एक चोटी का नाम कैलाश था, उसी में मानसरोवर या अनवतप्त का अंकन किया जाता था, जिसके चार मुखों से चार महा नदियाँ चार दिशाओं में बहती थीं।

६—अनवतत्त—बौद्धों का अनवतप्त सरोवर पुराणों का मानसरोवर ही था। यह अति पवित्र-जलों का आधार या स्थान था जिसका वर्णन जैन, बौद्ध और ब्राह्मण साहित्य में आया है। यही ब्रह्मा का ब्राह्म सर कहा गया। सप्तर्षि, देवता और सिद्ध अनवतत्त में स्नान करते हैं एवं बुद्ध ने भी स्नान किया।

७—मनोशिलातल—मनःशिला या मैनसिल का बना हुआ महासिंहासन जो इन्द्रासन भी कहा जाता था। उसी पर राजा की आसंदी रक्खी जाती थी। इसे मानसरोवर के तट पर या आस्थान-मण्डप में रक्खा जाता था।

८—चंदसूर्य—चन्द्र और सूर्य का पुरुष रूप में या अपने रूप में आलेखन एक प्राचीन अभिप्राय था जो शिल्प और चित्रों में अभी तक बनाया जाता है।

९—चातुम्महाराजिक—ये चार दिशाओं के अधिपति लोकपाल देवता थे; जैसे—यक्षों का अधिपति वैश्रवण उत्तर दिशा में, गन्धर्वों का अधिपति धृतराष्ट्र पूर्व दिशा में, कुम्भाण्डों का अधिपति विरुढक दक्षिण दिशा में और नागों का अधिपति विरूपाक्ष पश्चिम दिशा में।

१०—छकामसग्ग—इसके अन्तर्गत छह काम सुखों के लोकों (कामावचरदेवलोक) की कल्पना की जाती थी जिनमें क्रमशः अनेक प्रकार के कामेषु कामसुखल्लिका योग दिखाए जाते थे। इन दस अभिप्रायों को जातक में दिविभत्तिय या दिव्य अलंकरण कहा है। नगर के चारों ओर गहरे पानी की एक खाई (उदक परिखा) थी। १८ हाथ ऊँचा परकोटा था (अट्ठारस हत्थो प्राकारो)। आज तक दुर्गों के परकोटे की यह ऊँचाई चली आती है। प्राकार में यथास्थान बीच-बीच में बने हुए गोपुर और अट्टालक थे। नगर के मध्य में राजप्रासाद और दूसरे भवन थे (राजनिवेशनादीनि, निवेशनादीनि), हस्तिशालाएँ (हत्थिशालादयो) और पुष्करिणियाँ थीं। निर्माण समाप्त होने पर नगर का नाम महाउम्मग्ग नगर (महाउमग्गो नगरं) रखा गया क्योंकि प्रासाद के लिए जो स्थान चुना गया था वह जनता की भीड़-भाड़ (जन उम्मग्गो) के मार्ग से हटा हुआ था। कहा गया है कि तीन सौ बढ़इयों ने (तिन्नि वड्ढकि सतानि) इसके निर्माण में काम किया। गंगाजी के मार्ग से सामान ढोने के लिये ३०० नावें लगी थीं। प्रासादनिर्माण में चार मास का समय लगा। गंगातीर पर श्रेष्ठ प्रासाद बनाया गया।

इस वर्णन में प्राचीन प्रासादीय वास्तु-शिल्प के सभी अंगों का समावेश हुआ है। उसमें तीन कक्ष्याएँ या चौक थे। तृतीय कक्ष्या जो गंगा के तीर पर थी उसमें राजप्रासाद का राजकुल नामक भाग था जिसमें सैकड़ों सुविहित और सुविभक्त गृहशालाएँ थीं। कमरों के खम्भों पर कढ़ी हुई शालभंजिकाओं का उल्लेख रोचक है।

यह भी ध्यानयोग्य है कि पत्थर में शिलाघटित मूर्तियों के प्रयोग से पहले पोत्थक अर्थात् मिट्टी चूने में ढाली हुई मूर्तियों का रिवाज था। उसके भी पूर्व लकड़ी के खम्भों पर लकड़ी की ही पुतलियों के रूप निकाले जाते थे। उन्हें ऋग्वेद में द्रुपद और कनीनका कन्या (ऋ० ४।३२।२३) कहा है। प्रासाद शिल्प का यह आवश्यक अंग था। कालान्तर की चन्द्रशालाओं के खम्भों पर इस प्रकार की शालभंजिका पुतलियों का बहुत उल्लेख आया है।

प्रासाद की दूसरी कक्ष्या में महान गर्भ या आस्थान मंडप था जिसमें कुशल चित्रकारों ने उपरिलिखित १० प्रकार के भित्तिचित्र बनाए थे और उसकी भीतों पर उल्लोकमृत्तिका या नवनीत मृत्तिका का महीन लेप देकर चित्र लिखने के लिए भूमिबन्धन किया गया था। भित्तियाँ और छत दोनों को ही दोगामस्का चढ़ाकर अत्यन्त चिकना और चमकीला बनाया गया था। छत में भाँति-भाँति के कमल के फुल्ले (उल्लोक पदुमानि दस्सेसुं) लिखे गए थे। उल्लोक शब्द उल्लोच का पर्यायवाची है जो छत के भीतरी वितान के लिए प्रयुक्त होता था। छत के भीतरी दर्शन को वितान और बाहरी दर्शन को संवरण कहा गया। आस्थान मण्डप की दूसरी विशेषता फूलों के लटकन (पुप्फदाम) थे। इसी तरह सुगन्धित वस्त्रों को उमेठकर शोभाकारी प्रालम्ब लटकन (गन्धदाम, कालान्तर के पट्टदाम) लगाए गए थे। ये दोनों लक्षण गुप्तकालीन प्रसादों में आते हैं किन्तु ज्ञात होता है कि इनका रिवाज जातक युग से ही शुरू हो गया था।

पहली कक्ष्या में हस्तिशाला या राजा के निजी हाथियों का अवस्थान मण्डप था जो महल के पिछवाड़े बनाई गई थी। क्योंकि राजप्रासाद गंगातट पर था, इसलिए कक्ष्याओं का क्रम-विन्यास उलट गया था और वहीं अश्वशाला या राजवल्लभ तुरंगों की मंदुरा भी थी। इस पहली कक्ष्या के बाहर महल के पिछले भाग में पूरा बाजार था जिसमें अनेक प्रकार की वस्तुएँ बेचने की दूकानें थीं (नाना पक्कारे आपणे ति दस्सियिंसु, महाउम्मग्ग जातक, भाग ६, पृ० ४३१–३३)।

जातकों में और भी कई विमान या प्रासादों का वर्णन है, जैसे रतिवड्ढनपासाद, उप्फक पासाद। निमिजातक में स्तम्भ, कूटागार, किङ्किणी जाल, ध्वज, उद्यान, पोक्खरिणी, द्वारकोट्ठ आदि से युक्त विमान-पंक्ति का उल्लेख है (जातक, छठा भाग, पृ० ११७)। देव-सभा सुधर्मा को भली प्रकार उत्तममापनयुक्त (सुनिमित) कहा गया है। उसमें सुन्दर उकेरी के अठपहल खम्भे लगे हुए थे और प्रासाद में सामने की ओर चित्र-विचित्र कूटागार एवं अट्टालकों से युक्त द्वारकोष्ठक था (चित्रकूट-द्वारकोट्ठक)।

पाली साहित्य में प्रासाद, नगर और नगरद्वारों का अच्छा वर्णन आया है। जैसा श्री कुमार-स्वामी ने लिखा है प्रासाद के कई पर्याय थे—पासाद, निवास, राजभवन, राजगेह, राजनिवेसन, वासघर, अन्तेपुर, विमान। इन सबका आदर्श देवों का सदन दिव्य विमान था। राजा का प्रासाद नगर के मध्य में होता था, जैसा उमग्गप्रासाद था। युवराज के लिए अलग महल बनाया जाता था (युवराजट्ठे पासाद)। उसकी संज्ञा उपस्थान (उपट्ठान) थी और राजप्रासाद के महान् अजिर या भूमि में ही उसे बनाते थे। युवराज हर्ष का महल भी सम्राट प्रभाकरवर्द्धन के राजप्रासाद के समीप था। राजा और रानियों के निजी निवास का स्थान अन्तेपुर कहलाता था। रानियाँ, राजकुमारियाँ और अन्तःपुर की अन्य स्त्रियाँ (अन्तेपुरिका) उसी में रहती थीं। उसकी रक्षा बड़ी (आरक्खथं) सावधानी से की जाती थी।

राजप्रासाद के बाहर चारों ओर एक परकोटा या प्राकार होता था। उसमें एक मुख्य द्वार और कई अन्य द्वार होते थे। बाहरी द्वार या बरोठा (बहिर्द्वारकोष्ठक) महल से कुछ हटा हुआ होता था और वही पहली कक्ष्या का मुख्य प्रवेशद्वार था। कभी-कभी अतिथियों का स्वागत यहीं पर किया जाता था। कालान्तर के साहित्य में इसे बहिर्द्वारशाला या अलिन्द भी कहा गया है। इसमें कुछ चित्र और अलंकरण भी बनाए जाते थे। दिव्यावदान में लिखा है कि एक द्वारकोष्ठक की छत में भवचक्र का चित्र लिखा गया था। अजन्ता गुफा की छत में सचमुच भवचक्र का आलेखन पाया गया है।

इस प्रवेशद्वार या द्वारशाला में प्रविष्ट होकर प्रथम कक्ष्या में पहुँचते थे। उसे राजांगण भी कहा जाता था। प्रथम कक्ष्या या राजांगण को पार करके दूसरी कक्ष्या में सभा या आस्थान मण्डप बनाया जाता था जिसे यहाँ विनिश्चयायतन (विनिच्छायतन) कहा गया है।

प्रासाद का निर्माण पुख्ता नींव (वत्थु=वास्तु) पर किया जाता था। इस सम्बन्ध में कुछ वास्तु के अंग जान लेने योग्य हैं, जैसे स्तम्भ, तुला (जो खम्भों पर टिकी हुई होती थी और जिसे भारतुला या भिट्ट भी कहते थे), संघाट (पशु और पुरुषाकृति से युक्त स्तम्भशीर्षक यथा, हयसंघाट, गजसंघाट आदि) जैसे कार्ले, कन्हेरी की गुफाओं के खम्भों पर बने हैं, भित्तिपाद (भित्ति के नीचे की पट्टी जिसे अब इजारा या dado कहते हैं), कूट (ऊपर उभरी हुई स्तूपिकायुक्त छत), गोपानसी (धरन जिनके सिरे बैल की नाक की तरह दिखाई पड़ते थे), गवाक्षाकृति अलंकरण (जिनके ऊपर भीतरी धन्नियों के सिरे टिकाए जाते थे), पक्खे या दीवारों का परस्पर डाढ़ा या संयोग, और सुखावटी (मुखपट्टिका)।

गृह या प्रासादशिल्प का एक प्रधान अंग स्तम्भ थे। वैदिक सहस्रस्थूण को पाली में सहस्तम्भ और शतस्थूण या शतभुजी को बहुतथम्भक कहा गया है (जातक ५, पृ० १६९, जातक ६, पृ० १७३, जातक ४, पृ० १५३)।

प्रासादों में एक या उससे अधिक खण्ड या तल होते थे, जैसे एकभूमिक, द्विभूमिक, त्रिभूमिक, ···नवभूमिक, अर्थात् १ से ९ तल्लों तक के घर। प्रायः त्रिभूमिक प्रासाद बनता था। उसी की अनुकृति पर मन्दिरों के शिखर त्रिभूमिक बनाए जाने लगे।

भूमि के ऊपर बनाया हुआ फर्श महातल (जातक १, पृ० ६२) या वरतल (जातक १।६०) कहा जाता था। पहला तल्ला (उपरितल) और सबसे ऊपर का आकाशतल कहा जाता था। इनके अतिरिक्त तीन शब्द और मिलते हैं, आदितल (या निचला तल्ला), अर्धतल (बीच का तल्ला) एवं त्रितल (तीसरा तल्ला)। राजप्रासाद के सबसे नीचे की मंजिल हेट्ठिमतल कहलाती थी, उसी का फर्श आदितल था। हर एक मंजिल में उकेरी छतों के कमरे कूटागार कहलाते थे। जालीदार खिड़कियों से युक्त उन्हें सीहपंजर कहा जाता था। ऊपरी तल्ले में स्त्रियों के कमरों का नाम हर्म्य था।

महलों के वास्तु-विन्यास की मुख्य विशेषता कक्ष्याएँ या चौक थे। शुरू में तीन कक्ष्याएँ या चौक रक्खे जाते थे। पहली कक्ष्या में आरम्भ में द्वारकोष्ठक और तब फिर खुला हुआ अजिर या प्राङ्गण होता था। उसमें हाथी-घोड़ों के मण्डप और सैनिकों के लिए कोठरियाँ भी बनाई जाती थीं। दूसरी कक्ष्या की महती विशेपता सभा या आस्थान मण्डप था जिसे अनेक स्तम्भों पर टिकाया जाता था। यह चैत्य घरों के भीतरी मण्डपों के समकक्ष था। यह राजा के लिए दरबार-ए-आम के काम में आता था। अतः इस भाग को आस्थान मण्डप भी कहा जाता था। इसके सामने बहुत सी सीढ़ियों का महासोपान (जातक ६, पृ० ४२८) बनाया जाता था। राजा-रानी महल के ऊपरी तल्ले में रहते थे अतएव धवलगृह के दो भाग बनाए जाते थे। एक हेट्ठ प्रासाद, दूसरा उपरि प्रासाद। नीचे का हिस्सा चतुःशाल भी कहलाता था। इसके बीच में एक छतदार मण्डप और चारों ओर शालाएँ या कमरे होते थे। जिसे चतुःशाल कहते थे वही वास्तु-रचना और निवास-प्रबन्ध आज तक चला आया है। राजारानियों के निजी निवास के कमरे हमेशा ऊपरी खण्ड में बनाए जाते थे। सभा मण्डप के सामने और आसपास के मैदान में एवं आस्थानमण्डप एवं धवलगृह के बीच के भाग में भवनोद्यान या मन्दिरोद्यान बनाया जाता था। उसी में महानस या रसोई, आहार मण्डप, स्नानागार, वापी, पुष्करिणी, देवघर, व्यायामभूमि आदि का निर्माण भी किया जाता था। कुट्टिम या फर्श पर ईंटें बिछाई जाती थीं या उसे चूने से पीटकर या पत्थर के चौके लगाकर पक्का किया जाता था। जातकों में हमेशा महल के ऊपरी भाग में जाने और वहाँ से नीचे आने का उल्लेख आता है, इससे सोपान-मार्गों का अस्तित्व सूचित है (जातक, १, पृ० ६१)। इन सीढ़ियों के नीचे का भाग सोपान-पादमूल (जा०, ३ पृ० २१६) और ऊपर का सोपानमत्थक या सोपानसीस (जातक ४, पृ० २६) कहा जाता था। सोपान की सीढ़ियों में लगे हुए लकड़ी के पटरे सोपान-कटिंगर कहे जाते थे। कुछ प्रसादों में तीन सोपान भी होते थे जिनकी सीढ़ियों के दोनों पार्श्वों में छोटे स्तम्भों की उठती हुई वेदिका बनाई जाती थी। इन वेदिकाओं में स्तम्भ, सूची और उष्णीष लगाए जाते थे जैसे स्तूपों की महावेदिकाओं में।

राजा का निजी शयनासन का कमरा श्रीगर्भ (सिरिगब्भ, जातक ४, पृ० १०५) कहा जाता था। राजगृह के पलंग की संज्ञा श्रीशयन थी (जा० ३, पृ० २६४)। जो वस्तुएँ राजा के निजी

उपयोग में आती थीं उनके लिए 'श्री' विशेषण प्रयुक्त होता था। कालान्तर में भी यही प्रथा रही है। कालिदास ने राजा के निजी मण्डप को श्रीवितान कहा है (विक्रमोर्वशीय)। बाण ने राजा की हथिनी को हर्षचरित में श्रीकरेणुका लिखा है।

कूटागार—कूटागार या कूटागारशाला शब्द का अभिप्राय उस मण्डप से था जिसके ऊपर स्तूपिका युक्त ऊँची छत लगाई जाती थी। एक वर्णन में महल के प्रासादकूट का उल्लेख है जिसके ऊपर ७ उदकघट औंधे ढके हुए थे। अन्यत्र एक विमानाकृति राजप्रासाद में बहुत से कूटागारों का वर्णन है (जा० ६, पृ० १२०)। मज्झिमनिकाय (१।२।३) में प्रासाद के निकलते हुए छज्जों या निर्यूहों में ७०० कूटागारों का उल्लेख है। प्रासादों के प्रत्येक भूमि या तल्ले में इस प्रकार के कूटागार या कमरे बनाए जाते थे। ज्ञात होता है कि कूटागार का अभिप्राय वही था जो गर्भ या शाला या कमरे का। प्रायः कूटागार में जालीदार वातायन या सिंहपंजर और वातपान बनाया जाता था। कूटागार को भीतर से बन्द करने के लिए कपाटयुक्त प्रवेशद्वार रहता था। उसकी पुश्त में अर्गल या बेवड़ा पहनाया जाता था। इसे आज भी अर्गला कहते हैं। बाहर की ओर इसमें एक यन्त्र या ताला अटकाने का भी प्रबन्ध रहता था। महल के सबसे उपरले भाग का कूटागार हर्मिकाहर्म्य कहा जाता था। इसी की अनुकृति पर बौद्ध स्तूपों के मास्तक के ऊपरी भाग में हर्मिका बनाई जाती थी।

छत—कूटागार की छत ढोलाकार या त्रिमेधी के आकार की होती थी। इसे लकड़ी की धरनों (गोपानसीयो) पर टिकाया जाता था। खरबुजिया आकार की छत के उठते हुए पिटार को लकड़ी की धरनियों पर टिकाकर उनके बीच में गोल कर्णिका दी जाती थी जैसा गोल पर्णशालाओं की छत में होता है। इससे गूमट के आकार की छत तैयार होती थी। यही कूट गूमट की चोटी होती थी। भरहुत के गोल बोधिघरों में ऐसी ही बुद्बुदाकार छतें बनी हैं। सुदामा गुफा की गोल छत भी ऐसी ही है। दूसरे प्रकार की छत गजपृष्ठाकृति या ढोलाकार होती थी जैसी पश्चिमी भारत के चैत्यघरों में हैं। उनके भी दो प्रकार थे। एक में धरनियों को लम्बाई में समानान्तर लगाकर छत के साथ सटाया जाता था। इन लम्बे दाँव लगी हुई धन्नियों के सामने के सिरे मुखपट्ट के गवाक्ष के ऊपर मण्डलाकार माला के रूप में दिखाई पड़ते थे, जैसे लोमश ऋषि गुफा में। यह प्रकार प्राचीन यज्ञीय सदस् या मण्डपों की छतों का था। ढोलाकार छत का दूसरा प्रकार भारी धरन या वक्र-दारुओं को घोड़े और हाथी की गर्दनों की भाँति आगे-पीछे समान्तर खम्भों पर ठहरा कर छत में अटकाया जाता था जैसा कार्ले और कन्हेरी की गुफाओं में है।

ये तीन प्रकार की छतें बराबर की गुफाओं में और पश्चिमी चैत्यगृहों की गुफाओं में एवं मथुरा के शिल्प तथा भरहुत और अमरावती की उकेरियों में देखी जाती हैं। शनैः शनैः सीधे खम्भे और उनके व्यालतोरणों या घुड़ियों पर टिकी हुई सपाट छतों का चलन हो गया जैसा शुरू के गुप्तकालीन मन्दिरों में है। ऐसी छतों के ऊपरी भाग में खम्भों पर टिके हुए खुले मण्डप बनाना संभव हो गया। बाण द्वारा वर्णित चन्द्रशालाओं में खम्भों और छतों का यही रूप था।

लोमश ऋषि गुफा की गोपानसी छत को टिकाने के लिए आगे और पीछे बड़े खम्भों की आवश्यकता थी जिन्हें शतपथ ब्रा० में स्थूणाराज कहा गया है (श० ब्रा० ३।५।१।१; शांखायन गृह्यसूत्र ३।३।७)। उन खम्भों में भी सबसे बड़े या ऊँचे खम्भे की संज्ञा वर्षिष्ठ स्थूणाराज थी। छतों के ऊपर धुआँ निकालने के छेदों को ढँकने के लिए औंधे घट रक्खे जाते थे। उन्हें धूमनेत्र

कहा जाता था। उन्हीं से स्तूपिकाओं का अलंकरण विकसित हुआ। छप्पर के घरों में छत बाँस-बल्लियों के ठाट पर फूँस छाकर बनाई जाती थी। उसका पंजर वानलट्ठि कहलाता था। इसके ऊपर कोरे बाँसों का जाल, बाँस की खपच्चियों का बिछावन और फूँस-पयार के मुट्ठों की सघन तहें रक्खी जाती थीं। ऐसी छतें धूप और पानी से पूरी तरह बचाव करती थीं और उनमें सुन्दरता के लिए भी स्थान था। दुपलिया छतों (उभयतःछदिषी) में वास्तविक शिल्प की शोभा उत्पन्न हो जाती थी। उन्हें दोनों ओर और बीच में खम्भों पर तानते थे और उनकी ओल्तियाँ सरपत के मुट्ठों से बाँधी जाती थीं। रस्सियों के बहुत से फंदे (बंधनानि) इनमें कसे जाते थे। पलद या पलाल के अतिरिक्त ऐसी छतों में नरिया-खपरे का पटाव भी दिया जाता था जिन्हें गिञ्जक कहते थे। फूँस के ऐसे घरों के लिए गिञ्जिकावसथ शब्द प्रचलित था।

छत के ऊपर सीहपंजर कुछ शिल्प मूर्तियों में स्पष्ट है, जैसे बोधगया के वेदिकास्तम्भों पर (कुमारस्वामी का लेख, इण्डियन पैलेसेस, चित्र ६५)। पंजर का सीधा-साधा अर्थ जालीदार चौकोर पिंजड़ा या झरोखा है जिसमें पालतू बनाए हुए जंगली पशु रक्खे जाते थे। यह शब्द गवाक्षवातायन या झरोखे युक्त कटहरे के लिए प्रयुक्त होता था। महलों में बाहर की ओर निकलते हुए झरोखों में स्त्री-पुरुष बैठकर बाहर के दृश्य देखते थे। मध्यकालीन महलों में इन्हें अम्बारी कहा जाता था। महीन पत्थर की जाली काटकर इन निज्जूह या छज्जों पर परदे लगाए जाते थे। मुगल और राजपूत काल में इनकी सुन्दरता बहुत उत्कृष्ट हो गई।

प्राचीन शिल्प के कितने ही दृश्यों में पाया जाता है कि राजप्रासाद का ऊपरी भाग सामने से कुछ हटा हुआ बनाते थे और यह आगे खुली हुई छत छोटी वेदिका से घिरी रहती थी। इस प्रकार महल के मुख्य भाग और वेदिका के बीच में धूप और हवा के लिए खुली छत की योजना अपने आप हो जाती थी। उस पर पटवितान या कपड़े की छत तानकर लोग उठते-बैठते थे। कभी-कभी इस पर छत डालकर झिलमिलीदार खिड़कियाँ (संसरणकिटिक) या पूरी खुली खिड़कियाँ (उद्घाटन किटिक) लगा दी जाती थीं (चुल्लवग्ग ६।३।५)।

सिंहपंजर, गवाक्ष और वातपान तीन प्रकार के होते थे; अर्थात् शलाका-वातपान, जाल-वातपान और वेदिका-वातपान। ये खिड़कियों के तीन प्रकार थे जिन्हें इच्छानुसार प्रकाश और वायु के लिए खोल और मूँद सकते थे। कभी-कभी उनमें कवाट (जातक २,२७४) या पल्लों को ऐसी युक्ति से लगाते थे कि उन्हें समेटकर ऊपर नीचे उठाया जा सके और तब उन्हें चक्कलिका या बृसी (पाली, बिसी) कहा जाता था (चुल्लवग्ग ६।२।२)। ऐसी खिड़की जो दीवार में ऊँची हो और वह बाहर झाँकने के काम में न आती हो वह उद्धछिद्दक (सं० ऊर्ध्वछिद्रक) वातपान कहलाती थी।

राजप्रासाद, चैत्यघर, बोधिघर और मण्डपों को बनाने की सामग्री यह थी—काष्ठ जो थूनी, खम्भे, धरन, छतों की कड़ी, बरंगे, खिड़की, सोपान, जाली और भीतों की अटालियों के काम आता था। ईंटें कम ही काम में ली जाती थीं और पत्थर का उपयोग और भी कम था, जैसे केवल खम्भों की कुम्भियों के लिए। मथुरा शिल्प में हुविष्क-विहार से पत्थर की कुम्भियों के बहुत से नमूने मिले हैं जिन पर किसी समय लकड़ी की थूनियाँ या खम्भे उठाए गए थे जिनके फँसाने के छेद पत्थर में कटे हैं।

जनपद युग में वास्तु विद्या की उन्नति का भरा-पूरा चित्र ऊपर लिखी हुई सामग्री की साक्षी से प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र और गर्भसूत्र, अर्थात् ऊर्ध्व और अधः, प्रासाद के विविध अंगों का विकास

हुआ। उच्छ्रयण या ऊर्ध्वभाग, कूटागार, सिंहपंजर, ढोलाकार छत, स्तूपिका, सपाट या गोपानसी शैली की छतें प्रासादों के ऊर्ध्वछन्द की विशेषताओं को प्रकट करती हैं। पाली साहित्य में लोक में प्रयुक्त या जनता के कंठ में प्रचलित वास्तु की व्यापक शब्दावली पाई जाती है। जनता के मन में भी ये रूप सुरक्षित रहें होंगे जिनका निर्माण तक्षा, स्थपति और वास्तुविद्या के चतुर आचार्य जानते थे। इनमें से अधिकांश शैलियों के प्रासाद मौर्य और शुंग युग में भी प्रचलित थे। इतना अवश्य हुआ है कि वह युग काष्ठ शिल्प से पाषाण शिल्प का संक्रान्ति काल था।

प्राकार या परकोटा चारों ओर परिखा से परिवेष्टित होता था। खाई पर संक्रम या पुल बनाए जाते थे। शान्ति के समय ये लगे रहते थे और युद्ध के समय खींच लिए जाते थे। परकोटे में चार बड़े द्वार-तोरण होते थे। उनके दोनों पार्श्वों में दो अट्टालक या बुर्ज बनाए जाते थे जिनमें कई मंजिलें (तल) होती थीं। उनमें बहुत से कोठे (कोष्ठक) यात्रियों तथा रक्षक पुरुषों या आयुधधारी सैनिकों के लिए बनाए जाते थे। इसीलिए उसकी संज्ञा द्वारकोष्ठक हुई। यह प्रथा मुगलकाल के शहरी दरवाजों में भी जारी रही। नगर-द्वार के साथ ही प्रायः सत्रशाला भी जुड़ी रहती थी। इसका नाम पुण्यशाला या दानशाला भी था जहाँ यात्रियों और याचकों का भोजन से सत्कार किया जाता था। द्वारकोष्ठक के ही एक भाग में शुल्कशाला होती थी जिसमें शुल्क या चुंगी का अधिकारी शौल्कशालिक बैठता था।

जैन आगमों की साक्षी—जैनों का अर्धमागधी आगम साहित्य भी पाली साहित्य के समय का है। उससे प्राप्त कला और वास्तु की साक्षी पाली साहित्य से प्राप्त साक्षी के समान महत्त्वपूर्ण है और लगभग वैसी ही सूचनाएँ देती है। लकड़ी की निर्माण कला को 'कट्ठकम्म' कहा गया है। महत्त्व का उल्लेख एक ऋषि की काष्ठनिर्मित प्रतिमा का है जो उसके पुत्र द्वारा पूजा के लिए बनवाई गई थी। ऐसे ही गचकारी (पोत्थ) और हाथी दाँत से बनी मूर्तियों का भी वर्णन है।

विमान या प्रासाद का सबसे विशद वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र (रायपसेनिय सुत्त) में सूर्याभ देव के विमान के रूप में आया है। इसके चारों ओर एक परकोटा (पागार) था जिसमें कपिशीर्षक (कविसीसग) या कँगूरे बने थे। चारों ओर द्वार थे जिनकी छत के मँगरे के ऊपर स्तूपिकाएँ (थूभिया) बनी हुई थीं। प्रासाद में सर्वत्र अनेक अलंकरण (भित्तिचित्त) बनाए गए थे, जैसे ईहामृग (पशुओं के काल्पनिक रूप), वृषभ (उसभ), तुरग, यक्ष, नर (कीचक या किंकर), मगर, विहग, व्याल (बालग), किन्नर, हिरन (रुरु), शरभ (सिंह जैसा काल्पनिक वन्य पशु), झब्बू गाय (चमर), कुंजर, वनलता (वनलय), पद्मलता (पउमलय)। स्तम्भों के शीर्षक में विद्याधर युगल (विद्याधर जमल), हयसंघाड़, गजसंघाड़ और इसी भाँति के सहस्रों अलंकरण (रूपकसहस्र कलित) बनाए जाते थे।

द्वारों के कुछ प्रमुख भाग ये थे—निम्म या सामने की पीढ़ी या चौकी, पइट्ठाण (प्रतिष्ठान, अर्थात् खम्भों के निचले भाग), कुट्टिम (फर्श), एलुया (देहली), इन्द्रकील (सिटिकिनी), उत्तरंग (ऊपरी सिरदल), छेडा (द्वारशाखा, पार्श्वस्तम्भ), सूची (द्वार के छोटे पटरे), संधि या जोड़, समुग्गय या दोनों ओर कटी हुई चूलें, अग्गला (किवाड़ों के पीछे के आड़े डंडे या ब्योंडे), अग्गला पासाय (ब्योंडा फँसाने के छेद), आवत्तण पेढिया (किवाड़े लटका कर उन्हें घुमाने के लिए नीचे की छोटी ओखलीनुमा पेंढ़िया)। नगरों के बड़े तोरणों में महाकपाट या भारी पल्ले लगाए जाते थे जिन्हें रात्रि के समय बंद रक्खा जाता था (निरन्तरीय घनकवाड़)। इनके एक भाग में खुलने

वाली छोटी खिड़की अणिद्वार या उत्तरपासग कहलाती थी। आसपास की भित्तियों पर महाकपाटों को गुल्लों के साथ जड़कर उनसे गोमाणसिया नामक शैया या झूलते हुए पलंग या चौकियाँ लटकाई जाती थीं, जिनपर समागत यात्री सुखपूर्वक बैठ सकते थे। द्वारों की चौकटों पर नीचे ललित भाव से कढ़ी हुई शालभंजिका मूर्तियाँ बनाई जाती थीं (लीलट्ठिय शालभंजिय) और उनके ऊपर बहुत भाँति के व्यालरूपक बनाए जाते थे।

शालभंजिका या स्तम्भ-स्त्री-मूर्तियों की संख्या वेदिका के एक चौथाई भाग में ३२ या पूरी वेष्टनी पर सब मिलाकर १२८ तक होती थी। इनके अतिरिक्त और भी वास्तुसंबंधी शब्द आए हैं, जैसे कुड्डा (कुड्या = भीत), वंशग (बड़े खम्भे), आड़ी धरन (पड़ि वंशग), भूमि में गड़े हुए वेदिका के छोटे खम्भे (भोमा), उदयोन्मुखभाग (उस्सेह), उल्लोय (ऊपरी छत या वितान), जालपंजर (जालीदार खिड़की), पक्खे (पार्श्वभित्ति), पक्खबाह (पार्श्वभित्तियों के लिए बाँस-बल्ली), आड़े बाँस, कोरे बासों का ठाट (वंशकिवल्लिय), पट्टिय (परदे), ओहादणी (अवघाटनी), छत के ऊपर बिछे हुए फूँस की तह और चटाई (ओवरि पुंच्छण), छत या आच्छादन (आच्छायण), कूट और स्तूपिका (स्थूभिया) (रायपसेनिसुत्त, ९७; और भी दे०, जगदीश चन्द्रकृत 'जैन आगम साहित्य में जनजीवन', पृ० १८१)।

एक बड़ी नाट्यशाला या प्रेक्षागृह-मण्डप का भी वर्णन आया है। वह अनेक खम्भों पर रचा गया था (अनेक स्तम्भशतसंन्निविष्ट)। उस पर वेदियायुक्त छत थी, तोरणयुक्त द्वार थे और स्तम्भों पर शालभंजिका पुतलियाँ गढ़ी या काढ़ी गई थीं, उसमें ईहामृग, वृषभ, वानर, नर, वनलता, पद्मलता आदि और भी कितने अलंकरण थे। वह सहस्रों प्रकार के रूपों से सुशोभित था (रुवगसहस्सकलित)। प्रेक्षागृह के मध्य में एक विशाल अक्खाडग या मंच था।

नायाधम्मकहा में किसी रानी के शयनकक्ष का वर्णन है। उसमें एक बाह्य अजिर (प्रथम कक्ष्या), एक चमकीला (घट्ट-मट्ठ) आस्थान मण्डप जो ऐसे खम्भों पर खड़ा था जिन पर शाल-भंजिका मूर्तियाँ कढ़ी हुई थी। गवाक्ष वातायन, सोपान के पादमूल में चन्द्रशिला, निज्जूह (निकलते हुए छज्जे) थे और छत के ऊपर चन्द्रशालिका नामक खुला मण्डप बना था। उसके भीतर चित्तकम्म या चित्र बने हुए थे। उसके कुट्टिमतल में मणियाँ जड़ी थीं और छत में उल्लोयचित्रित वितान था जिसमें पद्मलता अर्थात् कमल के फुल्ले और पुरइन बेलें थीं। एक शीतगृह (सियहर = हिमगृह) का भी वर्णन है जो एक चक्रवर्ती राजा के लिए बनाया गया था। उसका उल्लेख अंगविज्जा और निशीथचूर्णी में भी आया है। इसे बाण ने कादम्बरी में हिमगृह कहा है (कादम्बरी, अनुच्छेद २०८, वैद्य संस्करण)। हिमगृह या शीतगृह का वास्तुविन्यास कुषाणयुग में विकसित हो चुका था। इन्हें राजप्रासादों के तीन भेदों में ग्रैष्मक प्रासाद समझना चाहिए जिन्हें मध्यकाल में 'सावनभादों' भी कहते थे।

इस प्रकार जनपद युग में प्रासादवास्तु और नगरवास्तु दोनों की बहुत उन्नति हुई थी। उनके भौतिक अवशेष प्राप्त नहीं हुए क्योंकि उनमें से अधिकांश काष्ठकर्म के नमूने थे। किन्तु यह निश्चित है कि अनेक शिल्पों की परम्परा (सिप्पायतन) अस्तित्व में आ चुकी थी, जैसे, वास्तुविद्या, नगर-मापन, गृहनिर्माण, राजप्रासाद, मार्ग, सभा या आस्थान मण्डप (संस्थागार), दानशाला, गोपुर, अट्टालक, परिखा, संक्रम, काष्ठकर्म, कर्मारशिल्प, शिलातक्षण, स्थूणा, धरन, शीर्षक और कुम्भक,

वातपान और गवाक्ष, महाकपाट, मिट्टी के खिलौने (मृण्मय मूर्तियाँ या पार्थिव), पक्वेष्टका (पक्की ईंट), दन्तकर्म, स्वर्णकार कर्म, उल्लोय मत्तिका, घट्ट-मट्ठ प्रक्रिया द्वारा ओप या प्रभा, जिसके द्वारा तीन प्रकार की चमक पैदा की जाती थी, जैसे सप्रभ, समरीचि, सोद्योत (जीवाभिगम सूत्र)। टीकाकारों के अनुसार पत्थर की खड़भूमि पर माठने की पहली प्रक्रिया घट्ट कहलाती थी। मट्ठ का अर्थ उसी खुरदरी सतह को कुरंड आदि के चूर्ण से चिकना करना था। वस्तुओं या रूपों को और भी अधिक रगड़ कर चमकाने की संज्ञा 'प्रभा' थी। मरीचि का तात्पर्य उस चमकीली सतह से था जिसमें प्रकाश की परछाइँ किरणों के रूप में छिटकने लगे। उद्योत सबसे चमकीली प्रभा के लिए प्रयुक्त शब्द था। इसमें वस्तु से निकलती हुई चमक अपने चारों ओर तेजोमण्डल का वितान करती थी। प्रभास्वर कला की यह पराकाष्ठा थी। उत्तरापथ के ओपदार काले भाण्डों पर (नार्दन ब्लैक पॉलिश्ड वेयर) या अशोक कालीन स्तम्भों पर जैसी बुर्राक चमक है उसके लिए इस समुचित शब्दावली की प्राप्ति से यह सूचित होता है कि यह लोकप्रिय कला थी जिसके भेद जनता में सुविदित थे। उत्तरापथ के भूरे रंग के अनेक भाण्डों पर इस प्रभा की उपलब्धि और परखम यक्ष के कुछ भागों पर भी बची उसकी झलक से सिद्ध होता है कि यह कला मौर्ययुग से भी पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। महाउम्मग्ग जातक में छत और खम्भों का सचमुच जैसा वर्णन मिलता है वह इसी ओर संकेत करता है।

चित्र कला का भी बहुत विकास हुआ था जैसा महाउम्मग प्रासाद में लिखे दस अभिप्रायों की सूची से ज्ञात होता है। जैन साहित्य में वर्णित अनेक प्रकार की मूर्तियाँ और अलंकरण भरहुत और साँची के स्तूपों के वेदिका-स्तम्भ, सूची और उष्णीशों पर उत्कीर्ण अलंकरणों के समान हैं जिनसे पूर्वकालीन काष्ठ शिल्प की साक्षी स्पष्ट प्राप्त होती है।

(आ) आहत मुद्राओं पर रूप या चिह्न

चाँदी की प्राचीन आहत मुद्राएँ तक्षशिला से मैसूर तक मिली हैं। उनकी संख्या ५०,००० से कम न होगी। उन पर लगभग ५०० चिह्न बने हैं जिन्हें प्राचीन काल में 'रूप' कहते थे। चाँदी के टुकड़ों पर ठप्पों की सहायता से ये रूप उत्पन्न किए जाते थे। यह प्रथा उस युग की है जब प्रतीक चिह्नों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था और मुद्राओं के लिए चाँदी, गहनों के लिए सोने और मनकों के लिए नगों का उपयोग हो रहा था। चाँदी को पीटकर बढ़ाई हुई पट्टियों से या कतरनों को काटकर छोटी मुद्राएँ बनाई जाती थीं। फिर उनके कोने कतर कर उनका वजन बराबर किया जाता था। अन्त में उनके चित और पट दाँव ठप्पों से चिह्न उत्पादित किए जाते थे। यह प्रक्रिया अपने आप में कला का रूप ले चुकी थी क्योंकि मुद्राओं पर चिह्नित रूप देखने में सुन्दर हैं।

लगभग ८०० ई० पू० तक इनका चलन रहा। पाली साहित्य के अनुसार लगभग छठी शती ई० पू० में राजा बिम्बिसार के समय उसकी राजगृह नामक राजधानी में २० माषे की तौल का कार्षापण (विंशतिक) चालू था। इनसे भी पूर्व की मुद्राएँ जनपद युग में प्रचलित थी। मगध जनपद के अतिरिक्त कोसल और शूरसेन जनपद में भी आहत मुद्राओं का चलन था जो उन स्थानों से प्राप्त हुई हैं। आरंभ में एक मुद्रा की तौल २० माषे की थी तब उसका नाम विंशतिक था। पीछे वह तौल घटकर १६ माषे या ३२ रत्ती रह गई। इसे ही कार्षापण नाम दिया गया। शुरू के कुछ सिक्के ३० माशे या ६०

रत्ती के थे जिन्हें त्रिंशतिक कहते थे। कुछ पुराने त्रिंशतिक सिक्के कटोरीनुमा या बीच में बैठे हुए हैं और उनके एक ओर रूपों के ठप्पे लगे हैं। लगभग आठवीं-सातवीं शती पूर्व में वे मुद्राएँ चालू थीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कार्षापण शब्द नहीं आता जब कि पाली साहित्य और पाणिनि में आता है। ज्ञात होता है कि ८ वीं शती ई० पू० कार्षापण शब्द प्रचलित हुआ।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी के कई सूत्रों में कार्षापण मुद्राओं का उल्लेख किया है जो कई प्रकार की थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में केवल आहत मुद्राओं का ही वर्णन है जिससे उसके तिथिक्रम पर भी प्रकाश पड़ता है। आहत मुद्रा के चाँदी और तांबे में कई फुटकर या खरीज के सिक्के थे, जैसे $\frac{1}{1}$ (कार्षापण), $\frac{1}{2}$ (अर्ध), $\frac{1}{4}$ (पाद), $\frac{1}{8}$ (अष्टमांश), $\frac{1}{16}$ (माषक) आदि।

आहत मुद्राओं के विकास का दूसरा युग नन्दसम्राज्य का काल था (५ वीं–४ थी शती ई० पू०)। उस समय ३२ रत्ती की तौल और सामने की ओर पाँच रूपों के ठप्पे मानक हो चुके थे। मुद्राओं के पटदाँव या पीछे की ओर कई प्रकार के रूप छोटे ठप्पों से अंकित किए जाते थे। इन चिह्नों का उद्देश्य उनके चलाने का स्थान, राजवंश, राजा, और टकसाल आदि का संकेत बताना था। आहत मुद्राओं के इस मध्य युग की मुद्राएँ और उनके रूप साफ-सुथरे और स्पष्ट तथा सुन्दर हैं। उनकी रेखाओं में संकर नहीं है। चाँदी के टुकड़े भी चौड़े हैं जिसके कारण रूपों के रेखाचित्र स्पष्ट और अलग-अलग हैं।

इन मुद्राओं का तीसरा युग मौर्य काल में आया जब चाँदी के थानों में से काटे हुए और चाँदी को गलाकर ढाले हुए सिक्के मोटे, नाटे और किनारों पर फटे हुए हो गए। ज्ञात होता है कि पिघली हुई चाँदी को छोटी गोलियों के रूप में चुआ कर और उन्हें पीटकर बढ़ा लेते थे। इन पर ठोके हुए चिह्नों का एक दूसरे के ऊपर गड़बड़झाला बन गया। उनकी पहचान के लिए अनुमान लगाना पड़ता है और पशुओं की आकृति का एक भाग ही देखने में आता है। इसलिए प्रायः उनकी पहचान में सावधानी बरतना आवश्यक हो जाता है।

इन रूपों की संख्या लगभग ५०० है। इनके सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये उस युग के हैं जब जनता का प्रतीकों में पूरा विश्वास था। इनमें शिरोमणि स्थान सूर्य का है। सभी आहत मुद्राओं पर सूर्य का चिह्न पाया जाता है।

सूर्य का अंकन रश्मियों से युक्त मण्डल के रूप में है, जिसके भीतर एक गोल बिन्दी दिखाई जाती है। रश्मियाँ पतली और मोटी, सीधी और झुकी हुई, कई प्रकार की हैं। दूसरा स्थान षड्भुजी या छह बाहों वाले एक चिह्न का है, जिसे प्राचीन शब्दों में षडर (हिन्दी छैरिया) कहा जाता है। छह भुजाओं के सिरे पर लम्बोतरे गोले, त्रिशूल, नन्दिपद, बाणाग्र, त्रिभुज, हृदय, डमरू इत्यादि के चिह्न या टोरे हैं।

चिह्नों का दूसरा वर्ग चार महा आजानेय पशुओं का है जो सारनाथ के अशोक धम्म स्तम्भ पर अंकित हैं। चतुष्पद पंक्ति का प्रतीक बौद्ध धर्म के उदय से बहुत पहले ही चल गया था और पवित्र माना जाने लगा। सिन्धु सभ्यता और ऋग्वेद में पशुओं का अस्तित्व मिलता है। वे पशु हाथी, सिंह वृषभ और कहीं-कहीं तुरग हैं। एक चिह्न मेरु पर्वत है जिसकी चोटी पर अर्द्ध चन्द्र है। प्रायः इसे मौर्य राजाओं का अङ्क मानते हैं।

दूसरे कुछ रूप ये हैं—चक्र, वेदिका से घिरा हुआ चैत्यवृक्ष जिस पर पक्षियों के घोंसले हैं या नहीं भी हैं, मछलियों से भरा हुआ सरोवर, शशक, मोर, मेंढक, कछुआ, धनुष-बाण, नन्दिपद, स्वस्तिक गर्भित चौकोरे, त्रिभुज, सुषुम्ना, वेदिका से आवेष्टित या वेदिका के कटहरे में लगा हुआ चक्रध्वज, शलाका, त्रिफण, पुष्प, गुबरीला, चौखटे में अंकित तीन मानुषाकृति या त्रिपुरुष (जिसमें दो नर और एक स्त्री हैं; इन्हें उत्तर कालीन राम, लक्ष्मण, सीता कहा जा सकता है)। एक महत्त्व-पूर्ण चिह्न वह है जिसमें एक स्तम्भ के सिरे पर एक त्रिभुज आकृति बनाई गई जिसके कई भेद हैं। इसका संबंध इन्द्रध्वज या वैजयन्ती से ज्ञात होता है। ये सब चिह्न पूर्व और नूतन परम्पराओं से जुड़े हैं—इनमें एक ओर वैदिक प्रतीक हैं, दूसरी ओर ज्यामितीय रेखाओं से बने हुए, पशु-पक्षी और फूल पत्तियों के अनेक अलंकरण। इनका कुछ वर्णन पहले आ चुका है (पृ० ६२-३)। दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती तक गणसंघ के जातीय सिक्कों और मुहरों पर के बहुत चिह्न कुछ वैसे ही और कुछ विकसित रूप में पाए गए हैं। इन पर चिह्नों का विधान करने वाले व्यक्तियों को या टंक-शालापति पुरुषों को चिह्नों की परम्परा और अर्थों का ज्ञान था। तक्षशिला से उज्जैन और मध्यमिका-नगरी से बिहार तक के क्षेत्र में इन चिह्नों का प्रचलन था। जातीय मुद्राओं के युग में पुराने चिह्नों के साथ-साथ कुछ नए भी जोड़े गए, जैसे स्वस्तिक और दो सटे हुए नाग, स्वस्तिक की चार भुजाओं के छोर पर चार वृत्त या गोलक जिन में नन्हें स्वस्तिकों के चिह्न भी बने रहते हैं। ८०० वर्षों की इस लम्बी अवधि के सिक्कों, मुहरों, बर्तन, भांडों और पाषाण पर अंकित चिह्न भारतीय कला की ही थाती हैं और उसी की व्याख्या में सहायक अक्षरमाला की भाँति हैं।

(इ) भारत और जम्बूद्वीप की कला

जम्बूद्वीप के स्वरूप में भौगोलिक पृष्ठभूमि—भारतीय कला का विकास कुछ औरों से अलग होकर नहीं रहा। वह जम्बूद्वीप की व्यापक कला का एक अंग थी। अतः दोनों में रूप, आकृति, दृश्यों और कथानकों का साम्य पाया जाता है। पुराणों में चीन से कॉस्पियन समुद्र और भारत से साइबेरिया तक के महाप्रदेश को जम्बूद्वीप की भौगोलिक संज्ञा दी गई है। चतुर्द्वीपी भूगोल की आरंभिक कल्पना में पृथिवी को चतुर्दल कमल या चार पंखड़ियों वाला कमल (चतुर्दल भूपद्म) माना गया। इसके मध्य में कर्णिका या बीज रूप में सुमेरु पर्वत की स्थिति थी, जहाँ विश्व की अनेक वस्तुओं और भावों के बीजों का जन्म होता है। अतः उसे विश्वबीजमातृका भी कहते हैं। मेरु के पूर्व में भद्राश्व दक्षिण में भारत, पश्चिम में केतुमाल और उत्तर दिशा में उत्तरकुरु द्वीप था। कालान्तर में चतुर्द्वीपी भूगोल के स्थान पर सप्तद्वीपी भूगोल की कल्पना का विकास हुआ जिसमें समस्त एशिया के भारी भूखण्ड को जम्बूद्वीप कहा जाने लगा। इस अध्याय में जम्बूद्वीप नाम का प्रयोग इसी विस्तृत प्रदेश के लिए किया गया है, जहाँ कला और संस्कृति की परस्परान्वित तरंगें उठ रही थीं।

भद्राश्व का अर्थ है कल्याणकारी अश्व, यह उस श्वेत तुरग का स्मरण दिलाता है जो चीन देश में पूजनीय या पुण्य चिह्न माना गया। चीन महादेश की अनेक सभ्य जातियाँ भद्राश्व या श्वेत अश्व को अपना माङ्गलिक चिह्न मानती थीं। वहाँ की कला में यह चिह्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए चीन का नाम पुराणों में भद्राश्व द्वीप हो गया। बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के दिव्य अश्व को बलाहक कहा गया। बोधिसत्त्व भी एक बार बलहस्स (वल्लभाश्व) की योनि में जन्मे थे और उन्होंने उस

रूप में मृत्यु के अन्धकूप में पड़े हुए ५०० बानरों का उद्धार किया था। यह कथा बलहस्स जातक में दी हुई है और इस जातक का सार्थक चित्रण भी मथुरा की एक वेदिका के स्तम्भ पर हुआ है।

दक्षिण की ओर का द्वीप भारत हैमवत भी कहा जाता था। सुमेरु या पामीर पठार से कॉस्पीयन सागर तक के महाप्रदेश की संज्ञा केतुमाल थी। यह वंक्षु या चक्षु नदी का प्रदेश था (Oxus) जिसे पुराणों में ईक्षुवर्धनिका भी कहा है। यहीं शक और ईरानी जातियों का निवास था और इसी प्रदेश में अहुरमज्द देव की मान्यता थी। केतुओं की माला का तात्पर्य संभवतः अहुरमज्द की प्रभा (ह्वर्ं या फर्ं) से था जिसे महाभारत में ठीक ही ध्वजवती कन्या कहा गया है जो मित्र या सूर्य के शासन या आदेश से आकाश में स्थित हुई (अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः। आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ महाभारत ५।१०८।१३)। अहुरमज्द का ही गुप्तकालीन नाम हरिमेधस् भी था।

उत्तरकुरु उस महाद्वीप की संज्ञा थी जो पामीर पठार से साइबेरिया के उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ था। इसी के पूर्वी भाग में चन्द्रद्वीप था जिसे शक लोग अपना अभिजन या पूर्वजों की निवास-भूमि मानते थे।

जम्बूद्वीप की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—ऊपर लिखे हुए भौगोलिक वर्णन से स्पष्ट विदित होता है कि भारत की जम्बूद्वीप संज्ञक इस महावृत्त के केन्द्र में स्थिति थी। इसीलिए यहाँ चारों ओर के प्रभाव संक्रमित हुए। परिधि की ओर से या चतुरन्त दिक् सीमाओं से व्यापार और संस्कृति की अनवरत धाराएँ भारत की ओर आईं और भारत से उस ओर अपनी चार दिशाओं में प्रवाहित हुईं। ५०० शकटों के साथ चलने वाले सार्थवाह दिग्दिगन्त को इन यात्राओं पर निकलते थे और तभी उनके भारी माल की खपत होती थी। इसके लिए भारत और मध्यएशिया के बीच व्यापारिक मार्गों का जाल बिछा हुआ था। उनकी एक धमनी उत्तरपथ के नाम से प्रसिद्ध थी। पाणिनि ने इस मार्ग से आने वाले व्यापारी माल को उत्तरपथिक कहा है। एक दूसरा ऐसा ही महत्त्वपूर्ण मार्ग समुद्र तट की राजधानी द्वारका को वंक्षु नदी के उपरले प्रदेश में स्थित कम्बोज से मिलाता था। इसी द्वागवती-कम्बोज मार्ग पर सिन्धु सभ्यता की राजधानी मोहनजोदड़ो नगरी थी जिसके पेट में चहु दड़ो, लोहुमजोदड़ो आदि और शाखानगर थे। कहना चाहिए कि गंगा और सिंधु, कुभा और वंक्षु इन चार नदियों के मिलान से इन चार मार्गों का जाल बुना गया था। इन प्रदेशों में कला और शिल्पों की समृद्धि का विकास हुआ जो व्यापार का पोषक था। मध्यदेश की कला, सिन्धुघाटी की कला, गन्धार कला और वाह्लीक की कला, इन चार चमसरूपी महापात्रों में फूली फली। गन्धार की बढ़ती हुई बाँहें ईरान तक चली गई थीं और सिन्धु सभ्यता का नाता मेसोपोटामिया और पश्चिमी सभ्यता के साथ हम देख चुके हैं। इस क्षेत्र में साइबेरिया की खानों और नदियों से उत्पन्न पैपीलिक सुवर्ण की राशियाँ मध्यएशिया के व्यापारिक केन्द्र को पारकर एक ओर सिन्ध को और दूसरी ओर गंगा और जमुना के मध्यदेश में पहुँचती थीं। चीनांशुक या चीनी रेशम और मध्यएशिया की खानों से उत्पन्न मसार या यशब भारतीय व्यापारियों के हाथ में पड़ते थे। चीन के लम्बे मार्ग को जो दुर्फंकी गति से मध्यएशिया की मरुभूमि को पार करता था प्राचीन परिभाषा में कौषेय मार्ग की संज्ञा दी गई। वस्तुतः चीन ने अपने रेशमी माल से मध्यएशिया के पड़ावों को और भारतीय बाजारों को पाट दिया था। गुप्तयुग में तो चीनी रेशम चीनांशुक के नाम से घर-घर में पहुँच गया था। भारत की ओर से सार्थवाह बावेरु में और माल के साथ यहाँ के सुन्दर मोर ले जाते। वे मिस्र में यहाँ के सूती माल

पहुँचाते और पश्चिमी एशिया में सागौन के लट्ठे भेजते थे। इस व्यापारिक ताने-बाने के साथ कला का सुनहला वस्त्र भी धीरे-धीरे बुन गया, यही कारण है कि पश्चिमी एशिया, मिस्र, ईरान तथा भारत की कलाओं में अनेक समान अलंकरण और अभिप्राय पाए जाते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है भारत और पश्चिमी एशिया के पारस्परिक सम्बन्धों की कहानी सिन्धु सभ्यता के तिथिक्रम का अंग है। कुछ सैन्धव मुद्राओं की मेसोपोटामियाँ में उपलब्धि प्राक् सारगोनिक युगों के स्तरों में (लगभग २३५० ई० पू०) मानी गई है और उनके आधार पर विद्वान् हरोजनी के शब्दों में 'यह सूचित होता है कि सिन्धु देश और पश्चिमी एशिया के बीच गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था'। इस उभयनिष्ठ संपर्क का दूसरा प्रमाण बावेरु के कस्सि राजाओं के आर्यभाषागत नाम हैं (लगभग १७४६ ई० पू० से ११८० ई० पू० तक)। कप्पडोसिया के बोगाज़कुई स्थान में प्राप्त मितन्नी जाति के लेख या सन्धिपत्र में (लगभग १४०० ई० पू०) आए हुए इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्य इन वैदिक देवताओं के नाम भी इस संपर्क की साक्षी देते हैं। बोगाज़ कुई से ही मित्तनी आचार्य किकुलि का बनाया हुआ अश्वविद्या या शालिहोत्र का ग्रन्थ मिला हैं जिसमें अनेक संस्कृत शब्द हैं, यथा एकावर्तन, द्व्यावर्तन, त्र्यावर्तन इत्यादि।

प्राचीन युग की कला के रूप—ऊपर कहे हुए आरम्भयुगीन सम्पर्कों का प्रभाव कला के रूपों में पाया जाता है जो पश्चिमी एशिया से भारत तक फैले हुए थे और जिनकी कल्पना में दोनों संस्कृतियों ने भाग लिया। पूर्व और पश्चिम के सुखद और स्वेच्छार्जित सहयोग से इन अभिप्रायों का जन्म हुआ। इसी कला के विशाल चित्रपट को हमने जम्बूद्वीप कला की संज्ञा दी है क्योंकि इन्हीं रूपों में जम्बूद्वीप के चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के संपर्कों का पट बुना हुआ है। प्राचीन भारतीय साक्षी के अनुसार इस पट का वितान भद्राश्व से केतुमाल तक और उत्तरकुरु से जहाँ समुद्र तट पर शाण्डिली देवी का स्थान था भारत में कन्या कुमारी तक जनता के मन में विचारों के सूक्ष्म ताने-बाने के साथ फैला हुआ था। उत्तरी समुद्र की शाण्डिली देवी, पश्चिम की ध्वजवती कन्या और दक्षिण की कुमारी कन्या—इन अभिप्रायों के रूप में इस तथ्य की अभिव्यञ्जना मन को मुग्ध कर लेती है।

प्राचीन साहित्य में कई दिक् वर्णन आए हैं, जैसे रामायण में सुग्रीव का कहा हुआ चतुरन्त दिग् वर्णन और महाभारत आरण्यक पर्व में गालव मुनि से कहा हुआ गरुड़ का दिग् वर्णन। इसके अतिरिक्त चतुर्द्वीपी और सप्तद्वीपी भूगोल के अन्तर्गत द्वीपों के वर्णन तो हैं ही जिन पर अनेक विदेशी नामों की छाप है। कला के क्षेत्र में कुछ जम्बूद्वीपीय रूपों के नाम ये हैं जिनका भारतीय साहित्य में उल्लेख है—

सपक्ष सिंह, (वाल्मीकि० किष्किंधा ४२।१०), उभयतः शीर्ष्णी सुपर्णी (श० ब्रा० ३।२।४।१६, जिसके दो मस्तक सुप्राची, सुप्रतीची अर्थात् पूर्व पश्चिम दिशाओं की ओर है। यही द्विमूर्धाशकुनि अभिप्राय था मत्स्य ६।१।१७।), पक्षी महिष एवं सुपर्ण महिष (अथर्व० १३।२।३२-३३), दो सिर और चार सीगों वाला भैंसा (ऋ० ४।५२।२), एकशीर्षाणः दशवत्साः (एक सिर और दस शरीरों वाले वत्स, अथर्व० १३।४।६)। उसी प्रकार पश्चिम भारत के मध्यकालीन मन्दिर की छतों में पञ्चशरीरी पशुओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। और भी अनेक मृगरूप, अण्डजरूप (पशु पक्षियों के मुख वाले), ईहामृग (कल्पनाजन्य पशु), भाँति-भाँति के विकट रूप जिनके एक या अधिक मस्तक (बहुमुख, बहुशीर्ष, अनेकवक्त्रक) बनाए जाते थे। ये जम्बूद्वीपीय कला की पृष्ठभूमि से उतारे गए रूप थे। इनके सामानान्तर या

मिलते-जुलते बहुत से रूप सुमेर, खत्ती, असीरिया, मेसोपोटामियाँ, क्रीट, ट्राप, लीसिया, फिनीसिया, हखामनी और शक संस्कृतियों आदि की कलाओं में प्राप्त होते हैं।

प्राचीन भारतीय कला में भी इस प्रकार के ईहामृग या बहुविध आकृति वाले रूपों की कल्पना की गई, जैसे सिंहव्याल, गजव्याल, अश्वव्याल, नरव्याल, वृषव्याल, मेषव्याल, शुकव्याल, महिषव्याल आदि। इनमें भिन्न मस्तक का भिन्न शरीर से जोड़ बैठाया जाता था। मध्यकालीन शिल्प ग्रन्थों में उनकी संख्या १६ कही गई है। प्रत्येक को १६ मुद्राओं में अंकित किया जाता था, इस प्रकार व्यालरूपों की संख्या २५६ तक पहुँचती थी (अपराजितपृच्छा २३३।४१६, इति षोडश व्यालानि उक्तानि मुखभेदतः)। चतुर शिल्पी और दन्त्य लेखक इनमें अपनी प्रतिभा से और चार चाँद लगाते थे। प्राचीन कपिशा (बेग्राम) से प्राप्त दन्त फलकों पर इन व्यालों का सटीक चित्रण हुआ है जो कुषाणकालीन गन्धार कला में लोकप्रिय था। भरहुत, साँची और मथुरा की कला में ईहामृग पशुओं की सजावट है। विशेषतः शक लोगों को ऐसे रूपों में अधिक रुचि थी। इसी कारण मथुरा में लम्बे खिंचे हुए टेढ़े-मेढ़े शरीरों वाले पशुओं का बहुतायत से चित्रण पाया जाता है। इन्हीं के सगोती कुछ अलंकरणों को वृषभमच्छ, हरितमच्छ, जलेभ, अश्वमच्छ, नरमच्छ, मगरमच्छ रूप में मथुरा की वेदिका के फुल्लों में दिखाया गया है। भारतीय पुराणों की साक्षी के अनुसार ये सब रुद्र के प्रमथ या गण हैं जिनके मुख और अंग अनेक रूपों में विकृत हैं। प्रत्येक मनुष्य के चेहरे पर नराकृति होती है किन्तु उसके पीछे अपने अपने स्वभाव के अनुसार पशु पक्षियों के छिपे हुए चेहरे समझना चाहिए। जिसका जैसा स्वभाव, उसका वैसा मुखड़ा यही इन भेदों का सूत्र है। इन्हें ईहामृग कहा गया। इस कल्पना का मूल ऋग्वेद में पाया जाता है।

वहाँ उलूक, शुशुलूक (सुग्गा), श्वा, कोक, सुपर्ण, गृद्ध इन छह प्रकार की चाल या स्वभावों का उल्लेख है। ये ही काम, क्रोध आदि के छह विकार हैं जो मनुष्यों में मुखविकृति उत्पन्न करते हैं (ऋ० ७।१०४।२२)। वेद में इन्हें इन्द्र के वशवर्ती कहा है, जैसे पुराणों में गण रुद्र के वश में हैं। पुराणों में इन गणों को असुर (ब्र० पु० २१३।९३,९९), दानव (मत्स्य० १६३।१-४, हरिवंश ३।४५) और निशाचरगण कहा है।

इन प्राचीन ईहामृगों के कुछ रूप ये हैं—

(१) सपक्षसिंह—वाल्मीकि रामायण में इन्हें सिन्धुसागरसंगम के समीप पर्वत पर स्थित कहा गया है। यह पश्चिम दिशा का अन्तिम छोर था। संभवतः लेखक के मन में ईरान और मेसो-पोटामिया के सपक्षसिंहों का परिचय था जहाँ इस प्रकार के उड़ाकू सिंह महाकायरूप में बनाए जाते थे जिनकी कहानियाँ नाविक और सायांत्रिक सार्थवाह अपने साथ लाते थे। साँची के पश्चिमी तोरण, मथुरा एवं अमरावती के स्तूपों पर इस प्रकार के सपक्षसिंह अंकित हैं। अमरावती में उनके

पुरुषाकृति मस्तकों पर पग्गड़ बँधे हैं और दाढ़ी भी दिखाई गई है (चित्र ४५–४८ क्रमशः साँची, अमरावती, साँची तथा मथुरा की कला से गृहीत)।
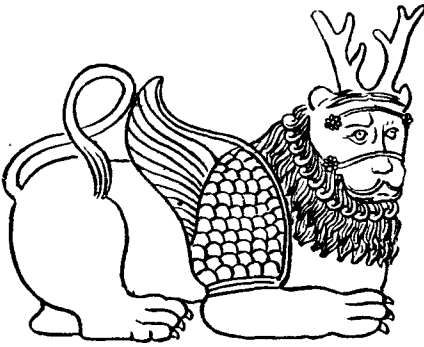
चित्र ४५ सपक्षसिंह चित्र ४६
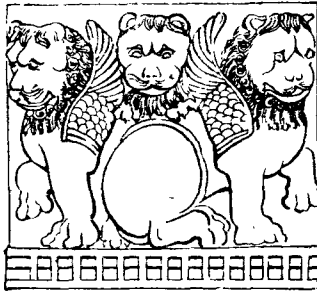
चित्र ४७

चित्र ४८

(२) **श्येन व्याल (अंग्रेजी ग्रिफिन)**—इसका मस्तक श्येन का और शरीर सिंह का है (दे० चित्र ४९–५०)।

श्येनव्याल

चित्र ४९ भरहुत शिल्प
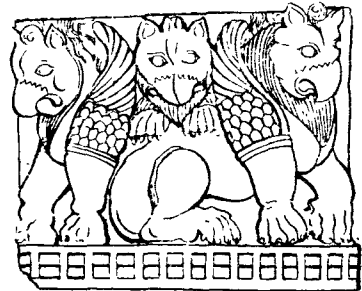
चित्र ५० साँची तोरण शिल्प

(३) महोरग या समुद्र व्याल (अंग्रेजी ट्राइटन)—इसके शरीर का पूर्वार्ध नराकृति और अवरार्ध मत्स्याकृति या सर्पाकृति होता था जो दो भागों में बटा रहता था। मथुरा कला में इसके बहुत नमूने हैं। इसे जैन साहित्य में महोरग कहा गया है (दे० चित्र ५१–५४)।
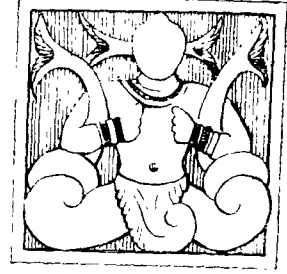
चित्र ५१ यूनानी कला से — महोरग — चित्र ५२ मथुरा
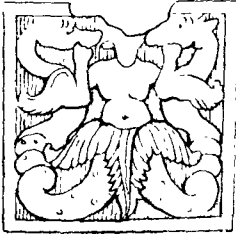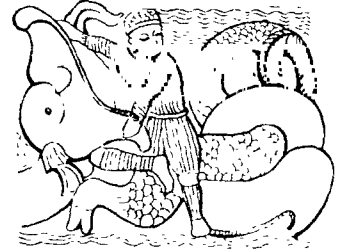
चित्र ५३ मथुरा — चित्र ५४ मथुरा

(४) किन्नर—इसका मस्तक घोड़े और शरीर मनुष्य का है जिसके कारण इसे अश्वमुख कहा गया। बौद्ध साहित्य में अश्वमुखी यक्षी का उल्लेख आया है (पदकुसलमाणव जातक)। इसका दूसरा रूप पुरुषविग्रह के साथ घोड़े के शरीर का संमिलन था। भारतीय कला और साहित्य में दोनों भेद लोकप्रिय थे (दे० चित्र ५५–५८)

चित्र ५५ मेसोपोटामिया

किन्नर

चित्र ५६ साँची तोरणशिल्प
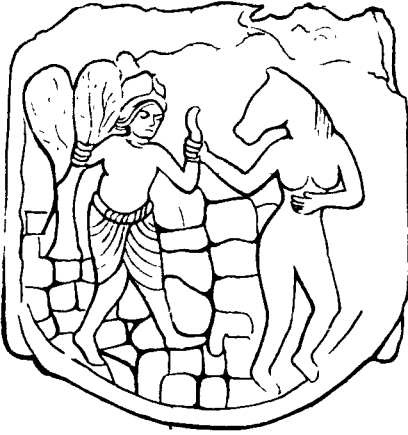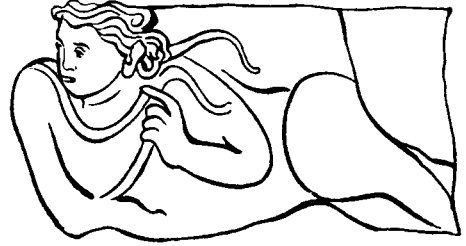
चित्र ५७ बोधगया शिल्प किन्नर चित्र ५८ गंधार कला

(५) सुपर्ण (हार्पी)—पूर्वार्ध में पुरुष मस्तक, अवरार्ध में पक्षी का शरीर और पंजे। यूनानी कला में इन्हें हार्पी कहा गया है। इनका अंकन साँची और मथुरा में हुआ है। कंकाली टीले से प्राप्त एक द्वारतोरण पर किन्नर और सुपर्ण दोनों स्पष्ट रूप से दिखाए गए हैं जो स्तूप की पूजा कर रहे हैं। (दे० चित्र ५९–६२)।
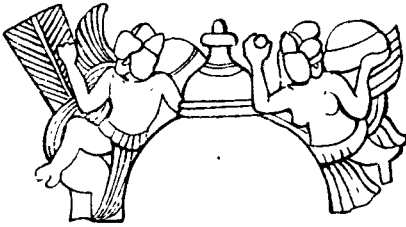
चित्र ५९ अमरावती शिल्प सुपर्ण चित्र ६० भरहुत शिल्प

चित्र ६१ साँची शिल्प

चित्र ६२ मथुरा कला

(६) **उभयतः शीर्ष्णी सुपर्णी**—यह सिरकप (तक्षशिला) में मिली है। कुमारस्वामी ने लिखा है कि यह खत्ती जाति की कला का और संभवतः उससे भी पूर्व युग का अलंकरण था। सुपर्णी और कद्रू के महदाख्यान में अदिति को उभयतः शीर्षी सुपर्णी या दो सिरवाली कहा है। महाभारत
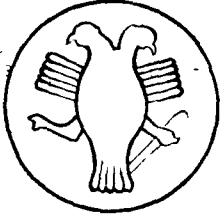
चित्र ६३ कप्पडोसिया
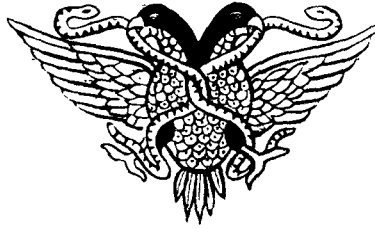
चित्र ६४ सिंगनफाउ

चित्र ६५ किज़िल

में भारुण्ड पक्षियों का उल्लेख है जिनके एक शरीर पर दो सिर रहते थे (एकोदर पृथग्ग्रीव, भीष्मपर्व ८।११, दे० चित्र ६३–६५)।

(७) **एकग्रीव बहूदर पशु**— जिनकी एक ग्रीवा कई शरीरों के साथ जुड़ी रहती थी। यह सुमेर कला में अंकित हैं। अथर्ववेद में एक सिर के दस बछड़ों का उल्लेख है (एकशीर्षाणः दशवत्साः, अथर्व० १३।४।६)। इसका अर्थ एक मुख्य प्राण और उसके इन्द्रियगत दस भेदों से था। अजन्ता में चार मृगों को एकग्रीव दिखाया गया है (दे० चित्र ६६)। मध्यकालीन कला में पञ्चशरीरी के नाम से यह अलंकरण चालू रहा।
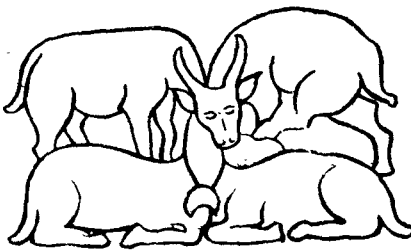
चित्र ६६ अजंता
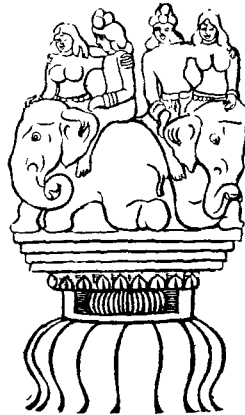
चित्र ६७ कार्ले चैत्यघर
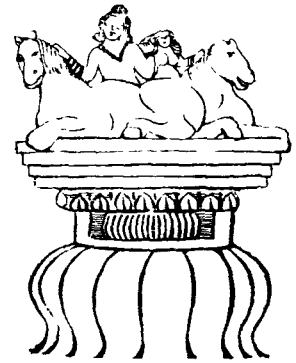
चित्र ६८ बेदसा चैत्यघर

(८) **पार्श्वगत दर्शन में पशु रूप**—जिनके मस्तक आगे को बढ़े हुए (उत्क्षिप्त शिरस्), पार्श्वगत घूमे हुए (आवृत्तशिरस्) या पीछे फिरे हुए (परिवृत्त शिरस्) दिखाए गए हैं।

(९) **पीठ सटाकर बैठे हुए पशु**—जैसे सारनाथ के सिंहस्तम्भ में। इस मुद्रा को पशु संघाट भी कहा जाता था। हय संघाट, गज संघाट, सिंह संघाट आदि में इसी का रूप था जैसा कार्ले के चैत्यघर में स्तम्भशीर्षकों पर मिलता है। (दे० चित्र ६७–६८)। इन पशुओं को संमुखीकृत एवं परस्पर

मुखाभिगत भी दिखाया जाता था। यह प्रतीप मुखमुद्रा में भी दिखाया जाता था। भारतीय कला में इन पशुओं को सुहावटी, उष्णीष और सिरदिल पर अंकित किया जाता था। कभी उन्हें एक दूसरे से युद्ध करते हुए भी दिखाया गया है। मथुरा के शिलापट्ट पर गरुड़ और नाग दोनों परस्पर युद्ध निरत हैं। एलोरा की ऊँची जगती पर गज-सिंहों के युद्धों के दृश्य उत्कीर्ण हैं।

(१०) **चार अश्वों के रथ पर आरूढ़ सूर्य**—पीछे अश्वों की संख्या सात तक हो गई।

चित्र ६९ बामियाँ
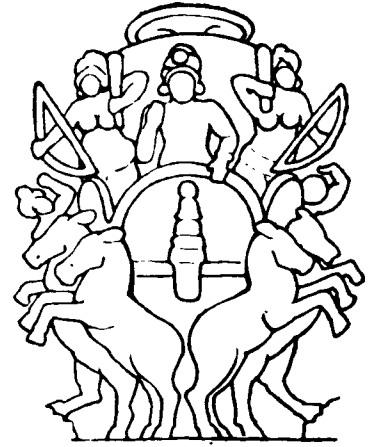
चित्र ७० बोधगया

यह वैदिक अभिप्राय था। बोधगया वेदिका पर चतुरश्वयोजित रथ पर बैठे हुए सूर्य का चित्रण है।

चित्र ७१

भाजा गुफा में द्वितीय शती पूर्व एक मूर्ति चतुरश्वयोजित रथ में बैठी हुई है। रथ के चक्र असुरों के शरीर पर से गुजर रहे हैं। उसे पहले सूर्य मूर्ति समझा जाता था पर वस्तुतः वह चक्रवर्ती मान्धाता की मूर्ति है जो अपने रथपर बैठकर उत्तरकुरु के दर्शन के लिए गया था। मथुरा की कुषाण कला में सूर्य के रथ में दो या चार अश्व दिखाए गए हैं। यही परंपरा गन्धार और सासानी कला में मिलती है, जैसे काबुल के समीप खैरखाना से मिली संगमरमर की सूर्य मूर्ति के रथ में चार घोड़े जुते हैं। गुप्त-काल से लेकर मध्य काल के सूर्य के रथों में ७ घोड़े पाए जाते हैं (दे० चित्र ६९-७१)।

(११) **कपिशीर्षक अलंकरण**—भारतीय दुर्गविधान में प्राकार के ऊपर कपिशीर्षक या कंगूरों का उल्लेख आता है। यह वही अलंकरण था। मेसोपोटामिया, ईरान और भारत की कला में यह लोकप्रिय था। शूषा, पर्सिपोलिस, भरहुत, साँची, मथुरा, बोधगया और गन्धार में इसका अंकन हुआ है (दे० चित्र ७२-७३)।
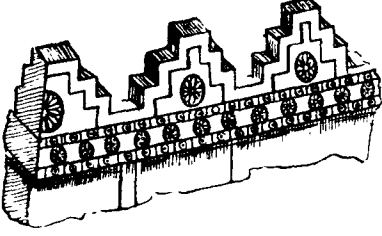
चित्र ७२ मेसोपोटामिया

चित्र ७३ भरहुत शिल्प

(१२) **श्रीवृक्ष**—यह जीवन या प्राण या विश्व का सूचक अलंकरण था जिसे वेदों में वनस्पति, ब्रह्मवृक्ष या उपनिषदों में अश्वत्थ कहा है। इसे ही अमृत का सोमांशु कहना चाहिए। यह यूरोप के उत्तराखण्ड देशों की गाथाओं में यगद्रसील नामक विश्ववृक्ष के रूप में पाया जाता है। मिस्र और पश्चिमी एशिया में भी इसका अंकन हुआ है। वैदिक मान्यता के अनुसार स्वर्ग में एक सुपलाश वृक्ष था उसी पर विश्वावसु गन्धर्व द्वारा सोमघट सुरक्षित था। वहीं से गरुड़ उसे पृथिवी पर लाए। कला में श्रीवृक्ष की पूजा करते हुए दो सुपर्ण अङ्कित हैं (साँची महास्तूप का पूर्वीय तोरणद्वार,
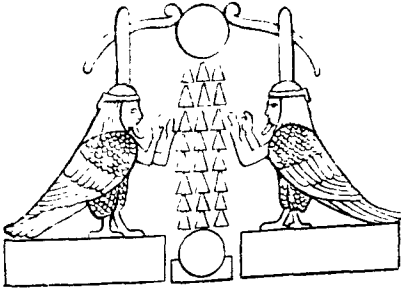
चित्र ७४ मिस्र
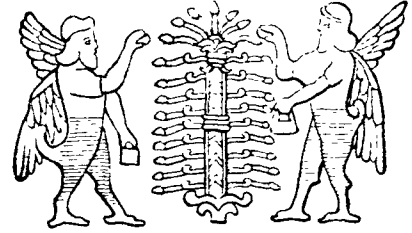
चित्र ७५ पश्चिमी एशिया

दे० चित्र ७६)। मिस्र और मेसोपोटामिया की कला में भी हम इसी प्रकार के वर्द्धमान श्रीवृक्षों की सुपर्णों द्वारा पूजा के दृश्य पाते हैं (चित्र ७४-५)। इस को सौभाग्य और समृद्धि का सूचक माना गया। जैसा पश्चिमी एशिया में है वैसा ही साँची में भी इसका अङ्कन है, अर्थात् शाखा, प्रशाखा और पल्लवों से युक्त इसके एक भाग को बारबार दुहरा कर इसका स्वरूप कल्पित किया जाता था। देवगढ़ मन्दिर के द्वारस्तम्भ पर भी प्रथानुसारी रूढ़िग्रस्तरूप में श्रीवृक्ष का अंकन हुआ है। वराहमिहिर ने
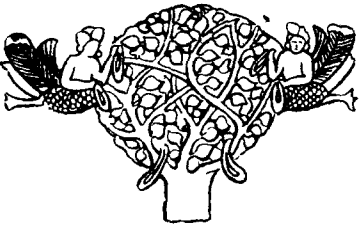
चित्र ७६ साँची शिल्प

देवमन्दिर के द्वार पर इस अलंकरण का होना आवश्यक बताया है (देवगढ़ मन्दिर, चित्र ३५; बृहत्संहिता[१] ५६।१५)।

(१३) **तालवृक्ष या तालध्वज**—यह बलराम का ध्वज था। मथुरा की कला में इसका कई बार अंकन हुआ है। इसका शीर्षक तालपर्ण या ताल की पक्तियों के रूप में बनाया जाता था। इसकी संज्ञा तालकेतु भी थी। कई बार महाकाय पुरुष को तालकेतुसमुच्छ्रित कहा गया है (चित्र ७७)।

(१४) **मुचकुन्द (या अं०हनीसकिल)**—कुमार स्वामी ने इसे नीलोत्पल कहा है पर इस अभिप्राय में छह पुंकेसर और एक स्त्री केसर मिलते हैं। संभवत यह भारतीय मुचकुन्द पुष्प था।

तालपर्ण
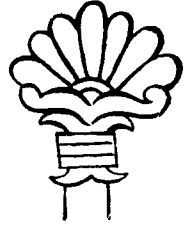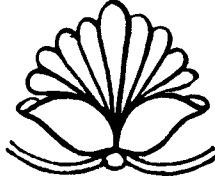
चित्र ७७

रामपुरवा शीर्षक से चित्र ७८

मुचकुन्द

चित्र ७९ अ

पश्चिमी एशिया चित्र ७९ आ

रामपुरवा से प्राप्त अशोक कालीन वृषभशीर्षक की चौकी पर तालपर्ण और मुचकुन्द पुष्प ये दोनों अलंकरण साथ-साथ अङ्कित हैं (दे० चित्र ७८-७९ आ)।

और भी बहुत से अलंकरण मिलते हैं, जैसे रेखाप्रधान, त्रिभुज, चतुरस्र, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि, फूल पत्तियों के अलंकरण जैसे पदुमक या पुष्कर, चतुर्दल पुष्प (चौंफुलिया), पीपल की पत्ती (अश्वत्थपर्ण), कंटकारि (भटकटैया की पत्ती, अंग्रेजी एकेन्थस) (चित्र ८४-५)। जैसा कुमार-

कंटकारि
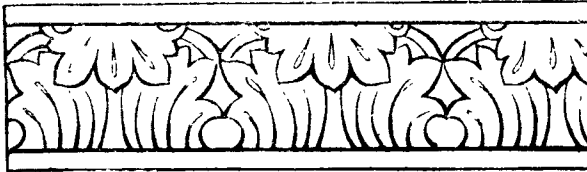
चित्र ८४ गंधार

स्वामी ने लिखा है। ये अलंकरण जम्बूद्वीप और भारत दोनों की कला में मिलते हैं। गवाक्ष और कुंजराक्ष

कंटकारि

चित्र ८५ गंधार

१. शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः। मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रथमैश्चोपशोभयेत् ॥

(=हिन्दी कुँजरखा या बड़े छोटे घरों की जाली), आवर्त या भ्रमरक इन्हें घेर-घिरारे या मेचक भी कहते हैं। इनका सुन्दर अंकन साँची के तोरणों की धरन के दोनों सिरों पर हुआ है।

बेलन लोढक—इन्हें देशभाषा में बेलन-लोढ़ा कहा जाता है। यह अलंकरण सारनाथ की शुङ्ग कला में स्फुट रूप में मिला है और उससे पूर्व ईरानी कला में भी पाया जाता था (चित्र ८०-८३)।

बेलन-लोढ़ा
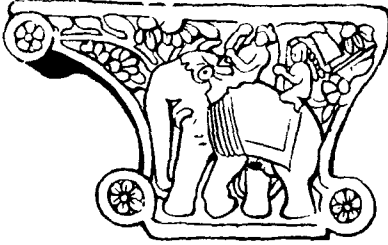
चित्र ८० सारनाथ चित्र ८१ चित्र ८२ पटना
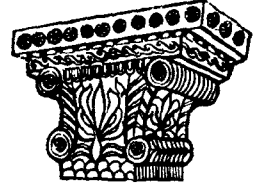
व्यूह, ऊर्णनाभि जैसा बना हुआ जाला जिसे देशभाषा में मकड़ा और भूलभुलैया भी कहते हैं। गाँवों की लोक कला में यह आकृति प्रायः लिखी जाती थी। ये अलंकरण लोक कला में बूटियों के रूप में बच रहे हैं।
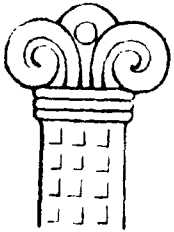
चित्र ८३
मेसोपोटामिया

प्राचीन भारतीय कला में अलंकरणों का ऐसा व्यापक प्रचार सूचित करता है कि शुङ्ग और मौर्य युगों से पूर्व ही काष्ठ शिल्प और दन्त शिल्प में सजावट के लिए ये बहुतायत से प्रयुक्त होने लगे थे और इनका प्रचार गन्धार से लेकर कलिंग तक था। सूर्यमुखी के फुल्ले या पदुमकों के नाना रूपों पर यहाँ के कलाकार बहुत अधिक ध्यान देते थे। हमने जनपद युग के साहित्य से कुछ प्रमाण दिए हैं जिनसे इन अभिप्रायों के देशकाल में बहुशः प्रचार का परिचय प्राप्त होता है; जैसा महाउम्मग्ग जातक की सूची से ज्ञात होता है। मौर्य, शुङ्ग और सातवाहन युग की कला में उपलब्ध अभिप्राय कुछ नए नहीं थे किन्तु कला के स्वाभाविक विकास में क्रम से प्राप्त थे। यह आवश्यक है कि इन अलंकरणों की पूर्व परम्परा को जानने के लिए हमें वेदों और पुराणों तक जाना चाहिए और उनका मेल कलात्मक अङ्कन से भी मिलना चाहिए जैसा भारतीय कला के सुदीर्घ और विशाल पट पर प्राप्त होता है।

अध्याय ६

६. शैशुनाग-नन्द युग की कला

(छठी शती ई० पू० से चौथी शती ई० पू०)

अब हम ऐतिहासिक युग की कला का दर्शन करेंगे। राजगृह का महादुर्ग प्राकार सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। यह प्राचीर पाषाणघटित है। पत्थरों और बड़े-बड़े शिलाखंडों को जोड़कर इसका ऊँचा चौड़ा रूप खड़ा किया गया है। प्राचीन राजगृह बृहद्रथ वंश की राजधानी थी और उन्होंने ही इस देवाकार प्राकार का निर्माण कराया था। बिम्बिसार द्वारा निर्मित नव राजगृह और अजातशत्रु द्वारा निर्मित पाटलिपुत्र की साक्षी से दुर्गविधान की कला पर प्रकाश पड़ता है। दुर्ग रचना का जो विन्यास सैन्धव संस्कृति में निश्चित हो गया था लगभग वही कुछ परिवर्तनों के साथ शैशुनाग और मौर्ययुग में प्राप्त होता है। लौरियानन्दनगढ़ के मिट्टी के स्तूप, काष्ठस्तम्भ और मातृदेवी की सुनहली ठप्पे से छपी हुई पन्नी, पिपरहवा स्तूप से प्राप्त स्फटिक की शरीरधातु-मंजूषा और उसी स्तूप से प्राप्त अन्य माणिक्य और नग, तथा चिकने कड़े पत्थर के मातृदेवी की पूजा के लिए बनाए गए श्रीचक्र—ये सब इसी युग की देन हैं। ये श्रीचक्र संख्या में लगभग ४० हैं और तक्षशिला से लेकर मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं। तक्षशिला के भीर थूह से प्राप्त वस्तुएँ भी प्राक् मौर्यकाल की अवधि में आती हैं।

महाभारत के अनुसार गिरिव्रज बृहद्रवंश के नृपतियों की राजधानी थी। इसी वंश में सम्राट् जरासंध हुआ जिसने अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और मगध की जांगल जातियों की संघव्यवस्था तोड़कर उनके शासकों को अपने बन्दीगृह में डाल दिया और अपने एकछत्र साम्राज्य का क्रम चलाया। प्राचीन राजगृह के नगरमापन और शिलाघटित महाप्राकार की कल्पना किसी प्रतिभाशाली स्थपति के द्वारा हुई। अवश्य ही वह वास्तुविद्या का महान् आचार्य था। राजगृह का यह क्षेत्र पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था। सभापर्व (२।१९) में प्राप्त उनके नाम ये हैं—वैहारगिरि, विपुल, वराह, वृषभ और चैत्यक। इन पहाड़ियों के नए नाम ये हैं—उत्तरपश्चिम में वैभार, उत्तरपूर्व में विपुल, पूर्व में रत्नगिरि, दक्षिण में उदयगिरि औरद क्षिणपश्चिम में सोनगिरि। यह क्षेत्र बड़े-बड़े मकानों (वेश्माढ्य), जल और पशुओं से भरा हुआ था जिसके कारण से गिरिव्रज यह यथार्थ संज्ञा दी गई। ये पाँच पहाड़ियाँ नगर के चारों ओर मेखला के रूप में स्थित थीं और युवाङ् चाङ् ने उनका घेरा २५ मील लिखा है। कनिंघम ने मापजोख करके इसे केवल ८'३ मील पाया। किन्तु

महाप्राकार का विस्तार पूरब की ओर गिरियेक पर्वत तक पाया गया है जो पूर्वी सीमा में ६ मील और आगे है अतः युवाङ् चाङ् कथन ही ठीक ज्ञात होता है (चित्र ८६)।
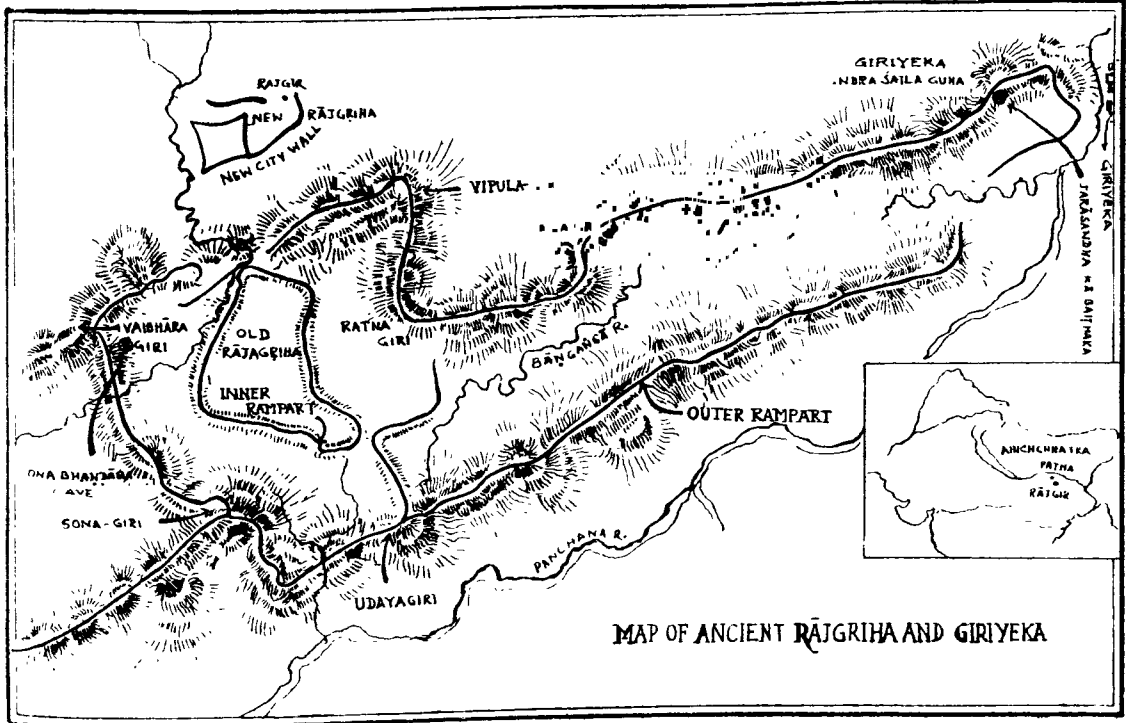
चित्र ८६

पहाड़ियों के बीच-बीच की जगह को पत्थर की बड़ी दीवार उठाकर बन्द कर दिया गया था। इस पाषाण प्राकार के अवशेष बहुत से स्थानों में बचे हैं। उसका एक हिस्सा वैभार से विपुल तक और विपुल से रत्नगिरि तक और आगे नेकपाई बन्धे तक और उससे भी आगे उदयगिरि के ऊपर होता हुआ बाणगंगा और सोनगिरि तक पाया जाता है। यह प्राचीर बड़े-बड़े अनपढ़ पत्थरों को बिना चूने के जोड़कर बनाई गई है। यह ११-१२ फुट ऊँची है। दक्षिण की ओर बाणगंगा के निकट प्राचीर १३ फुट ऊँची और अभी तक अच्छी दशा में है। कहीं-कहीं इसकी चौड़ाई १७½ फुट हो गई है। प्राकार के भीतरी ओर सोपान-मार्ग, बड़े-बड़े अट्टालक या बुर्ज और गोपुर-द्वारों के चिह्न भी पाए जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह प्राचीन दुर्गविधान के अनुसार अट्टालक,

गोपुर और सोपानों से सुसज्जित दुर्ग प्राकार का ही रूप था (चित्र ८७)। प्राकार के भीतर और नगर-भूमि के मध्य में वह बस्ती थी जिसे महाभारत में मगधपुर कहा गया है। इस पुर को घेरने के लिए ५ मील लम्बा एक भीतरी परकोटा खड़ा किया गया था और उसी में जरासंध का महल था। सभापर्व के अनुसार इस महल में तीन कक्ष्याएँ थीं जो उस समय के महलों की सामान्य प्रथा थी। इस राजधानी में सुरक्षा का ऐसा पक्का प्रबन्ध था कि कृष्ण, भीम और अर्जुन इसके गोपुरों से भीतर प्रवेश नहीं पा सके, किन्तु उन्हें पहाड़ियों के जोते पर चढ़कर जाना पड़ा।
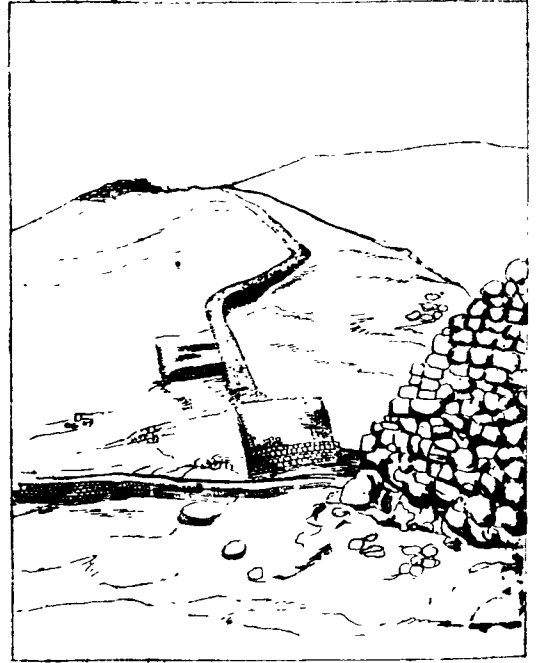
चित्र ८७

महाप्राकार के बाहर और वैभार-विपुल के बीच की घाटी से उत्तर की ओर हटकर बिम्बिसार ने नए राजगृह की नींव डाली। वह गिरिव्रज या पुराने राजगृह से भिन्न था। नए राजगृह का तलविन्यास पचकुनिया है और इसमें भी भीतरी और बाहरी दो प्राकार हैं। भीतरी प्राचीर ३·३ मील लम्बी है और सब ओर खाई से घिरी है।

वैभार पहाड़ी पर गरम पानी के कुछ सोते हैं जिन्हें सभापर्व में 'तप्तोदकुण्ड' कहा है। इन कुंडों के पश्चिम की ओर सप्तपर्णी गुफा है। वहीं पिप्पल गुहा है। वैभार पर ही सोन भंडार नामक गुहा है। वह पहाड़ में खुदी है (३४'×१७'×११½')। यहाँ जरासन्ध ने अपना सोने का भंडार या खजाना जमा किया था जो उसने मगध और आसपास के जंगली राजाओं से इकट्ठा किया था। उसके बराबर में एक और गुफा (२२½'×१७') थी। दोनों गुफाओं के सामने एक मुखमंडप या बरामदा था जो खम्भों पर टिका था। अब स्तम्भों की केवल चूलें रह गई हैं। इस प्रकार मुखमंडपयुक्त गुफा की वास्तु शैली लगभग ५वीं शती ई० पू० में ही अस्तित्व में आ चुकी थी और वास्तुविद्या की दृष्टि से पश्चिमी भारत के चैत्यगृह और विहारों में कोई नई बात नहीं हुई। सप्तपर्णी गुफा के भीतर ७ अन्य गुफाएँ या कोठे हैं जिन्हें प्राकृतिक चट्टानी दीवारें एक दूसरे से अलग करती हैं। इनका विन्यास पूर्व-पश्चिम रेखा के अनुसार है। ये कोठरियाँ न तो आकार में समान हैं न इनका विन्यास ही एक सीध में हुआ है। किन्तु गुफा के सामने लगभग २५' चौड़ा चट्टानी छज्जा है। किसी समय वैभार और विपुल पहाड़ियों पर बड़े आकार की ईंटों के बहुत से स्तूप थे। विपुल पर अब भी किसी महान् स्तूप के अवशेष हैं।

नए राजगृह में दुर्ग के अवशेष पाए गए हैं। वह दुर्ग २०००' लम्बा और १५००' चौड़ा था। इसका पाषाणप्राकार जो पांसुप्राकार (या धूलिप्राकार) को दृढ़ता प्रदान करता था अभी तक है और नगर के प्राकार की अपेक्षा वह अधिक भारी-भरकम, दृढ़ और ऊँचा है। नव राजगृह के दक्षिण-पश्चिम की ओर युवाङ् चाङ् ने ५० फुट ऊँचा अशोक स्तम्भ देखा था जिस पर हस्तिशीर्षक था। एक ६० फुट ऊँचा स्तूप भी उसके देखने में आया था।

राजगृह के पूरब की ओर कुछ दूर पर हटा हुआ गिरियेक राजगृह के मौलिक वास्तुविन्यास का अंग था। उसके चारों ओर भी राजगृह के समान ही चौभीता प्राकार था। कहा जाता है कि इन्द्रशैल गुहा यहीं पर थी। पर अब उसकी एक चोटी पर 'जरासंध का बैठक' नामक स्थान है (चित्र ८८)। दूसरी चोटी के सपाट स्थान में और कई भवनों के अवशेष हैं। दोनों चोटियाँ पहाड़ी की तलहटी के साथ ढलवाँ मार्ग से जुड़ी हैं।

चित्र ८८

लौरियानन्दनगढ़ एक गाँव का नाम है जहाँ सम्राट् अशोक का स्तम्भ खड़ा है। इसका नाम संस्कृत लकुट, हिन्दी लउड़ या लौर से बना है। यह चम्पारन जिले में बेतिया स्थान से १५ मील उत्तर-पश्चिम में है। लौरियानन्दनगढ़ में ही कुछ मिट्टी के स्तूप हैं। कहा जाता है कि वे वैदिक युग के स्मशान-स्तूप हैं। ये स्तूप या मिट्टी के ऊँचे थूहे तीन पंक्तियों में हैं। दो पंक्तियाँ उत्तर-दक्षिण दिशा में हैं और तीसरी पूरब से पश्चिम की रेखा में है। कनिंघम ने इन स्मशान-स्तूपों का काल १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के बीच अनुमित किया था। इन्हें स्थानीय किंवदन्ती में चक्रवर्ती सम्राट् उत्तानपाद का स्मशान स्तूप कहा जाता है। उनमें से एक की चोटी के मध्यभाग में एक काष्ठस्तम्भ प्राप्त हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि वे सचमुच स्मशान-चैत्य थे। इस तरह के खम्भे को उच्छ्रित चैत्ययूप कहा जाता था (चैत्ययूप इवोच्छ्रितः, सभापर्व, २२।२०; वहाँ लिखा है कि 'गरुड़ पर सवार कृष्ण ऐसे जान पड़ते थे जैसे ऊँचे चैत्य या थूहे पर खड़ा यूप हो')। पूरब-पच्छिम की पंक्ति में पाँच थूहे हैं और भीतरी उत्तर-दक्खिन की पंक्ति में छह चैत्य या थूहे हैं और बाहर की उत्तर-दक्खिन की पंक्ति में पाँच बड़े और सात छोटे थूहे हैं। पूरब-पच्छिम की पंक्ति के थूहे २० से ४५ फुट तक ऊँचे हैं

चित्र ८९

और सभी छनी हुई साफ मिट्टी से बने हैं। उत्तर-दक्खिन की रेखा के थूहे १५से ५५ फुट तक ऊँचे हैं। (दे० चित्र ८९ का मानचित्र)

दो थूहे श्वेतमृत्तिका के बने हैं। इनकी मिट्टी गूँथ कर इतनी कड़ी की गई थी कि खोदने की मामूली कुदाल की नोक भी टेढ़ी पड़ गई। जब उसकी कटाई होती है तो मिट्टी में से वंशलोचन जैसी नीली चमक झलकती है। यह श्वेतमृत्तिका आसपास कहीं नहीं है अतः कहीं दूर से लाई गई होगी। इसे लाने में कुछ निश्चित उद्देश्य अवश्य रहा होगा। ऋग्वेद के पितृमेध मन्त्र (१०।१८।१३) में कहा है कि मृतक शरीर के ऊपर 'लोग' या मिट्टी के ढेलों का अत्यन्त स्तब्ध या कड़ा ढेर बनाकर उसके बीच में लकड़ी की स्थूणा या खम्भा खड़ा करते थे'। इस स्थूणा की विधृति पितर लोग थे और ऊपरी भाग यम के बैठने का स्थान यमसदन होता था। इस मन्त्र से नन्दनगढ़ के थूहों का ठीक मेल बैठ जाता है। यहाँ चैत्य या स्तूप के लिए 'लोग' शब्द का प्रयोग हुआ है जो पृथिवी पर कड़ी मिट्टी को कूटकर पृथिवी-स्तभन द्वारा बनाया जाता था और उसके मध्य में यम के बैठने के लिए स्थूणा लगाई जाती थी। इस साक्षी के अनुसार लौरियानन्दनगढ के चैत्य और यूपों की वैदिक पहिचान सुनिश्चित है। श्री ब्लाख को सुनहली पन्नी पर ठप्पे से बनाई गई या ढलाई के काम की पृथिवी देवी या महीमाता की आकृति (चित्र ९०) मिली थी जो इन थूहों की पहिचान को और भी पुष्ट करती है। राजगिर से प्राप्त ताँबे के छोटे टुकड़ों पर ऐसी ही मातृमूर्ति पाई गई है जिसका एक नमूना कलाभवन और दूसरा लखनऊ संग्रहालय में है।
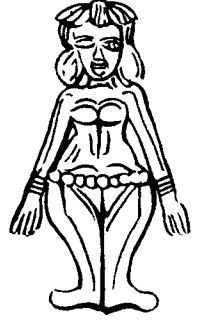
चित्र ९०

मातृदेवी की पूजा से सम्बन्धित श्रीचक्र या मंडलाकार चकिया—तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक के क्षेत्र में अनेक ऐसी चकियाँ मिली हैं जिनका सम्बन्ध भूदेवी या मातृदेवी की पूजा से था। वे काले, सलेटी, बैंगनी और सफेद रंग के बलुआ पत्थर की बनी हैं और चपटी कुछ मोटी चकरियों के रूप में हैं। उनके बीच में प्रायः चौड़ा छेद है और कुछ नमूने ठोस भी हैं। इनके ऊपर मातृदेवी की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनके साथ फूलपत्ती और पशुओं का संयोग भी है; अथवा उन पर केवल फूलपत्ती की लतरों और ज्यामितीय रेखोपरेखाओं के चित्र हैं। मोटे तौर पर ज्ञात होता है कि ये सिन्धुघाटी में प्राप्त योनिमूर्तियों की परम्परा में हैं जिनका रूप २००० वर्षों में कहीं से कहीं पहुँच गया पर मंडलाकृति छेद वैसा ही रहा। अब तक मिले हुए इनके नमूने इस प्रकार हैं—
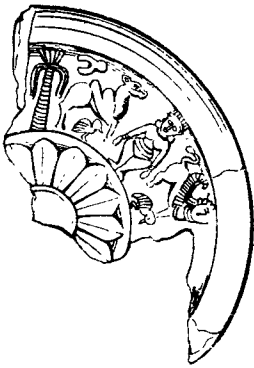
चित्र ९१

(१) मथुरा से प्राप्त चकिया या चकरी—अब कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में है (पुरातत्त्व वार्षिकी, १९३०–३४, फलक १३०)। (चित्र ९१)।

(२) मथुरा से प्राप्त चकिया—इंडियन म्यूजियम में है (वही, फलक १३०, चित्र २)।

---

१. उत ते स्तम्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ (ऋ० १०।१८।१३)

(३) मथुरा से प्राप्त गोल चकिया—जिसके बीच में अष्टदल कमल है। उससे चार दिशाओं में चार प्रतान उद्गत हैं और लतर की ग्रन्थियाँ बनाते हुए बढ़ रहे हैं। उनके अन्तिम कर्णिकाभाग पर आठ स्त्रीमूर्तियाँ हैं जिन्हें अष्ट मातृका कहा जा सकता है। उनके हाथ नृत्य की हस्त-मुद्राओं में दिखाए गए हैं। इनमें से अब केवल चार टिकरे के आधे भाग में बची हैं। देवियों के बीच-बीच में मुचकुंद के पुष्प चित्रित हैं (चित्र ९२)।
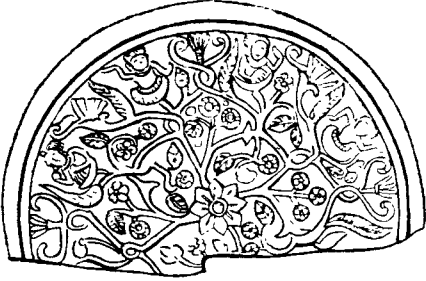
चित्र ९२
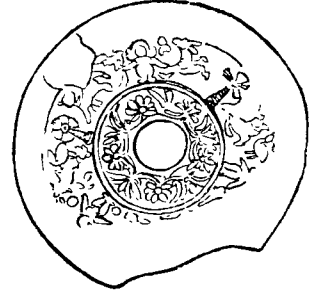
चित्र ९३

(४) मथुरा से प्राप्त चकिया—(व्यास ३.५″; मथुरा संग्रहालय, संख्या २४७१) इसके मध्य में फुल्ल पद्मकोष है जिसमें प्रतान नहीं दिखाया गया है। पहली गोल मेखला में चार पशु अर्थात् सिंह, हिरन, वृषभ और बारहसिंघा अवान्तर दिशाओं में अंकित है। बाहरी मंडल में चार पशुओं के ऊपर चार पुष्प और दिशाओं में चार स्त्री मूर्तियाँ हैं जो अब बहुत कुछ घिस गई हैं। पहली स्त्री बाएँ हाथ में धनुष लिए है और दाहिने में बाणों का मुट्ठा लिए है। दूसरी स्त्री के दाहिने हाथ में कटोरा है और बायाँ हाथ कटिन्यस्त है। तीसरी स्त्री के दाहिने हाथ में त्रिशूल और बाएँ में दोहरे त्रिशंकुओं वाला वज्र है (दे० चित्र ९३)।

(५) मथुरा से प्राप्त गोल चकिया—(व्यास ३.८″, सं० २४७२)—इस पर मध्य विन्दु के चारों ओर लताप्रतान हैं। यह अलंकरण सबसे प्राचीन आहत मुद्राओं पर भी मिलता है। इस अभिप्राय का पूरा रूप षडर चिह्न से मिल जाता है। प्रत्येक भुजा का स्वरूप लताप्रतानों के कारण त्रिफण जैसा है (दे० चित्र ९४)।
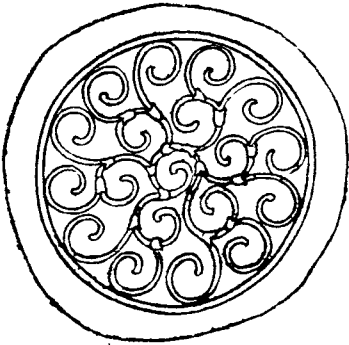
चित्र ९४
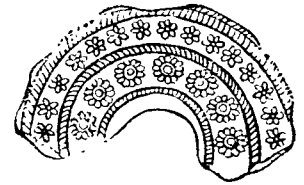
चित्र ९५

६—कौशाम्बी से प्राप्त चकिया का टुकड़ा—इसके ऊपर फुल्लों के दो मंडल भीतर और बाहर हैं (यह अब इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है) (दे० चित्र ९५)।

(७) राजघाट से प्राप्त चकिया (भारत कला भवन में सुरक्षित)—इस पर तीन मातृ-मूर्तियाँ और उनके बीच में तीन लिंग उत्कीर्ण हैं। मातृमूर्तियों के दोनों ओर दो सर्प हैं और सबसे बाहर विषमचतुरस्र चिह्नों की माला है जो संभवतः योनि का ही प्रतीक था (दे० चित्र ९६)।
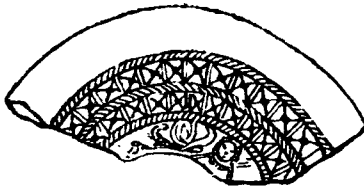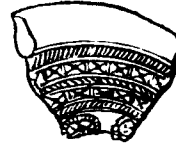
चित्र ९६ चित्र ९७ चित्र ९८ चित्र १००
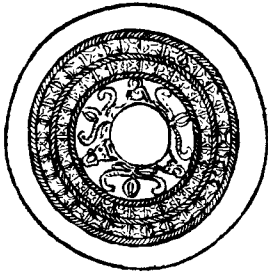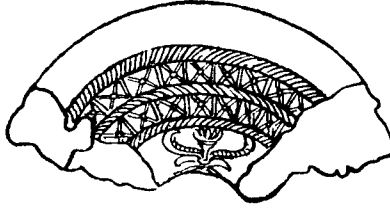
चित्र १०१ चित्र १०२ चित्र ९९

श्रीचक्र या मातृ चकरियाँ

(८) एक चकिया का टुकड़ा—जो ऊपर की संख्या ७ के तुल्य है। उसके बाहर की ओर विषमचतुरस्र चिह्नों की दुहरी माला है (दे० चित्र ९७)।

(९) राजघाट से प्राप्त चकिया का टुकड़ा—यह अब भारत कला भवन में सुरक्षित है। भीतर की ओर मातृदेवी का मस्तक और शरीर का ऊर्ध्वभाग चित्रित है। ताल वृक्ष या तालध्वज का ऊपरी भाग भी दिखाया गया है जो पश्चिमी एशिया की मातृपूजा में मांगलिक समझा जाता था और उसकी शाखाओं के वर्धमान या कई बार दुहराए रूप से श्रीवृक्ष का रूप बनता था (दे० चित्र ९८)।

(१०) राजघाट से प्राप्त चकिया का टुकड़ा—(भारत कला भवन में सुरक्षित) इसके छेद के भीतर मातृदेवी की दो मूर्तियाँ हैं। बाहर के मंडलाकार घेरे में शयानमुद्रा में दो पुरुष मूर्तियाँ हैं जो वैहायस स्थान में हैं। उनके बीच में एक गोधा है (दे० चित्र ९९)।

(११) राजघाट से प्राप्त चकिया का टुकड़ा—(भारत कला भवन में सुरक्षित) भीतरी घेरे में चार मातृदेवियाँ और चार तालध्वज हैं। ताल केतुओं का संबन्ध प्राचीन ईरान में मातृदेवी से था। वह पुण्य वृक्ष माना जाता था। उसकी स्मृति भारत के तालध्वजों में और मातृदेवी की चकिया के तालकेतुओं में पाई जाती है। यह स्त्री की उर्वरा शक्ति का सूचक था जिसमें बीज-निक्षेप किया गया हो। इस चकिया पर अब तीन तालध्वज अवशिष्ट हैं। इसके बाह्य मंडल में बहुत-सी गोधाएँ या मगर अंकित हैं। इनकी संख्या आठ थी जिसमें से पाँच बचे हैं। मगर को भी वृष्य शक्ति का प्रतीक मानते थे (दे० चित्र १००)।

(१२) **राजघाट से प्राप्त चकिया**—(अब लखनऊ संग्रहालय में) इसके भीतरी भाग में पाँच श्रीवत्स चिह्न हैं। उनके बीच-बीच में पाँच मुचकुन्द पुष्प हैं। श्रीवत्स इस बात के प्रमाण हैं कि इन चकियों का संबन्ध श्रीदेवी से था। बाहरी मंडल में अनेक रूप अंकित हैं जिनमें तीन ताल-वृक्ष या तालकेतु, तीन मातृदेवियाँ आदि इस प्रकार हैं—(१) दाहिनी ओर की मातृदेवी के मस्तक पर ऊपर केशकलाप और नीचे चन्द्रमा का अंक है। उसके दाहिनी ओर एक मृग है जिसके सामने नन्दिपद चिह्न है। चन्द्र चिह्न बहुत संभव है प्राचीन सिनीवाली देवी का संकेत हो। (२) बीच की मातृदेवी मूर्ति में दाहिनी ओर विहग युक्त तालकेतु है और बाईं ओर एक पशु है जिसके ऊपर
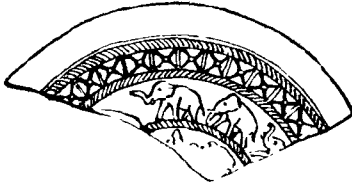
चित्र १०३
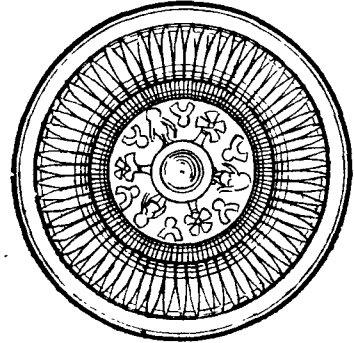
चित्र १०४

चन्द्र और सूर्य के चिह्न स्पष्ट हैं। (३) मातृदेवी जिसके दाहिनी ओर सारस जैसा पक्षी है। उसके बाईं ओर की मूर्ति घिस जाने से अस्पष्ट है। (४) ताड़ का वृक्ष जिसका नीचे का गोल वेदिका भाग बचा है। (५) मातृदेवी की पूरी मूर्ति जिसके दोनों पाँव बाहर की ओर न्यस्त हैं और भुजाएँ सीधी और स्तब्ध हैं। उसके मस्तक पर उष्णीष और दो पार्श्वों में दो पशु हैं। बाईं ओर का पशु अश्व है जिसके सामने सूर्य का प्रतीक है और नीचे चन्द्र का। मातृदेवी और अंतिम तालवृक्ष के बीच में ठीक वैसी ही एक चकिया रक्खी है जैसी श्रीचक्र के इन रूपों में पाई जाती है। (६) वेदिका से घिरा तालवृक्ष जिसके दाहिनी ओर विहग और बाईं ओर अश्व है।

(१३) **तक्षशिला से प्राप्त चकिया**—(चित्र १०१) यह अत्यन्त सुरक्षित दशा में है। इसके केन्द्रीय विवर में नग्नी मातृदेवी की तीन मूर्तियाँ हैं। उनके मस्तक पर उठा हुआ आटोप है जैसा प्रायः कुल्ली की मातृ मूर्तियों में पाया जाता है। इनके बीच में वेदियों में प्रज्वलित अग्नि-शिखाएँ दिखाई गई हैं। मातृदेवी के दोनों ओर दो सर्प हैं। भीतरी मंडल को घेरे हुए दो मंडल और हैं जिनमें विषमचतुरस्र आकृति के योनिचिह्नों की माला है। इनको अलग करने के लिए फैली हुई पुष्पमालाएँ हैं (मार्शल, मोहनजोदड़ो और सिंधु संस्कृति, भाग १, पृ० ६२, फ० १४ का दे० चित्र १४)।

(१४) **तक्षशिला से प्राप्त दूसरी चकिया**—(पुरातत्त्व वार्षिकी, १९२९-२१, फ० १७, दे० चित्र २९-३०)।

(१५) **तक्षशिला से प्राप्त चकिया का टुकड़ा**—यह संख्या १३ के समान है जिसमें वेदि और सर्पों के युग्म अत्यधिक स्पष्टता से दिखाए गए हैं। डमरुओं को गूँथकर बनाई माला के दो घेरे भी हैं। उनके बीच में योनिविवर के चिह्न हैं (दे० चित्र १०२)।

(१६) **तक्षशिला से प्राप्त चकिया का टुकड़ा**—इस पर बीच के मंडल में झमक कर चलते हुए हाथियों की पंक्ति थी जिसमें से टुकड़े पर केवल तीन बच रहे हैं (दे० चित्र १०३)।

(१७) **बसाढ़ से प्राप्त चकिया**—(पुरातत्त्व वार्षिकी, १९०३-४, पृ० १००, चित्र १६; कुमारस्वामीकृत भारतीय तथा हिन्देशिया कला का इतिहास, पृ० २०)।

(१८) **बसाढ़ या वैशाली से प्राप्त चकिया**—जो १९५० की खुदाई में मिली थी। इस समय पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।

(१९) **संकिसा (प्राचीन संकाश्य, फरुखाबाद जिला)** से प्राप्त समूची चकिया (चित्र १०४)। इस पर तीन मातृदेवियाँ, तीन तालवृक्ष और तीन नन्दिपद हैं। (व्यास २")। दूसरे और तीसरे मंडल में चंपाकली की माला है। (कनिंघम, पु० रि०, भाग ११, फ० ९, ३; कुमारस्वामी, वही पृ० २०, चित्र १३४)।

(२०) **कोसम (कौशाम्बी) से प्राप्त गोल लम्बी मुद्रा**—जो इस समय नई दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस पर पक्षी और पशुओं के चित्र चारखाने की शैली में बने हैं (दे० चित्र १०५)।

(२१) **राजघाट से प्राप्त एक लम्बोतरी मुद्रा**—जिस पर वृषभ आदि चार पशु अंकित है जैसा सारनाथ शीर्षक के अंड पर है। किनारे पर ब्राह्मी के अक्षर हैं (दे० चित्र १०६)।

(२२) **चकिया के २१ नमूने**—पाटलिपुत्र के मुर्तजीगंज मुहल्ले में मिले थे।[1] (दे० चित्र १०७-११२)।
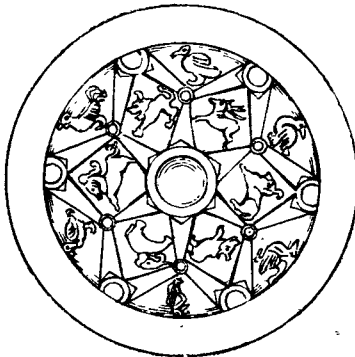
चित्र १०५
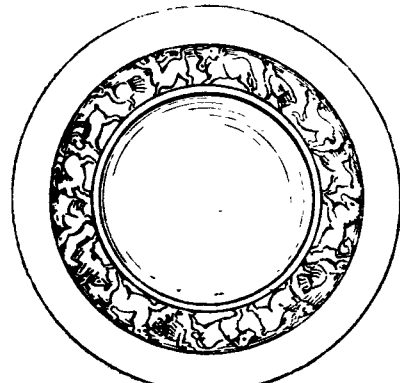
चित्र १०६

चित्र १०७

चित्र १०८

---

१. दे० उन पर एस० ए० शेरे का लेख "मुर्तजीगंज से प्राप्त चकियों के नमूने", भाग ३७, बिहार रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका, अंक ३-४ (१९५१)।

(२३) पटना शहर से प्राप्त चकिया—इस पर बीच में एक पंद्रह पंखुड़ियों वाला कमल का फुल्ला है और छोटे आकार के ४८ नन्दिपदों की माला है। नन्दिपद प्रतीक-चिह्न आहत मुद्राओं और प्राचीन कला की शिल्प-मूर्तियों पर सुपरिचित है। पीठ पर कुछ अक्षर भी हैं जो अभी तक अपठित हैं।
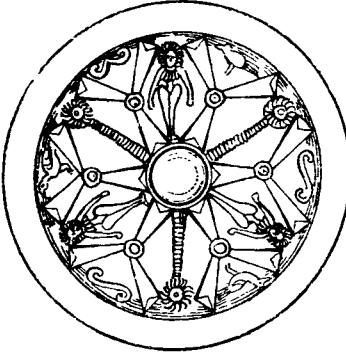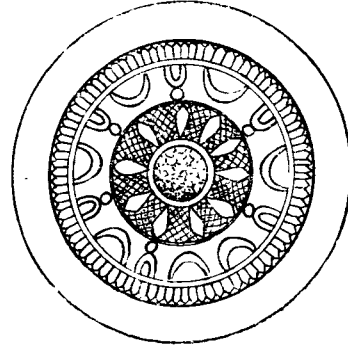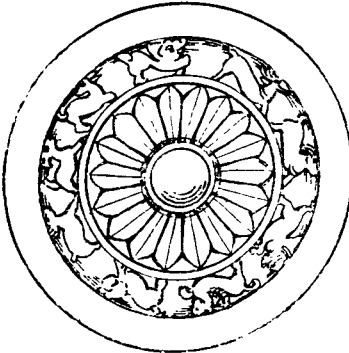
चित्र १०९ चित्र ११० चित्र १११ चित्र ११२
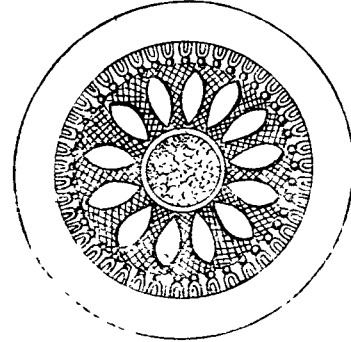
मुर्तजीगंज से प्राप्त चकरियाँ

(२४) पटना शहर से प्राप्त एक चकिया—इस पर तीन समानकेन्द्रिक वृत्त हैं। पहले में २१ कमलपत्र हैं; दूसरे में १२ पशु और पक्षी हैं जिनमें अश्व, सिंह, गज, गैंडा इन चारों की चतुष्पद पंक्ति है। तीसरे घेरे में प्रकाश की किरणें बनाई गई हैं।

हाल ही में प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित तीन चकिया और प्राप्त हुई हैं। उनका प्राप्तिस्थान अज्ञात है (ललित कला, ९, पृ० १५, फ० ६ का चित्र १४)। एक पर दो मंडलों में व्यत्यस्त रेखाओं वाले चिह्न और मोटी रस्सी या काँधनी के अंक हैं तथा अन्दर की ओर एक मातृदेवी है जिसके एक ओर तालध्वज है। दूसरी बैंगनी रंग की चकिया के ऊपर बाहरी घेरे में एक मकरपाँत है और उसके भीतर के घेरे में सिंह पंक्ति। तीसरी चकिया सलेटी रंग की है जिस पर मुचकुन्द पुष्पों से अन्तरित विहगयुग्म या दो सुपर्ण हैं जो एक वृक्ष की दो शाखाओं पर बैठे हैं। यह 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' कल्पना का

चित्रण ज्ञात होता है। वैशाली से प्राप्त एक चकिया या घीया पत्थर की बनी गोल चकरी पर मुचकुन्द, पीपल, सपक्ष सिंह एवं दो मातृदेवी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं (दे० ललितकला, ९, पृ० ६८)।

सौभाग्य से ये चकरियाँ पूर्णतः सुरक्षित दशा में हैं और मातृदेवी के अनेक भावों को प्रकट करती हैं। इनके ऊपर मातृदेवी की अंकित आकृति पैरों को बाहर चौड़ाए हुए है। उसकी मुद्रा सतर और स्तब्ध है। उसमें नग्नता स्पष्ट प्रदर्शित है और वह नन्दनगढ़ की सुनहली मातृदेवी से बहुत मिलती है। तक्षशिला तथा अन्य स्थानों से प्राप्त प्राचीनतम मृण्मय मातृमूर्तियों से भी उसकी समानता है। महीमाता के परम्परा-प्राप्त रूप में ऐसी ही विशेषताएँ कल्पित की गई थीं। इन चकियों की अन्य विशेषताएँ ये हैं—मातृदेवी और तालवृक्षों की अन्तरित मूर्तियाँ, पशुरूप जैसे सिंह, हाथी, बैल, अश्व (चतुर्महा-आजानेय पशु जो सारनाथ स्तम्भ के चतुष्पद हैं और जो मुर्तजीगंज की चकिया सं० ७ पर दिखाए गए हैं), श्वान, वराह, बारहसिंहा, मेष या भेड़ा, पक्षियों में हंस, मोर, सारस, बगुले आदि के रूप हैं। तालवृक्ष या तालध्वज का अनेक बार चित्रण है और देवी मूर्तियों के साथ उसे बहुशः दुहराया गया है। ज्ञात होता है कि देवीपूजा से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। और भी कई प्रकार के अलंकरण हैं, जैसे मध्यस्थ पद्मकोश, रश्मिजाल से परिवेष्टित सूर्य, मुचकुन्द माला, नन्दिपद, अर्धचन्द्र आदि। पटना से प्राप्त चकियों पर, जो एक साथ मिली हैं, लगभग वे ही चिह्न हैं जो मथुरा, तक्षशिला, कोसम, बसाढ़ आदि विविध स्थानों से प्राप्त चकियों पर मिले हैं। किसी एक देवी या मातृपूजा की परम्परा इन चकियों के मूल में निःसंदिग्ध है।

माता-श्री-देवी

इन चकियों की व्याख्या के लिए भारतीय धार्मिक परम्परा में मातृदेवी के नाम और रूपों को जानना आवश्यक है। इन चकियों के लिए श्रीचक्र नाम सार्थक है जिसे श्रीयन्त्र भी कहा गया। मातृपूजा के लिए प्रतीकात्मक चिह्न या यन्त्र थे। श्रीदेवी की पूजा मानवीय विग्रह और यन्त्र-विग्रह दोनों प्रकार से होती थी। यही प्रथा आज तक है। ऋग्वेद के खिल भाग में आए हुए श्रीसूक्त (ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के अन्त में) देवी का वर्णन आता है। इन श्रीचक्रों में जो कुछ चित्रित हुआ है वे सब लक्षण उस सूक्त में वर्णित हैं। वह सूक्त लोक वार्ता साहित्य का अंग था जिसका संकलन वेद के साथ कर लिया गया। श्रीदेवी की पूजा का अत्यधिक प्रचार लोक धर्म का अंग था अतः इस सूक्त की रचना बहुत कुछ लोकगीत के रूप में है। सूक्त में देवी को माता श्री, क्ष्मा या पृथिवी कहा है (देवी क्ष्मा या भूमि), श्री (देवीं मातरं श्रियम्)। वह सब पशुओं की जनित्री और अन्नों की उत्पादयित्री है (पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः, ऋग्वेद श्रीसूक्त, खिल भाग)। वह विष्णु की पत्नी है। क्ष्मा देवी और माधवी भी वही है (विष्णुपत्नीं क्ष्मां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्, वही, ५।८७।२५)। चकियों पर भू-देवी का चित्रण हुआ है। पुराणों में भी श्री देवी को विष्णु की पत्नी माना गया है। वह सब प्राणियों की अधिष्ठात्री देवी है (सर्वभूतानां ईश्वरी)। उसका सम्बन्ध सूर्य और चन्द्र से है अतः उसे सूर्या और चन्द्रा कहा गया है। लोक चित्रों में भी इसके दोनों ओर चन्दा-सूरज लिखे जाते हैं। कमल उसका प्रतीक और आसन है (पद्मे स्थिता)। उसके चक्र की नाभि में पद्म का चिह्न है, जैसा कई चकियों पर मिला है। वह कमलों की माला पहनती है और कमलवन में निवास करती है (पद्ममालिनीं पुष्करिणीं)। उसका जन्म जलों से या समुद्र से हुआ जिनके ऊपर पद्म

प्रकट होता है (अब्धयः पद्मसम्भवा)। वह कमल के पुष्प और पत्रों से संवेष्टित रहती है, जैसा कई चकियों पर चित्रित है। उसकी पूजा करने वालों को श्रीकाम कहा गया है। उनके लिए वह धन की देवी (धनदायी) और सन्तान देने वाली थी (प्रजानां भवसि माता, पुत्र-पौत्र-धनं धान्यं करोतु मे)। चकियों पर अंकित पशु देवी के परिवार में हैं, जैसे हाथी (हस्ती), गौ, अश्व (अश्वदायी, गोदायी)। हाथी उसका अभिषेक कराते हैं जैसा मूर्तियों में पाया जाता है। इसके लिए यहाँ आर्द्रां करिणीम्, यह विशेषण प्रयुक्त है। उसका वृक्ष या मंगल वृक्ष बिल्व है। किन्तु चकियों पर बहुत बार उसके स्थानपर ताल वृक्ष दिखाया गया है। ताल वृक्ष के कोए-भरे फलों की तुलना में सबसे निकट कोयों से पूर्ण बिल्व फल आता है। इसी से ताल वृक्ष का प्रतिरूप बिल्व वृक्ष माना गया है। ईरान में तालवृक्ष जीवन-प्राण और समृद्धि का द्योतक था। वही स्थान भारत में बिल्व का है। देवी को सुवर्ण माला पहने हुए कहा है। वह सोने की यष्टि की अधिष्ठात्री है (हेममालिनी, सुवर्णयष्टि)। सोने की डंडी पर सोने के हार, कंठों और मालाओं का संचय श्रीलक्ष्मी का साक्षात् रूप माना जाता था। साँची के द्वारतोरण पर जो कठलों का झाड़ है वह श्रीलक्ष्मी की हेममालिनी यष्टि ज्ञात होती है। उसे नंदंत हाथियों के गड़गाजने की ध्वनि प्रिय है (हस्तिनाद प्रमोदिनी)। एक चकिया पर हाथियों का यह ठट्ठ या गजपंक्ति अंकित है। देवी का जलों से सम्बन्ध, जहाँ उसका जन्म हुआ, दो चकियों पर बनी हुई मकर पंक्ति से सूचित किया गया जान पड़ता है। मकर समुद्राधिपति वरुण और नदियों की देवी गंगा का वाहन है। बाद की कथाओं में श्री को समुद्रकन्या कहा है। वह चंचला है। जलों की तरह चंचला है किन्तु उसका भक्त चाहता है कि देवी लक्ष्मी घरों में अपना निश्चल वास बनाए (अनपगामिनी लक्ष्मी)। चकियों पर एवं लौरियानन्दनगढ़ पतर पर अंकित उसके चित्रों पर दोनों पैर बाहर की ओर मुड़े हुए दिखाए गए हैं। ये चकियाँ उसी श्री देवी के मंडल या श्रीचक्र हैं जैसा श्रीचक्रपूजा में श्री-विद्या के उपासक अभी तक मानते हैं। यह श्री देवी का आवास-स्थान या व्यूह था जिसे श्रीयन्त्र कहा जाता था। इसके चारों ओर एक सुनहला परकोटा (हिरण्य प्राकार) माना जाता था जैसा श्रीयन्त्र में बनाते हैं। देवी के चक्र या प्राकारयुक्त परिधि को ऋद्धि, दान, आयु और प्रजा से संपन्न या भरा-पूरा माना जाता था। इससे यह भी विदित होता है कि देवी श्रीलक्ष्मी के प्राकार से बाहर अलक्ष्मी या ज्येष्ठा का प्रभाव रहता था। श्रीलक्ष्मी को पुण्या लक्ष्मी और ज्येष्ठा को पापी या लोक में कालकर्णी भी कहते थे (पापी-लक्ष्मी, अथर्व ७।११५।४)। ऋग्वेद में इन्हें ही क्रमशः लक्ष्मी के अन्तर और बाह्यरूप कहा है (या अन्तरा याश्च बाह्या)। सूक्त में श्री देवी को स्पष्टतः देवता कहा है। रामायण में इसे पद्माश्री (अयोध्या काण्ड ७९।१४) और महाभारत में शरीरिणी पद्मरूपाश्री (आरण्यक पर्व २१८।३) कहा गया है। श्री और लक्ष्मी का उल्लेख यजुर्वेद में आया है जहाँ उन्हें नारायण विष्णु की पत्नी कहा है (श्रीश्चते लक्ष्मीश्चते पत्न्यौ, यजुर्वेद ३१।२२)। पुनः उनका उल्लेख अलग-अलग देवियों के रूप में श्रीसूक्त तथा सभापर्व में (११।४० जहाँ ब्रह्मा की सभा में श्री और लक्ष्मी दोनों उपस्थित कही गई हैं) हुआ है। अथवा, कालान्तर में वे दोनों मिलकर एक ही देवी श्रीलक्ष्मी बन गईं। यह स्मरणीय है कि देवी श्रीलक्ष्मी की पूजा और मान्यता तक्षशिला से कलिंग और सौराष्ट्र तक प्रचलित थी। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों के अनुयायी समान रूप से इसकी पूजा करते थे। देवी श्रीलक्ष्मी का लोक धर्म से सम्बन्ध सूचित करने के लिए उसे समुद्र-कन्या अथवा करीषिणी अर्थात् गोबर में उत्पन्न होने वाली या गोबर में सने पैर वाली कहा है। इसका तात्पर्य है जहाँ गायों का गोठ है वहाँ लक्ष्मी का वास है। करीषिणी विशेषण सर्वप्रथम श्रीसूक्त में आया है।

यह उल्लेखनीय है कि श्रीसूक्त के २९ मंत्रों में से पहले १५ वैदिक पृष्ठभूमि और शब्दावली में हैं और फिर लोकगीत का अंश है।

इन चकियों की ठीक पहचान और उनका अर्थ श्री-विद्या की परम्परा में स्पष्ट हो जाता है। इनके विषय में जॉन मार्शल ने लिखा था—"न तो इन चकियों का कोई व्वाहारिक उपयोग था, न इन्हें आभूषण ही माना जा सकता है। इन पर अंकित नग्न मूर्ति गर्भधारण की अधिष्ठात्री देवी ज्ञात होती है। संभवतः वह पृथिवी या भूदेवी का रूप थी, और ये चकियाँ इसी की पूजा के काम में लाई जाती थीं। ऋग्वेद में धरती को चक्र के आकार का कहा गया है और शतपथ ब्राह्मण में भी उसे मण्डलाकार कहा है। इसकी तुलना हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा (सं० ६४९) से की जा सकती है। उस मुद्रा पर प्रजनन की देवी उत्तान मुद्रा में पैरों को चौड़ा किए दिखाई गई है; उसकी योनि से एक पौधा बाहर आ रहा है। प्रजननात्मक शक्तियुक्त गर्भधात्री देवी के ये चित्र विशेष महत्त्व के हैं। तक्षशिला और कोसम की चकियों से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की विचित्र मातृ-योनियों का स्मरण होता है।" (पुरातत्त्व वार्षिकी, १९२७-२८, पृ० ९६)

पिपरहवा का बौद्धस्तूप और उसकी धातुगर्भमंजूषा के अवशेष—प्राङ् मौर्य युग के अवशेषों में पिपरहवा स्तूप की धातुगर्भ मंजूषा और उसमें रक्खे हुए रत्न-पुष्प कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पिपरहवा बस्ती जिले में नेपाल की सीमा पर कपिलवस्तु से ११ मील दूर है।

यह स्तूप इस समय २१½ फुट ऊँचा है और इसका व्यास पादमूल में ११६' है। यह ईंटों (इष्टका चित) से बनाया गया था (ईंटों का आकार १६"×११"×३" है)। यह ठोस अंड के आकार का था जिसकी जुड़ाई सच्ची है। इसके गर्भ में एक बड़ी पत्थर की पेटी निकली थी। उसे पत्थर के बड़े भोट को काटकर बनाया गया था। उसके ऊपर का पिधान या ढक्कन आकुड़ों से जुड़ा हुआ है। उसके किनारे एकदम सच्चे हैं जिससे अत्यंत उत्कृष्ट कला का परिचय मिलता है। लेख के

चित्र ११३ अ

चित्र ११३ आ

अनुसार (दे० चित्र ११३ आ) बुद्ध के सगे-संबन्धी शाक्यों ने इस स्तूप का निर्माण कराया था और उस के गर्भ में बुद्ध की शरीर धातुओं का कुछ अंश रक्खा गया था (इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं)। पेटी के भीतर जो मंजूषा थी उसमें बुद्ध की शरीरधातु के अतिरिक्त और भी सैकड़ों प्रकार की कलात्मक वस्तुएँ थीं, जैसे सुन्दर रूप या मूर्तियाँ, रत्न-पुष्प और रत्न-पत्र जो तामड़ा नीलम, पुखराज, पद्मराग, मूँगा, स्फटिक, शंख आदि मणियों के हैं और सोने के बने हुए स्वर्ण पत्र भी हैं। इनकी आकृति आकर्षक है। उन्हीं में एक सिंह की आकृति से अंकित चौकोर पतरी थी। सोने के तारागण, स्फटिक की सुचिह्नित पत्तियाँ, त्रिरत्न, सुनहले पतरों पर आहत स्वस्तिक और नन्दिपद, चाँदी का गोल लिपटा हुआ बारीक तार, छोटे अनबिंधे मोती, बिल्लौर पुखराज आदि के मनके, लाल तामड़े की उकेरी हुई छोटी चिड़कली, सुनहली पतरी पर अंकित हाथी, सुनहली पन्नी पर ठप्पे से बनाई हुई पृथिवी देवी की मूर्ति जो लौरियानन्दनगढ़ से प्राप्त पृथिवी मूर्ति से मिलती है। एक अन्य स्त्री मूर्ति जो घने पहने हुए भारी केशविन्यास से युक्त है और जिसके केशों में कई मांगलिक
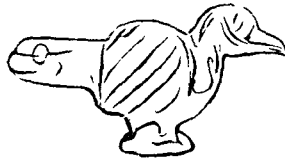
चित्र ११४ चित्र ११५ चित्र ११६ चित्र ११७
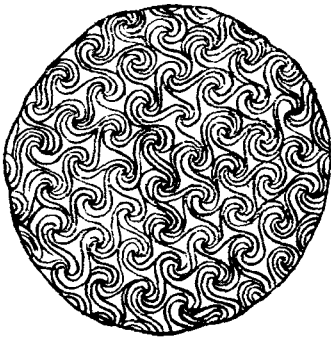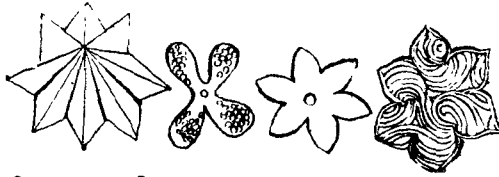
चित्र ११९ चित्र १२० चित्र १२१ चित्र १२२ चित्र १२३

चित्र ११८ चित्र १२४ चित्र १२५ चित्र १२६ चित्र १२७ चित्र १२८
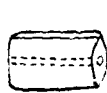
चित्र १२९ चित्र १३० चित्र १३१ चित्र १३२ चित्र १३३ चित्र १३४ चित्र १३५ चित्र १३६
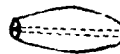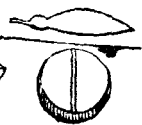
चिह्न हैं। सोने के एक बड़े गोल पत्तर पर बहुत से मांगलिक चिह्न बने हैं जिस पर षडर या छह भुजाओं से युक्त दमकड़ों या चिह्नों की पंक्तियाँ हैं। यह आवर्त की आकृति का विशेष रूप है जिनका एक व्यूह पूरी पतरी को घेरे हुए हैं। (दे० चित्र ११४-१३६)

अन्य अवशेषों में कुछ पात्र, ढँके हुए कटोरे, गोल छोटी धातु मंजूषाएँ हैं जिनमें एक पिधान-युक्त मंजूषा स्फटिक की है जो घृष्टमृष्ट या चमकदार है और जिसके ढकने पर बाहर की ओर सुन्दर मछली का उभारदार कटाव है (चित्र ११३ अ)। इसकी बारीक शिल्प-क्रिया देखने योग्य है जिससे उस युग के वैकटिकों या बेगड़ियों की उत्कृष्ट कला का परिचय मिलता है। मौर्य युग के पाषाण शिल्प से भी शतियों पूर्व इस प्रकार भी वैकटिक कला अस्तित्व में आ चुकी थी।

---
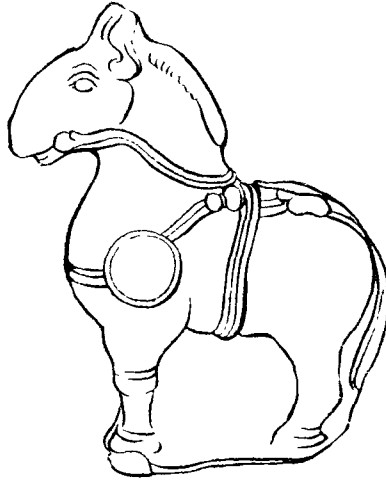
१. देखिए सर आशुतोष मुखर्जी रजत जयन्ती ग्रन्थ, भाग ३, पृ० ४२५-४२८; और भी JRAS. वर्ष १८९८, पृ० ५७३-५८८।

अध्याय ७

७. मौर्य कला (३२५–१८४ ई० पू०)

३२३ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासन पर बैठने के समय से राजनीतिक अवस्था का चित्र स्पष्ट होने लगता है। वह मगध साम्राज्य का स्वामी था और पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। वह चक्रवर्ती सम्राट् था और उसका साम्राज्य भारत के विशाल भू-भाग में फैला हुआ था, जिसका विस्तार बाह्लीक से वंग तक और हिमालय से मैसूर तक था। चन्द्रगुप्त में राजनैतिक संगठन की विलक्षण प्रतिभा थी और उसने अपने मन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य की सहायता से एक बड़े साम्राज्य की नींव डाली जिससे देश की राष्ट्रीय संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुआ। उसके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार राज्यासन पर बैठा (२९८-२७२ ई० पू०) और उसके बाद चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक हुआ (२७२-२३२ ई० पू०)। एक शताब्दी के दीर्घ काल में देश में जो सुख-शान्ति रही उसका परिणाम संस्कृति और कला के लिए सुखदाई हुआ। अब हम ऐसे सांस्कृतिक युग में प्रवेश करते हैं जहाँ कला के रूप एवं विषय बहुमुखी और समृद्ध थे, जिनका प्रभाव आगे के युगों पर स्थायी हुआ।

मौर्यकालीन संस्थाएँ बड़ी स्थायी और प्रभविष्णु थीं। उनका सर्वोत्तम रूप मौर्य कला में पाया जाता है। इस युग में कला के दो रूप मिलते हैं। उनका भेद स्पष्ट है—एक तो राजतक्षाओं की निर्मित कला जैसी चन्द्रगुप्त सभा और अशोक के स्तम्भों में पाई जाती है और दूसरी लोक कला की वह शैली जो परखम यक्ष आदि की मूर्तियां में मिलती है। ये महाकाय चतुर्दिक् दर्शनवाली यक्षराजों की मूर्तियाँ मथुरा, वाराणसी, विदिशा, पाटलिपुत्र, शिशुपालगढ़ आदि स्थानों से मिली हैं। इसी लोक कला के अन्तर्गत कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ आती हैं। इन खिलौनों में अधिकांश मातृदेवी के हैं जो मथुरा अहिच्छत्रा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला आदि स्थानों में मिले हैं। राजसभा से सम्बन्धित कला की प्रेरणा का स्रोत स्वयं सम्राट् था। उसकी शैली सातिशय प्रभावशाली और मौलिक थी और उसमें उकेरी की ऐसी परिपूर्णता है जो बाद की कला में बहुत कम देखी गई है। इन अवशेषों का देशव्यापी विन्यास ऐसा महत् है कि विश्व के इतिहास में उसकी उपमा नहीं मिलती। लोक कला के रूपों की परम्परा पूर्व युगों से काष्ठ और मिट्टी में चली आई थी, पर अब उसे पाषाण के माध्यम से व्यक्त किया जाने लगा, जैसा महाकाय यक्षमूर्तियों में देखा जाता है। कालान्तर की देवमूर्तियों और मानुष मिथुन-मूर्तियों के लिए उन्होंने एक आदर्श स्थापित किया।

पाटलिपुत्र का वास्तुविन्यास—मौर्य सम्राटों ने जो प्रथम योजना चालू की, वह पाटलिपुत्र का नगरमापन था। अर्थशास्त्र में दुर्गविधान (अर्थशास्त्र २।२१) के अन्तर्गत इन वास्तुलक्षणों का परिचय दिया गया है। नगर के चारों ओर गहरी परिखा, ऊँचा प्राकार जो ऊँचे धूलकोट पर बना हो (वप्रस्योपरि प्राकारम्), प्राकार में यथास्थान द्वारों का विधान, कोष्ठ और अट्टालकों का विधान होना चाहिए। परकोटे के भीतरी ओर एक ऊँची चौड़ी सड़क बनाई जाती थी जिसे देवपथ कहा है। प्राकार के ऊपर कपिशीर्षक या कंगूरों की पंक्ति बनाई जाती थी। नगर को महापथ, रथ्या और वीथियों द्वारा अलग-अलग भागों में विभक्त किया जाता था। उसके मध्य में राजप्रसाद का स्थान

होता था जिसके चारों ओर विशाल उद्यान बनाया जाता था और उसी के पड़ोस में और भी अनेक प्रकार के भवन बनाए जाते थे। दुर्गविधान का यह विन्यास पूर्व युगों से चला आता था, जैसा पहले कहा जा चुका है। ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने भी अपनी राजधानी को बनाते समय उसी विन्यास का आश्रय लिया था। यवनराज सिल्यूकस की ओर से चन्द्रगुप्त की सभा में भेजा गया दूत मेगस्थने था। उसने पाटलिपुत्र के वैभव का आँखों देखा हाल लिखा है। उसके अनुसार नगर के परकोटे का घेरा ९ मील था और उसकी चौड़ाई १$\frac{1}{2}$ मील थी। उसकी खाई ६०० फुट चौड़ी और ४४ फुट गहरी थी। उसके परकोटे में ६३ द्वार थे और ५७० अट्टालक या बुर्ज थे। इसमें कुछ अचरज नहीं यदि गंगातीर पर महाउम्मग्ग राजप्रासाद के वर्णन में मौर्य राजप्रासाद की ही छाया हो।

अब तक की खोज में प्राप्त हुए पाटलिपुत्र के प्राचीन अवशेषों से ऊपर के वर्णन का समर्थन होता है। कुमराहार में मौर्य प्रासाद के अवशेष और उसके उत्तर में बुलन्दीबाग में नगर के परकोटे या शालप्राकार के अवशेष ४५० फुट लम्बाई तक पाए गये हैं। यह स्थिति नगरमापन के उस नियम से मेल खाती है जिसमें प्राकार को राजप्रासाद से काफी दूर पर बनाना चाहिए और नगर की सीमा पर गंगा से हटकर होना चाहिए। नगर-प्राकार के जो अवशेष मिले हैं उनमें दोनों ओर साखू के खड़े दाँव लट्ठों की दीवारें हैं। प्रत्येक लट्ठा १९ फुट ऊँचा और १ फुट चौड़ा है। यह भी विशेषता रक्खी गई है कि लट्ठे की दोनों दीवारों को १४ फुट के आड़े लट्ठों से जोड़ दिया गया है। उनके बीच में कूटी हुई मिट्टी का भरान है। पाटलिपुत्र का यह परकोटा सच्चे अर्थों में शाल-प्राकार है; तभी से साल शब्द प्राकार का पर्याय हो गया। प्रतीत होता है नगर के परकोटे की खुदाई में मौर्य युग के ओपदार पत्थरों का कोई टुकड़ा नहीं मिला और न वहाँ किसी ऐसे पाषाण की आवश्यकता ही थी। पर कुमराहार स्थान में ऐसे सहस्रों पाषाण खंड पाए गए हैं, क्योंकि वहाँ राजमहल के भीतर सभा के स्तम्भ ओपयुक्त एकाश्मक पाषाण के थे, जो किसी समय खंड-खंड हो गए।

राजप्रासाद—कुमराहार में प्राचीन पाटलिपुत्र के दुर्ग-विधान के अन्तर्गत आने वाले मौर्यों के महाराजप्रासाद के अवशेष पाए गए हैं। उन्हीं में चन्द्रगुप्त की राजसभा है, जिसका उल्लेख पतंजलि ने किया है। यह ऐतिहासिक युग का पहला विशाल अवशेष है जिसके दिव्य स्वरूप को देखकर दर्शक मन्त्रमुग्ध रह जाता है। उसके विभ्राट् स्वरूप की स्थायी छाप मन पर पड़े बिना नहीं रहती। वास्तु-विद्या के अनुसार राजप्रसाद तीन कक्ष्याओं में विभक्त होता था। पहली कक्ष्या में हाथी-घोड़ों के लिए गजशाला और मन्दुरा और सैनिकों के लिए कोठे या पाटियाँ बनाई जाती थीं। वह बहुत लम्बी-चौड़ी होती थी। दूसरी कक्ष्या में सभा या आस्थानमंडप बनाया जाता था और तीसरी कक्ष्या से धवलगृह या प्रासाद का अन्तःपुर भाग रक्खा जाता था। इस वास्तु विन्यास के क्रम में कहीं अन्तर नहीं देखा गया। अतः यह अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त सभा में गर्भसूत्र को लेते हुए पीछे की ओर अन्तःपुर के अवशेष मिलने चाहिएँ। अजिर, सभा और राजकुल का गर्भसूत्र एक सीध में रहा होगा। अभी तक केवल स्तम्भों पर आश्रित सभा भवन ही प्राप्त हुआ है। उसके पिछले भाग में भवनोद्यान रहा होगा।

इस प्रासाद का निर्माण चन्द्रगुप्त के द्वारा हुआ या अशोक ने कराया—यह प्रश्न मौर्य कला के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक साक्षी से सिद्ध है कि इसका श्रेय चन्द्रगुप्त को ही है। सर्वप्रथम, एक विशाल साम्राज्य के लिए राजधानी, राजप्रासाद और केन्द्रीय सचिवालय की आवश्यकता थी। दूसरे, यवन दूत मेगस्थने की साक्षी से ज्ञात होता है कि राजधानी और राजप्रासाद अशोक से पहले अस्तित्व में आ चुके थे और मेगस्थने ने उन्हें देखा था और उनका आँखों देखा वर्णन किया है।

तीसरे, सभा-मंडप में स्तम्भों की पेंदी पर कई चिह्न ऐसे खुदे हैं, जैसे 'चन्द्रांकित मेरु' जो चन्द्रगुप्त के मौर्य शासन से सम्बन्धित माने जाते हैं । इन्हीं में नन्दिपद, वैजयन्ती और तीन वृत्तों की तीन पंक्तियाँ हैं । चन्द्रांकित मेरु का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त से संभव है क्योंकि वह मौर्यकालीन आहत मुद्राओं पर प्राप्त होता है, जिनका प्रचलन चन्द्रगुप्त के समय था। इससे सूचित होता है कि भास्वर प्रभा या चमकीली ओप और उच्छ्रित स्तम्भ दोनों की कल्पना चन्द्रगुप्त के समय में की गई। अशोक ने स्वयं अपने से पहले की स्तम्भयष्टियों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने चन्द्रगुप्त के राज्यकाल से १२५ वर्ष पीछे लिखते हुए "चन्द्रगुप्त-सभा" का उल्लेख किया है। वह एक प्रकार का शाला-मंडप था। इसी नाम से यह सभा बाद के युगों में प्रसिद्ध हुई।

चन्द्रगुप्त सभा—पाटलिपुत्र से कुमराहार में मिली हुई सभा बहुत ही विशाल मंडप के रूप में है। भारतीय कला में उसका कोई प्रतिरूप नहीं है। मंडप के मुख्य भाग में १०-१० स्तम्भों की ८ पंक्तियाँ हैं जो पूरब से पश्चिम की रेखा में हैं। इसके पूर्वी भाग में दो स्तम्भ और मिले हैं, जो सम्राट् के इन्द्रासन के लिए थे। ये स्तम्भ एकदम खंड-खंड दशा में मिले हैं। ज्ञात होता है कि आग से उनकी धज्जियाँ उड़ गईं। पर वे अलग-अलग ढेरों में प्राप्त हुए थे। प्रत्येक दो खंभों में १५ फुट की दूरी है। किसी भी खम्भे में अधिष्ठान या कुम्भी नहीं मिली है और उन्हें भूमि पर टिकाया गया था। उनकी डंडी चिकनी और गोल है। उनके ऊपर की छत लकड़ी की बनाई गई थी और वह काष्ठ-शिल्प कई प्रकार के अलंकरणों से युक्त रहा होगा। मंडप के एक ओर मंच पाए गए हैं, जो काष्ठकर्म के उदाहरण हैं और जिनमें लकड़ी के लट्ठों की जुड़ाई और कोर-

चित्र १३७
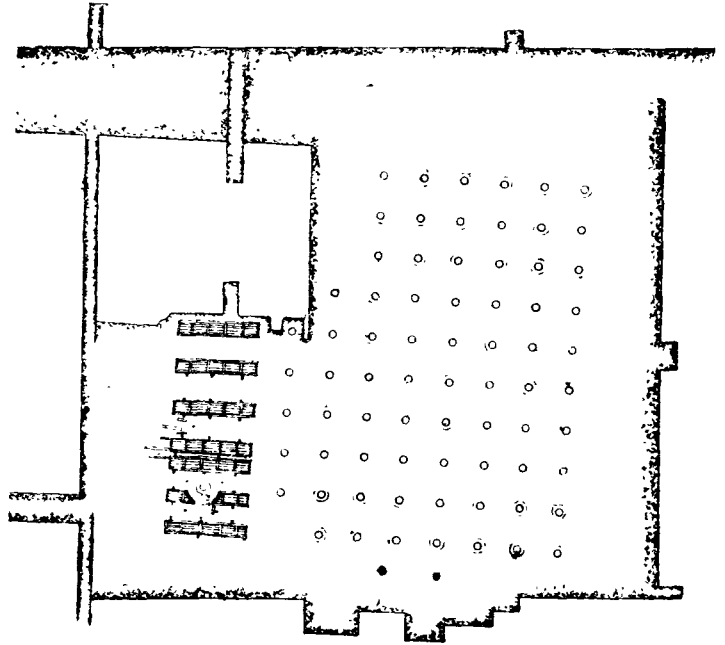
किनारियाँ आश्चर्यजनक रूप से स्वच्छ और सच्ची हैं। खम्भों के तीन बड़े खंड भी मिले हैं। चौथा प्राप्त खंड १४ फुट ३ इंच लम्बा है और वह लगभग पूरा स्तम्भ है। केवल उसका ऊपरी भाग टूट गया है। स्तम्भ की पूरी ऊँचाई लगभग २१ फुट थी। गोलाई और डंडी अशोक स्तम्भ के समान है। शिरो· भाग के कुछ टुकड़ों में चूलें कटी हुई हैं, जिनमें धातु के आकुड़ों पर ऊपरी शीर्षक और भारपट्ट का भाग अटकाया जाता था। इन्हीं के कारण आग लगने पर स्तम्भों का वह भाग फट गया। प्रत्येक स्तम्भ की पेंदी के नीचे राख से भरा हुआ गढ़ा पाया गया। इससे अनुमान होता है कि खम्भे लकड़ी की भूमिस्थ चौकी पर खड़े किए गए थे (चित्र १३७)।

खम्भों की एक विशेषता यह है कि पेंदी से ५ फुट ऊपर चार दिशाओं में निकलते हुए चार चौकौर पिंडे हैं। इनमें से तीन तो स्तम्भ की सतह के साथ एकसार हैं; उनकी सतह खुरदरी है और

संभवतः उनके टूट जाने की सूचना देती है। चौथे पिंडे का कुछ भाग अधिक निकला हुआ है और वह अवश्य ही टूट जाने के कारण इस दशा में है। उसकी गर्दन पर वैसी ही ओप है जैसी स्तम्भ के शेष भाग पर। इन चौकोर फुल्लों पर दर्पण, विहग, पशु आदि की आकृतियाँ लगाई जाती थीं जिनका उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। सभापर्व के वर्णन से भी इसका समर्थन होता है।

सभापर्व में युधिष्ठिर की सभा का वर्णन—सभापर्व में युधिष्ठिर की सभा के अतिरिक्त अन्य पाँच सभाओं का वर्णन है, जैसे इन्द्रसभा, यमसभा, वरुणसभा, कुबेरसभा और ब्रह्मसभा (सभापर्व ६।११)। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि इन देव-सभाओं के अभिप्राय और अलंकरण युधिष्ठिर की सभा में भी बनाए गए थे जो मनुष्य लोक में सर्वश्रेष्ठ सभा थी (मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा, सभापर्व ११।४२)। इस वर्णन में कई लक्षण ध्यान देने योग्य हैं—

१—सभा का तलविन्यास आयत था। उसका आयाम विस्तार से अधिक था।

२—वह आकाश में तैरते हुए विमान के समान वैहायसी सभा थी (सभा० ७।२; खे विषक्ता, वही १०।३; प्लवमाना, वही १०।४)।

३—मौर्य सभा से इसका मेल है, क्योंकि यहाँ के स्तम्भ बिना कुम्भी और अधिष्ठान के पृथिवी पर टिके हैं। यह भी लिखा है कि सभा का विमान ऊपर उड़ता हुआ सा लगता था मानों स्तम्भों पर उसका कोई आधार न हो (स्तम्भैर्न च धृता शाश्वती नाकपृष्ठस्था) और वह हवा में टिका हो या आकाश में अधर लटक रहा हो (वही ११।१२)।

४—यह मणिमयी सभा या चमकदार पाषाण से बना हुआ मंडप था (वही ६।१०)। इसकी दर्पण तुल्य ओप के लिए ये विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—भास्वरा, तैजसी, अर्कसमप्रभा, भ्राजिष्णु, रश्मिवती, अप्रमेय-प्रभा, स्वयं-प्रभा, सर्वतेजोमयी। सभा में शोभनार्थ कितने ही अलंकरण प्रयुक्त हुए थे, यथा रत्नमयवृक्ष, हेममय पादप (वही १२।३), गुल्म और अवतान (वही ९।४), फलपुष्पप्रद पुष्पमंजरी जो नील, पीत, लोहित और श्याम वर्णों के रत्नों की पच्चीकारी से बनाई गई थी। उनके छतनार पल्लवों पर नाना भाँति के अनिर्देश्य आकृतियों वाले शकुन या पक्षी दिव्य रत्नों से बनाकर बैठाए गए थे (वही ९।२-४)।

यह वर्णन मेगस्थने के लेख से बहुत मिलता है—"राजप्रासाद सुनहले स्तम्भों से अलंकृत है। उन स्तम्भों को परस्पर मिलाने वाली एक सुनहली घनी बेल है। इस बेल पर चाँदी के भाँति-भाँति के विहग नाना मुद्राओं में बैठाए गए हैं।"

सभापर्व में इस सभा-मंडप की एक अन्य विशेषता लिखी है, अर्थात् इसमें सदस्यों के बैठने के लिए अलग-अलग भागों में आसन लगे हुए थे (वेश्मासनवती, वही ७।३।९-५)। इस विशेषण का यथार्थ संकेत स्पष्ट नहीं समझा गया। यदि हम भूयसी और विपुलाकार सभा पर ध्यान दें जो ८० स्तम्भों पर आश्रित थी तो उसमें लगभग ६२ विभागों या कक्ष्यों की व्यवस्था ज्ञात होती है और एक कक्ष सम्राट् के आसन के लिए पूर्व की ओर था। प्रत्येक कक्षा बड़े पाषाण स्तम्भों से घिरी हुई एक दूसरे से अलग थी। उसमें सभासदों के लिए एक-एक मंच रक्खा रहता था। इसीलिए वेश्मासन शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इस सभा का दूसरा लक्षण उसे सिर पर उठाए हुए गुह्यक (वही १०।३) या किंकर (वही ३।२५) थे, जो सभा को भारोत्थापन मुद्रा में अपने मस्तक और भुजाओं पर उठाए थे, जो इस कारण

अन्तरिक्षचरा या खेचरा (३। २६; १०।२) ज्ञात होती थी। ये गुह्यक शरीर से महाकाय और आकृति में घोर या विकृत थे और उनके कान शुक्ति के सदृश उठे हुए थे (शुक्तिकर्ण, वही ३।२६)। पाटलिपुत्र में यह विशेषता नहीं मिली जो पश्चिमी भारत के चैत्यगृहों में पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि पर्वत में उत्कीर्ण चैत्यगृहों के सामने भी युधिष्ठिर सभा के मंडप का आदर्श था और मगध की वास्तु और शिल्प कला का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा था, जैसे अशोक कालीन गुफाओं का।

सभापर्व के वर्णन में सबसे अधिक ध्यान मंडप की ओप पर दिया गया है। इसकी चमक सूर्य-प्रभा जैसी थी, जिसकी परछाईं चारों और फैलती थी। यह दिव्य तेज से ज्वलन्त जान पड़ती थी (प्रतिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम्। प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा, वही ३,२१)। कोई भी अर्वाचीन लेखक इस प्रकार की पल्लवित शब्दावली में मौर्यकालीन प्रभा का वर्णन नहीं करता। उसका 'आयत, विपुल और श्लक्ष्ण' रूप सबके लिए प्रहर्ष का (प्रहर्षिणी) कारण था और ऐसा प्रभाव डालता था मानों उसकी निर्माण-सामग्री स्फटिक हो (स्फटिकं द्रव्यं, वही ३।१६)। स्पूनर ने राजप्रासाद के उत्तर और दक्षिण दो सरोवरों का उल्लेख किया है—"कुमरहार ग्राम के स्थान पर और उसके पश्चिम की ओर एक पुराना तालाब सड़क के दक्षिणी किनारे पर था। इसका नाम कालू ताल है। इसके १०० गज दक्षिण की ओर दूसरा चमन ताल है।" तालों की यह स्थिति यूनानी वर्णन और सभापर्व से मेल खाती है। राजप्रासादों के विन्यास में भवनोद्यान और पुष्करिणी का आवश्यक स्थान था। सभापर्व में कमलों के ताल को नलिनी कहा है जिसमें सुन्दर पद्म और सौगन्धिक खिले हुए थे। नाना भाँति के पक्षी, मछली, और कछुए ताल की शोभा बढ़ा रहे थे (नाना गणद्विजायुताम्, पुष्पितैः पंकजैश्चित्रां कूर्ममत्स्यैश्च शोभिताम्, वही ३।२८)। सरोवर में चारों ओर सीढ़ियाँ बनी थीं (सूपतीर्थाम्, वही ३।२९)। सभापर्व में स्पष्ट उल्लेख है कि उद्यान और पद्म-सरोवर सभा मंडप के दो ओर था (तां सभामभितः, वही ३।३१)। ये ताल और उद्यान हंस, कारंडव और चक्रवाक विहगों से सुशोभित थे (हंसकारण्डवयुताः चक्रवाकोपशोभिताः, वही ३।३२)। सभा के दोनों ओर शीतल छाया देने वाले पुष्पवन्त महावृक्ष थे। ऐसी सभा के निर्माण में असुर मय को १४ महीने लगे। यदि कभी इस प्रासाद और सभा या प्रासाद-मंडप का उत्खनन किया जाय तो दोनों ओर के भवनोद्यान और नलिनी या पुष्करिणी का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

काष्ठमंच—मंडप के दक्षिण की ओर ७ काष्ठ मंच प्राप्त हुए हैं। उनकी लम्बाई ३०', चौड़ाई ५' ४" और ऊँचाई ४½' है। इन्हें काष्ठशिल्प का अद्भुत उदाहरण कहा गया है। इनके लट्ठे एक दूसरे के ऊपर रखे हुए हैं और फलकों से जुड़े हैं। इतने पुराने लट्ठे अभी तक बहुत अच्छी दशा में सुरक्षित हैं और उनकी संधियों के जोड़ों की रेखा बहुत सच्ची है। उनके कोर-किनारे नुकीले हैं। प्रत्येक मंच की रचना इतनी सूक्ष्मता और सुनिश्चित सामंजस्य के साथ की गई है कि आज भी काष्ठशिल्प में वैसा कम संभव है।

ऊपर के वर्णन से विदित होता है कि प्रासाद-विन्यास और पुर-विन्यास दोनों ही प्राचीन काल से प्राप्त परम्परा के अनुसार थे। जातक, महाभारत और अर्थशास्त्र में उनका यथार्थ वर्णन है। वैदिक युग के शिल्पी शतभुजी और सहस्रथूण वाले प्रासाद-मंडप बनाते थे। यूनानियों ने लिखा है कि नदियों के तट पर स्थित नगरों में प्रायः काष्ठशिल्प का उपयोग होता था और पाटलिपुत्र की भी

लगभग वही दशा थी। सभामंडप में शिलास्तम्भों का प्रयोग नई प्रथा के रूप में शुरू हुआ। पर फर्श और छत दारुकर्म का ही फल थी। कुछ लोगों का विचार है कि यह सभामंडप विदेशी प्रभाव से बनाया गया, अर्थात् इसकी कल्पना ईरान से ली गई। इस मत की समीक्षा आगे की जायगी। हखामनी कला के स्तम्भों और मौर्यकला के स्तम्भों में आकाश-पाताल का अन्तर है। ईरान के राजप्रासादों की अपेक्षा पाटलिपुत्र का राजप्रासाद कहीं अधिक उत्कृष्ट था। ईलियन के अनुसार सूसा और एकबताना के राजप्रासाद किसी भाँति पाटलिपुत्र के राजप्रासाद से स्पर्द्धा नहीं कर सकते थे।

अशोक के समय की मौर्य कला—अशोक ने मानवीय संबन्धों का एक नया आदर्श अपनी प्रजा में और विदेशियों के साथ स्थापित किया। उसकी व्यावहारिक बुद्धि बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, जिसके द्वारा उसने अपने शासन को नए साँचे में ढाला, जिससे प्रजाओं का अधिकतम हित हो सके। यह कुछ कम महत्त्व की बात न थी कि उसने वास्तु और स्थापत्य संबन्धी नव-निर्माण का एक महान् कार्यक्रम निश्चित किया। उसने समस्त देश या अपने बड़े राज्य (महालक विजित) पर ध्यान दिया। यह राज्य कंदहार से धौली तक और गिरनार से मैसूर तक फैला हुआ था। यह विस्तृत क्षेत्र उसकी भूयसी योजना के अन्तर्गत था। इसी कारण उसने अपने १४ शिलालेख साम्राज्य की सीमा के उचित स्थानों पर स्थापित किए। उसकी योजना का दूसरा अंग यह था कि बुद्ध के जीवन और बौद्धधर्म से संबन्धित स्थानों पर वह अपने स्तम्भों की स्थापना करे। ये एकाश्मक स्तम्भ अशोककालीन कला के सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली उदाहरण हैं। उसने धर्म और संघ को चिरस्थायी स्मारकों के रूप में (चिलथितीके) इन्हें स्थापित किया। जैसी शिलालेखों में वैसी ही स्तम्भलेखों में सम्राट् की विविध योजना परिलक्षित होती हैं। सम्राट् ने बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी ग्राम की यात्रा की थी; उसी यात्रा-मार्ग को सूचित करने लिए, पाटलिपुत्र, लौरियानन्दन गढ़, लौरिया अरराज, बखिरा और लुम्बिनी के स्तम्भ बनवाए। लुम्बिनी स्तम्भ के लेख में निश्चित रूप से लिखा है कि वहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। पास ही में दूसरे स्तम्भ लेख में लिखा है कि वहाँ पूर्वबुद्ध कनकमुनि का एक छोटा स्तूप था, जिसे सम्राट् ने बड़े स्तूप का रूप दिया। उसने अपने राज्य संवत्सर के २० वें वर्ष में लुम्बिनी की तीर्थयात्रा की। कनकमुनि के स्तूप का संस्कार उससे ६ वर्ष पूर्व कराया गया था (थुवे दुतीयं वढिते)। लुम्बिनी में शिला स्तम्भ खड़ा करने के अतिरिक्त (शिलाथबे च उसपापिते) उसने एक बड़ी पत्थर की दीवार भी बनवाई (शिला-विगड भिचा=शैलविकृत भित्ति)। उसी योजना में सारनाथ का सिंह स्तम्भ था जिसे सम्राट् ने उस स्थान पर खड़ा किया जहाँ बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश या धर्मचक्रप्रवर्तन किया। बोधगया में भी बुद्ध के संबोधि-स्थान पर अशोक का एक स्तम्भ था। अशोक की दूसरी योजना यह थी कि मध्यदेश की सीमाओं पर और यहाँ के जनपदों की राजधानियों को सूचित करने के लिए स्तम्भों की प्रतिष्ठा करे। जैसे पंचाल देश की राजधानी सांकाश्य (अर्वाचीन संकिस्सा) में एक स्तम्भ खड़ा किया गया। कुरु जनपद की राजधानी मेरठ में दूसरा स्तम्भ लगाया गया। कुरुक्षेत्र या श्रीकण्ठ जनपद की राजधानी रोपड़ में तीसरा स्तम्भ खड़ा किया। मथुरा से प्रतिष्ठान जाने वाले महामार्ग पर चेदि जनपद के लिए साँची में और वहाँ के महास्तूप के समीप चौथा स्तम्भ बनवाया। कोशल जनपद की राजधानी श्रावस्ती में पाँचवाँ स्तम्भ बैठाया गया और वत्स जनपद की राजधानी कौशाम्बी में छठा स्तम्भ, काशी जनपद की राजधानी वाराणसी में बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्तन के स्थान में सातवाँ स्तम्भ खड़ा किया। इस प्रकार मध्यदेश की राजधानियों में और आर्यावर्त की सीमाओं पर सम्राट् ने स्तम्भ-माला की योजना की।

उसके सामने दो समस्याएँ और थीं, अर्थात् वह इन स्तम्भों के द्वारा अपना कौन सा विचार या आदर्श प्रकट करे और उसे प्रकट करने के लिए इन स्तम्भों को क्या रूप दिया जाय। ये दर्शन और शिल्प की दो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं। इन स्तम्भों का यथेष्ट निर्माण उसके चतुर शिल्पियों ने किया और बलिष्ठ वर्धकी इन भारी स्तम्भों को चुनार की केन्द्रीय खदान से दूर दूर ले गए। ये स्तम्भ ५० फुट तक ऊँचे एक ही पत्थर में से काटकर बनाए गए थे। इनके पशु-शीर्षक और भी कठिनाई से गढ़े गए। किन्तु स्तम्भ-वाहकों ने ऐसी युक्ति से इन्हें पहुँचाया कि कोई क्षति नहीं आने पाई। अधिष्ठान के बिना ऊँची डंडी वाले स्तम्भों का प्रयोग चन्द्रगुप्त के सभामंडप में लगभग ५० वर्ष पूर्व किया जा चुका था। किन्तु उनपर जो भव्य शीर्षक हैं, वे अशोक की मौलिक कल्पना हैं, क्योंकि चन्द्रगुप्त कालीन स्तम्भों पर ऐसे शीर्षक नहीं थे।

अशोक ने अपने समकालीन जनों के लिए और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए एक संदेश सोचा था। वह संदेश उस धर्म का प्रचार था जो उसके मन में भर गया था। उसने धर्म पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया था और अपने लेखों में इन विचारों को कितने ही प्रकार से व्यक्त किया, जैसे—धम्म-कामता, धम्मघोष, धम्मचलन, धम्मनियम, धम्मदान, धम्मपटिपति, धम्ममंगल, धम्मविजय, धम्मसंचव, धम्मसुसूसा, धम्मनुसस्ति, धम्मनुग्गह, धम्मसीलन आदि। इन विविध भावनाओं के मूल में उसका यह अनुभव था कि धर्म एक है और उसके भेद या विभाग नहीं किए जा सकते। धर्मचक्र विश्व-सम्बन्धी नियमों का ही रूप है जो नैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सदा से प्रवर्तित होता आया है। उसी के रूप ब्रह्मचक्र, ब्रह्माण्डचक्र, भवचक्र, कालचक्र, सहस्रारचक्र आदि हैं। बुद्ध का महाधर्मचक्र भी वही है।

धर्मचक्र के विषय में दूसरा सत्य उसके मन में यह आया कि वह मानव जीवन, समाज और विश्व के चतुष्टय रूप का प्रतीक है जिसका आविर्भाव अनवतप्त सरोवर की चार दिशाओं में निरन्तर हो रहा है, और सरोवर के चार मुखों की जल धाराएँ उसे पुष्ट कर रही हैं। हरेक द्वार पर एक एक महा आजानेय पशु है। चार पशुओं के धार्मिक रूपों की कल्पना सैन्धव सभ्यता से चली आती थी और नाना भाँति से कालान्तर के साहित्य और कला में उसका उल्लेख और प्रदर्शन हुआ है। जनता में उनकी पूजा का लोक व्यापी प्रचार था। अशोक ने वहीं से उसे अपनाया।

ज्ञात होता है कि अशोक ने परम्परा और अपनी मौलिक सूझ के द्वारा स्तम्भ शीर्षकों के स्वरूप का निश्चय किया। विशेषतः सारनाथ के धर्मचक्रध्वज या सिंहशीर्षक की कल्पना में उसका निजी हाथ था। जब एक बार उस स्वरूप का निश्चय हो गया तो उसके निर्माण की समस्या चतुर शिल्पियों के लिए कुछ कठिन न थी। काष्ठ-शिल्प और पाषाण-शिल्प में कुशलता से काम करने वाले निपुण शिल्पी विद्यमान थे जो इस प्रकार के स्तम्भों के निर्माण में दक्ष थे। यह असंदिग्ध है कि काष्ठ-शिल्प में ऐसे स्तम्भों के गढ़-छीलने की कला का अशोक से कई सौ वर्ष पूर्व विकास हो चुका था। अब केवल काष्ठ से पाषाण में उन्हें परिवर्तित करके का प्रश्न था। चन्द्रगुप्त सभा के एकाश्मक स्तम्भ भी अशोक से आधी शती पूर्व के हैं जैसा यूनानी लेखकों की साक्षी से स्पष्ट है। अशोक ने अपना मौलिक विचार स्तम्भ शीर्षकों के रूप में प्रकट किया। स्तूप, वेदिका, छत्र, बोधिमंड, एकाश्मक स्तम्भ-शीर्षक, पर्वत में उत्कीर्ण गुफाएँ और धौली में उत्कीर्ण 'गजतम'—ये सब कला के रूप भारतीय भूमि की उपज थे। उन सब में अशोक की निजी मौलिकता का आविर्भाव देखा गया। इस बृहत् सूची से केवल स्तम्भों को अलग

करके उन्हें विदेशी प्रभाव से प्रभावित मानना युक्तियुक्त नहीं है और इससे सम्राट् के प्रति अन्याय होता है।

अशोक कालीन कला के निम्नलिखित अवशेष प्राप्त होते हैं—

(१) ईंट और चूने से चिने हुए स्तूप जो कालान्तर में बढ़ाए या परिवर्द्धित किए गए।

(२) एकाश्मक ऊँचे स्तम्भ जिन पर पशुओं की आकृति के शीर्षक हैं।

(३) एकाश्मक वेदिका, जैसी जगतसिंह स्तूप की हर्मिका में लगी थी और अब सारनाथ में है।

(४) हर्मिका के छत्र जिनके कई खंड साँची में मिले हैं।

(५) चट्टान में उत्कीर्ण चैत्यघर या गुहा जैसी गया के पास बराबर पहाड़ियों में मिली हैं।

(६) उड़ीसा के धौली नामक स्थान में चट्टान को काटकर उत्कीर्ण किया गया हस्ती।

(७) कालसी में चट्टान पर उत्कीर्ण हाथी की आकृति जिसे लेख में 'गजतम' कहा है (चित्र १५३)।
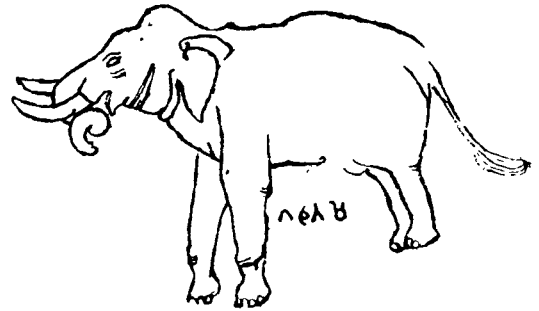
चित्र १५३

अशोक ने अपने लुम्बिनी स्तम्भ लेख में स्वयं कहा है कि उसने पत्थर की एक दीवार या ठोस वेदिका भी बनवाई थी। हो सकता है कि यह सारनाथ की वेदिका या कालान्तर में बनी हुई घोसुंडी के नारायण वाटक जैसी 'विकृत शिलाभित्ति' हो। उसने यह भी लिखा है कि बुद्ध कनकमुनि के पूर्व-कालिक स्तूप को निगलीवा नामक स्थान में बढ़ाकर उसने दुगुना किया (बुधस कोनाकमनस थुवे दुतियं वढिते)। ऐसी अनुश्रुति है कि अशोक ने कश्मीर में श्रीनगर (राजतरंगिणी १०१-१६०) और नेपाल में देवपत्तन (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५०१) इन दो नगरों का निर्माण किया। साम्राज्य के पश्चिमी भाग अर्थात् गंधार के निकट कश्मीर की घाटी में एक नई राजधानी की स्थापना करने में उसकी मौलिक सूझ प्रकट होती है। उसने नेपाल में नदीघाटी के उद्धार में भी रुचि ली जो उसके साम्राज्य के मध्य भाग के समीप कुछ उत्तर में थी। कहा जाता है कि अशोक ने बुद्ध के धातु-गर्भित आठ स्तूपों को खुलवाकर उनके निधान प्राप्त किए और उन्हें राई-राई बाँटकर उनके ऊपर चौरासी सहस्र स्तूपों की रचना करवाई। किन्तु यह एक आदर्श संख्या मात्र थी। स्तूपों की वास्तविक संख्या चौरासी ज्ञात होती है। साहित्य में इन्हें वैस्तारिक स्तूप कहा गया है। सारनाथ, साँची और भरहुत के स्तूपों को अल्पेशाख्य से महेशाख्य रूप में परिवर्तित किया जाना संभवतः अशोक की प्रेरणा का ही परिणाम था और तभी प्राचीन मिट्टी के थूहों को 'इष्टकामय कंचुक' पहनाया गया।

एकाश्मक वेदिका—सारनाथ में सुरक्षित एकाश्मक वेदिका तथाकथित जगतसिंह स्तूप के ऊपर की हर्मिका का अंग थी। यह एक ही पत्थर में से काटी गई थी और आकृति में चौकोर है, दो स्तम्भों के बीच में तीन सूचियाँ हैं। इसकी लम्बाई २६४ सेंटीमीटर और ऊँचाई १५६ सें० मी० है।

प्रत्येक दिशा में स्तम्भ हैं। स्तम्भों के ऊपर गोल मुड़ेर वाला उष्णीश है। समस्त वेदिका पर अशोक कालीन चिलकती हुई चमक है (चित्र १३८)।

चित्र १३८

अशोक ने स्वयं विदिशा में निवास किया था और वहाँ एक श्रेष्ठी कन्या से विवाह भी किया था। इन्हीं कारणों से उसे साँची के महाचैत्य से प्रेम था। उसने मूल स्तूप का विस्तार किया और उसके ऊपर सुन्दर यष्टियुक्त छत्र चढ़ाया जिसकी टूट के कई भाग साँची के संग्रहलाय में सुरक्षित हैं।
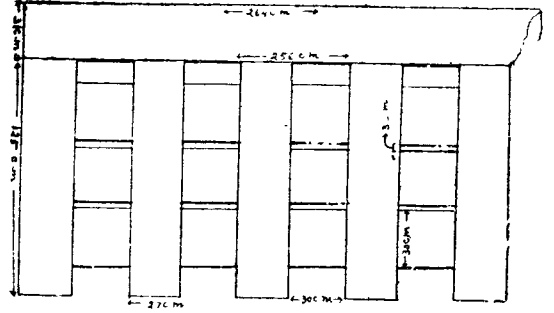
बराबर पर्वत की गुफाएँ—गया से १६ मील उत्तर कई पहाड़ियों में बौद्ध अवशेष पाए गए हैं। बराबर का प्राचीन नाम प्रवरगिरि था। तीन गुफाएँ बराबर की पहाड़ी में (चित्र १३९-१४१)
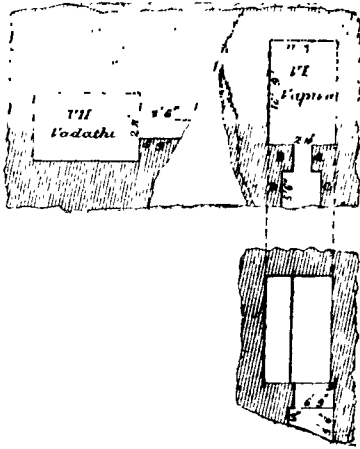
चित्र १४३-४४
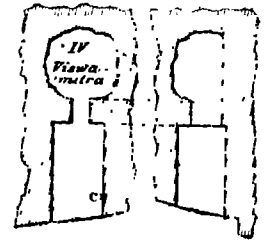
चित्र १४५

और चार गुफाएँ (चित्र १४२-४५) नागार्जुनी समूह में हैं। इन दोनों की संज्ञा 'सातघर' है। अशोक और उसके पुत्र दशरथ ने इन्हें आजीवक भिक्षुओं को दान में दिया था। बराबर समूह में पहली गुफा कर्ण-चौपड़ है ($33\frac{1}{2}$ फुट × $14\frac{1}{2}$ फुट × ६ फुट) (चित्र १३९)। दूसरी सुदामा गुफा अशोक के राज्यकाल के बारहवें वर्ष में खुदवाई गई थी। उसमें दो कोष्ठ हैं। एक गोल व्यास का है (१९ फुट ११ इंच) जिसकी छत अर्धवृत्त या खरबुजिया
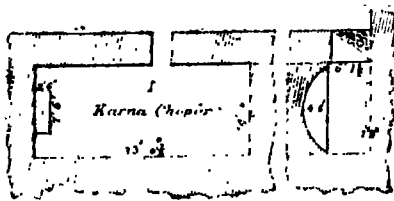
चित्र १३९

आकार की है। उसके बाहर मुखमण्डप (३२ फुट ९ इंच लम्बा, १९ फुट ६ इंच चौड़ा और ६ फुट ९ इंच ऊँचा) है। इसकी ढोलाकार छत भूमि से १२ फुट ३ इंच ऊँची है (चित्र १४०)। दोनों कोष्ठों की भित्तियों और छतों पर शीशे जैसी चमकती हुई प्रभा है। इससे ज्ञात होता है कि चैत्य-घर का मौलिक विकास अशोक के ही समय में विकसित हो गया था जिसके बाहरी भाग में आयताकार मुखमंडप या गोलगृह रखा जाता था। इसी से पश्चिमी भारत के अनेक महान् चैत्यगृहों के वास्तु-विन्यास का विकास हुआ।
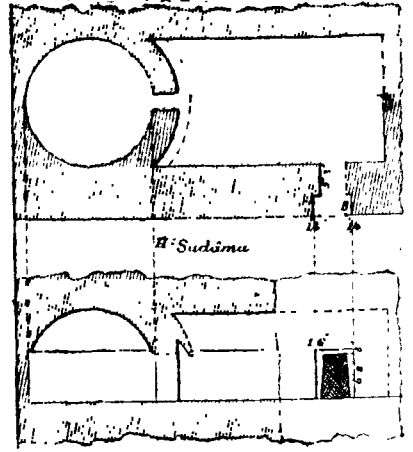
चित्र १४०

तीसरी लोमस ऋषि गुफा है (चित्र १४१)। यह परिमाण में और कोष्ठों या मंडपों के विन्यास में सुदामा गुफा से मिलती है। किन्तु छत का वितान खुरदरा छोड़ दिया गया था। बाहरी मंडप का फर्श और छत्र दोनों ही बिना संस्कार या चिकनाए हुए छोड़ दिए गए थे। इससे सूचित होता है कि गुफाओं को माठने या श्लक्ष्ण बनने की प्रक्रिया सबसे अन्त में की जाती थी। गुफा की दीवारें खूब चिकनी और चमकीली हैं। लोमस ऋषि गुफा का द्वार सबसे विशिष्ट है। यह आयताकार है जिसके दोनों ओर सलामीदार दो बगली खम्भे हैं और ऊपर आगे को निकला हुआ छज्जा है। द्वार के सिरदल के ऊपर एक गोलम्बर है जो पंजर से भरा हुआ है। इसमें कई कमांचे और पत्थर की छोटी बल्लियाँ हैं। इसी की अनुकृति से पश्चिम भारत की चैत्य गुफाओं में कीर्तिमुखों के गोलम्बर में भरे हुए पंजर या जाल बनाए गए। कमांचों के भीतर तीन स्तूपों की पूजा करते हुए हाथियों की बेल है। उनके ऊपरी भाग में एक जालीदार वातायन था। पंजर के ऊपर बड़े कीर्तिमुख की दो भुजाएँ हैं जिन के बीच में मत्थे पर स्तूपिका है, गल बहियों या गर्दनों के निचले भाग में भीतर की बड़ी आड़ी धन्नियों के छोर या सिरे चट्टान में काटकर दिखाए गए हैं। उनकी एक मंडलाकार माला सी बन गई है। गोलम्बर और पार्श्व स्तम्भों को आपस में बाँधने के लिए आँकुड़े लगे हैं। पत्थर में जिन अलंकरणों का कटाव हुआ है वे सब पूर्ववर्ती काष्ठशिल्प से लिए गए थे। वास्तु और शिल्प के इन विधानों की पूर्णता शताब्दियों के प्रयोगात्मक अभ्यास के बाद हुई। काष्ठ कर्म नष्ट हो गया पर पाषाण शिल्प बचा रहा। इस के ऊपर सूर्य रश्मियों जैसी चमकती प्रभा है। इसका काम बहुत सच्चा और बारीक है। देखने से ज्ञात होता है कि मानों किसी ओढ़ी-पहरी वधू के मुख पर घूँघट हो।
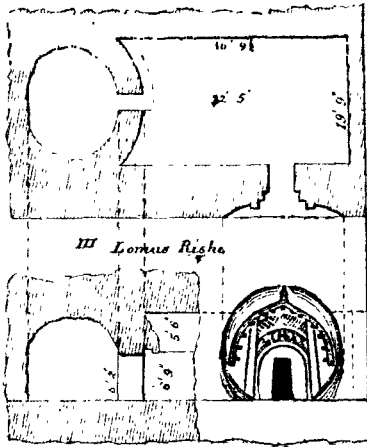
चित्र १४१

नागार्जुनी समूह में गोपी गुफा (४४ फु०×१९फु०×१० फुट) का विन्यास सुरंग जैसा है। इसके मध्य में ढोलाकार छत और दोनों सिरों पर दो गोल मंडप हैं जिनमें से एक को गर्भगृह और

दूसरे को मुखमंडप समझना चाहिए। यह अशोक के पौत्र दशरथ के काल में खोदी गई। इसमें अशोक कालीन गुहाशिल्प परम्परा की पूर्णतः रक्षा हुई (चित्र १४२)।

चित्र १४२

अशोक के स्तम्भ—अशोक कालीन कला का नवनीत ऊँचे स्तम्भों में है जिनकी लम्बी डंडियाँ ओपदार हैं और जिनके ऊपर पशुशीर्षक हैं। इनके निर्माण में शिल्प का कौशल तो है ही, इन की कल्पना भी अत्यन्त मौलिक, संभवतः स्वयं सम्राट् की देन, है। सम्राट् के मन में एक तो धर्म-संबन्धी महान् आदर्श था, दूसरे उसे स्तम्भशीर्षकों में व्यक्त करने की योजना थी। इसी के साथ बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों को और मध्यदेश की प्रमुख राजधानियों और सीमाओं को स्तम्भों से इंगित कराने की योजना भी थी। उसने इन दोनों बातों में पूर्ण सफलता प्राप्त की। अशोक ने जितने स्तम्भ बनवाए थे, वे सब सुरक्षित नहीं रहे। पाटलिपुत्र और बस्ती जिले में भी उसके खम्भे थे जिनके कुछ टुकड़े ही मिले हैं।
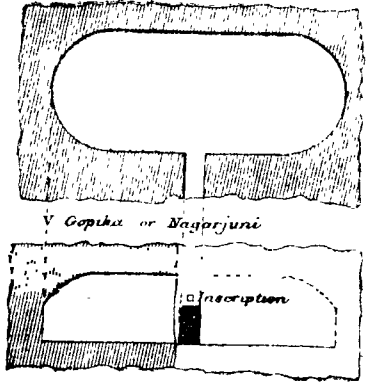
फाहियान (३९९-४१३ ई०) ने केवल छह स्तम्भ और युवाङ् चाङ् ने, जिसने देश के अधिक भूभाग में भ्रमण किया, पंद्रह स्तम्भ देखे थे। पर अर्वाचीन पुरातत्त्वालोकन से प्राप्त स्तम्भों की संख्या उनसे कहीं अधिक है। फाहियान के देखे छह स्तम्भों में से दो श्रावस्ती के जेतवन विहार के द्वार के थे जिनमें एक पर धर्मचक्र और दूसरे पर वृषभ का शीर्षक था, एक संकिस्सा में विहार के पृष्ठभाग में स्थित था, जो ५० हाथ (३० हाथ ऊँचा) था। इस खम्भ के ऊपर सिंह शीर्षक था और यह राजावर्त जैसी प्रभा से भास्वर था। इस पर एक लेख भी था। कुशीनगर से वैशाली के मार्ग में उसने चौथा खम्भा देखा जो आजकल का लौरिया अरराज स्तम्भ था। अशोक ने संघ को जम्बूद्वीप अर्थात् अपने महालक विजित का दान दे दिया था और फिर धन से उसे पुनः प्राप्तकर लिया। ऐसा तीन बार हुआ। इस कारण पाटलिपुत्र का वह खम्भ जम्बूद्वीप नाम से प्रसिद्ध हुआ। फाहियान का देखा हुआ छठा स्तम्भ भी पाटलिपुत्र में ही था जो ३०′ से भी ऊँचा था। उस पर सिंहशीर्षक था और अशोक ने उसकी स्थापना नी-ली नामक नगर का निर्माण सूचित करने के लिए की थी। उसपर तिथियुक्त लेख भी अंकित था। प्राचीन पाटलिपुत्र के पास कुमराहार नामक स्थान के दक्षिण मिला हुआ स्तम्भ 'जम्बूद्वीप स्तम्भ' ज्ञात होता है। उसके दो बड़े खंड मिले हैं। दूसरे पाटलिपुत्र स्तम्भ के बहुत से टूटे हुए टुकड़े श्री मुखर्जी को मौर्य प्रासाद के उत्तर में मिले थे। अनुमान होता है कि वह स्तम्भ आग लगाने से टूट-फूट हो गया था।

युवाङ् चाङ् ने इन पंद्रह अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भों का उल्लेख किया है—

१—"कपित्थस्तम्भ" जो सांकाश्य में था। इस पर बैगनी रंग की चमकीली ओप थी। इस पर सिंह शीर्षक था। पर वस्तुतः वहाँ हाथी का शीर्षक पाया गया। यह स्तम्भ स्तूप के सोपान के ऊर्ध्व भाग में था। स्तूप और स्तम्भ दोनों की रचना अशोक ने की थी। यह भी लिखा है कि स्तम्भ की मध्य यष्टि पर चारों ओर उकेरी की सज थी (वाटर्स १।३३४)।

२-३—श्रावस्ती के स्तम्भ—"जेतवन विहार के पूरबी द्वार के दोनों ओर दो शिला स्तम्भ थे। ये ७० फुट ऊँचे अशोक निर्मित थे। बाईं ओर के स्तम्भ पर चक्र और दाहिनी ओर वृषभ था।" (वही १।३८३)।

४—कपिलवस्तु में एक स्तम्भ जो क्रकुछन्द बुद्ध के स्तम्भ के सामने था। उसके मस्तक पर सिंह शीर्षक था और उस पर उसके अभिलेख में परिनिर्वाण की कथा थी। वह ३० फुट ऊँचा था (वही २।५)।

५—कपिलवस्तु में कनकमुनि बुद्ध का स्मारक स्तम्भ। ऊँचाई २० फुट से अधिक। इस पर सिंह शीर्षक था और लेख में कनकमुनि के परिनिर्वाण का उल्लेख था। निगलीवा गाँव में प्राप्त अशोक स्तम्भ यही है जो कपिलवस्तु से उत्तर-पूरब की ओर है। इसके स्तम्भलेख में लिखा है कि कनकमुनि के स्तूप को बढ़ाकर दुगुना किया गया। इस "शिलाथब" की स्थापना अशोक के राज्यकाल के २०वें वर्ष में हुई (लगभग २५० ई० पू०)।

६—लुम्बिनी उद्यान (वर्तमान रुम्मिनिदेई) का स्तम्भ—"इस पर अश्व शीर्षक था।" युवाङ् चाङ् के अनुसार यह बिजली गिरने से बीच में टूट गया था। उसने स्तम्भ लेख का वर्णन नहीं किया। फाङ् चिह ने कहा है कि उसमें बुद्ध के जन्म का उल्लेख था। यह अशोक का सबसे अधिक सम्मानित स्तम्भ था जिसे उसने बुद्ध के जन्मस्थान पर स्थापित करते हुए लेख में बताया कि "यहाँ भगवान् शाक्य-मुनि का जन्म हुआ था" (हिद बुधे जाते शाक्यमुनि ति)। सम्राट् ने स्वयं यहाँ आकर पूजा की थी और स्तम्भ खड़ा किया (शिला थभे उसपापिते)। उसने एक शिला प्राकार या वेदिका भी स्तम्भ के चारों ओर बनवाई थी।

७—कुशीनगर का स्तम्भ—यह बुद्ध के परिनिर्वाण का स्तम्भ था और उसके लेख में भी यह बात लिखाई गई थी (वही २।२८)। अभी तक यह मिला नहीं है। हिरण्यवती (गंडक) और अजिर-वती (राप्ती) के संगम के निकट कुशीनगर वर्तमाम कसिया है।

८—कुशीनगर में दूसरा स्तम्भ—जो उसी स्थान पर था जहाँ बुद्ध की धातुओं का आठ भागों में विभाजन उनके लिए किया गया था जो उसके दावेदार अर्थी थे (वही २।४२)। यह अभी तक नहीं मिला है।

९—सारनाथ के मार्ग में एक स्तम्भ जिसकी पहिचान स्मिथ ने संस्कृत विश्वविद्यालय में खड़ी हुई लाट भैरों से की थी। १९०८ के दंगे में उसे तोड़-फोड़ दिया गया। यह लाट चमकदार हरे पत्थर की बनी थी जिस पर दर्पण की सी दमक थी। उसमें बुद्ध की परछाईं बराबर दिखाई देती थी (वही २।४८)।

१०—सारनाथ का स्तम्भ—"यह ७० फुट से अधिक ऊँचा था। यह यशब जैसा सुकुमार, मृदुस्पर्शी और चमकीली ओप से युक्त था। इस स्थान पर बुद्ध ने सबसे पहले धर्मोपदेश किया था।" (वही २।५०)। युवाङ् चाङ् ने जो ऊँचाई लिखी है वह तथ्य से मेल नहीं खाती क्योंकि वर्तमान टूटे खंडों के आधार पर इसकी ऊँचाई ४९½ फुट आँकी गई है। यह सुप्रसिद्ध महाधर्मचक्र स्तम्भ था जो आर्तल को मिला था।

११—महाशाल में सिंह शीर्षक युक्त एक स्तम्भ जो अशोक स्तूप के सम्मुख था। वहीं युवाङ् चाङ् ने नारायण प्रासाद भी देखा था जिस प्रासाद में सुन्दर मंडप और वेदियाँ और सुन्दर कलात्मक मूर्तियाँ भी थीं। स्तम्भ लेख में यह भी लिखा था कि वहाँ बुद्ध ने एक यक्ष को वश में किया था (वही २।६०)। यहीं अशोक का एक स्तूप भी था जिसके सामने स्तम्भ को खड़ा किया। अशोक शैली का यह लक्षण था कि स्तूप और स्तम्भ दोनों एक साथ बनाए जाते थे।

१२—वैशाली स्तम्भ—ऊँचाई लगभग ५० फुट, सिंह शीर्षक युक्त जो अशोक निर्मित स्तूप के बराबर खड़ा किया गया था। कनिंघम ने इसकी पहिचान बाखिरा गाँव (कोल्हुआ) के बिना लेख वाले स्तम्भ से की थी (पु० रि०, १९०३-४, पृ० ८८)।

१३—पाटलिपुत्र स्तम्भ—ऊँचाई लगभग ३० फुट। यह फाहियान का जम्बूद्वीप स्तम्भ था (वही २।९३)। इस स्तम्भ की टूट-फूट के टुकड़े मिले हैं।

१४—पाटलिपुत्र का दूसरा स्तम्भ—यह कई दहाई फुट ऊँचा स्तम्भ वहाँ स्थित था जहाँ अशोक का 'रमणीयबन्धन' नामक नरकतुल्य कारागार था।

१५—राजगृह स्तम्भ—ऊँचाई ५० फुट। यह कलन्दक निवाप या सरोवर के निकट निर्मित स्तूप के पास था। इसके ऊपर हाथी का शीर्षक था। इसके लेख में स्तूप की स्थापना का कथन था (वही २।१६२)।

अब तक प्राप्त स्तम्भों की सूची—अब तक अशोक के निम्नलिखित स्तम्भ प्राप्त हुए हैं—१. सारनाथ स्तम्भ जिस पर चार सिंहों का शीर्षक है, २. साँची स्तम्भ, ३. सिंहशीर्षक युक्त रामपुरवा स्तम्भ ४. वृषशीर्षक युक्त रामपुरवा स्तम्भ (लेख रहित), ५. लौरिया नन्दनगढ़ सिंहशीर्षक युक्त स्तम्भ, ६. लौरिया अरराज स्तम्भ, ७. इलाहाबाद स्तम्भ (जो पहले कौशाम्बी में था और वहाँ से अकबर द्वारा प्रयाग दुर्ग में लाया गया), ८. कौशाम्बी स्तम्भ (लेख रहित किन्तु मौर्य ओप से युक्त), ९. रुम्मिनिदेई या लुम्बिनी स्तम्भ, १०. निगलीवा स्तम्भ, ११. बाखिरा या कोल्हुआ स्तम्भ (सिंहशीर्षक युक्त), १२. सांकाश्य स्तम्भ (लेख रहित, गज शीर्षक युक्त), १३ दिल्ली के दो स्तम्भ जिन्हें १३५६ ई० में सुलतान फिरोज ने टोपरा (अंबला जिला) और मेरठ से मँगवाया।

इन चौदह स्तम्भों में १० पर लेख हैं और चार पर नहीं। इसी सूची में निम्नलिखित को और जोड़ना आवश्यक है जो हाल में मिले हैं—

(१) पटना की सदर गली से प्राप्त वृषशीर्षक युक्त स्तम्भ खंड।

(२) पटना संग्रहालय में सुरक्षित ओपदार सिंहशीर्षक जो अशोक स्तम्भ का भाग था। इस पर कंटकारि के पत्ते हैं और इसकी बनावट कुछ भोंडी है। यह आरा के मसाढ़ गाँव में मिला था।

(३) पटना संग्रहालय में सुरक्षित चार वृषों के संघाट युक्त स्तम्भ शीर्षक। इसके ऊपर बीचों-बीच एक चूल है जो संभवतः धर्मचक्र के लिए थी। इस पर भी चमकीली मौर्य ओप है।

इनके अतिरिक्त श्री अमरनाथ को बस्ती में भी एक टूटा हुआ अशोक शीर्षक मिला था और एक अन्य के खंड वहीं से लखनऊ संग्रहालय के लिए प्राप्त हुए थे।

पुराने अवशेषों के वर्णनों में लिखा है कि श्री पी० मुखर्जी को एक अशोक स्तम्भ प्राप्त हुआ था जिसे पुनः तोप दिया गया। यह वही है जो वृषांकित स्तम्भ सदर गली पटना से मिला है। मुकर्जी का कहना है कि उन्हें पाटलिपुत्र में छह अशोक स्तम्भ मिले थे। इनमें एक बड़ा शीर्षक भी था जिसके अंडभाग का व्यास ३ फुट ७½ इंच था।

स्तम्भ शीर्षकों पर चार महा आजानेय पशुओं की मूर्तियाँ पाई गई हैं, अर्थात् अश्व, सिंह, वृषभ और गज। ये पशु वे ही हैं जो एक साथ सारनाथ के स्तम्भ शीर्षक के गोल अंडभाग पर अंकित हैं।[1]

स्तम्भों का वर्णन—स्तम्भों की रचना में एक ऊँची मध्य यष्टि या डंडी और ऊपर शीर्षक लगाया गया है। लाट (यष्टि, लट्ठी, लाट) की ऊँचाई ४० से ५० फुट के लगभग है। उनके नीचे की पेंदी भारी पत्थर की चौकी में छेद काटकर फँसाई गई है। लाट के ऊपर पशु की आकृति का शीर्षक है। मौर्य शिल्पियों की उत्कृष्ट कला का फल इन स्तम्भों में पाया जाता है। इनकी उदार प्रांशुता, सुखप्रद अनुपात, सच्ची उकेरी, मणि जैसी चमक, और सर्वोपरि चिर अभ्यास से परिणत शीर्षकों की कला, इन विशेषताओं के कारण ये मौर्य स्तम्भ कला के संसार में अद्वितीय हैं। इसके अतिरिक्त यदि शीर्षकों के प्रतीकात्मक अर्थों पर भी विचार किया जाय तो भारतीय कला में अपूर्व सामग्री हमारे सम्मुख आती है और विश्व कला में भी वह बेजोड़ ठहरती है। इन स्तम्भों की शैली अध्ययन करने से इनके तिथिक्रम पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

१. इनमें सबसे पहले बाखिरा या कोल्हुआ का सिंह स्तम्भ था। तदनन्तर संकिसा का गज-शीर्षक युक्त स्तम्भ बनाया गया। २. दूसरे वर्ग में इनके बाद रामपुरवा का वृषशीर्षक स्तम्भ रचा गया। उसके ठीक पीछे लौरियानन्दनगढ़ का सिंह शीर्षक स्तम्भ बना। इन दोनों में आरम्भिक अपरूपता की जगह नया पाटव या कृतित्व-सौन्दर्य आने लगा। अब स्तम्भ के विभिन्न अंगों में स्तम्भ और उनके प्राकृतिक सौन्दर्य का विकास हो गया। ३. रामपुरवा के सिंहशीर्षक स्तम्भ और साँची के सिंह स्तम्भ तक पहुँचते-पहुँचते शिल्पियों के हाथ मँज गए थे। उसके अनन्तर सारनाथ के सिंह स्तम्भ में शिल्पियों ने अपनी कला की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली। इस समय वे अपनी कला के सौष्ठव के शिखर पर थे।

चित्र १४६

बाखिरा सिंहस्तम्भ—इसकी डंडी भारी और अनुपात से अधिक मोटी और ठिंगनी है। ऊपर सिंह की मूर्ति भोंडी शैली की है। सिंह को चौकी पर क्लिष्ट आसन में दबकी मुद्रा में बैठे बड़े बिलौटे जैसा मानों टाँग दिया गया है। उसकी मुद्रा कृत्रिम और काष्ठशिल्प की भाँति विजड़ित है। यद्यपि तक्षक ने पत्थर के बड़े ढोके को गढ़ा है पर उसके विभिन्न भागों को वह ऊर्ध्व छन्द के अन्तर्गत नहीं ला सका, जैसा अशोक कालीन उत्तम कला में पाया जाता है (चित्र १४६)।

चित्र १४७
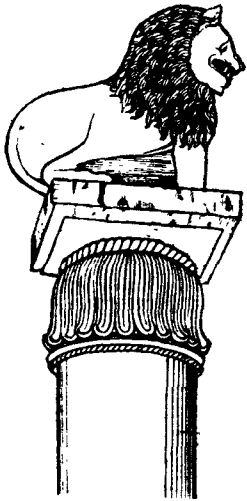
सांकाश्य का गजशीर्षक—इसके शीर्षक के तीन भाग हैं, ऊपर गज, बीच में अंड और नीचे कमलयुक्त पूर्णघट। अंड पर मुचकुंद, कमल के पुष्प और कलियों की बेल है जिनके बीच-बीच

१. अशोक कालीन स्तम्भों और शीर्षकों की पूरी सूची के लिए देखिए श्री वी० ए० स्मिथ का लेख, 'अशोक के एकाश्मक स्तम्भ' (ZDMG, भाग ६५, १९११, पृ० २२१–२४०)।
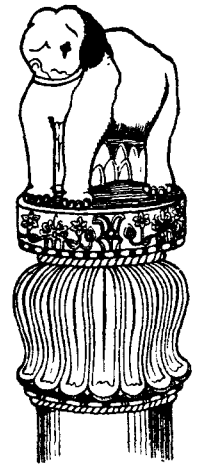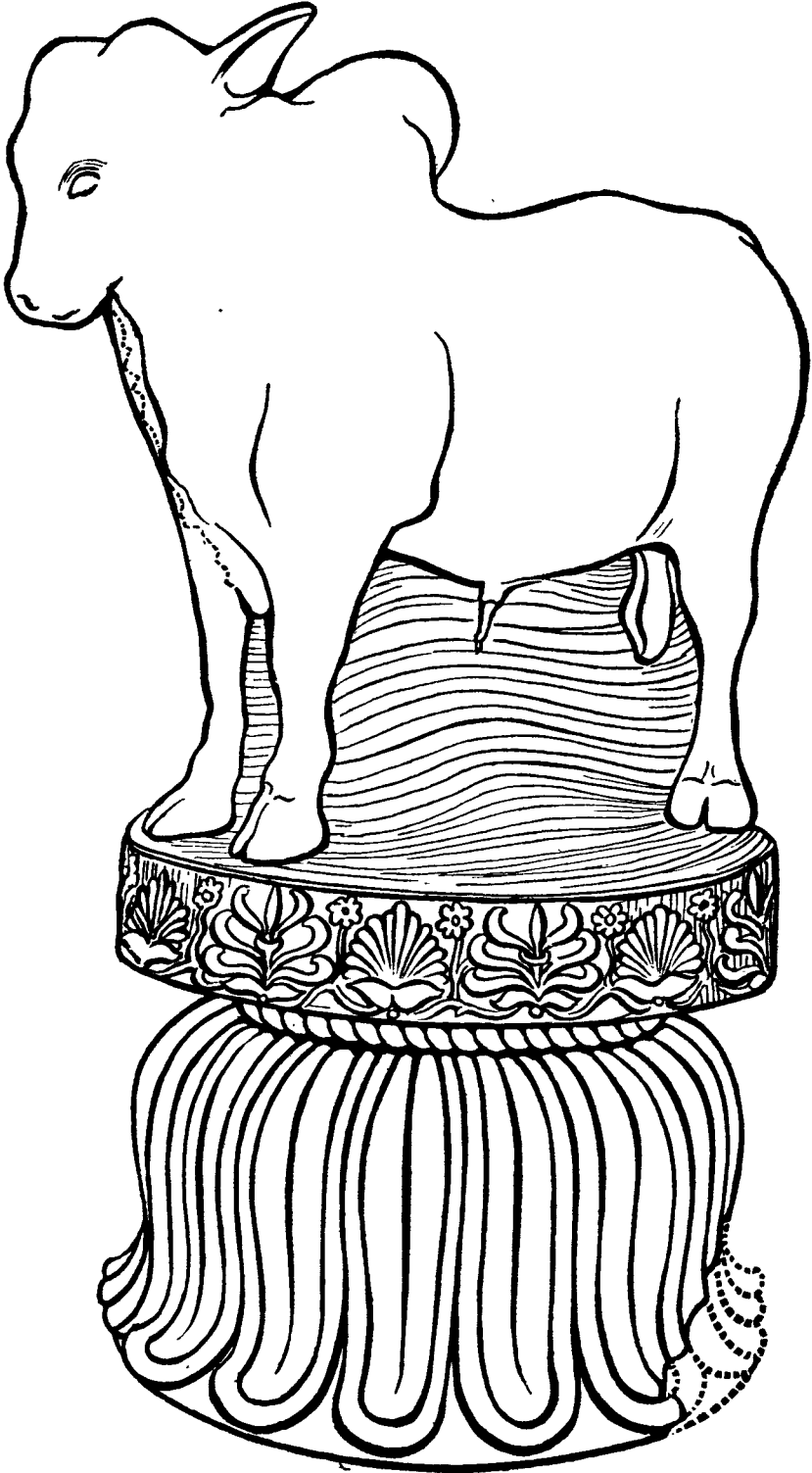
चित्र १४८

त्रिरत्न चिह्न हैं। अंड के नीचे चकली और चक्र के अलंकरण की माला है। चौकी की बनावट और मुड़ी पत्तियों वाला पद्म अधिक विकसित और सुन्दर है (चित्र १४७)।

रामपुरवा वृषांकित शीर्षक—इसके तीन भाग हैं, अर्थात् ऊपर पशुरूप, बीच में गोल अलंकृत अंड भाग और नीचे अवाङ्मुखी कमल। यह नटुआँ बैल जिसके शरीर पर मांस के लेवड़े चढ़े हैं भारतीय पशुओं की तक्षण कला में बहुत ही विशिष्ट बन पड़ा है। यह अपनी चौक पर ललित मुद्रा में खड़ा है जिसमें किसी प्रकार का आयास नहीं है। शिल्पी को यष्टि और मस्तक के ऊर्ध्व छन्द का तक्षण करने में पूरी सफलता मिली है (चित्र १४८)।

लौरिया नन्दनगढ़ का सिंह शीर्षक—इस शीर्षक पर उकडूँ या उठंग मुद्रा में बैठा हुआ सिंह दिखाया गया है। इसकी गोल चौकी पर हंसपंक्ति अंकित है जैसी रामपुरवा सिंह स्तम्भ पर है। इस पर अंड के नीचे अवाङ्मुख पद्म है। मौज पत्तियों के ऊपर मेखला-बंधन है और नीचे के भाग में दुहरी काँधनी (कायबंधन) है। सिंह की आकृति बलिष्ठ और प्रभावशाली है, तो भी इसका भाव कुछ रूढ़िग्रस्त है (चित्र १४९)।
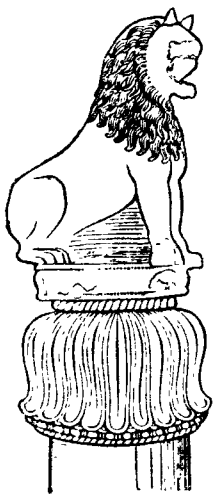
चित्र १४९

रामपुरवा सिंहस्तम्भ—यह लौरिया सिंह-स्तम्भ के सदृश है। इसमें भी वही तीन अंग हैं अर्थात् सिंह, हंस पंक्ति और अवाङ्मुख पद्म। सिंहमूर्ति चौकी पर स्वाभाविक मुद्रा में आसीन है और उसके अंगों में परस्पर अनुपातगत साम्य या समविभक्तता है। कुछ लोग इसे सारनाथ के सिंहों से भी अधिक लययुक्त मानते हैं (चित्र १५०)।

चित्र १५०

सारनाथ सिंहशीर्षक स्तम्भ—इस उदाहरण में अशोक कालीन कला-शिल्प और स्थापत्य का सर्वोत्तम विकास हुआ। यह महाकाय शिल्प कृति रूपसंपुंजन की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मसूत्र या भूलम्बरेखा और पार्श्वगत भागों के सन्तुलित विन्यास में इसके तक्षा ने अद्‌भुत निपुणता दिखाई है। इसके विविध अंगों के विन्यास की कल्पना चार दिशाओं के आधार पर की गई है और उन चारों को एक में गूँथ कर शिल्पी ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके संपुंजन की दिक् रेखाएँ, कर्ण रेखाएँ और ऊर्ध्वछन्द का पारस्परिक संतुलित विन्यास किसी महान् प्रतिभाशाली शिल्पी के कौशल का परिचय देता है जिसमें पूर्ण आत्मविश्वास के साथ स्पष्ट तक्षण और भावप्रदर्शन की क्षमता थी। इस सिंह शीर्षक का सबसे बड़ा गुण वे धार्मिक अर्थ हैं जो इसके द्वारा प्रकट किए गए। उनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

यह शीर्षक किसी समय '५०' ऊँचे स्तम्भ के सिरे पर रक्खा हुआ था। पर किसी प्राकृतिक दुर्घटना से यह गिर गया। सौभाग्य से केवल हलकी सी चोट खाकर यह सुरक्षित बच गया।
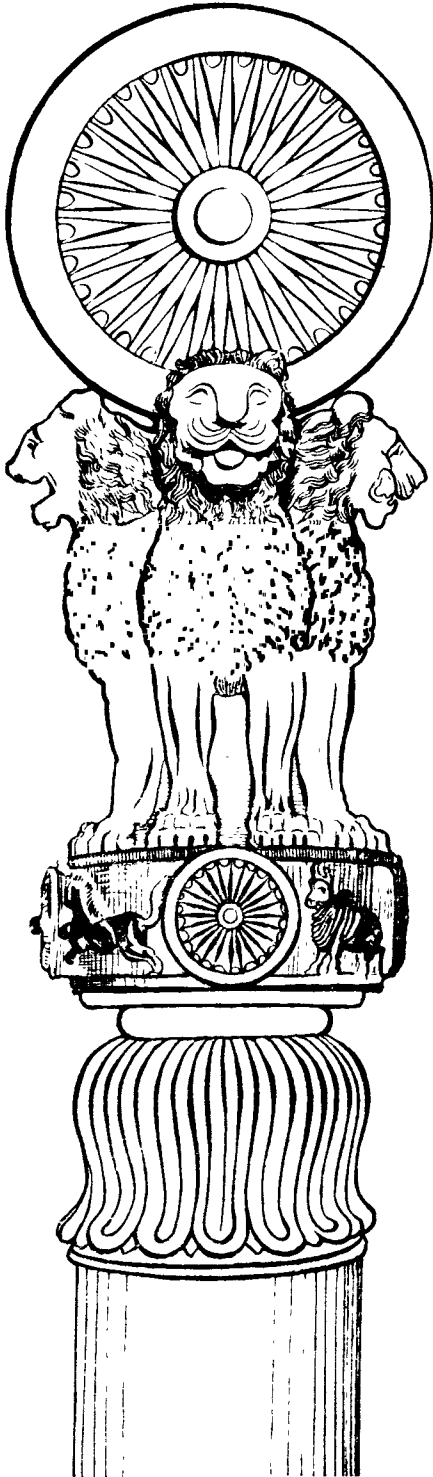
स्तम्भ शीर्षक के विविध अंग—पूरे स्तम्भ के निम्नलिखित भाग हैं—

१—बिना माठा हुआ नीचे का बुनियादी पत्थर जिसके ऊपर स्तम्भयष्टि खड़ी की गई। इसके चौकोर छेद में स्तम्भ का कुछ भाग बैठाया गया था।

२—स्तम्भयष्टि या ऊँची गावदुम लाट।

३—पूर्णघट जिसमें बड़ा और प्रफुल्लित पद्मकोष है जिसकी लहराती हुई पंखुड़ियाँ या मौजपत्ते बाहर की ओर लहरा रहे हैं।

४—गोल अंड या चौकी जो दिक्मंडल या चक्रवाल की आकृति की है। उस पर चार महा आजानेय पशु और चार छोटे चक्र अंकित हैं।

५—चार सिंह जो पीठ सटाए उकड़ूँ बैठे हैं।

६—महाचक्र (चित्र १५२ जिसमें चक्र का पुनर्निर्मित रूप दर्शित है, तथा चित्र १५२ अ–इ जिसमें चक्र के ओपयुक्त मूल टुकड़ों में से प्रमुख खंड के रेखाचित्र हैं)।

इन छह अंगों की पूर्वकालिक परम्परा ऋग्वेद के समय तक मिलती है। लम्बी यष्टि वैदिक स्तम्भ या स्कम्भ के रूप में थी जिसे विश्व का स्तम्भन या पृथिवी से द्युलोक तक उठी हुई टेक माना जाता था। उसे सत्र देवों का सदन या आवास कहा गया है। स्वयं प्रजापति ने विश्व को स्कम्भित करने के लिए इस प्रकार के स्कम्भ की रचना की (यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान् सर्वान् आधारयत्, स्कम्भं तं ब्रूहि, अथर्व १०।७।७)। यज्ञीय यूप उसी स्कम्भ का प्रतिनिधि था और श्मशानगत स्थूणा भी उसी का प्रतिरूप कल्पित की गई थी। ब्रह्म या प्रजापति का स्कम्भ रूप यज्ञीय यूपों में विकसित हुआ और वही श्मशानयूप या चैत्ययूप के रूप में परिगृहीत हुआ। इन सबके पीछे स्तम्भ-पूजा की लोक परम्परा थी जिसमें स्तम्भ को देवता माना जाता था। लौरियानन्दन गढ़ के स्तम्भ को लौर बाबा के नाम से पूजते हैं और बेसनगर के स्तम्भ को खाम बाबा के नाम से। अशोक से पूर्व लगभग तीन सहस्र वर्षों तक

चित्र १५१

भारतीय तक्षा यज्ञीय यूपों के रूप में काष्ठस्तम्भों की रचना करते रहे। अशोक के शिल्पियों ने केवल काष्ठ के स्थान में पत्थर का परिवर्तन किया।

चैत्यप्रासादों के सम्मुख लगे हुए स्तम्भों को प्रासाद स्तम्भ कहा जाता था। पहाड़ी गुफाओं के सामने उत्कीर्ण ऐसे स्तम्भों के लिए कीर्तिस्तम्भ शब्द भी था। उसमें 'कीर्ति' का अर्थ पर्वतीय गुफा था। बौद्ध स्तूपों के सम्मुख भाग में भी स्तम्भ खड़े किए जाते थे जैसा सारनाथ और साँची के स्तूपों से विदित होता है। लंका के निकुम्भिला चैत्य के सामने ही एक बड़ा लकड़ी का विशाल खम्भा था जिसे राक्षसों पर प्रहार करने के लिए हनूमान् ने उखाड़ लिया था। ऋग्वेद में इन खम्भों की ऊँचाई (वर्ष्मन्) का उल्लेख हुआ है और इन्हें यज्ञ-ध्वज (अध्वरस्य केतुं) रूप बताया गया है (ऋ०३।८।३; ३।८।८)। ऐसे स्तम्भों को समस्त प्रजा के सुख-सौभाग्य के लिए खड़ा किया जाता था (महते सौभगाय, ऋ० ३।८।२)।

सारनाथ स्तम्भ के ऊर्ध्व छन्द का अगला भाग वह पूर्णघट है जो बाहर की ओर लहराती हुई कमल की पंखुड़ियों से ढँका है। इस अभिप्राय के नाम और रूप के विषय में कुछ मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् इसे घंटाकृति कहते हैं। उनकी मान्यता है कि यह औंधा रक्खा घंटा है पर हमें यह मत बिलकुल ठीक नहीं जँचता। इसके विपक्ष में कई समीचीन कारण हैं—

१—घंटे की आकृति में ऊपर की मौज पत्तियों के लिये कोई स्थान नहीं है।

२—पंखड़ियों के अतिरिक्त उनकी बछेड़ियाँ (sepals) भी हैं जिन्हें परंपरा प्राप्त पद्माकृति में अभी तक बनाया जाता है।

३—यदि इसे घंटा मानें तो उसके ऊपर बँधी हुई रश्मिमयी मेखला की कोई संगति नहीं बैठती जो केवल पूर्णघट के कंठबंधन के लिए ही संगत है। इन विभिन्न अलंकरणों की व्याख्या केवल पूर्णघट में ही संभव है क्योंकि पूर्णघट में कमल के पुष्प, पत्तियाँ, कलियाँ और बछेड़ियाँ सभी रहती हैं और पूर्णघट के कंठे या पिटार में माल्यदाम भी पहनाया जाता है। पहली बात यह है कि पूर्णघट की कल्पना ऋग्वेद काल से चली आती थी और बाद के सैकड़ों स्तम्भों के सिरे और पेंदी पर पूर्णकुम्भ की रचना पाई जाती है जो इसी प्रकार पद्मकोष से भरा हुआ है। बौद्ध साहित्य में पूर्णघट को पुण्णघट कहा गया है। मंगलकलश का यह रूप कला में बहुस्वीकृत था। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों में पूर्ण कुम्भ का विवरण पाया जाता है। यह धनाढ्य और रंक सबमें लोकप्रिय था। प्रत्येक मांगलिक अवसर पर पूर्णघट की स्थापना धार्मिक चिह्न के रूप में या शोभा के लिए की जाती है। इस चिह्न का अर्थ सबके लिए सुगम है। इसका मांगलिक रूप बिना तर्क के सिद्ध है। इसी के साथ यह भी विचारने योग्य है कि कोई भी अभिप्राय कला में सहसा प्रकट नहीं होता और न सहसा लुप्त हो जाता है। यह बाहर से आया हुआ न था। यह निश्चय ही भारतीय परंपरा के भीतर से उत्पन्न हुआ और जनता ने समझ-बूझकर इसे अपनाया। पूर्वापर युगों की परंपरा के साथ इसका पूरा मेल बैठता है। पूर्णघट अभिप्राय में इस स्थिति का पूर्ण पालन देखा जाता है। अशोक कालीन कला के अनन्तर जो स्तम्भों की परंपरा पश्चिमी पर्वत गुहाओं में पाई जाती है उसमें पूर्णघट प्रतिमंडित स्तम्भों का प्राधान्य है। भरहुत, साँची स्तूपों पर तथा कार्ले, कन्हेरी आदि गुहाओं में जो स्तम्भ पाए गए हैं उनमें पूर्णघट को उनकी कुम्भी और शीर्षक के रूप में स्थान दिया गया है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सारनाथ में ही मौर्यकाल के बाद जब शुंग काल के शिल्पी आए तो उन्होंने पूर्णघट के रूप में ही स्तम्भों के शीर्षभाग और पेंदी में इस अभिप्राय का चित्रण किया जैसा वहाँ की शुंग कालीन वेदिका पर पाया जाता है। स्तम्भ सं० डी (ए १) और डी (ए ७) पर दो चक्रस्तम्भ हैं जिनकी यष्टि के ऊपरी सिरे पर और नीचे पेंदी में भी पूर्णकुम्भ हैं जिनके भीतर से लहराती मौज पत्तियाँ निकल रही हैं।

सारनाथ स्तम्भ के गोल अंड भाग पर चार छोटे धर्म चक्र और चार महा आजानेय पशु हैं, यथा—वृषभ, गज, अश्व एवं सिंह। इन चारों की परम्परा एक ओर सिन्धुघाटी तक है और
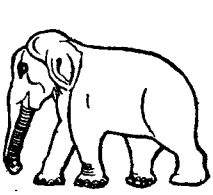
चित्र १५३ अ
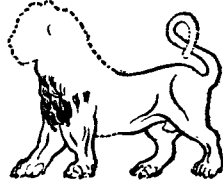
चित्र १५३ आ
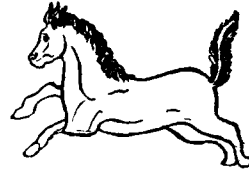
चित्र १५३ इ
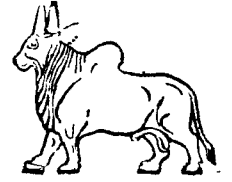
चित्र १५३ ई

दूसरी ओर १९ वीं शती तक। देशगत विस्तार भारत से लेकर लंका, बर्मा, स्याम और तिब्बत तक मिलता है। बौद्ध स्तम्भों के अलंकरण में प्रायः इनका प्रयोग किया गया और महावंश में इन्हें 'चतुष्पद-पंक्ति' कहा है।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक तिकोनी मुद्रा पर (दे० चित्र ४०), नागार्जुनीकोंड स्तूप की चन्द्रशिलाओं पर, अनुराधपुर के गुप्तकालीन स्तूपों की चन्द्रशिलाओं पर, एक १८ वीं शती के राजस्थानी चित्र में जो इस समय दिल्ली संग्रहालय में है और १९ वीं शती के बंगाल से प्राप्त एक कन्थे (इस समय भारत कला भवन में) आदि पर इस चतुष्पद-पंक्ति का सुन्दर अंकन पाया गया है। साहित्यिक साक्षी तो बहुत विस्तृत है। बौद्ध कल्पना में ये चार पशु अनवतप्त सरोवर के चार द्वारों के रक्षक हैं जहाँ से चार महानदियों का उद्गम है। वाल्मीकि रामायण में इन्हें राम के अभिषेक के लिए एकत्र मांगलिक द्रव्यों में गिना गया है और केशवदास ने (१७ वीं शती) राम के राजप्रासाद के चार द्वारों पर इनका उल्लेख किया है। कला और साहित्य में इनके लगभग पचास अवतरण और उल्लेख हमें मिले हैं जिनकी सूची हमने अपनी 'चक्रध्वज' पुस्तक में दे दी है। उस सूची से यह सिद्ध है कि लोक भावना में इन्हें पवित्र समझा जाता था और इनके पीछे बौद्ध, जैन और ब्राह्मण इन तीनों महान् धर्मों की मान्यता का भी बल था।

गोल अंड पर चार चक्रों का चार दिशाओं में अभिमुख चित्रण है। इनकी सच्ची व्याख्या चक्रवर्ती सम्राट् के उन चार चक्रों में पाई जाती है जो उसके राजप्रासाद के चार द्वारों से चार दिशाओं में प्रवर्तित होते हुए दिक् चक्रवाल के अन्त तक घूमते थे। इनका सर्वोत्तम वर्णन दीघनिकाय के चक्कवत्ति सुत्तन्त (पृ० ५८–६३) में पाया जाता है।[1]

---

१. चक्करतनं

'एवं, देवा'ति खो, भिक्खवे, राजा खत्तियो मुद्धाभिसित्तो राजिसिस्स पटिस्सुत्वा अरिये चक्कवत्तिवत्ते वत्ति। तस्स अरिये चक्कवत्तिवत्ते वत्तमानस्स तदहुपोसथे पन्नरसे सीसन्हातस्स उपोसथिकस्स उपरिपासादवरगतस्स दिब्बं चक्करतनं पातुरहोसि सहस्सारं सनेमिकं सनाभिकं सब्बाकारपरिपूरं। दिस्वान रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स

(अंड की चौकी के ऊपर चार सिंह जो चार दिशाओं में मुँह किये उकड़ूँ बैठे हैं, चक्रवर्ती सम्राट् की शक्ति के सूचक है। सम्राट् अशोक भी वैसे ही चक्रवर्ती थे जैसे किसी समय महासुदस्सन

एतदहोसि—'सुतं खो पन मेतं—यस्स रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स तदहुपोसथे पन्नरसे सीसन्हातस्स उपोसथिकस्स उपरिपासादवरगतस्स दिब्बं चक्करतनं पातुभवति सहस्सारं सनेमिकं सनाभिकं सब्बाकारपरिपूरं, सो होति राजा चक्कवत्ती। अस्सं नु खो अहं राजा चक्कवत्ती'ति।

"अथ खो, भिक्खवे, राजा खत्तियो मुद्धाभिसित्तो उट्ठायासना एकंसं उतरासङ्गं करित्वा वामेन हत्थेन भिङ्कारं गहेत्वा दक्खिणेन हत्थेन चक्करतनं अब्भुक्किरि—'पवत्ततु भवं चक्करतनं, अभिविजिनातु भवं चक्करतनं'ति।

"अथ खो तं, भिक्खवे, चक्करतनं पुरत्थिमं दिसं पवत्ति, अन्वदेव राजा चक्कवत्ती सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। यस्मिं खो पन, भिक्खवे, पदेसे चक्करतनं पतिट्ठासि तत्थ राजा चक्कवत्ती वासं उपगच्छि सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। ये खो पन, भिक्खवे, पुरत्थिमाय दिसाय पटिराजानो ते राजनं चक्कवत्तिं उपसङ्कमित्वा एवमाहंसु—"एहि खो, महाराज। स्वागतं ते, महाराज। सकं ते, महाराज। अनुसास, महाराजा'ति। राजा चक्कवत्ती एवमाह—'पाणो न हन्तब्बो, अदिन्नं नादातब्बं, कामेसुमिच्छा न चरितब्बा, मुसा न भासितब्बा, मज्जं न पातब्बं, यथाभुत्तं च भुञ्जथा'ति। ये खो पन, भिक्खवे, पुरत्थिमाय दिशाय पटिराजानो ते रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अनयन्ता अहेसुं।

"अथ खो तं, भिक्खवे, चक्करतनं पुरत्थिमं समुद्दं अज्झोगाहेत्वा पच्चुत्तरित्वा दक्खिणं दिसं पवत्ति··· पे०···दक्खिणं समुद्दं अज्झोगाहेत्वा पच्चुत्तरित्वा पच्छिमं दिसं पवत्ति, अन्वदेव राजा चक्कवत्ती सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। यस्मिं खो पन, भिक्खवे, पदेसे दिब्बं चक्करतनं पतिट्ठासि, तत्थ राजा चक्कवती वासं उपगच्छि सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। ये खो पन, भिक्खवे पच्छिमाय दिसाय पटिराजानो ते राजानं चक्कवत्तिं उपसङ्कमित्वा एवमाहंसु—'एहि खो, महाराज। स्वागतं ते, महाराज। सकं ते, महाराज। अनुसास, महाराजा'ति। राजा चक्कवत्ती एवमाह—'पाणो न हन्तब्बो, अदिन्नं नादातब्बं, कामेसुमिच्छा न चरितब्बा, मुसा न भासितब्बा, मज्जं न पातब्बं, यथाभुत्तं च भुञ्जथा'ति। ये खो पन, भिक्खवे, पच्छिमाय दिसाय पटिराजानो ते रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अनुयन्ता अहेसुं।

"अथ खो तं, भिक्खवे, चक्करतनं पच्छिमं समुद्दं अज्झोगाहेत्वा पच्चुत्तरित्वा उत्तरं दिसं पवत्ति, अन्वदेव राजा चक्कवत्ती सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। यस्मिं खो पन, भिक्खवे, पदेसे दिब्बं चक्करतनं पतिट्ठासि, तत्थ राजा चक्कवत्ती वासं उपगच्छि सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय। ये खो पन, भिक्खवे, उत्तराय दिसाय पटिपटिराजानो ते राजानं चक्कवत्तिं उपसङ्कमित्वा एवमाहंसु—'एहि खो, महाराज। स्वागतं ते, महाराज। सकं ते महाराज। अनुसास, महाराजा'ति। राजा चक्कवत्ती एवमाह—पाणो न हन्तब्बो, अदिन्नं नादातब्बं, कामेसुमिच्छा न चरितब्बा, मसा न भासितब्बा, मज्जं न पातब्बं, यथाभुत्तं च भुञ्जथा'ति। ये खो पन, भिक्खवे, उत्तराय दिसाय पटिराजानो ते रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अनुयन्ता अहेसुं।

"अथ खो तं, भिक्खवे, चक्करतनं समुद्दपरियन्तं पथविं अभिविजिनित्वा तमेव राजधानिं पच्चागन्त्वा रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अन्तेपुरद्वारे अत्थकरणपमुखे अक्खाहतं मञ्ञे अट्ठासि, रञ्ञो चक्कवत्तिस्स अन्तेपुरं उपसोभयमानं।

(दीघनिकाय, २, पृ० ५८–८३; देवनागरी सं०, पृ० ४६–५०)

और मान्धाता थे। बुद्ध में चक्रवर्ती और योगी दोनों आदर्श सम्मिलित थे। सारनाथ के सिंहशीर्षक में भी इन दोनों अर्थों का सम्मिलन है।

सिंहों के मस्तक पर एक महा धर्मचक्र स्थापित था। उसके लिए सिंहसंघाट के बीचों-बीच एक चूल काटी गई थी जो अब भी है। उस चक्र में ३२ अरे थे किन्तु अब उसके केवल छह छोटे टुकड़े प्राप्त हैं और उन पर भी वही मौर्य प्रभा है। उनकी सहायता से मूलभूत महाचक्र के आकार का पुनर्निर्माण किया जा सका है। भारतीय कला और वाङ्मय की साक्षी से विदित होता है कि यह चक्र वही था जिसे विभिन्न सन्दर्भों में ब्रह्मचक्र, भवचक्र, कालचक्र, सुदर्शनचक्र आदि नामों से कहा गया है। यह विराट् पुरुष का नारायण चक्र था और ललितविस्तर में स्पष्ट आया है कि इस सहस्रार चक्र को पूर्व युगों के अनेक बुद्धों ने प्रवर्तित किया था। मथुरा की जैन कला में कई चक्र-स्तम्भों का अंकन है। एक आयागपट्ट भी चक्रपट्ट के रूप में उत्कीर्ण मिला है। भरहुत, साँची, बोधगया और अमरावती के स्तूपों पर भी चक्रांकित ध्वज का अंकन मिलता है। हिन्दू धर्म में वृत्त चक्र को विष्णु का आयुध कहा गया है और ऋग्वेद में उसे ही प्रवर्तमान कालचक्र कहा है (ऋ० १।१५५।६; १।१६४।११–१३)।
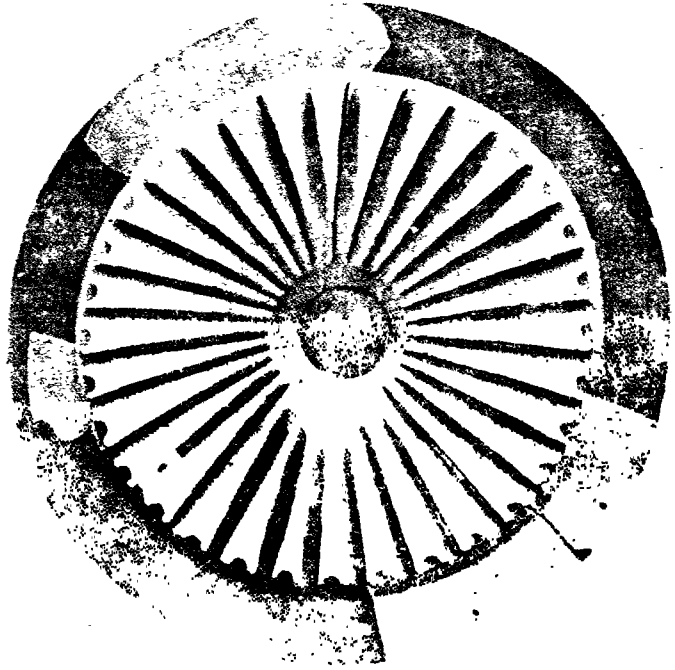
चित्र १५२ महाधर्मचक्र
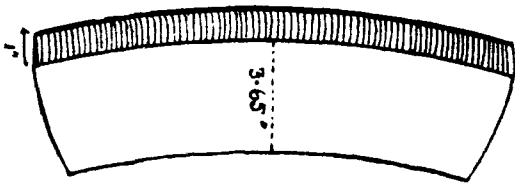
चित्र १५२ अ

चित्र १५२ आ

चित्र १५२ इ

एक मत से सारनाथ के स्तम्भशीर्षक को कला का सर्वोत्तम रूप माना

जाता है। मौर्य शिल्पियों के रूप-विधान का इससे अच्छा दूसरा नमूना नहीं है। मार्शल की संमति में यह सर्वश्रेष्ठ शिल्पकृति है जो भारत में पाई गई है और इसके जैसी अन्य कोई वस्तु प्राचीन विश्व में कहीं भी नहीं मिली। स्मिथ के मत में "शिल्पी की निपुणता सबसे अधिक पूर्णता को प्राप्त हो गई और आज २० वीं शती में भी कला का ऐसा प्रदर्शन असंभव है। ३०-४० फुट ऊँचे स्तम्भों की यष्टियाँ, जो चुनार के बलुए पत्थर की बनी हैं, ऐसी प्रभा से भास्वर हैं जिसका आज भी संसार का कोई देश रहस्य नहीं जानता।"

सिंह स्तम्भ की कला के विषय में मार्शल ने पुनः कहा है—"यद्यपि सारनाथ का सिंहस्तम्भ श्रेष्ठ कला का अविकल उदाहरण नहीं हैं किंतु ईसवी शती पूर्व के संसार में इसके जैसी श्रेष्ठ कलाकृति कहीं नहीं मिलती। यह उस शिल्पी का बनाया हुआ है जिसके पूर्वजों ने सैकड़ों वर्षों तक कलात्मक तक्षण का पुष्कल अभ्यास किया था। ऊपरी सिंहों में जैसी शक्ति का प्रदर्शन है, उनकी फूली नसों में जैसी प्राकृतिकता है और उनकी मांस पेशियों में जो तनाव है और उनके नीचे उकेरी आकृतियों में जो प्राणवन्त वास्तविकता है उसमें कहीं भी आरम्भकालीन कला की छाया नहीं है। शिल्पी ने जिस प्राकृतिक रूप को अपना लक्ष्य बनाया था उसे उसकी पूरी मात्रा में प्रकृति से ही अपनाया और सिंहों के रूपों को प्राकृतिक सचाई से प्रकट किया। किंतु उसने इससे भी अधिक कार्य किया। उसने समझबूझ कर सिंहों के निर्माण में ऐसी गुणवत्ता भर दी है कि वे पूरे स्तम्भ का अविभाज्य या समन्वित अंग जान पड़ते हैं। उसकी उकेरी भी वैसी ही परिपक्व है। प्राचीन यूनानी कला में किसी आकृति को अग्र एवं पृष्ठ-भूमि के बीच में बाँधा जाता था। सारनाथ स्तम्भ पर ऐसी बात नहीं है। यहाँ पर पशुओं के प्रत्येक अंग को अपने ही अनुसार उभारा गया है और प्रत्येक का निर्गम एक दूसरे से पृथक् है। इन आकृतियों से ज्ञात होता है कि कलाकार ने प्रत्येक रूप को चौमुख दर्शन का बना कर फिर उसका अगला भाग काट कर अंड की गोल चौकी पर चिपका दिया है।"

साँची सिंह स्तम्भ—साँची सिंह स्तम्भ सारनाथ से मिलता-जुलता है उसमें भी शीर्षक पर चार सिंह पीठ सटाए बैठे हैं और एक गोल अंड पर चुगते हुए हंसों की पङ्क्ति है जो रामपुरवा शीर्षक के सदृश है। पर साँची की उकेरी अधिक रूढिग्रस्त है। संभवतः उसका काल सारनाथ के बाद है (चित्र १५४)।

सारनाथ सिंह शीर्षक के प्रतीकात्मक अर्थ—यह कहना आवश्यक है कि सारनाथ स्तम्भ धर्म का महान प्रतीक है जिसमें प्रत्येक भाग को जान-बूझकर स्थान दिया गया है।* यह भी ज्ञात होता है कि इस धार्मिक प्रतीक में सम्राट् अशोक ने स्वयं अपना दृष्टिकोण व्यक्ति, धर्म, राज्य और विश्व के विषय में प्रकट किया है। इस शीर्षक की कल्पना के विधाता सम्राट् स्वयं थे यह बात तीन बातों के अध्ययन से समुचित जान पड़ती है। पहला

* अंडाकार चौकी के विषय में कई मत प्रकट किए गए हैं। ब्लाख के मत में वे चार देवता इन्द्र, शिव, सूर्य और सम्भवतः दुर्गा के प्रतीक हैं। ये पशु इन चार देवताओं के वाहन थे और शिल्पी का उद्देश्य था कि इन चार देवताओं को बुद्ध के वशवर्ती दिखाया जाय। यह मत दिखावे भर का है, पर इसका समर्थन शक्य नहीं। फूशे ने उन्हें बुद्ध के जीवन की चार घटनाओं से संबंधित बतलाया था; वृष जन्म के लिए, हाथी अवक्रान्ति या मायादेवी के गर्भाधान के लिए जिसने स्वप्न में एक श्वेत हाथी देखा था, अश्व अभिनिष्क्रमण के लिए और सिंह शाक्यसिंह के रूप में स्वयं बुद्ध के लिए। दयाराम साहनी के मत मे ये बौद्ध अनोतत्त सरोवर के चार द्वारों से संबंधित चार पशु थे।

तथ्य अशोक का जन-सम्पर्क है जैसा उन्होंने लिखा है कि वे जानपद जन के दर्शन और धर्म परिपृच्छा के लिए उनसे सम्पर्क रखते थे। इसके लिए वे स्वयं यात्रा करते और अपने अधिकारियोंको यात्रा के लिए आदेश देते थे (जानपद जनस दसनं धम्मपलिपुछा धम्मानुसथि च)।

इस नीति का आरम्भ अशोक ने इस इच्छा से किया कि गाँव की जनता के साथ उनका सीधा सम्पर्क बन सके। वे धर्म के विषय में उनसे प्रश्न पूछते और अपने विचारों को प्रकट करते हुए उन्हें समझाते थे। इससे उनके मन में जनता के लिए एक नया सम्मान प्रकट होता है। देश के इतिहास में किसी राजा ने इस प्रकार नहीं सोचा।

चार चक्र और चार पशु इसी लोकव्यापी भावना के प्रतीक हैं, क्योंकि वे सामाजिक जनों की इकाई और उनके भेदों को सूचित करते हैं। अशोक के विषय में दूसरा तथ्य उनका महालक विजित या महान साम्राज्य के अधिष्ठाता के रूप में चक्रवर्ती पद था। वे उसकी महती शक्ति से अवगत थे। उनका साम्राज्य बाह्लीक से मैसूर तक और सौराष्ट्र से कलिंग तक विस्तृत था। इस में उनका अधिकार अप्रतिरथ था। उनका कोई विपक्षी न था जो राजादेश का उल्लंघन कर सके। उन्होंने जो कुछ किया वह साम्राज्य की लौकिक और धार्मिक शक्ति को अपने भीतर जानकर किया। वे बौद्ध धर्म के शुभचिंतक मित्र और संचालक दोनों थे। जो कुछ सम्राट् विचार करते या योजनानुसार कर्म करते थे, उन सब का प्रभाव उनकी महनीय शक्ति के कारण राज्य के अधिकारियों पर, धार्मिक आचार्यों और जनता पर पड़ता था।
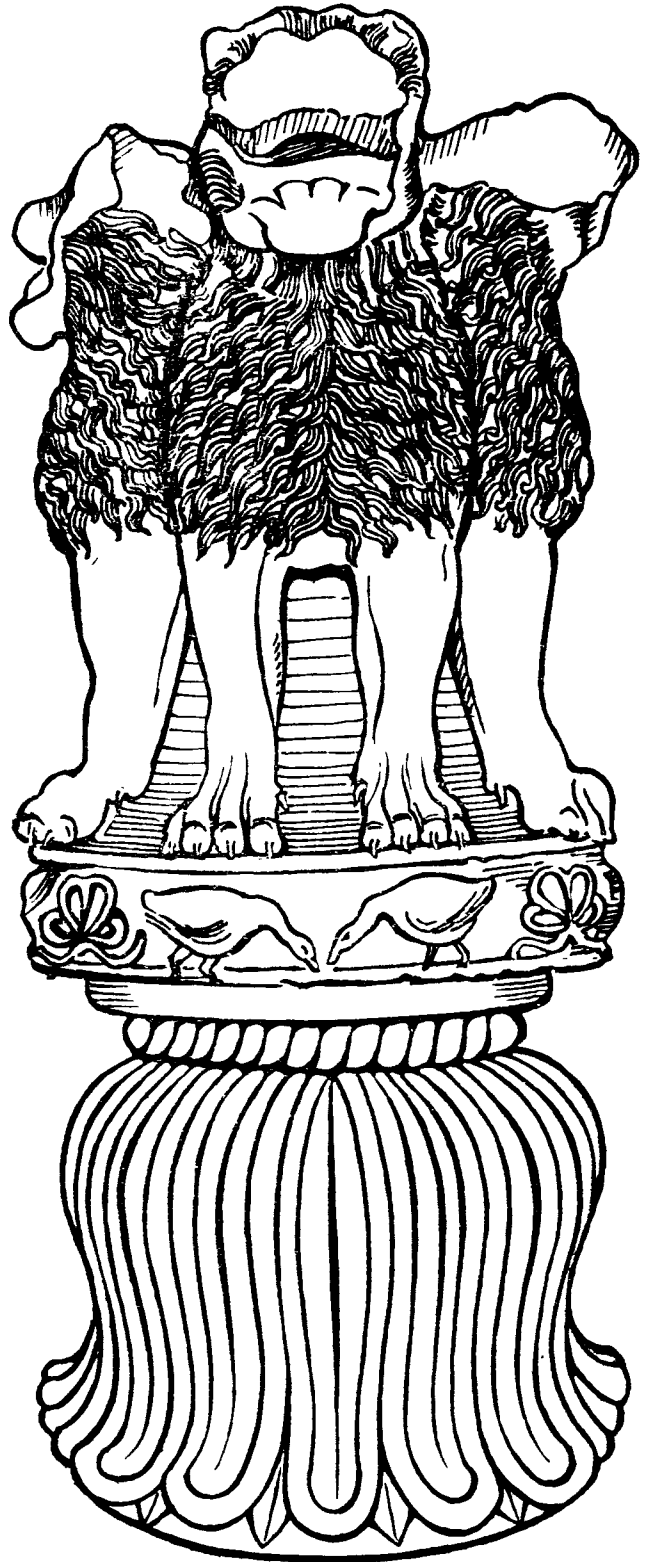
चित्र १५४

ये दोनों विशेषताएँ अशोक से पूर्व के और पीछे के राजाओं में भी थीं, किन्तु धर्म के विषय में क्रियाशील दृष्टिकोण अशोक की निजी देन थी। उनका हृदय रातदिन धर्म की भावना से आकुल रहता था। बुद्ध के समान दिग्दिगन्त में धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए साम्राज्य की शक्ति का सदुपयोग अशोक के समान अन्यत्र नहीं देखा गया। यही अर्थ सारनाथ के स्तम्भ में अभिव्यक्त है। उनके कर्म की प्रेरणा क्रियाशील धम्म में थी। धम्मविजय के संबंध में लेखों में महता कंठेन अशोक की भावना को प्रकट किया गया है—"पराक्रम में मेरा विश्वास है और मैं चाहता हूँ कि सब लोग पराक्रम करें।"

कला के प्रतीक में इन तीनों भावनाओं की अभिव्यक्ति आवश्यक थी जैसी सारनाथ स्तम्भ के धर्म चक्र, सिंह चतुष्टय और अंडभाग के रूपों में देखी जाती है। सबसे ऊपर का धर्म चक्र उसके धार्मिक विश्वास का परिचायक था, चार सिंह उसकी दुधर्ष शक्ति के प्रतीक थे और अंड के चार छोटे चक्र, चार पशु विविध समाज और उसकी एकता के द्योतक थे। अंडभाग के ये रूप धम्म विजय के विचार के साथ संगत थे। चार पशु मानों एक ही सामाजिक देवता के चार रूप थे जो चार वर्णों में और उनके विविध आचारों में व्याप्त है। यही अनोतत्त सरोवर का लोक प्रत्यक्ष रूप है। चार धर्मचक्र समाज के चतुष्टय विधान में पिरोई हुई एकता के सूचक हैं। सम्राट् और प्रजा के जीवन की पारस्परिक एकता चार सिंहों, चार चक्रों और चार पशुओं से सूचित होती है। सम्राट् का प्रभविष्णु रूप और प्रजा का मृदुल रूप एक दूसरे के पूरक हैं। अशोक ने सिंहों के समान महा-बलशाली होकर भी अपने आपको प्रजा के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया था। उसके दोनों स्वरूपों का सर्वथा विरोध था।[१]

मौर्य कला का उद्गम—मौर्य कला की महान् कृतियों के उद्गम और स्रोत का प्रश्न पर्याप्त महत्त्व रखता है। मौर्य युग के पूर्व कला अवशेषों का प्रायः अभाव है। पर साहित्य की ऐसी साक्षी पर्याप्त है जिससे प्राङ्मौर्य काल में भी कला परंपरा का अस्तित्व सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए, सहस्र स्तम्भों पर निर्मित राजप्रासादों का उल्लेख मिलता है; और भी, सभा, आस्थानमंडप या संथा-गारों का, थम्भ या स्थूणों का, पुर या नगरों का, गोपुर द्वारों का, प्राकारों का, स्तूप, चैत्य और वेदिकाओं का, शैलगुहाओं का, देवगृह या देवायतनों का, यक्षसदन या यक्षायतनों का, देवप्रतिमाओं का और कई प्रकार के शिल्पों का जैसे काष्ठकर्म, तक्षण, वयनकर्म, मणिकर्म और सुवर्ण शिल्प आदि का।

किन्तु प्रश्न यह है कि अशोक के सिंह शीर्षक जैसी श्रेष्ठ कला भी क्या उससे पूर्व थी जिसके शिल्पकर्म की परिपूर्णता उसे गोलिया कर नतोन्नत बनाने, चतुर्मुख दर्शन की उकेरी और सजावट इत्यादि विविध अंगों में थी। मौर्य कालीन चमक का कोई उदाहरण उससे अधिक पूर्व के युगों में या कालान्तर में नहीं मिलता। अतः स्वाभाविक प्रश्न है कि मौर्य युग में जो कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई उसका कारण और स्रोत क्या था ? मार्शल के शब्दों में 'केवल सम्मुखता युक्त परखम यक्ष की मूर्ति और चतुर्मुख दर्शन के उतार-चढ़ाव से युक्त सारनाथ स्तम्भ शीर्षक में ऐसे बड़े अन्तर का क्या कारण है' ? उसने स्वयं इस प्रश्न का यह उत्तर दिया—ईरान की हखामनी कला मौर्य कला का आदर्श थी, जो बाह्लीक-यवनों के माध्यम से भारत में आई। श्री सेना के मत का अनु-सरण करते हुए मार्शल ने यह भी सोचा कि अशोक के लेख ईरानी सम्राटों के लेखों की अनुकृति पर

---

१. विशेष विस्तार और विवरण के लिए देखिए मेरा अंग्रेजी ग्रन्थ, 'चक्रध्वज'।

लिखवाए गए। पाटलिपुत्र का मौर्य राजप्रासाद शूषा और पर्सिपोलिस के राजप्रासादों के अनुकरण पर बनाया गया। उसके अनुसार ईरान में पशु शीर्षक स्तम्भों का आविर्भाव हुआ। लम्बी, चिकनी लाट वाले मौर्य स्तम्भ ईरानी स्तम्भों की अनुकृति हैं, जैसे मुरघट की घाटी में इस्तख्र, नक्श-ए-रुस्तम और पर्सिपोलिस स्थानों में पाए गए हैं। अशोक के शिल्पियों ने अपनी चमकीली ओप का रहस्य ईरानी शिल्पियों से सीखा जिन्होंने इस कला के नमूने पार्सिपोलिस आदि स्थानों में छोड़े हैं। मार्शल के अनुसार भारत में ईरानी प्रभाव बाह्लीक प्रदेश के द्वारा आया जहाँ ईरानी संस्कृति के कई समृद्ध केन्द्र थे। सिल्यूक वंशी राजाओं के काल में भारतीयों ने वहाँ जाकर अपने केन्द्र बसाए। उसने हाथ मारकर घोषणा की है कि सारनाथ सिंह स्तम्भ भारतीय विचार, अभिव्यक्ति और निर्माण इन तीनों दृष्टियों से भारतीय न होकर ईरानी है।

हम देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त-सभा का वास्तु-विन्यास, उसके स्तम्भ, काष्ठ-शिल्प की छत, काष्ठ-कुट्टिम और ओपदार चमक, यह सब भारतीय परम्परा के अनुकूल थी। यूनानी इतिहासकारों ने लिखा है कि मौर्य राजप्रासाद की कला शूषा और एकबताना के प्रासादों से बढ़कर थी। अतः बाहरी शिल्पियों के द्वारा मौर्य प्रासाद का निर्माण असम्भाव्य है। यदि ये शिल्पी ईरान से आए थे तो उन्होंने अपने यहाँ की कला में अपने कौशल का कहीं अधिक अच्छा परिचय दिया होता, न कि घट कर। शिल्प के वे आचार्य जिन्होंने बराबर पहाड़ी में चट्टानी गुफाओं का निर्माण किया, पूर्ववर्ती काष्ठ-शिल्प में पूर्णतः दक्ष थे। इसके अतिरिक्त सपाट और ढोलाकार छतें, गोल गर्भगृह और आयताकार मंडप, द्वार तोरण, सलामीदार पार्श्व स्तम्भ, कमानीदार गोलम्बर और तिकोने कछौटे, पंजर भरे हुए मुखपट्ट, लम्बी धरन एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सूर्य के प्रकाश जैसी चमकीली प्रभा—ये सब भारतीय परम्परागत कला में ही निपुण वास्तु-विद्याचारियों के लिए चिर अभ्यस्त थे। इन्हें बाहर से सीखने की कोई आवश्यकता न थी। वैदिक युग से लेकर सहस्रों वर्षों तक कला की सुप्रतिष्ठित परम्परा इस देश में थी और उसी में निष्णात-हस्त मौर्य युग के शिल्पी थे।

अशोक स्तम्भों के बाह्य रूप और अर्थों के स्रोत पर भी विचार करना आवश्यक है। जैसा ऊपर कहा है, स्तम्भ के पाँच भाग हैं—(१) ऊपर की फुनगी पर धर्मचक्र, (२) चार सहपृष्ठ सिंह, (३) चार चक्र और चार पशुओं से अंकित गोल अंड, (४) पद्मपत्र युक्त पूर्णघट, और (५) ऊर्ध्व यष्टि। इनमें से हरेक भारतीय भूमि की उपज था। अतएव समस्त भारतीय परम्परा अशोक स्तम्भों की जननी थी।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं धर्म चक्र की कल्पना वैदिक युग में ही हो चुकी थी और उस समय उसे ब्रह्म चक्र, काल चक्र और ब्रह्माण्ड चक्र आदि नामों से पुकारा जाता था। विश्व की कल्पना प्रवर्तमान चक्र के रूप में की जाती थी। इसे ही चक्रवर्ती सम्राट् का धर्म चक्र माना गया है। दीघ निकाय में चक्र का स्पष्ट उल्लेख महासुदस्सन सुत्तंत और चक्कवत्ती सीहनाद सुत्तंत में आया है। चक्रवर्ती के सप्तरत्नों में धर्मचक्र भी गिना जाता था। वह अपने धर्म राज्य में धर्म चक्र का प्रवर्तन करता है। किसी ने धर्म चक्र को विदेशी चिह्न नहीं कहा। चक्र के रूप और अर्थ की समस्त व्यंजना भारतीय है। चार सहपृष्ठ सिंह चक्रवर्ती सम्राट् की शक्ति के द्योतक हैं। सम्राट् अपने महाक्षेत्र का सिंह या व्याघ्र माना जाता था। अभिषेक के समय उसे सिंहासन पर बैठाया जाता था। उसके बैठने के लिए एक व्याघ्र चर्म भी बिछाते थे तथा वैयाघ्र रथ में बैठाकर उसका जुलूस निकालते थे। चार सिंहों के सम्मिलित रूप को चक्रवर्ती का सिंहासन माना जा सकता था। सिंहासन के चार पादों में भी चार

सिंह बने रहते थे। बुद्ध की प्रतिमाओं में भी चार सिंहों वाले सिंहासन को स्थान दिया गया है। गोल अंडभाग पर चार दिशाओं में चार छोटे चक्र बने हैं और चार अवान्तर दिशाओं में चार महापशु हैं। अल्पकाय धर्मचक्र महाधर्मचक्र के ही प्रतिनिधि हैं जो प्रजाओं के चतुर्धा विभक्त जीवन में अवतीर्ण होता है और जिनसे चक्रवर्ती के धर्म का चार दिशाओं में दुर्धर्ष प्रवर्तन यहाँ सूचित किया जाता है, जैसा सुदर्शन और मांधाता के वर्णन में आया है। अशोक भी उन्हीं के आदर्श का पालन करना चाहता था। चार पशु अनोतत्त और मानसरोवर के सूचक हैं जिन्हें बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों ने स्वीकार किया है। अनवतप्त सरोवर का चित्रण महाउम्मग्ग राजाप्रासाद के सभामण्डप में किया गया था। अनवतप्त केवल बौद्ध धर्म की कल्पना न थी। इस अभिप्राय को लोक से अपनाया गया था जैसा महा उम्मग्ग के अन्य नव अभिप्रायों के विषय में मानना या कहना उचित होगा। अनवतप्त का रूप ही मानसरोवर या ब्राह्मसर था। इसके स्वरूप में चार द्वार, चार जल धाराएँ, चार पशु, और अन्य सभी कुछ चतुष्टयात्मक बातों को सम्बन्धित माना गया था। विश्व की चतुर्विध रचना इसका आधार थी।[1]

सारनाथ स्तम्भ पर एक साथ और अशोक के अन्य स्तम्भों पर पृथक्-पृथक् चार महापशुओं की कल्पना भारत में अशोक के युग के लिए बाहर से गृहीत या नई नहीं थी। उसका अस्तित्व सिन्धुघाटी में भी सिद्ध है। अशोक के बाद १९ वीं शती तक उनका प्रचार रहा। इस प्रकार इन रूपों में बाहरी प्रभाव का कोई प्रश्न नहीं उठता।

यष्टि के ऊपर रक्खा हुआ पूर्णघट-पल्लव प्रमुख तथ्य है। उसे पश्चिमी विद्वानों ने ईरानी घंटा कहा है। हमने उसके अलंकरणों का विश्लेषण करके ऊपर दिखाया है कि उनकी संगति पूर्णघट के साथ है, पूर्णघट को घंटा मान सकना असम्भव है। घट के कंठ की मेखला और उसके नीचे की चौकी घंटे की आकृति में असंगत है। मेखला-बन्धयुक्त कुम्भ को 'मेखली घट' कहा जाता था। घट के मुख से बाहर की ओर लहराती हुई पंखड़ियों का घंटे के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं बैठता। भारतीय कला में जहाँ घंटों का अंकन हैं उनमें से एक पर भी ऐसे पद्मपत्र नहीं हैं। स्तम्भ के ऊपर घंटे की कोई संगति नहीं है जब कि पूर्णघट को स्तम्भ के शीर्ष भाग में और पेंदी में सैकड़ों खम्भों पर दिखाया गया है। पूर्ण कुम्भ या पूर्ण कलश का उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, बौद्ध, जैन और संस्कृत साहित्य में बराबर पाया जाता है। अतः भारतीय कला के संदर्भ में वह सर्वथा समीचीन था। आज भी पूर्णघट के बिना कोई भी धार्मिक या मण्डपगत संस्कार नहीं किया जाता। शुंग और कुषाण काल के शिल्पी इस बात के साक्षी हैं कि स्तम्भ का यह ऊपरी अवयव पूर्ण कुम्भ ही था, घंटा नहीं। उनके द्वारा इसकी रूप-कल्पना को अत्यन्त प्रामाणिक मानना होगा। सारनाथ में ही प्राप्त कुछ वेदिका स्तम्भों पर इस प्रकार का पूर्णघट है।

पाँचवाँ भाग स्तम्भ या यष्टि है जिसके यूप, यष्टि, लकुट, स्तम्भ, स्कम्भ, स्थूण आदि नाम हैं। इस प्रकार के खम्भे वैदिक युग से ही काष्ठ में बनाए जाते थे। यज्ञ मंडप में उन्हें यूप और विवाह मंडप में स्थूण या स्कम्भ कहा गया। अथर्व के स्कम्भ सूक्त में ऐसे खम्भे को विश्व का आधार कहा है और माना है। वह साधारण स्कम्भ नहीं देवता था। अन्य सब देवताओं का निवास स्कम्भ

१. दे० रघुवंश १०।२२; नारायणीयपर्व (महाभारत) ३४०।२०, ३२६।९३, २५१।१६।

पर था। इसे विश्व के महान् सौभाग्य के लिए खड़ा किया जाता था। ज्ञात होता है कि स्तम्भ पूजा की प्राचीन परम्परा यहाँ थी, उसी का रूप इन्द्र-यष्टि था। इस स्तम्भ की पूजा करते हुए स्त्री-पुरुषों का चित्रण कला में कई बार आया है। निश्चय ही वैसी ही परम्परागत कल्पना का अवतरण महाकाय स्वतन्त्र उच्छ्रित मौर्य स्तम्भों में प्रत्यक्ष हुआ था।

अशोककालीन स्तम्भों पर विदेशी प्रभाव की चर्चा करने के पूर्व मौर्य और हखामनी स्तम्भों में जो भेद हैं उन्हें स्पष्ट समझ लेना चाहिए—

(१) चन्द्रगुप्त सभा के वास्तुगत स्तम्भों पर कोई उत्कीर्ण शीर्षक नहीं मिला जब कि पर्सीपोलिस के प्रासाद स्तम्भों पर ऐसे शीर्षक हैं।

(२) ईरानी खम्भे कुम्भी या चौकी पर खड़े हैं, जब कि मौर्य स्तम्भों में ऐसा कोई अंग नहीं है और वे बिना चौकी या कुम्भी के भूमि पर खड़े किए गए हैं। संभव है उनके लिए कोई लकड़ी की चौकी रखी गई हो। ईरानी स्तम्भों की पेंदी में जो घंटाकृति आधार है वैसा (?) मौर्य स्तम्भों के सिरे पर है (यदि उसकी पहचान घंटे से स्वीकार कर ली जाय)।

(३) मौर्य स्तम्भों का तथाकथित घंटा ईरानी घंटे से भिन्न है। ईरानी घंटे में बीच का निकलता हुआ पिटार वैसा नहीं है जैसा मौर्य "घंटे" में है, जिसमें उसका बहुत कुछ सौंदर्य निहित है। "मौर्य घंटे" को भारतीय परम्परा के घट-पल्लव या पूर्णघट अभिप्राय के सदृश बनाया गया है। पूर्णघट को स्तम्भों से सम्बन्धित करने का उद्देश्य उनकी सौंदर्य वृद्धि और रक्षाकर्म था। यह विशेषता वस्तुतः काष्ठ स्तम्भों के लिए विकसित हुई थी जैसा एक सादा नमूना लौरियानन्दनगढ़ से मिला है। अशोक के स्तम्भों में भी वैसा ही सादा यष्टिभाग मिलता है।

(४) हखामनी प्रासादों के स्तम्भ खारेदार हैं जब कि मौर्य स्तम्भ सपाट हैं। राजा कुरुष के प्रासाद का बचा हुआ एक खम्भा और सम्राटों के श्मशान में प्राप्त कुछ अवशेष अवश्य सादा हैं। ये सादा स्तम्भ उस युग के हैं जब ईरानी कला ने अपना प्रामाणिक रूप विकसित नहीं किया था। हखामनी राजाओं ने स्वयं ही सादे खम्भों की शैली को छोड़ दिया। यह मानना अनुपयुक्त होगा कि मौर्य शिल्पी दारा या दारयवहु के खारेदार स्तम्भों को छोड़कर उससे प्राचीन राजा कुरुष के समय के स्तम्भों की नकल करने गए। श्मशान या समाधिस्थलों में प्राप्त स्तम्भ प्रायः सम्राट् दारा के समय के हैं। इन समाधियों के स्तम्भों को इसलिए सादा बनाया गया कि उनकी यष्टियों को खारेदार करने में उनका घेरा कम हो जाता और वे उतने अच्छे न जान पड़ने; ईरानी शिल्पियों ने इन रूपों में इसलिए भी परिवर्तन किया जिस प्रकार यूनानी शिल्पी भी करते रहते थे। अतः मौर्य स्तम्भों की परम्परा को लौरियानन्दनगढ़ के काष्ठयूपों में ढूढ़ना अधिक समीचीन होगा जो हमारे यहाँ ही मौजूद हैं। बौद्ध साहित्य और महाभारत में ऐसे खम्भों का उल्लेख है जो धार्मिक एवं सार्वजनिक स्थानों में लगाए जाते थे। अशोक ने स्वयं ऐसे शैल स्तम्भों के पूर्व स्थित्व का उल्लेख किया है (रूपनाथ शिला लेख, सासाराम शिला लेख और देहली-टोपरा स्तम्भ लेख ७)।

मौर्य स्तम्भों के शीर्ष भाग की पशु मूर्तियों के विषय में भी भारतीय परम्परा उनकी ठीक व्याख्या करती है। ऐसे स्तम्भों की कोटि में गरुड़ध्वज, वृषभध्वज, और मकरध्वज की कल्पना प्राचीन काल से चली आती थी। अतः पशुओं की आकृति से युक्त स्तम्भों का मेल भी भारतीय परम्परा से ठीक बैठ जाता है। इसके मूल में धार्मिक मान्यता थी। किन्तु विदेशी धार्मिक विश्वासों के साथ इनकी संगति नहीं बैठती।

(५) ईरानी और भारतीय स्तम्भों में एक बड़ा भेद यह भी था कि भारतीय स्तम्भ एकाश्मक लम्बी यष्टि के रूप में थे अर्थात् उनकी डंडी एक पत्थर में काटी गई लाट के रूप में थी। पर ईरान के हखामनी स्तम्भ कई मंडलाकार टुकड़ों या चकरियों को जोड़कर बनाए जाते थे। हखामनी स्तम्भों का विकास पाषाण कला के भीतर से हुआ एवं मौर्य स्तम्भों का काष्ठ शिल्प के भीतर से, जिनकी परम्परा उन ऊर्ध्वयूपों की स्थापना में कई सहस्र वर्षों से थी जो लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों को गढ़-छील कर बनाए जाते थे।

(६) ईरानी और मौर्य स्तम्भ शीर्षकों के अलंकरणों में भी पर्याप्त अन्तर है। ईरानी शीर्षकों में तालध्वज या तालपत्रों का और उनके ऊपर वृषसंघाट और सिंहसंघाट का अंकन है जिनके मुख मानुषाकृति हैं। या, उनके ऊपर एक औंधा कटोरा रक्खा है और दोनों पार्श्वों में दो बेलन और लोढ़ों का अलंकरण है जिनके प्रतिरूप मौर्य स्तम्भों में नहीं पाए जाते। उन पर पशुशीर्षक तो हैं किन्तु पुरुषाकृति मुख नहीं है और मौर्य स्तम्भों पर तथाकथित घंटे को कमल के बड़े मौजपत्रों से आच्छादित किया गया है। अंडाकार चौकी पर जो सजावट मौर्य स्तम्भों पर है वह हखामनी स्तम्भों पर नहीं है।

(७) यह भी ज्ञात है कि ईरानी स्तम्भ विशेषतः बड़े भवनों में लगाए गए जब कि अशोक कालीन स्तम्भों का पृथक् अस्तित्व है और वे इसी रूप में दर्शक को प्रभावित करते हैं। मौर्य स्तम्भ अधिक सादा, अधिक परस्परांग समन्वित, अधिक स्थिरता, प्रभविष्णुता और सारयुक्त होने का प्रभाव डालते हैं। अतः यह कहना युक्तियुक्त होगा कि मौर्य स्तम्भ यहीं की परम्परा के कई लक्षणों को लेकर विकसित हुए।

(८) ओपदार चमक मौर्य स्तम्भों और अन्य कला-वस्तुओं की विशेषता है। मौर्य कला से पूर्व के पाषाण-शिल्प के नमूने न उपलब्ध होने से निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि पत्थर पर यह चमक भारत में पहले थी या नहीं। इस सम्बन्ध में इस चमक का उल्लेख करने वाली साहित्य की सामग्री की ओर ही ध्यान दिलाया जा सकता है।

इस चमक के विषय में विद्वानों ने बहुत विचार किया है। स्पूनर का मत था कि यह ईरान से भारत में आई और वहाँ इसका अस्तित्व असंदिग्ध है। पर यह नहीं भुलाया जा सकता है कि इस तरह की ओप उत्पन्न करने की कला ईरान (यदि वहाँ उसका अस्तित्व सिद्ध हो सके तो भी) से कहीं अधिक पहले भारत में ज्ञात थी। हमने महाभारत से बारह ऐसे शब्दों का पूर्व उल्लेख किया है जो इस प्रकार की प्रभा या चमक के लिए प्रयुक्त होते थे। यहाँ तक कहा है कि इस प्रकार की मणिमयी प्रभा से भ्रमित होकर लोग जल को स्थल और स्थल को जल समझने लगते थे। सभा पर्व से पूर्व निर्मित आपस्तम्ब श्रौत सूत्र की साक्षी प्राप्त है। श्लक्ष्णीकरणैः श्लक्ष्णीकुर्वन्ति (आपस्तम्ब० १५।३।१५), अर्थात् चिकना करने के मसालों से उसे चिकना किया जाता था। आपस्तम्ब० १५।३।१६ में यह मसाला, और मिट्टी के भांडों पर ओप उत्पन्न करने का मसाला भी, दिया गया है। इसका रहस्य वस्तु को कुछ चिकने चूर्ण और औंघ से बार-बार रगड़ना था। हमें तीन पूर्वापर युगों के भांडों का परिचय प्राप्त होता है जिनके नाम ये हैं—

(१) गेरू या लाल रंग की पोत के बर्तन।

(२) भूरे रंग के बर्तन जिन पर काली रेखाओं के चित्र हैं (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू०)।

(३) उत्तरी काली ओप के बर्तन (६०० से २०० ई० पू०)।

इनमें से तीसरे प्रकार के काले चमकीले भांड सारे भारत में प्राङ्मौर्य और लगभग मौर्य-कालीन स्थानों पर पाए गए हैं। इससे सूचित होता है कि देश के इतिहास में एक युग ऐसा था जब ओपदार चमक में अत्यन्त रुचि ली जाती थी। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में उसका उल्लेख इस ओपदार चमक की प्राचीनता और लोकप्रियता सिद्ध करता है। बृहत् कल्पसूत्र भाष्य (गाथा ४७१-४७२) में विशेषकर ओपदार भांडों का वर्णन आया है जिनकी पहचान उत्तरापथ के काले चमकीले बर्तनों (एन० बी० पी०) से ही सम्भव है। आरम्भ में जैन भिक्षुओं को इन भांडों का प्रयोग वर्जित था पर पीछे नियम कुछ शिथिल कर दिए गए। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि ओपदार चमक उत्पन्न करने का भेद न केवल मौर्य किन्तु हखामनी युग के पूर्वकाल से ही यहाँ विदित था जैसा आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के प्रमाण से सूचित होता है। यह भी ज्ञात होता है कि इस चमक का रहस्य मौर्य राजशिल्पियों तक ही सीमित न था। और भी कई प्रकार की वस्तुओं पर इसका प्रभाव विद्यमान है, जैसे नगों से बने हुए मनके, स्फटिक की मंजूषा जैसी पिपरहवा स्तूप से मिली है, पाटलिपुत्र से मिले दो यक्ष, दीदारगंज की यक्षी, लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त तीर्थंकर की कबन्ध मूर्ति। यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कोई भी किसी शासक राजा की ओर से बनवाया गया। जनता की ओर से उन्हें पधराया गया था। सारनाथ में मिले हुए कई मौर्य मस्तकों पर भी ऐसी ओप है। लगभग ४०० वर्षों तक इस प्रकार की ओपदार चमक भारत में तक्षशिला से मैसूर तक लोकव्यापी रही और इसका नुसखा भी छठी शती ई० पू० से पहले का था। इन दो बातों से ऐसा अनुमान होता है कि इसका प्रचार गन्धार द्वारा भारतवर्ष से ईरान में हुआ—यदि वहाँ किसी प्रकार की ऐसी चमक का अस्तित्व सिद्ध हो सके, क्योंकि ईरानी स्तम्भों पर रंग किया गया था न कि ओप। दारा ने अपने प्रासाद के बुनियादी लेख में स्वयं लिखवाया है कि उसने शूषा और पर्सिपोलिस के राजाप्रासादों का निर्माण कराने के लिए भारत के चतुर शिल्पी बुलवाए थे और यह मानना चाहिए कि वे लोग अपने देश की सर्वांग कलाओं से सुपरिचित थे। भारत से कितने शिल्पी गए इसका उल्लेख तो नहीं है किन्तु भारत की उन्नत अवस्था को देखते हुए मानना चाहिए कि यहाँ के शिल्पी संघ की पर्याप्त संख्या थी। भारत के अपने धर्म, दर्शन, कला और संस्कृति का निर्यात या प्रभाव पड़ौसी देशों तक फैल रहा था और प्राचीन सभ्य देशों के मंडल का वह केन्द्र बन गया था। ईरान में बने हुए भवनों की अपेक्षा भारतीय शिल्पियों द्वारा निर्मित प्रासाद कहीं सुन्दर थे जैसा यूनानी लेखकों ने कहा है और जैसा ईरानी स्तम्भ और मौर्य स्तम्भों की पारस्परिक तुलना से भी ज्ञात होता है। भारतीय स्तम्भों के प्रतीकात्मक अर्थों की बात तो निराली ही है जिसकी छाया भी ईरानी स्तम्भों में नहीं पाई जाती। ईरानी स्तम्भ असंस्कृत और अर्थहीन हैं जब कि मौर्य स्तम्भ प्राणवान् अर्थवत्ता से और अलंकृत छवि से युक्त हैं। उनके पूर्वकाल में सहस्रों वर्षों की परम्परा काष्ठ शिल्प में विगत हो चुकी थी। यदि मौर्य स्तंभों के पूर्वज वैदिक यूपों और वसिष्ठ स्थूणाराजों की निर्माण-कला पर ध्यान दिया जाय तो परस्पर की असंगति हट जाती है और मौर्यकालीन स्तम्भों के चमत्कारी रूपों के विषय में कोई आश्चर्य नहीं रह जाता। वहीं शतभूजी शाला, अयस्थूणा और सहस्र स्थूणा युक्त भवनों का भी उल्लेख है। शतवल्श और सहस्रवल्श वनस्पतियों का मूर्त रूप इन्हीं बहुसंख्यक स्तम्भों में देखा जा सकता है। महाकाय वृक्षों को गढ़-छील कर उनसे स्तम्भों का निर्माण, उनमें अर्थवान् अलंकरणों द्वारा रूप सम्पादन करना, उन स्थूणाभारों को दूर स्थानों में वहन करना, ये सब क्रियाएँ मौर्यकाल के पूर्व शिल्पियों द्वारा सफलता से प्रतिपादित की जा चुकी थीं। मौर्यकालीन शिल्पियों ने चिरकालीन परिचित परम्परा को अपनाया और अपनी प्रतिभा से निष्पन्न किया।

उनके सामने कला सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या न थी जिसका समाधान पहले से न ज्ञात था। इन शिल्पियों का अपने कर्म कौशल के कारण बड़ा सम्मान था। सम्राट् के कृपापात्र होने के कारण इन्हें राजतक्षा और राजशिल्पी, वास्तुविद्याचार्य अथवा स्थपति-सम्राट् कहा जाता था। यह उल्लेखनीय है कि काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प में संक्रान्ति या परिवर्तन किसी सम्राट् के आदेश से रातों रात नहीं किया जा सकता था; और न कोई शिल्पाचार्य ही इस प्रकार का तात्कालिक निर्णय ले सकता था। इसके लिए उचित संक्रमण रीति की आवश्यकता थी। काष्ठशिल्प से पाषाणशिल्प की संक्रान्ति के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता थी, उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त सभा में फर्श और छत और स्तम्भों के शीर्षक और मंच काष्ठकर्म में बनाए गए। पर उन्हीं के साथ स्तम्भों को सावधानी से पाषाण में बनाया गया। लोमस ऋषि गुफा से भी इस बात का समर्थन होता है जहाँ शिला और चट्टान में अक्षरशः काष्ठशिल्प के स्तम्भों की अनुकृति की गई है। पश्चिमी भारत के चैत्य गृहों में भी काष्ठ शिल्प और पाषाण शिल्प दोनों एक साथ मिलते हैं। उनकी पर्वत गुफाओं की छत में लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठे लगे हैं और कीर्तिमुखों में पंजर एवं मुखमंडपों में संगीतशालाएँ दारुकर्म की हैं। इससे यह सिद्ध है कि कई सौ वर्षों तक यहाँ के शिल्पियों के समक्ष काष्ठ और पाषाण इन दोनों प्रकार की द्रव्य-सामग्री को एक साथ मिलाने की समस्या थी। इस सम्बन्ध में वे क्रमशः नए प्रयोग कर रहे थे। भरहुत की वेदिका और द्वारतोरण दोनों में काष्ठशिल्प का अनुकरण है। भारतीय शिल्प-ग्रन्थों के अनुसार प्राचीनतम काल से विश्वकर्मा द्वारा चलाई हुई एक शिल्प परम्परा थी। प्रतीत होता है कि यह काष्ठ शिल्प की ही आदि शैली थी।

ऊपर कहा गया है कि उम्मग्ग राजप्रासाद की दीवारों और भित्तियों पर ओपदार प्रभा थी जैसी मौर्य राजप्रासाद में स्वाभाविक थी। जैन औपपातिक सूत्र (२।५) में पूर्णभद्र चैत्य के लिए भी इसी प्रकार की चमकीली ओप का वर्णन है। जैनों के पृथिवी-शिलापट्ट पर भी ऐसी चमकीली प्रभा उत्पन्न की जाती थी। ये शिलापट्ट या तो पृथिवी देवी के पूजा के लिए थे, या मिट्टी के बने हुए थे (आयंस तलोपमा = आदर्शतलोपमाः)। आदर्श या दर्पण के समान इस चमक का रंग काला (कृष्ण), नीली कलक युक्त (नीलोत्पल), हरा (मरकत) और काँचला श्वेत (कलित्त) कहा गया है। यह बहुत महत्त्व की बात है कि ये चारों रंग उत्तरापथीय कृष्ण भांडों के नमूनों में वस्तुतः पाए गए हैं। इस प्रकार ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्य की साक्षी से इस प्रकार की भास्वर प्रभा या चमकीली ओप और उसकी कई रंगों की झलक का अस्तित्व प्राङ्मौर्य काल में सिद्ध होता है। उसके मसाले के नुसखे और महलों की छतों और दीवारों पर उसके प्रयोग और बर्तन-भाँडों पर उसके लोकव्यापी प्रचार का उल्लेख प्राप्त है। इन लेखकों ने समान रूप से श्लक्ष्ण या श्लक्ष्णीकरण शब्द का प्रयोग किया है। कालान्तर के महावंश में भी सन्ह मत्तिका (श्लक्ष्ण मृत्तिका) का उल्लेख है जिसका प्रयोग भित्तियों पर चित्र कर्म के लिए उपयुक्त और चमकीला भूमि-बन्धन बनाने के लिए किया जाता था।

(आ) लोक कला

लोक कला की परम्परा का प्रमाण उन महाकाय यक्ष मूर्तियों द्वारा प्राप्त होता है जो मथुरा से उड़ीसा, वाराणसी से विदिशा और पाटलिपुत्र से शूर्पारक तक के विस्तृत क्षेत्र में पाई गई हैं। इन यक्ष और यक्षियों की मूर्तियों में अपनी निजी शैली है जिसका ठेठ रूप देखते ही अलग पहचाना जा सकता है। उन्हें मौर्यकालीन राजकीय शिल्प के साथ जोड़ना संभव नहीं। यह सप्रमाण सिद्ध है

चित्र १६२

चित्र १५६

चित्र १५८
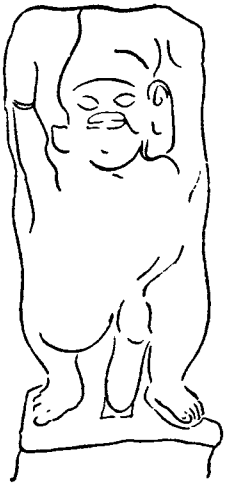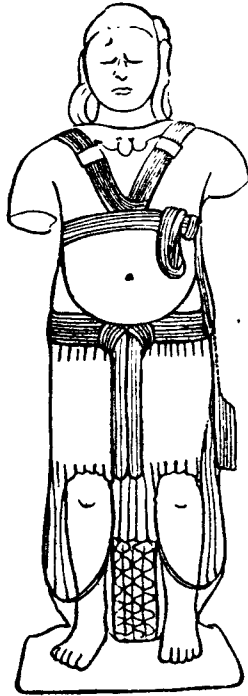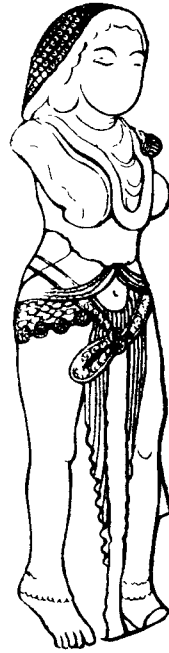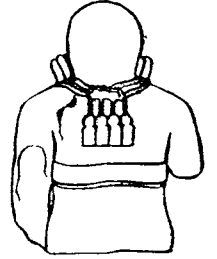
चित्र १५७
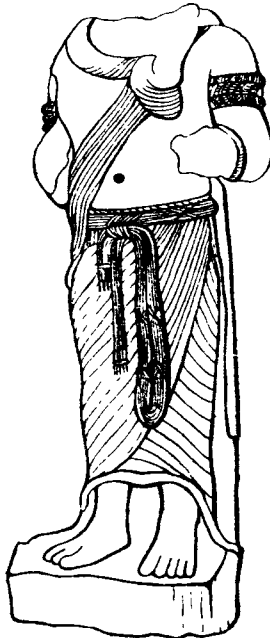
चित्र १६०

चित्र १६१

चित्र १५९

कि कला की यह सविशेष शैली हजारों मील लम्बे भूभाग में प्रचलित थी। अतिमानवीय महाकाय मूर्तियाँ खुले आकाश के नीचे स्थापित की जाती थीं। ये चारों ओर से कोर कर बनाई जाती थीं। पर इनमें सम्मुख दर्शन की विशेषता है। इनकी शक्ति, महाप्रमाण काय और प्रभविष्णु रूप से सूचित होता है कि ये देवताओं की मूर्तियाँ हैं।

निम्नलिखित यक्ष-यक्षी मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

(१) मथुरा जिले के परखम ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति। इसकी चौकी पर एक लेख है, जिसमें इसे [म] निभद (= माणिभद्र) संज्ञा दी है (चित्र १५६)।

(२) मथुरा जिले के बरोदा ग्राम से प्राप्त यक्ष (चित्र १५७)।

(३) मथुरा जिले में झींग-का-नगरा गाँव से प्राप्त यक्षी।

(४) भरतपुर जिले में नोह ग्राम से प्राप्त यक्ष या जाख।

(५) बेसनगर (भोपाल) से प्राप्त यक्षी (चित्र १५८)। इस समय भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित।

(६) ग्वालियर जिले में प्राचीन पद्मावती, वर्तमान पवाया से प्राप्त यक्ष, ग्वालियर संग्रहालय में सुरक्षित (चित्र १५९)।

(७) पटना शहर में दीदारगंज से प्राप्त चामरग्राहिणी यक्षी जिस पर मौर्य शैली की चमक है (चित्र १६०)।

(८) पटना से प्राप्त यक्ष मूर्ति जिस पर मौर्य चमक है और एक लेख भी है (चित्र १६१)।

(९) पटना से प्राप्त यक्ष मूर्ति, जिस पर लेख है और जो भारतीय संग्रहालय में है।

(१०) बेसनगर की यक्षी जिसका स्थानीय नाम तेलिन है।

(११) प्राचीन वाराणसी के राजघाट स्थान से प्राप्त त्रिमुख यक्ष (चित्र १६२)। भारत कला भवन में सुरक्षित।

(१२) तथाकथित शूर्पारक से प्राप्त यक्ष मूर्ति जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित है।

(१३) विदिशा में बेस और बेतवा (वेत्रवती) के संगम से प्राप्त यक्ष मूर्ति, जो इस समय भिलसा में ही लोगों द्वारा पूजा के लिए पधराई हुई है।

(१४) उड़ीसा में शिशुपालगढ़ से मिली हुई कई यक्ष मूर्तियाँ।

(१५) अहिच्छत्रा के फल्गु विहार से प्राप्त कुषाणकालीन यक्ष मूर्ति।

(१६) कुरुक्षेत्र में आमीन से प्राप्त यक्ष मूर्ति।

इन मूर्तियों की पहिचान—प्राङ्मौर्य, मौर्य और शुंगकालीन कला के इतिहास को समझने के लिए इन मूर्तियों की पहिचान का बहुत महत्त्व है। श्री आनन्द कुमारस्वामी, काशीप्रसाद जायसवाल और रामप्रसाद चन्दा ने इन मूर्तियों की पहिचान के विषय में विचार किया था।

जायसवाल ने सर्वप्रथम परखम मूर्ति का लेख पढ़कर उसे शैशुनाग-वंशी कुणिक या अजातशत्रु की मूर्ति माना था। जैन मान्यता में कुणिक अजातशत्रु का नाम था। जब पाटलिपुत्र से दो मूर्तियाँ मिलीं तो जायसवाल ने उनकी पहिचान सम्राट् नन्द और उसके पुत्र महानन्दी से की। रामप्रसाद

चन्दा ने युक्तियाँ देते हुए इस मत को ग्राह्य नहीं माना (देखिए, 'चार यक्ष मूर्तियाँ' शीर्षक उनकी पुस्तिका)। उन्होंने सिद्ध किया है कि ये मगध सम्राटों की मूर्तियाँ नहीं हैं, किन्तु यक्ष नामक लोक देवताओं की मूर्तियाँ हैं। कुमारस्वामी पहले जायसवाल के मत की ओर झुके थे पर पीछे उनका मत यक्ष-यक्षी पक्ष में हुआ। उन्होंने परखम यक्ष के विषय में लिखा—

"हाल में हुई आलोचना के कारण जायसवाल के मत को मानना असंभव है और यही कहना होगा कि परखम यक्ष की मूर्ति ई० पू० ३ शती की है।"

इस प्रश्न का निर्णय तथ्यों के आधार पर होना चाहिए। झींग-का-नगरा ग्राम से प्राप्त मनसा देवी मूर्ति के लेख में उसे यखी या यक्षी कहा गया है। पवाया से प्राप्त मूर्ति के लेख में भी उसे माणिभद्र यक्ष कहा गया है जो माणिभद्र के भक्तों की गोष्ठी द्वारा स्थापित की गई थी। भरतपुर के नोह ग्राम में मिली हुई मूर्ति आसपास के लोगों में जखइया नाम से प्रसिद्ध थी जैसा मुझे स्वयं पूछने पर ज्ञात हुआ। परखम मूर्ति के लेख में जो कुणिक नाम पढ़ा गया था वह एक आचार्य का नाम था जिसके अन्तेवासी ने मूर्ति की प्रतिष्ठा की। लेख के आरम्भ में नि-भ-द ये तीन अक्षर स्पष्ट हैं जो 'मनिभद' नाम के बचे हुए अक्षर ज्ञात होते हैं। इसीलिए परखम मूर्ति को माणिभद्र यक्ष की मूर्ति मानना उपयुक्त है।

पटना की एक मूर्ति पर 'भंगे अचछनीविक' उत्कीर्ण है जो भगवान् अक्षयनीविक, अर्थात् 'जिसकी निधि या पूँजी अक्षय हो' का रूप है।

दूसरी मूर्ति का लेख सवटनन्दी, संस्कृत सर्वानन्दी या सर्वत्रनन्दी का रूप ज्ञात होता है। ये दोनों यक्षों के नाम संभव हैं। श्री फोगेल ने मथुरा संग्रहालय के अपने सूचीपत्र में लिखा है कि बरोदा गाँव की मूर्ति यक्ष नाम से पूजी जाती थी। इस प्रकार मूर्तियों पर खुदे हुए लेखों और स्थानीय किंवदन्तियों के आधार पर सिद्ध होता है कि ये विशाल देह वाली मूर्तियाँ यक्ष-यक्षियों की थीं जिनकी पूजा किसी समय अत्यन्त लोकप्रिय थी।

शैली—शैली की दृष्टि से ऊपर लिखी मूर्तियों के ये लक्षण हैं—

१—वे महाकाय या महाप्रमाण हैं और मांसपेशियों की बलिष्ठता और दृढ़ता उनमें प्रत्यक्ष है।

२—वे चतुर्मुख दर्शन के आधार पर काटकर बनाई गई हैं। वे पृथक् रूप में खड़ी हैं। पर उनके दर्शन का प्रभाव संमुखीन है मानों शिल्पी ने उन्हें संमुख-दर्शन के लिए ही गढ़ा हो।

३—उनका वेष है—सिर पर पगड़ी, कन्धों और भुजाओं पर उत्तरीय जिसका बन्धन छाती पर भी दिखाया जाता है, नीचे धोती पहिने जो कटि में कायबन्धन या मेखला से बँधी है।

४—इनके आभूषण हैं—कानों के भारी कुंडल, गले में भारी कंठा (ग्रैवेयक), छाती पर चपटा तिकोना हार, बाहुओं पर अंगद।

५—मूर्तियों को थोड़ा स्थूल या घटोदर दिखाया है; जैसे परखम और पवाया की मूर्तियों में। भारतीय शिल्प की प्राचीनतम मूर्तियों में इनकी रचनाशैली अग्रस्थानीय है। इस शैली को किसी भी पूर्वकालीन शैली से मिलाने की साक्षी अनुपलब्ध है। अथवा, इस कला के मूल स्रोत पर प्रकाश

डालने की भी सामग्री नहीं है। पर इस कला के विस्तृत प्रचार से ज्ञात होता है कि इस शैली की परम्परा लोक में व्याप्त थी। मथुरा से कलिंग और पाटलिपुत्र से शूर्पारक तक की जनता इस शैली से परिचित थी। प्रत्येक प्रदेश में अपना-अपना यक्ष लोक का प्रधान देवता होता था अतः संभव है खोज करने पर अन्य जनपदों में ऐसी विपुल मूर्तियाँ मिलें। ऐसी मूर्तियों का पूर्व-अस्तित्व लकड़ी या मिट्टी में रहा होगा जो काल पाकर गल गया।

भारतीय पाषाण शिल्प के विकास की दृष्टि से समीचीन मत यही है कि वे चौथी-तीसरी शती ई० पू० में बनायी गईं। चन्द्रगुप्त और अशोक के तत्त्वावधान में इसी समय काष्ठशिल्प की जगह पाषाणशिल्प ने ली। मौर्ययुग की ओपदार कृतियों के लिए राजकीय शैली शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी ढंग पर बनी यक्ष मूर्तियों को लोक कला का रूप माना जा सकता है। झींग-का-नगरा की मूर्ति तो सचमुच इसी ढंग की है। इन मूर्तियों द्वारा कला की विशेष शैली की स्थापना हुई। कालान्तर के शिल्पियों ने इसे अपने लिए आदर्श समझा। शुंग कला में इन प्राचीन मूर्तियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। भरहुत और साँची में उत्कीर्ण यक्ष मूर्तियों की शैली में प्राचीन यक्ष परम्परा पाई जाती है। भरहुत-साँची के यक्ष अपने से पूर्वकालीन यक्ष मूर्तियों की सीधी परम्परा में हैं जैसे वे किसी स्थविर वंशकर्ता के पुत्र-पौत्र हों। परखम एवं विदिशा और पवाया की यक्ष मूर्तियों से यह वंश-वृक्ष स्पष्ट है।

यक्ष का अर्थ और उसकी धार्मिक परम्परा—भारतीय कला और धर्म में यक्ष की समस्या विशेष ध्यान देने योग्य है। संभवतः यक्षों के समान प्राचीन, लोकव्यापी और लोकप्रिय कोई दूसरी परम्परा नहीं थी। आज भी हर गाँव में बीर नाम से यक्ष का चौरा है (गाँव गाँव को ठाकुर गाँव-गाँव को बीर)। कश्मीर से तमिल देश (जहाँ उसे वीरन, मारन कहते हैं) तक यक्ष पूजा का आज भी प्रचार है एवं आसाम से सौराष्ट्र तक की भी यही स्थिति है।

यक्ष का स्थान एक छोटे चौरे के रूप में बनाया जाता है जिस पर तिकोनी पिंडी या थूहा बनाते है। पिंडी में दिवले या दिए के लिए एक छोटी अलिया या खाँचा बना होता है। शिव की पिंडी और यक्ष की पिंडी में चार भेद हैं—

१—हर गाँव में यक्ष का चौरा होना चाहिए। शिवजी का मन्दिर कई गाँवों के लिए भी एक हो सकता है।

२—यक्ष मूर्ति अपने चौरे पर अकेली होती है जब कि शिवमन्दिर में और मूर्तियों का होना संभव है। शिवलिंग की पिंडी में खाँचा बनाकर दीया रखने का कोई प्रश्न नहीं है।

४—यक्ष की पिंडी की चोटी बिलकुल नुकीली होती है पर शिव की पिंडी कुछ गोलाई लिए रहती है।

पुराणों की साक्षी है कि सर्वप्रथम यक्ष पूजा ही प्रचलित थी। उसे हटाकर शिव पूजा प्रचलित हुई। मत्स्य-पुराण के अनुसार वाराणसी हरिकेश यक्ष के अधिकार में थी। इसकी उपासना अब भी हरसू ब्रह्म के रूप में प्रचलित है। यह शिव का भक्त हो गया और उसके परिवर्तन के बाद शिव काशी के मुख्य देवता हुए और यक्ष उनके अनुचर देवता बन गए। आज तक काशी विश्वविद्यालय की भूमि में यक्षों के चार चत्वर हैं। शहर में तो और भी कितने ही हैं। उनमें लहुराबीर (छोटा बीर) और बुल्लाबीर (बड़ा बीर) प्रसिद्ध हैं (संस्कृत विपुल < विउल का प्राकृत रूप बूल या बुल्ला है), जैसे

भरहुत में चुलकोका और महाकोका देवता थीं। मध्यकाल में ५२ वीरों की सूची लोकप्रसिद्ध थी (देखिए मेरी पुस्तक, प्राचीन भारतीय लोक धर्म)। गुप्त कला और साहित्य में यक्ष पूजा के बहुत से उदाहरण हैं। अजन्ता गुफा में उसका चित्र है और चतुर्भाणी में रथ्यायक्ष का उल्लेख है। कालिदास ने गाथा शास्त्र की पृष्ठभूमि में कल्पना करते हुए अलका के अधिपति राजराज वैश्रवण कुबेर के अनुचर यक्षों को सम्मानित स्थान दिया और उनकी जीवनस्थिति को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने शिव और कुबेर के सरल मैत्री भाव की भी चर्चा की है। शिव का स्थान कुबेर की राजधानी अलका के बाह्योद्यान में और अलका के समीप कैलास पर वर्णित है। मथुरा की कुषाण कला में कुबेर और उनकी पत्नी भद्रा या हारीती की अनेक मूर्तियाँ हैं। भद्रा बच्चों की मंगलकारिणी देवी बन गई। उसकी पूजा मगध से गन्धार तक की जाती थी। कहा जाता है बुद्ध ने उसका राक्षसी रूप छुड़ा कर उसे बच्चों की कल्याण-माता का रूप दिया था। शुंग काल में यक्ष मूर्तियों का प्राधान्य था, क्योंकि उस समय न तो ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ सामने आई थीं और न ही बुद्ध और तीर्थंकर मूर्तियाँ। अतः प्राचीन परम्परा के अनुसार यक्ष मूर्तियाँ ही पूजा में थीं।

ऐसा ज्ञात होता है कि भरहुत और साँची के महास्तूप ऐसी जनता ने खड़े किए जो यक्ष पूजा के भक्त थे। उनके द्वारा यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ द्वार-तोरणों पर और वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराई गईं। उनमें से कुछ मूर्तियों पर उनके नाम खुदे हैं, जैसे कुपिरो यखो (कुबेर यक्ष), यखी सुदसना (यक्षी सुदर्शना), सुचिलोमो यखो (सुचिलोम यक्ष), महाकोका और चुलकोका नामक दो देवता या यक्षी देवियाँ। बौद्ध धर्म और यक्ष पूजा का लोकधर्म अपूर्व भ्रातृभाव से एक दूसरे के समीप आए और लोगों ने समान भाव से दोनों का स्वागत किया। अशोक का यह कहना कि उसने जानपद जन से संपर्क किया और उनसे धर्म विषयक पूछताछ की (जानपदस जनस दसनं धमपलिपुछा), इसी ओर संकेत करता है कि जो देवता पहले अनमिल थे उनका मेल हो गया (अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा)। यही हुआ होगा कि अशोक ने अपना बौद्ध धर्म लोगों को दिया और लोगों ने अपने यक्ष देवता उसे दिए। उसी समय रामायण और महाभारत में यक्ष पूजा संबंधी सामग्री की मोटी धारा आकर मिल गई। रामायण ने यक्षत्व और अमरत्व का एक साथ पर्याय रूप में उल्लेख किया है (किष्किन्धा ११।१४)। महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने वैश्रवण को तीन वरदान दिए—अमृतत्व, धनाधिपत्व, और लोकपालत्व (आरण्यक० २५८।१५)।

यक्ष का एक नाम राजा या चमकने वाला था। इसीलिए उनके अधिपति कुबेर को राजराज या महाराज कहा गया है। बौद्ध साहित्य में प्रायः चार महाराजाओं कर उल्लेख आता है (चत्तारो महाराजानो)। इनमें यक्षों का राजा वैश्रवण उत्तर दिशा का, गन्धर्वों का राजा पूर्व दिशा का कुंभांडों का राजा विरूढ़क दक्षिण दिशा का और नागों का राजा पश्चिम दिशा का स्वामी था। ये चारों महाराज देवता के रूप में पूजे जाते थे। भरहुत वेदिका पर इन्हें यक्ष कहा है।

यक्ष का एक महत्त्वपूर्ण पर्याय ब्रह्म था। महाभारत में यक्ष महोत्सव या देवयात्रा को ब्रह्ममह कहा है। इन मेलों में चारों वर्णों के लोग सानन्द जुड़ते थे (ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः। वैश्याः शूद्राश्च मुदिताः चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा। आ० १५२।१८)। मत्यदेश की राजधानी विराट् नगर में ब्रह्ममह नाम से यक्षों का बड़ा मेला लगता था जिसका प्रबन्ध राजा की ओर से किया जाता था और साथ ही नामी पहलवानों की कुश्ती का अखाड़ा भी बनता था। पुराकाल से ही यक्षों का सम्बन्ध अमरता, दीर्घजीवन और स्वास्थ्य के साथ हो गया था। अमरता आदि

गुणों के कारण ही यक्षपूजा लोक में फैली। जिसे देखो वही यक्षों का भक्त बन गया। मूर्तिकला में यक्षों के हाथ में अमृत-घट देखा जाता है। शान्ति पर्व में यक्षसदन को अवध्यपुर कहा है, अर्थात् ऐसी नगरी जहाँ मृत्यु की पहुँच नहीं है (शान्ति पर्व ७१।१५)। यक्षों के मृत्युंजय गुण पर लोगों का इतना विश्वास बढ़ा कि घोसुंडो के लेख में संकर्षण और वासुदेव इन सर्वोच्च देवताओं को भी अनिहित कहा गया है जो अवध्य का ही पर्याय है। अथर्ववेद में यक्ष भवन को अपराजिता पुरी कहा है (अथर्व० १०।२।२९-३३)। वहाँ यक्ष के पद को और भी ऊँचा उठाया गया है और भुवनों के मध्य में स्थित प्रजापति या ब्रह्म को महद्ब्रह्म कहा है (महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे)। यक्ष पूजा में इन तीनों लक्षणों को मान्यता दी गई। महत् का अर्थ महाकाय था जो लक्षण यक्षमूर्तियों की सुविशाल देह में घटित होता है। यक्ष की संज्ञा ही महत् हो गई। यक्ष की पूजा को 'महदुपठान' कहा गया। प्रायः सभी शिल्पी इस बात से सहमत थे कि यक्ष की मूर्ति को यथासंभव बड़ा बनाया जाय। दूसरी बात यह थी कि यक्ष को जल या सरोवर के समीप का देवता माना गया। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में यक्ष ताल का रक्षक देवता था जिससे पाँच पांडवों का संवाद हुआ। इस यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद के कई श्लोक वही हैं जो यजुर्वेद के ब्रह्मोद्यसूक्त अध्याय २३ में दिए गए हैं। यह इस बात का निश्चित प्रमाण है कि यक्षों के लिए जैसे शिलोगो या श्लोक आदि लोक में प्रचलित हैं वैसे ही श्लोक वैदिक युग में लोक-गीतों के अंग थे। यजुर्वेद के दुहराए हुए दो मन्त्र और यक्षयुधिष्ठिर-संवाद के दो श्लोक[1] हूबहू वही हैं।

यक्षों की कई विशाल मूर्तियाँ ताल या नदियों के किनारे पाई गई हैं जैसा बेसनगर में मिली १२ फुट ऊँची यक्षमूर्ति से प्रकट है। यक्ष का तीसरा लक्षण तपसिक्रान्तम्, अर्थात् तप या अग्नि के रूप में चलता हुआ कहा गया है। उसकी पहचान जंगलों में फिरते हुए अग्निपुंज से की गई है, जिसे भूत या यक्ष कहते हैं। बुद्ध ने यक्षपूजा को तिरच्छान विद्या या मिछाजीव विद्या कहा है (ब्रह्मजालसुत्त)।

ऋग्वेद में भी यक्षपूजा का कई बार उल्लेख है पर उसे संभ्रान्त या अभिमत धर्मविधि नहीं माना गया है। मित्र और वरुण के भक्तों को यक्ष के प्रभाव से बचने के लिए कहा गया है (ऋ० ७।६१।५)। अद्भुत कर्म वाले मित्र और वरुण देवता के होते हुए यक्ष पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है (ऋ० ५।७०।४)। एक मन्त्र में अग्नि को इतना शक्तिशाली और बृहत् कहा गया है कि वह यक्षों का भी अध्यक्ष होने के योग्य है (यक्षस्याध्यक्षं तविशं बृहन्तम्, ऋ० १०।८८।१३)। अन्य मंत्र में यक्ष के स्थान या चौरे के यक्षसदन कहा गया है (ऋ० ४।३।१३)। अग्नि से कहा है कि वह उस यक्ष-सदन में न जाय जहाँ कोई मूढ़ात्मा का पड़ौसी या सम्बन्धी जाता है।

---

१. कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किंवावपनं महत्॥ (यजु० २३।९,४५)
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्यभेषजं भूमिरावपनं महत्॥ (यजु० २३।१०,४६)
मिलाइए—किं स्विदेको विचरति जातः को जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत्॥ (३।२९७।४६)
सूर्य एको विचरित चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत्॥ ३।२९७।४७)

सम्भवतः यहाँ निचले वर्ग के लोगों का संकेत है जो आर्य देवताओं को न मानकर यक्षों में विश्वास करते थे। ऋग्वेद के एक मंत्र में ऐसा उल्लेख है जिसमें यक्षों को भी रूप सौन्दर्य से युक्त माना गया है। मरुत देवताओं की तुलना यक्ष सदृश शोभा युक्त भक्तों से की गई है (ऋ० ७।५६।१६)। यक्षों की मान्यता का यह उत्तम पक्ष अधिक प्रबल होता गया जैसा कि गृह्यसूत्रों के प्रमाण से ज्ञात होता है। वैदिक विद्याश्रम या चरण में आया हुआ एक छात्र आचार्य-परिषद् के सामने यह चाहता है कि वह भी यक्ष की तरह सुन्दर दिखाई पड़े (यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वा भूयासम्, गोभिल गृह्यसूत्र ३।४।२८; द्राह्यायण गृहसूत्र ३।१।२५)। ज्यों-ज्यों यक्ष पूजा में इस भावना को स्थान मिला जनपद युग में यक्षों की धार्मिक मान्यता बढ़ती गई और अन्त में यक्ष लोक के सबसे प्रिय देवता बन गए, जैसा पाली, अर्धमागधी और संस्कृत साहित्य में पाया जाता है (णायाधम्मकहा १।२५; रायपसेणिय सुत्त कण्डिका १।४८)। प्राचीन भारतीय 'मह' नामक लोक धर्मों की सूची में, जिसमें लगभग ३० नाम हैं, यक्षमह या वेस्समणमह का नाम आता है। अथर्ववेद में लोकधर्मों का अधिक वर्णन है और वहाँ यक्ष देवता के विषय में अधिक सामग्री पाई जाती है। लिखा है कि सब राष्ट्रभृत् या अधिकारी यक्ष देवता के लिए बलि का आहरण करते हैं (महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति, अथर्व० १०।८।१५)। नागों और यक्षों के प्रति विश्वास बहुत लोकप्रिय और भूमि के साथ बद्धमूल था। हिन्दू धर्म की सनातन परम्परा में इन देवों को पूरी तरह स्वीकार किया गया और इस प्रक्रिया में बहुत कुछ परस्पर आदानप्रदान हुआ। इन्द्र, वरुण, अर्यमा आदि प्रधान वैदिक देवता अपने आसनों से नीचे उतर कर यक्षों की पंक्ति में गिने गए। यूनान में भी ओलम्पिक पर्वत के देवता हर्मीस् या अनगढ़ शिलाखंडों के रूप में पूजे जाते थे जब तक कि उनकी वास्तविक मूर्तियाँ नहीं बनी। महाभारत, बौद्ध साहित्य और पुराणों की यक्ष सूचियों से ज्ञात होता है कि वैदिक देवों को भी यक्ष मान लिया गया। पाणिनि के एक सूत्र में, जो बच्चों के नामकरण से सम्बन्धित है (अ० ३।८४), सेवल, सुपरि और विशाल इन तीन यक्षों के नाम आए हैं। इन्हीं के साथ वरुण और अर्यमा के नाम भी आए है जो वैदिक देवता थे पर इस सूची में यक्ष ही ज्ञात होते हैं। विशाल वैशाली का अधिष्ठाता देवता था। वह सभापर्व में वैश्रवण सभा का सदस्य एक यक्ष था (सभा० १०।१६)। आटानाटीय सूची में वरुण यक्ष देवता है (दीघनिकाय ३।१९५; बुद्ध के व्याख्यान, भाग ३)। उस सूची में इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति को माणिभद्र और आवलक यक्षों के साथ गिनाया गया है। महामायूरी यक्ष सूची में, उदाहरण के लिए, द्वारका के यक्ष का नाम विष्णु है।

कई यक्षायतनों का भी उल्लेख आता है, जैसे—कपिलवस्तु में यक्ष शाक्यवर्धन का चैत्य, चम्पा में यक्ष पूर्णभद्र का चैत्य, राजगृह में यक्ष मोग्गरपाणि का चैत्य, राजगृह के पास इन्द्रशैल यक्ष, राजगृह में जरा या हारीती का यक्षायतन (आरण्यक० ८३।२२), वैशाली के द्वारतोरण का अधिष्ठाता यक्ष, राजगृह के पास सुचिलोम यक्ष का चैत्य, वैशाली में शरदम्य यक्ष का चैत्य और मिथिला में माणिभद्र का चैत्य। यक्ष पूजा में संगीत, नृत्य, दीप, फूल, नैवेद्य आदि का उपयोग होता था और यह रीति वैदिक पूजा विधि से भिन्न और लोक की पत्रं पुष्पं फलं तोयं की पूजा विधि से अभिन्न थी (दे० गीता)।

यक्ष मूर्तियों के सम्बन्ध में दो समान परम्पराएँ हैं; एक नुकीली यक्ष पिंडियों की परम्परा जो अब भी चालू है और दूसरी सुविशाल देह की बलशाली मूर्तियाँ जिनका ऊपर वर्णन किया गया

है। ऊपर लिखे विवरण के अनुसार यक्ष पूजा के विस्तार का क्षेत्र विपुल है। अथर्ववेद ने यक्ष को आत्मन्वत् कहते हुए इनके महाकाय स्वरूप पर मुहर लगा दी थी (अथर्व० ०१।२।३२)। महाभारत में यक्ष को पर्वतोपम, ताल-समुश्रित और महाकाय कहा है जो बात प्राचीनतम मूर्तियों में स्पष्ट मिलती है। उसे अधृष्य अर्थात् मृत्यु से परास्त न होने वाला (तुलना कीजिए, अवध्य या अपराजित), सूर्य और अग्नि के समान दीप्तिशाली और महाबल कहा गया है। उपलब्ध यक्ष मूर्तियों में यह वर्णन पूरी तरह चरितार्थ होता है। महाभारत का उदात्त वर्णन और उपलब्ध मूर्तियाँ एक दूसरे का समर्थन करती हैं। प्रत्येक आलोचक ने यक्ष मूर्तियों की इस विशेषता का समर्थन किया है। वे आकार में गड़गज्ज हैं, मानों समस्त जनपद को अपने बल और प्रभाव से दबोच कर ऊँचे उठे हों। हनूमान् या महावीर की मूर्तियों में भी ये विशेषण घटित होते हैं, विशेषतः उनकी शैलतुल्य देह। उत्तरकालीन बोधिसत्त्व, तीर्थंकर और विष्णु मूर्तियाँ भी यक्ष मूर्तियों की अनुकृति हैं। न केवल महाबलशाली शरीर किन्तु रूपाकृति और वेष आदि के विषय में भी शिल्पियों ने यक्ष मूर्ति को ही नमूना मानकर कार्य किया। इस विशेषता पर भारतीय कला के इतिहास में जितना बल दिया जाय उतना कम है। इन तत्त्वों के परिचय से कुषाण और गुप्तकालीन प्रतिमाओं को समझने में पूरी सहायता मिलती है। यह निश्चित है कि लोक कला की शैली का निजी अस्तित्व था और उसने शुंग, कुषाण और गुप्त कला पर जो गहरा प्रभाव डाला वैसा मौर्यकालीन राजकीय शैली पर भी संभवतः वह नहीं डाल सकी थी। यद्यपि यक्षों की कुछ पाषाण मूर्तियों का समय तीसरी-चौथी ई० पू० में रक्खा जा सकता है किन्तु उनकी शैली और लक्षण तो और प्राचीन होने चाहिएँ। मिट्टी की विशाल महामूर्तियाँ अखाड़ों में पहलवानों द्वारा अब भी बनाई जाती हैं। उत्तर भारत के कुछ अखाड़ों में अब भी बड़े आकार की मूर्तियाँ बनाकर स्थायी रूप से पूजी जाती हैं। यों यक्ष मूर्तियों की पूजा की परम्परा सुरक्षित रही है। यक्ष का अभय मुद्रा में उठा दाहिना हाथ कालान्तर में बुद्ध मूर्तियों में भी बनाया गया। कुछ मूर्तियों में यक्ष के हाथ में चमर भी दिखाया जाता था (दे० दीदारगंज यक्षी)। इसका भाव यह था कि यक्ष देवता महाराजा कुबेर के अनुचर थे। उनके बाएँ हाथ में अंकित घट या निधि भी कुछ मूर्तियों में देखी गई है जो अमृतत्व का लक्षण था। यक्षों के बहुत से नाम थे; उनमें से पंच वीरों के नाम चुन लिए गए उसी से पंचवीर (मि० पंच पीर) संज्ञा निकली। इन पाँचों के नाम ये थे— माणिभद्र, पूर्णभद्र, दीर्घभद्र, यक्षभद्र और स्वभद्र (विष्णुधर्मोत्तर पु०)। वे वैश्रवण परिवार के पार्श्व देवता थे। इन्हीं की अनुकृति पर भागवत धर्म में पंच वृष्णिवीरों का विकास हुआ, यथा पंचव्यूह के अन्तर्गत संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब थे, जिन पर भागवतों ने अपने धर्म और दर्शन का भारी ढाँचा खड़ा किया। मथुरा में मोरा गाँव के कूपशिला लेख में वृष्णि पंचवीरों का उल्लेख है। ऐसा समझा जाता था कि यक्ष माणिभद्र के पास एक भद्रमणि थी। वह धनपति कुबेर के कोश का स्वामी था। अमरत्व और धन के कारण लोगों के मन पर यक्ष पूजा का बहुत प्रभाव हुआ। धर्म, साहित्य और कला तीनों से इस प्राचीन पूजा का समर्थन होता है।

अध्याय ८

८. शुंग कला (१८४–७२ ई० पू०)

भारतीय इतिहास में शुंग काल पुष्यमित्र के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है (१८४ ई० पू०)। वह शक्तिशाली सम्राट् था जिसने सेनापति की पदवी धारण की और मध्यदेश को विदेशी यवनों से मुक्त किया। महाभाष्य के रचयिता वैय्याकरण पतंजलि उसी समय में हुए और सम्भवतः उसके यज्ञ में प्रधान पुरोहित थे। यह युग संस्कृत साहित्य और क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन का वह काल था जब रामायण, महाभारत एवं पुराणों की रचना और पुनर्गठन के बहुमुखी प्रयत्न हुए। कला के क्षेत्र में देश के अनेक केन्द्रों में पाषाण घटित शिल्प और स्थापत्य को व्यापक प्रचार हुआ। स्तूप, तोरण-वेदिका और मूर्तियों की रचना के लिए पत्थर का प्रयोग सामान्य बात हो गई। भरहुत, साँची और अमरावती जैसे महाचेतिय या बड़े स्तूप इस युग में बने। बोधगया के बोधि-मंड या वज्रासन के चारों ओर पत्थर की वेष्टिनी या वेदिका और उसके बीच में चार तोरण इसी युग की कृतियाँ हैं। पत्थर में नाना भाँति की उकेरी या नक्काशी एवं अलंकरण, अभिप्राय और मूर्तियाँ इसी युग के शिल्पियों की रचनाएँ हैं जिनसे देश के आगे आने वाले मार्गीय शिल्प का सूत्रपात होता है। जनता में यक्ष, नाग आदि लोक देवताओं के लिए जो धार्मिक मान्यता और बौद्ध धर्म के प्रति जो आस्था थी उसका अंकन एक साथ पत्थर पर किया जाने लगा और उसमें कलात्मक सौन्दर्य और विचित्र नई शोभा की सृष्टि की गई। न केवल आकार में अति विशाल कला कृतियों की रचना की गई, जैसे भरहुत और साँची के प्रभविष्णु स्तूप और महान वेदिका युक्त तोरण द्वार, किन्तु सुन्दर गढ़ी हुई मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण की गईं। एक ओर वास्तु शास्त्र के नए विधान स्थिर किए गए; दूसरी ओर मूर्ति शिल्प में लालित्य और रूप विधान का भी विकास हुआ जिसके फलस्वरूप भरहुत में चन्द्रा यक्षी, चुलकोका-महाकोका देवता, सुदर्शना यक्षी जैसी सुन्दर स्त्री मूर्तियों की रचना की गई है, जिनमें एक ओर गात्र-यष्टि की पूरी शोभा है और दूसरी ओर केश-विन्यास, विशेषक-रचना, अनेक प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों द्वारा सौन्दर्य विधान का बहुत अच्छा विकास मिलता है। इसी के साथ साथ शुंग कालीन कला में रसतत्त्व और आनन्द को भी विशेष स्थान दिया गया। स्त्री-पुरुषों के मुखों पर प्रफुल्लता से भरा हुआ दिव्य आनन्द छलकता हुआ दिखाई देता है। कला में इस प्रकार का हँसतामुखी सौन्दर्य एवं मग्नानन्दी अंकन तभी होता है जब कलाकार शिल्पी हँसते-खेलते लोक जीवन के साथ तन्मय हो गया हो। शुंग कला की यह विशेषता है कि उसमें सैकड़ों मार्गों से लोक के प्राणवन्त जीवन को अभिव्यक्त होने का स्थान मिला है। अनेक प्राचीन अलंकरणों की पुस्तक के अध्याय इस युग में मानों खुलने लगते हैं। श्री लक्ष्मी, पूर्णघट, उत्तरकुरु के दृश्य, धर्मचक्र, त्रिरत्न, कल्पवृक्ष, मकर, कच्छप, यक्ष-यक्षी, नाग-नागी, वृक्ष, स्तूप, महाआजानेय पशु जैसे वृषभ, सिंह, अश्व, हस्ती आदि पशुओं की पूजा, देव-देवियाँ, देवप्रासाद, पुष्पस्रज्, पुष्पमालाएँ, कल्पलता, सरोवर, रत्नमालाएँ, एवं और भी अनेक अभिप्राय मिलते हैं जो एक ओर प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के सूचक थे और दूसरी ओर शोभा के लिए कला में अंकित किए जाते थे। शुंग कला में जितने अधिक अलंकरण हैं उनका वर्गीकरण और संग्रह

करने पर तो भारतीय कला की एक पूरी सौन्दर्य-संहिता ही हमारे सामने आ जाती है। ये मांगलिक चिह्न ही भारतीय धार्मिक जीवन को प्रकट करने वाली बारहखड़ी हैं। अशोक ने जिस प्रकार के स्तूपों का निर्माण आरम्भ कराया था उनका और अधिक विकास शुंग युग में हुआ।

स्तूप, चैत्यघर, विहार, स्तम्भ, चतुःशालवेदिका समेत तोरण और देवस्थान ये शुंग युग की कला की देन हैं। स्तूप मिट्टी का बड़ा भारी थूहा होता था जो चिता के स्थान पर बनाया जाता था। अतएव उसे 'चैत्य' भी कहते थे। यह प्रथा बुद्ध से भी पहले से चली आती थी। चिता के स्थान पर स्मृति रूप में पीपल का वृक्ष रोपा जाता था या मिट्टी का थूहा बना दिया जाता था। दोनों को ही चैत्य कहते थे। चैत्य के ऊपर काष्ठ का खम्भा खड़ा किया जाता था जिसकी संज्ञा 'चैत्ययूप' थी। यह शब्द महाभारत में आया है और लौरिया नन्दनगढ़ (बिहार) के स्मशान या पितृवन के स्तूपों में प्रतिष्ठित उस प्रकार के चैत्ययूप वस्तुतः पाए गए हैं। मिट्टी के मूलभूत ऊँचे थूहों को बाद में ईंटों के कंचुक और पुनः कालान्तर में पत्थर की शिलाओं से ढक दिया गया। इसे शिला कंचुक या शिला-आच्छादन कहा जाता है। भरहुत का स्तूप ईंटों से संवर्द्धित किया गया। उसके ऊपर शोभा के लिए सुधाकर्म या चूने का लेप चढ़ाया गया। उस प्रकार के बड़े स्तूप के निर्माण में १० करोड़ ईंटें तक लग जाती थीं। भरहुत का मूल स्तूप तो अब नहीं रहा केवल उसका एक कोना बच रहा था किन्तु साँची का स्तूप जो शिला फलकों पर आधारित है लगभग ज्यों का त्यों अवशिष्ट है। इसके सुघटित शिलापट्टों की रचना शुंग कला का एक आकर्षक उदाहरण है। कालान्तर में तो ये शिलाफलक नाना प्रकार के सुन्दर अलंकरणों से उत्कीर्ण किए जाने लगे; जैसे सारनाथ का धमेख स्तूप जिसके आवरण के लिए देवदूष्य अर्थात् देवता का वस्त्र इस प्रकार की कल्पना की जाती थी। छोटे स्तूपों के आकार और शोभा को बढ़ाकर बड़ा बनाने का रिवाज ही हो गया था। छोटे स्तूप को अल्पेशाख्य और बड़े को महेशाख्य कहा जाता था। इष्टका और शिलाओं से स्तूप के स्वरूप में परिवर्धन लाया जाने लगा तो वास्तु और शिल्प सम्बन्धी कई प्रकार की नई समस्याओं का जन्म हुआ। उनमें स्तूप के चारों ओर की वेदिका और चतुर्दिक तोरणों का निर्माण मुख्य समस्या थी। भरहुत और साँची के अलंकृत तोरण और वेदिकाएँ कला की दृष्टि से बड़ी विशिष्ट कृतियाँ हैं। उनकी रचना सौम्य और सुन्दर होते हुए भी निर्माण की दृष्टि से बड़ी जटिल है। और, उनके पीछे शताब्दियों का पूर्वाभ्यास पाया जाता है। भारतीय कला के तीन प्रकार के महान् अवशेष हैं जिनका दीर्घकालीन विकास क्रम हमें प्राप्त होता है—एक स्तूप, दूसरे चैत्यगृह और तीसरे देवमन्दिर। इसमें से प्रत्येक का लगभग १२ शताब्दियों तक का निश्चित विकास क्रम उपलब्ध है जिसमें रचनाओं और अलंकरणों अर्थात् वास्तु विधान और रूप-विधान की एक-एक कड़ी के लिए हमारे पास सामग्री उपलब्ध है। शुंगकाल से लेकर मध्यकाल तक के स्तूपों की कला का अध्ययन किया जाय तो उनके स्वरूप और शोभासम्पन्न अभिप्रायों की प्रभूत साक्षी हमारे सामने आती है। धार्मिक और वास्तुकला दोनों की दृष्टि से स्तूप की प्राचीनता भारतीय कला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

स्तूप का सम्बन्ध अब प्रायः बौद्ध धर्म से माना जाता है। पर यह उससे कहीं अधिक प्राचीन था। स्तूप की कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। वहाँ अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं को स्तूप कहा है[1]

---

१. जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतं धूममृण्वन्।
उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य ॥

(ऋ० ७।२।११)। वितान लेकर फैले हुए वृक्ष के साथ स्तूप की तुलना की गई है (ऋ० १।२४।७)[1]। ऋग्वेद में अंगिरस के एक पुत्र का नाम हिरण्यस्तूप पाया जाता है। वह द्युलोक के सविता देव की स्तुति करता है। हिरण्यस्तूप का शब्दार्थ था सोने का थूहा या ढेर। वैदिक कल्पना के अनुसार सूर्य हिरण्य-स्तूप है जिसकी सुनहली किरणें चारों ओर स्तूप के आकार में फैली हुई हैं[2]। किसी मूलभूत सुवर्ण के स्तूप की कल्पना जैन साहित्य में भी पाई जाती है जहाँ मथुरा के प्राचीन स्तूप को देव-निर्मित स्तूप कहा है। वस्तुतः विराट् प्राण तत्त्व की संज्ञा हिरण्यस्तूप थी। वहाँ हिरण्य का अर्थ दिव्य प्राण है। बुद्ध से भी पहले स्तूप का सम्बन्ध महापुरुष से माना जाने लगा। उसके जीवन की कल्पना अग्नि-स्कन्ध या अग्नि के ऊँचे जलते हुए दहाड़े के रूप में की जाती थी। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सूर्य या सविता अग्नि का महान स्तूप है जिसे ब्रह्म की ज्योति माना जाता है। भगवान् बुद्ध अपने ज्ञानमय प्रकाश के कारण अग्नि-स्कन्ध बन गए थे और स्तूप के रूप में उनकी स्मृति या पूजा को उचित समझा जाता था। अनुश्रुति है कि बुद्ध की शरीर धातु के आठ भाग किए गए और प्रत्येक भाग के ऊपर एक एक स्तूप की रचना हुई। उनमें से ७ स्तूप क्षत्रियों या राजाओं द्वारा निर्मित किए गए और ८ वाँ ब्रह्म या ब्राह्मण के द्वारा। इससे यह सूचित होता है कि बुद्ध के जीवन में ब्रह्म और क्षत्र इन दोनों तत्त्वों का समन्वय था; अर्थात् वे योगी और चक्रवर्ती इन दो आदर्शों के प्रतीक थे। इन्हीं दो तत्त्वों के सम्मिलन से बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हुआ। चक्रवर्ती रूप में वे सिंहासन पर छत्र और चँवर के साथ विराजमान देखे जाते हैं और योगी रूप में पद्मासन में स्थित हैं।

स्तूप का वास्तु

स्तूप का निर्माण पाषाण कुट्टिम या शिलाओं की नींव पर किया जाता था। चबूतरे के ऊपर बिछाए हुए शिलापट्टों पर औंधे कटोरे की आकृति का या लम्बोतरे बुद्बुद् की आकृति का एक थूहा बनाया जाता था जिसे अंड कहते थे। इसका संकेत इसी शब्द में निहित है। आरम्भ में स्तूप के व्यास और उसकी ऊँचाई का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता था; पर क्रमशः उत्सेध या उच्छ्राय (ऊँचाई) में वृद्धि होती गई और स्तूप का आकार बुद्बुद् या अण्डे के समान ऊँचा होता गया। जब अंड की ऊँचाई बढ़ती गई तब स्तूप के आकार की तुलना महाबुब्बुल या पानी के बड़े बुलबुले से की जाने लगी। स्तूप की चोटी अपनी गोलाई पूरी न करके सिरे पर कुपुटी हुई (संस्कृत क्लृप्त) बनाई जाती थी। उसी चपटे भाग पर स्तूप का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग रहता था। उसे हर्मिका कहते थे। हर्मिका का अर्थ है देवताओं का निवास स्थान या देव सदन। स्तूप के वास्तु की कल्पना में वह उसके द्युलोक के समकक्ष हुआ। हर्मिका के बीच में एक यष्टि लगाई जाती थी। यष्टि का निचला भाग स्तूप के मस्तक में धातुगर्भ-मञ्जूषा के ऊपर पिरोया रहता था और उसके ऊपरी सिरे पर तीन छत्र या छत्रावली लगाई जाती थी। कालान्तर में छत्रों की संख्या ७ तक पहुँच

---

१. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्ष।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥

२. हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्ये वांशुं प्रति जागराहम् ॥

गई। यष्टि या हर्मिका के चारों ओर छोटे खम्भों की एक वेदिका बनाई जाती थी जिससे उस स्थान पर देव-प्रभाव सूचित होता था।

क्रमशः स्तूप के वास्तु-विधान में विकास हुआ (चित्र १६३)। उसके सबसे प्रमुख रूप में स्तूप के चारों ओर वेदिका समेत तोरणों की रचना हुई। वेदिका का स्वरूप हमें घोसूँडी के नारायण वाटक में भी मिलता है जहाँ शिलाखण्डों की बनी हुई महती चौकोर वेष्टिनी अभी तक सुरक्षित मिली है। वेदिका की मूल कल्पना निश्चय ही वैदिक थी। यज्ञों में वेदिस्थान के चारों ओर इस प्रकार की सीमा सूचक वेष्टिनी बनाई जाती थी उसी से यज्ञ-मण्डप या अग्निशाला का प्रमाण या विस्तार विदित होता था। इसी की अनुकृति पर प्रत्येक देवस्थान वेदिका से मंडित किया जाने लगा। इसी आधार पर चैत्यवृक्ष, धार्मिक स्तम्भ, आयाग या पूजा पट्ट, बोधिमंड आदि के चारों ओर वेदिकाएँ बनाई जाने लगीं। एक प्रकार से वेदिका धार्मिक स्थान का लक्षण या चिह्न बन गई। बौद्ध स्तूपों के चारों ओर आरम्भ में काष्ठ वेष्टिनी या लकड़ी की वेदिकाएँ होती थीं। कालान्तर में शिलामयी वेदिकाएँ बनाई गईं। इस प्रकार की पाषाण घटित वेष्टिनी भरहुत और साँची के स्तूपों में पाई गई हैं।

स्तूपों के चारों ओर वेदिका का स्वरूप परिमंडलाकार है। वेदिका के बड़े गोल घेरे की चार दिशाओं में चार प्रवेश द्वार या तोरण बनाए जाते हैं। चार तोरण द्वार और वेदिका के चार तुरीय भागों की वास्तु रचना के मूल में एक दार्शनिक मान्यता थी। उसके अनुसार विश्व की रचना एक बड़े स्वस्तिक के रूप में हुई है। चार दिशायें ही स्वस्तिक की चार भुजायें हैं, उसे दिक् स्वस्तिक कहते हैं। पुराणों में इसकी कल्पना यह है कि विश्व का मध्य बिन्दु सुमेरु है। उसके चारों ओर यह विश्व चार दिशाओं के रूप में फैला हुआ है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर मेरु के चार तटान्त हैं जिनके अपने अपने सरोवर, नदी, देव-वृक्ष आदि हैं। इस प्रकार की धार्मिक मान्यता वैदिक काल से ही लोक में व्याप्त थी। उसे दिशामह और उसके मानने वालों को दिशाव्रतिक कहते थे। इसी के अनुसार चार दिशाओं के अधिपति चार लोकपाल थे। उनकी संख्या चातुर्महाराजिक देव थी। स्तूप के चार तोरणों के वे अधिपति या रक्षक थे और भरहुत-साँची के स्तूपों में उनका वहाँ निवास बनाया गया है जो इस प्रकार है--उत्तर में यक्षों के राजा वैश्रवण कुबेर, पूर्व में गन्धर्वों के राजा धृतराष्ट्र, दक्षिण में नागों के राजा विरूढक और पश्चिम में कुम्भाण्डों के राजा विरूपाक्ष। इस प्रकार 'चतुष्टयं वा इदं सर्वं' अर्थात् यह सारा विश्व चतुर्धा विभक्त है—इस मूल सिद्धान्त के अनुसार स्तूप के गर्भसूत्रानुसारी वास्तु विधान की कल्पना की गई। तोरण और वेदिका उसी के रूप हैं। वेदिका और स्तूप के बीच की भूमि प्रदक्षिणा पथ कहलाती थी। उसी पर चल कर दर्शनार्थी स्तूप की परिक्रमा करते थे।

ब्रह्मसूत्र या भूलम्ब की दृष्टि से स्तूप के उत्सेध में तीन वेदिकायें होती थीं। स्तूप की उच्छ्रायगत कल्पना त्रिलोकी के अनुसार थी, एक भूमिगत भाग या पृथिवी, दूसरा मध्यगत या आन्तरिक भाग और तीसरा शिखर गत हर्मिका भाग या द्युलोक। इन तीनों में तीन वेदिकायें बनाई जाती थीं। पहली सबसे बड़ी भूमिगत वेष्टिनी, दूसरी स्तूप के मध्य भाग के चारों ओर की वेदिका, वह एक ऊँचे स्थंडिल पर बनाई जाती थी, वहाँ तक चढ़ने के लिए सोपान बनाए जाते थे। उस स्थंडिल या मंच पर मेधि में घूम कर स्तूप की दूसरी परिक्रमा की जाती थी। यह वेदिका पहली से

आकार में छोटी होती थी। तीसरी वेदिका हर्मिका के चारों ओर होती थी और वह आकार में सबसे छोटी होती थी। इस प्रकार तीन वेदिकाओं से सुसज्जित त्रिमेखला मंडित स्तूप का विकास हुआ। इन वेदिकाओं के अलंकरण में बहुत प्रयत्न किया जाता था। भूमिगत वेदिका का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भरहुत स्तूप की वेष्टिनी है। बीच की वेदिका का सर्वोत्तम स्वरूप, जिसमें अलंकरण की पराकाष्ठा देखी जाती है, साँची के तीसरे स्तूप में पाया जाता है।
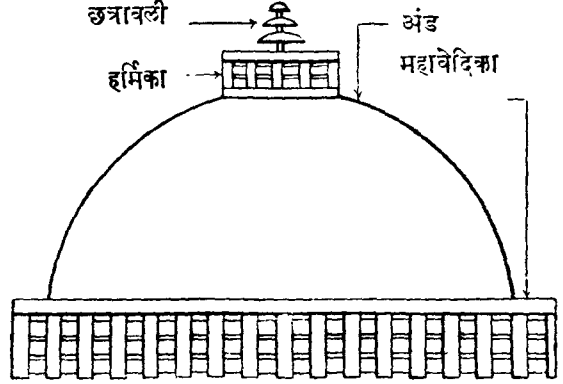
चित्र १६३

वेदिका—यज्ञीय वेदी के चारों ओर के काठ के जंगले को वेदिका कहा जाता था। यज्ञीय भूमि को दूसरी भूमि से पृथक् करने के लिए उसकी आवश्यकता थी। यज्ञीय भूमि का अर्थ था देवता के प्रभाव से व्याप्त भूमि। अतएव वेदिका की रचना का विशेष प्रयोजन था और उसकी रचना की यह धार्मिक रीति स्तूप की वेदिका में भी अन्तर्निहित थी। प्रत्येक धार्मिक वृक्ष के चारों ओर जिसे चैत्य वृक्ष भी कहते थे वेदिका बनाई जाती थी। साहित्य में वेदिका युक्त वृक्षों का प्रायः उल्लेख मिलता है और भरहुत-साँची की कला में उनका अंकन भी पाया जाता है। अशोक के रुम्मिनदेई लेख में शिला विगड भिचा का वर्णन आया है। उसने अपने स्तम्भ के चारों ओर एक पत्थर की विकट भित्ति या बड़ी भीत बनवाई थी। उसी के लिए यह शब्द था। घोसूँडी के नारायण वाटक लेख में पत्थर की बड़ी चारदीवारी को पूजाशिलाप्राकार कहा गया है। वास्तु का वही अंग स्तूप के लिए भी प्रयुक्त हुआ। वेदिका के निर्माण का स्वरूप इस प्रकार था—उसमें अनेक खम्भे खड़े किए जाते थे। प्रत्येक खम्भे का नीचे का सिरा पेंदी के पत्थर से जड़ा रहता था। उसे आलम्बन पिण्डिका
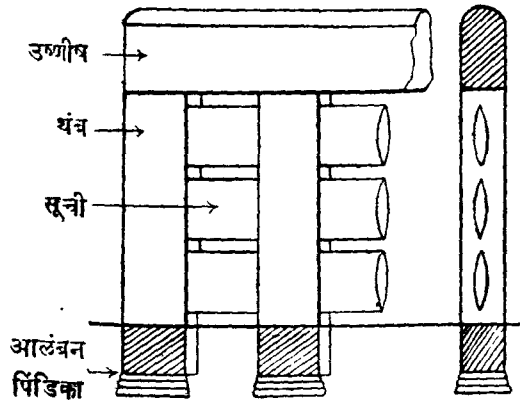
चित्र १६४
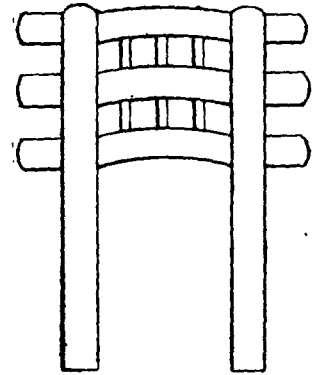
चित्र १६५

कहा जाता था। खम्भे के ऊपर का चोटिया एक दूसरे पत्थर में चूल काट कर पिरोया जाता था। पत्थर की उस मुँडेरी को उष्णीष कहते थे। दो खड़े खम्भों के बीच में तीन आड़े पत्थर लम्बोतरे छेद काट कर

फँसाए जाते थे। उन आड़े पत्थरों को सूची कहा जाता था। इन्हें ही कालान्तर में 'तकिया' कहा जाने लगा (चित्र १६४)। इस प्रकार स्तम्भ, सूची, आलम्बन-पिण्डिका और उष्णीष ये चारों अंग एक दूसरे के साथ चोटी और चूल की युक्ति से मिलाकर बिलकुल टंच कर दिए जाते थे और वह जंगला स्तूप के चारों ओर खड़ा हुआ बहुत ही भला लगता था। इस प्रकार पाषाण घटित वेष्टिनी की समुदित शोभा का एक उदाहरण साँची के स्तूप के साथ बच गया है। वेदिका की एक विशेषता यह थी कि स्तम्भ, सूची और उष्णीष के आगे पीछे के भाग पर इच्छानुसार शोभा के लिए अलंकरणों की सज्जा उत्कीर्ण की जा सकती थी। उस प्रकार की उकेरी भरहुत की वेदिका पर मिली है। साँची की वेदिका सादी है, उसमें सजावट नहीं है। केवल उसके तोरण उकेरी की साज सज्जा से अतिशय शोभा युक्त हैं (चित्र १६५)।

स्तूप के महास्वरूप का जनता के मन पर बहुत प्रभाव होता था। लोक में उसे महा पुरुष का साक्षात् प्रतीक मानते थे जिसकी शरीर धातु स्तूप के गर्भ में मञ्जूषा या निधान कलश में रखी जाती थी। विद्वानों की दृष्टि में स्तूप गूढ़ विश्व रचना का प्रतिरूप था। अंड और हर्मिका से युक्त महती आकृति पूरे विश्व या ब्रह्माण्ड की प्रतीक थी और उसी को महापुरुष का भी प्रतीक माना जाता था।

बुद्ध उस विराट् पुरुष के प्रतिनिधि थे जो सूर्य मंडल का अधिष्ठाता है। बुद्ध सूर्य वंश के इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुए थे और इस दृष्टि से वे सूर्य की विराट् शक्ति से सम्बन्धित थे। बुद्ध की स्मृति रखने के लिए प्रयत्नशील दार्शनिकों ने अपनी समस्या का समाधान स्तूप रचना के द्वारा किया। प्राचीन बौद्धाचार्यों ने चक्र और स्तूप इन दो प्रतीकों को बुद्ध के भव्य व्यक्तित्व के लिए उपयुक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया। चक्र उस धर्म का प्रतीक माना गया जिसका उपदेश बुद्ध ने दिया। चक्र के रूप में धर्म विश्व का आधार है क्योंकि विश्व परिवर्तमान चक्र का ही रूप है जो त्रिनाभि या त्र्यध्वा है, और जो भूत, भविष्य और वर्तमान में घूमने वाला काल चक्र ही है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि स्तूप सविता या सूर्य की सहस्र रश्मियों का समूह या समष्टिगत पुञ्ज है जिसे हिरण्य स्तूप भी कहा जाता था।

सूर्य की प्राणमयी शक्ति अग्नि का रूप थी। वही प्रत्येक व्यष्टि केन्द्र में मूर्त रूप धारण करती है और प्रत्येक मिट्टी या पत्थर के स्तूप के केन्द्र में छुपा हुआ वही सुवर्ण का स्तूप है। वही आङ्गिरस हिरण्य स्तूप प्रत्येक प्राणि केन्द्र में है। जहाँ भी भूत की सत्ता है उसके केन्द्र में हिरण्यमय प्राण की सत्ता है। ऋग्वेद में यज्ञीय यूप के साथ पुरुष का सम्बन्ध माना गया है। यज्ञीय यूप प्राणमय स्कम्भ का रूप था जिसकी मेखला में समस्त भौतिक जगत या पुरुष बन्धनयुक्त हैं। प्राण शक्ति का प्रतीक यूप और भूतों का प्रतीक स्तूप इन दोनों का पारस्परिक संयोग लौरिया नन्दनगढ़ के मिट्टी के स्तूपों में पाया गया है। साँची के स्तूप के तोरण से मिला हुआ जो सिंह स्तम्भ अशोक ने बनवाया वह भी इसी प्राचीन परम्परा का द्योतक था।

यूप और स्तूप की पारस्परिक एकात्म कला और तुलना इस प्रकार जाननी चाहिए—

१—जो भाग भूमि के भीतर निखात या छिपा रहता है—वह पितरों का भाग या पितृलोक का रूप है जिनकी स्मृति में स्तूप की रचना की जाती है।

२—निखात भाग की रेखा से ऊपर रशना तक यूप—यह अंश मनुष्य लोक का प्रतिरूप है।

३—रशना से ऊपर चषाल या मस्तक भाग की चकरी तक—यह देवलोक का प्रतीक है।

४—चषाल से ऊपर का भाग जो दो अंगुल या तीन अंगुल निकला रहता है—यह साध्य देवों का अंश माना जाता है।[1]

इसमें चतुष्पाद् महापुरुष का उल्लेख देखा जा सकता है जो यज्ञीय यूप में मूर्तरूप ग्रहण करता है। उसका त्रिपाद् रूप विश्व में और एकपाद् विश्व से अतीत अव्यक्त रहता है। स्तूप के वास्तु विधान में भी यह कल्पना चरितार्थ देखी जाती है। उसके भी चार भाग हैं, जैसे भूमि निखात भाग या प्रतिष्ठा, उसके ऊपर प्रथम वेदिका तक का अंड भाग, उसके ऊपर दूसरी वेदिका का मध्य भाग और सबके ऊपर शिखरगत हर्मिका भाग। हिन्दू देव-प्रासाद या मन्दिर में भी ब्रह्मसूत्र के ऊर्ध्व-स्थित भाग में यही विधान देखा जाता है, जैसे जगती, गर्भगृह या मंडोवर, शिखर, एवं आमलक-शिला एवं उसके ऊपर देव-ध्वज जो छत्र युक्त हर्मिका के समतुल्य है। यह स्पष्ट है कि स्तूप और प्रासाद या देवायतन का विकास समान धार्मिक भावना से दो भिन्न धाराओं में हुआ। स्तूप में महापुरुष या बुद्ध की परिकल्पना है और मन्दिर में देव की। इस दृष्टि से स्तूप महापुरुष के निर्वाण में चले जाने का शोकात्मक प्रतीक नहीं था किन्तु उसके भौतिक धरातल पर प्रकट होने और पूर्ण आनन्द और ज्योति का प्रतीक था। महापुरुष भूलोक में प्रकट होकर निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है यह कोई विषाद या रोने-धोने का हेतु नहीं है। किन्तु वे मूर्त रूप में प्रकट होते हैं यह सार्वजनिक हर्ष और कृतज्ञता का कारण है जिसके लिए सभी देव और मनुष्य अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। यह आनन्द का भाव स्तूप के सहचारी शिल्पांकन में बारम्बार देखा जाता है। महापुरुष का मनुष्य लोक में आगमन किसी दिव्य ज्योति का भूमि पर अवतरण है जिसकी रश्मि इस लोक में एक ज्वाला के रूप में सदा विद्यमान रहेगी। महापुरुष का प्रतीक स्तूप उसके ज्ञानमय या तपोमय जीवन का भी उत्तम प्रतीक माना गया और यही उसकी स्वर्णमयी या रत्नमयी कल्पना थी। भरहुत और साँची के वेदिका स्तम्भ या तोरणों पर एवं अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड की कंचुक-शिलाओं या आच्छादन पटों पर जो नृत्य और गीत के अनेक दृश्य हैं उनके मूल में मानव के हृदय की आनन्द-मयी वृत्ति का ही दर्शन होता है।

लोक की धार्मिक परम्परा और भावना के मंथन से ही स्तूप का जन्म हुआ। इसके निर्माण में अनेक प्राचीन भारतीय लोक धर्मों ने सहयोग दिया। स्तूप का भाव कहीं बाहर से नहीं आया, इसे पृथिवी की दीर्घकालीन धर्म भावना ने जन्म दिया। हम देखते हैं कि लोक के अनेक गृहस्थ मिल कर स्तूप के साङ्गोपाङ्ग वास्तु का निर्माण कराते थे। स्तूप की सार्वजनिकता का दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यक्ष, नाग, गन्धर्व, कुम्भाण्ड, वृक्ष आदि जो अनेक लोकमान्यतायें और धर्म थे उन सब को स्तूप की रचना में स्थान दिया गया। भरहुत और साँची जैसे महास्तूपों की रचना कोई साधारण बात न थी। इसके लिए बहुत बड़ा संगठन आवश्यक था। स्तूप की सजावट में अनेक धार्मिक मान्यताओं का योगदान देखा जाता है। समस्त समाज का जीवन ही इन महाचैत्यों के रूप में मूर्त हो उठता था। स्तूप का निर्माण कोई आकस्मिक घटना न थी, उसके पीछे सुनिश्चित परम्परा थी। बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द से तत्संबंध में कहा था। आनन्द ने प्रश्न किया—"हे भन्ते! किस प्रकार हम तथागत के शरीर या धातुओं का सम्मान करें ?

---

१. तस्य यन्निखातम्। तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं निखातादारशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं रशनाया आचषालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं चषालाद्द्व्यङ्गुलं वा त्र्यंगुलं वा साध्या इति देवास्तेन तेषां लोकं जयति स लोको वै साध्यै देवैर्भवति य एवमेतद्वेद ॥ शतपथ ब्रा० ३-७-१-२५।

बुद्ध—हे आनन्द ! तुम तथागत के शरीर की पूजा के लिए व्यग्र मत होना। किन्तु हे आनन्द ! तथागत द्वारा उपदिष्ट जो सदर्थ हैं उसी पर ध्यान देना।

आनन्द—हे भदन्त ! तथागत के शरीर या धातुओं का हमें किस प्रकार सम्मान करना चाहिए ?

बुद्ध ने आनन्द का पुनः आग्रह देख कर कहा—हे आनन्द ! जैसे चक्रवर्ती राजा के शरीर या धातुओं का सम्मान करते हैं वैसे ही तथागत के शरीर का भी करना चाहिए।

आनन्द—हे भन्ते ! चक्रवर्ती राजा के शरीर का कैसे सम्मान किया जाता है।

बुद्ध—चक्रवर्ती राजा के लिए चार महापथों के मिलने से बने हुए चौराहे पर स्तूप बनाया जाता है। ऐसे ही चतुष्महापथ पर तथागत के लिए स्तूप बनाना चाहिए।[1]

इस संवाद के अनुसार चक्रवर्ती राजा और बुद्ध इन दोनों का स्मृतिचिह्न स्तूप था। स्तूप के अधिकारियों में प्रत्येक बुद्ध भी सम्मिलित थे। पहुँचे हुए सन्तों को भूमि निखात करने या समाधि देने की प्रथा आज तक चली आ रही है। यह कल्पना की जा सकती है कि बुद्ध ने स्तूप निर्माण का समर्थन करते हुए अपने से पूर्वकालीन प्रथा पर ही बल दिया था।

यह भी उल्लेखनीय है कि शतपथ ब्राह्मण में दो प्रकार के चैत्य कहे हैं—एक चतुस्रक्ति या चौकोर, दूसरा परिमंडल या गोल[2]।

विशेषतः यह कहा है कि प्राच्यों के स्मशान या मृतकावशेष गोल होते थे।

स्तूप का निर्माण समाज के लिए स्फूर्तिदायक रचना होती थी। इसके समारोह में जाकर उस कर्मण्य योजना में अनेक व्यक्ति भाग लेते थे जैसा महावंश के वर्णन से सूचित होता है। बड़े आकार के स्तूप को महास्तूप या महाचेतिय कहते थे। उसकी रचना थूपकम्म (=स्तूपकर्म) या महाथूपारम्भ (=महास्तूपारम्भ) कहलाती थी। निर्माणाध्यक्ष व्यक्ति कम्माधिट्ठायक (कर्माधिष्ठापक) कहा जाता था। पाषाणघटित स्तूप शिलाथूप कहलाता था। महावंश में विशेष रूप से उल्लेख है कि थूपट्ठान या स्तूप के स्थान पर यूप की प्रतिष्ठा की जाती थी (हारेत्वा हि तहिं यूप थूपट्ठानं अखानयि)। नियत समय पर संघ और श्रावकजन उस स्थान पर एकत्र होते थे। बीच में पूर्णघट की प्रतिष्ठा की जाती थी। राजा अपने मंत्री के साथ स्वयं उस केन्द्र बिन्दु तक जाते थे और अपने मंत्री को परिभ्रमण दण्डक देकर कहते थे कि वह स्तूप के लिए आवश्यक भूमि का मापन करे। इस दण्डक की रस्सी का एक सिरा बीच की सुवर्ण यष्टि से बँधा रहता था। लिखा है कि जब मंत्री इस प्रकार भूमि मापन करने ही वाला था तब एक अनुभवी महाथेर ने महास्तूप के निर्माण की कठिनाइयों पर विचार करते हुए आगे बढ़कर राजा से कहा कि वह महाचेतिय की रचना का विचार त्याग कर केवल

---

१. आनन्द—'कथमयं भन्ते तथागतस्स सरीरे पटिपज्जामा'ति ?
बुद्ध—'अव्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीरपूजाय। इङ्घ तुम्हे आनन्द सदत्थे घटथ''''।'
आनन्द—'कथं पन भन्ते तथागतस्स सरीरे पटिपज्जितब्बं'ति ?
बुद्ध—'यथा खो आनन्द रञ्ञो चक्कवत्तिस्स सरीरे पटिपज्जन्ती'ति ?
बुद्ध—'...' चातुम्महापथे रञ्ञो चक्कवत्तिस्स थूपं करोन्ति। एवं'''धातुम्महापथे तथागतस्स थूपो कातब्बो।

२. देवाश्चासुरा चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुरान्त्सपत्नान् भ्रातृव्यान्दिग्भ्योनुदन्त ते दिक्काः पराभवं तस्माद्या दैव्या प्रजाश्चतुः स्रक्तीनि ताः स्मशानानि कुर्वतेथ या आसुर्याः प्राचास्त्वद्ये त्वथत्परिमण्डलानि।

मज्झिम चेतिय का निर्माण कराए। स्तूप या चैत्य के चारों ओर के वेदिका और तोरण रूप वास्तु
को चेतियावट्ट (चैत्यावर्त्त) कहा जाता था।

निर्माण कर्म का आरम्भ नींव डालने से होता था। पत्थर के ढोकों की ढुलाई का काम सैनिकों
से कराया गया। उन्हें बजरी के रूप में कूटते थे। उसके ऊपर हाथियों के पैरों पर चमड़ा मढ़वा
कर उनसे दाँय चलाई जाती थी जिससे बजरी की महीन भस्सी बन जाती थी (चम्मावनद्ध-
पादेहि महाहत्थीहि मद्दयि, २९४)। इस प्रकार ७ हाथ गहरी, पत्थर की बजरी और भस्सी के
महीन रेत से भरवा कर स्तूप के लिए पक्की नींव या भूमि बनवाई जाती थी। उसके ऊपर नवनीत
मत्तिका नामक अत्यन्त महीन और विशेषरूप से तैयार कराई गई चूने जैसी मिट्टी या मसालों का
पलस्तर किया जाता था। इसी को पीछे गुप्त युग में मषक कहने लगे जिससे हिन्दी का मसका शब्द
बना है जो इसी प्रकार के मसाले के लिए कारीगर लोग काम में लाते हैं[1]। यह सुधा लेप इन
पदार्थों को मिला कर बनाया जाता था—चूना, (खरसुधा), मोरम्ब (मरुम्ब), ईंट का पिसा
चूर्ण (इट्ठका चुण्ण), मिट्टी (मत्तिका), मनसिल (मनोसिला), तिल का तेल, शीरा (रसोदक),
कैथ या बेल का गूदा, कुरुविन्द चूर्ण और कोई एक पदार्थ। वज्रलेप बनाने का यह मसाला महावंस
के अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर में भी दिया है (वि० धर्मोत्तर पुराण, अध्याय ४०।१।३)। इसमें सुगन्धित
पदार्थ की जगह गुग्गुल मिलाने का उल्लेख है। स्तूप की नींव में इस प्रकार का फर्श भरहुत स्तूप के
नीचे कनिंघम को मिला था।

स्तूप रचना के लिए १० करोड़ ईंटें उसकी परिधि के चारों ओर इकट्ठी की गईं। प्रत्येक
कोने के पास एक-एक पुष्पग्रहणी वेदिका बनवाई गई[2]। उन दस कोटि ईंटों से महाचैत्य के अंडाकृति
स्वरूप का निर्माण किया जाता था (इट्ठका दसकोटियो, ३०।५६)। अंड की आकृति की उपमा
बड़े पानी के बुलबुले से दी गई है (महाबुब्बुल, ३०।१३)। कर्मारम्भ के दिन राजा की आज्ञा से
वस्त्र, माला और खाद्य पदार्थों के सम्भार लगा दिए गए। और, केश-कल्पक एवं प्रसाधक नियुक्त कर
दिए गए जिससे सब पौरजानपद जो स्तूपकर्म में सम्मिलित होने के लिए एकत्र हुए थे उनका उपयोग
कर सकें। राजा भी ४० सहस्र अनुयायी वर्ग के साथ वहाँ आया। अनेक भिक्षु नाना देशों से एकत्र
हुए (नानादेसा'पि आगञ्छु बहवो भिक्खवो इध, २९।२९)। राजगृह, श्रावस्ती, वैशाली,
कौशाम्बी, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, कश्मीर, विन्ध्याटवी, बोधगया, तथा ग्रीक नगर अलसन्द के
अनेक स्थविर उस अवसर पर निमन्त्रित होकर वहाँ आए। ईंटों का स्तूप पूर्ण होने पर उसे
मेदवर्णक पाषाण या मक्खनी रंग के श्वेत शिलाफलकों से आच्छादित कर दिया गया (मेदवण्णक
पासाण, ३०।५१)। महावंश का यह वर्णन अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड आदि आन्ध्र स्तूपों से

---

१. संस्कृत म्रक्षण से जैसे हिन्दी में मक्खन बनता है वैसे ही पहलवी में मसका शब्द बनता है। उसी से संस्कृत में पुनः मषक शब्द बनाया गया।

२. पाली में इसे पुप्फाधान और संस्कृत में पुष्पग्रहणी वेदिका कहा जाता था। देखिए एजर्टन कृत बौद्ध संस्कृत कोष, पृ० २१८; मथुरा के जैन स्तूप में इस प्रकार के पुष्पांकित मंच उत्कीर्ण किए गए हैं। देखिए स्मिथ कृत मथुरा का जैन स्तूप, फलक सं० २०।

मिलता है। जब स्तूप का मूल भाग पूरा हुआ तो उसे नाना भाँति के अभिप्रायों से अलंकृत किया गया, जैसे—अष्ट मांगलिक चिह्न (अट्ठमंगलक), पुष्पमाला (पुप्फलता), चतुष्पद पंक्ति (सिंह वृष, हस्ती और अश्व इन चार पशुओं की सरपट पंक्तियाँ, चतुप्पद पंती), हंसपंक्ति (हंस पंती), मोती और छोटी घंटियों के बने हुए जालक (मुत्ताकिंकिणिकजालक), सुनहली घंटियों की पंक्ति (सुवर्णघंटा पंती), मालाएँ (दामानि), मोतियों के बँटे हुए लटके (मुत्तादामकलापक), सूर्य, चन्द्रमा और तारों की आकृति के फुल्ले (रविचन्दताररूपपदुमक), पूर्णघट या मंगल कलशों की पंक्तियाँ (पुण्णघटपंती), हाथ जोड़े हुए या अञ्जलि मुद्रा में देवता (अंजलिपग्गहा देवा), नाचते गाते देवता (नच्चका देवता, जिन्हें दिव्यावदान में 'सदामत्तक' कहा है), वाद्य देवता (तुरियवादक देवा), दर्पण लिए हुए देवगण (आदासगाहका देवा), पुष्पशाखाधारी देवता (पुप्फसाखाधरा देवा), कमल के फुल्ले लिए हुए देवगण (पदुमादिकगाहका देवा), रत्नों की महार्घ पंक्ति (रतनग्घिय पंती), धर्मचक्र पंक्ति (धम्मचक्क पंती), खड्गधारी सैनिक (खग्गधरा), कटोरे लिए हुए देवों की पंक्ति (पातिधरा देवपंती, दिव्यावदान में इन्हें करोटपाणि देवता कहा गया है), और भी अनेक प्रकार के दिव्य अभिप्राय (अञ्ञे देवा च' नेकधा, ३०।६५।६८,९०-९३), अनेक जातक कथाएँ और बुद्ध के जीवन-दृश्य स्तूप पर अंकित किए गए। ऐसे ३५ दृश्यों की सूची दी गई है। महाब्रह्मा, शक्र, वीणाधारी पञ्चशिख, अप्सरागण के साथ सहस्रभुजी मार देवता, चार महाराजिक देवता, त्रयस्त्रिंशदेव (तेत्तिंस देवपुत्ता), द्वात्रिंशत् देवकुमारियाँ या देवकन्याएँ (द्वातिंसा च कुमारियो), अष्टाविंशति यक्षराज (यक्खसेनापति अट्ठवीसति)—इनकी आकृतियाँ उत्कीर्ण की गईं। बुद्ध के अनेक जीवन-दृश्य भी कुषाण युग के बाद के स्तूपों में उत्कीर्ण किए गए; जब उन्होंने तुषित देवों के स्वर्ग में रहते हुए पृथिवी पर जन्म लेने का निश्चय किया और जब बोधिमंड पर विराजमान होकर मारधर्षण किया और तदनन्तर धर्मचक्रप्रवर्तन कर वे निर्वाण को प्राप्त हुए। इस बीच की लीलाएँ मथुरा, गन्धार और अमरावती-नागार्जुनीकोण्ड आदि के स्तूपों पर अंकित की गईं। महावंस में बुद्ध की जीवन कथा के दृश्यों की एक विस्तृत तालिका दी है।

वेस्संतर जातक की कथा का सविस्तर अंकन कराया गया (वेस्संतर जातकं तु वित्थारेन आकारयि ३०।८८)। वेदिका और स्तूप के शिल्प पर अन्य जातक कथाओं को भी स्थान दिया गया (ये भुय्येन अकारेसि जातकानि ३०।८७)।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध जनता में महास्तूप निर्माण कितना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। इस वर्णन का लक्ष्य तो आन्ध्र देश में निर्मित महास्तूप, जैसे अमरावती और नागार्जुनीकोंड के महाचैत्य, थे क्योंकि उसी युग का यह वर्णन है। किन्तु इससे यह पक्का अनुमान किया जा सकता है कि उससे कई शती पूर्व बने हुए भरहुत और साँची के महाचैत्यों के निर्माण में भी कितना भारी आयोजन किया जाता था और उनके लिए कितने विशाल सम्भार की आवश्यकता थी। गहरी नींव भरकर, अंड भाग, वेदिका, तोरण और हर्मिका आदि का निर्माण, सैकड़ों प्रकार के अलंकरण और धार्मिक अभिप्रायों की सज्जा एवं रूपशालिनी देवकन्याओं की विविध मुद्राओं में कल्पना जिन्हें हम वेदिका स्तम्भों पर देखते हैं, आदि के पीछे दीर्घकालीन आकृति एवं वास्तु विधान सम्बन्धी प्रयत्न निहित था। आन्ध्र स्तूपों के शिलापट्टों पर अनेक प्रकार के रूपक या अलंकरण उकेरे गए हैं (मि०, रूपकानेत्थ सब्बानि धातुगब्भे मनोरमे, ३०।९७)। आन्ध्र स्तूपों की एक अन्य विशेषता यह थी कि चारों दिशाओं में चार मंच निर्गम रूप में बनाए जाते थे। उनमें से

प्रत्येक में पाँच पूजा स्तम्भों को स्थान दिया जाता था जिन्हें आयक-खम्भ (=आर्येक-स्कम्भ) कहते थे। (मि०, चतुपस्सम्हि चतुरो मंजूसं विय योजिय, ३०।६०)। सम्भवतः इनकी कल्पना पञ्चबुद्धों की मान्यता से उत्पन्न हुई। इस वर्णन में जो मेदवर्ण पाषाण का उल्लेख है उससे भी आन्ध्रस्तूपों की सूचना ही मिलती है जो धौले रंग के पत्थर के बने हैं। वह संगमरमर सा लगता है पर वस्तुतः गचकारी का पत्थर है। मध्य भारत के स्तूप लल्छौंह बलुआ पत्थर के हैं।

भरहुत का महान स्तूप—भरहुत गाँव उचहरा स्टेशन से ६ मील उत्तर-पूर्व में तथा सतना स्टेशन से ९ मील दक्षिण है। यह प्रयाग से दक्षिण पश्चिम की दिशा में १२० मील था और वहाँ से चेदि (जबलपुर) की ओर जाने वाले प्राचीन यात्रा पथ के लगभग मध्य बिन्दु पर था। यह ग्राम पहले की नागौद रियासत में लगता था। प्राचीन काल में उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल के बीच दोनों को मिलाने वाला एक महापथ चलता था, उसी पर प्रयाग और चेदि के महत्त्वपूर्ण प्रदेश भी थे। पूर्व में मगध से भी सोनघाटी में हो कर एक मार्ग इस बड़े पथ से आ मिलता था और चौथा मार्ग पश्चिम की ओर मालवा की ओर चला जाता था। इस प्रकार यह पथ व्यापार की एक धमनी के रूप में था जैसे पश्चिम में मथुरा और प्रतिष्ठान को मिलाने वाला व्यापारी मार्ग था। दोनों पर दो स्तूपों का निर्माण तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया। अनेक छोटे-बड़े गृहस्थ व्यापारियों ने उसमें भाग लिया जैसा उनके दान के सूचक छोटे लेखों की नौंध से ज्ञात होता है। धनी व्यापारियों ने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग स्तूप की रूप-समृद्धि के लिए किया। मथुरा से विदिशा होकर प्रतिष्ठान को जाने वाले यात्रा पथ पर भी इसी प्रकार के महाचैत्य का निर्माण किया गया जो वर्तमान साँची का स्तूप है। इन दोनों स्तूपों की भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से ज्ञात होता है मानों इनके निर्माण-कर्त्ताओं ने राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के आयोजन किए। सचमुच इस बृहत् प्रदेश में फूलती-फलती महाप्रजाओं के धार्मिक जीवन और मान्यताओं का प्रत्यक्ष दर्शन इन दो स्तूपों के रूप में प्राप्त होता है जिनके निर्माण की सफलता बहुसंख्यक गृहस्थों की अर्थ-सम्पत्ति और उदार भावना पर निर्भर थी। दोनों स्तूपों में न केवल वास्तु रचना की समानता है किन्तु धर्म सम्बन्धी बहुविध अलंकरण और अंकन भी समान प्रेरणा से उद्गत हुए हैं। इनमें प्राचीन भारतीय लोक धर्मों का अंकन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। शुङ्ग युग में जो देशव्यापी कला भावना भाजा से लेकर खण्डगिरि-उदयगिरि तक व्यापक आन्दोलन के रूप में फैल गई थी उसका प्रत्यक्ष रूप भरहुत-साँची के इन दो महान् स्तूपों के रूप में आज भी उपलब्ध है।

भरहुत स्तूप—भरहुत स्तूप का व्यास ६७ फुट ८½ इंच था। पर जब १८७३ में कनिंघम ने उसे देखा तो लगभग पूरा स्तूप नष्ट हो चुका था या आसपास के ग्रामवासी उसे खोद कर ले जा चुके थे। केवल एक ओर का छोटा सा दस फुट लम्बा और ६ फुट ऊँचा भाग बच गया था। दक्षिण पूर्व के इस अवशिष्ट भाग में दीए रखने के आले (दीपालय) बने हुए थे। प्रत्येक आला ऊपर की ओर १३½ इंच चौड़ा, नीचे ४½″ चौड़ा था और दो आलों के बीच की दूरी ८½ इंच या ९ इंच थी। स्तूप के चारों ओर की दीपपंक्ति के इन आले-स्थानों की संख्या १०० थी जिनमें कुल मिला कर ६०० से ऊपर दीपक जगमगाते थे। स्तूप पक्की ईंटों से बना हुआ था जिनका आयतन १२″×१२″×३½″ था। और, उनमें से कुछ बड़ी ईंटों की मोटाई ५″ से ६″ थी। स्तूप की ऊँचाई (उच्छ्राय) ज्ञात नहीं हो सकी किन्तु उसके आकार का अनुमान वेदिका पर उत्कीर्ण मूर्तियों से

होता है। मूल स्तूप पत्थर और बजरी की दृढ़ नींव पर पक्की ईंटों से बना था। उसके चारों ओर नींव में पत्थर के ढोके और मिट्टी और बजरी-भरसी का पलस्तर वैसा ही था जैसा ऊपर महावंस के वर्णन में आया है। स्तूप के चारों ओर भूमि पर बनी हुई बड़ी वेदिका थी जिसमें चार तोरणद्वार थे। वेदिका का आकार परिमंडल या गोल था मानों कोई बड़ा चक्र हो। तोरणों से वह चार फाँकों में बँट गई थी। स्तूप और वेदिका के बीच की १० फुट ४″ चौड़ी भूमि प्रदक्षिणा पथ के काम आती थी। कुल वेदिका में ८० खम्भे थे और सब मिला कर उसका मंडलाकार घेरा लगभग ३३० फुट का था। प्रत्येक स्तम्भ की ऊँचाई ७′१″ थी। खम्भों के ऊपर उष्णीष के पत्थरों की पंक्ति बैठाई गई थी। प्रत्येक उष्णीष की लम्बाई ७″ और ऊँचाई १′१०″ थी। इससे वेदिका की पूरी ऊँचाई ९ फुट के लगभग हो गई थी। प्रत्येक स्तम्भ के ऊपर का चोटिया या महादेवा उष्णीष की चूल में पिरोया रहता था। दो स्तम्भों के बीच में तीन तीन आड़े पत्थर लगे हुए थे जिनकी संज्ञा सूची थी। प्रत्येक 'सूची' की नाप यह थी–१′११¾″ लम्बाई, १′१०½″ चौड़ाई, ६″ मोटाई; कुल २२८ सूचियाँ लगी थीं। वेष्टिनी के प्रत्येक चतुर्थांश में सोलह स्तम्भ तो परिमंडल की आकृति में लगे हुए थे और चार अधिक स्तम्भ तोरणद्वार के परदे के लिए थे जिनमें दो खम्भे वेदिका के अन्तिम स्तम्भ से बाहर की ओर निकलते हुए और दो मुड़ कर द्वार के सामने का जंगला बनाते थे। तोरण द्वार के खम्भों की ऊँचाई ९′७½″ थी। दोनों ओर के दो ऊँचे खम्भ ४–४ पतले खम्भों को जोड़ कर बनाए गए थे। पूर्व और पश्चिम के द्वारों के ये पतले स्तम्भ अष्टासिक या अठपहल हैं और उत्तर दक्षिण के चौपहल (चतुरस्रिक)। इस प्रकार चार-चार डंडियों को जोड़ कर (चित्र १६६) जो प्रत्येक द्वार के दो खम्भे बने उनके ऊपर पत्थर का एक बड़ा जंगला बैठाया गया। प्रत्येक जंगले में तीन बँडेरिया थीं और उनके बीच में छोटे खम्भे भरकर जंगले का पूरा स्वरूप रचा गया। दो बँडेरियों को एक दूसरे से अलग करने के लिए चौकोर भारपट्ट पत्थर रखे गए थे। बँडेरी या धरन के लिए संस्कृत शब्द तोरण था और पूरे द्वार या जंगले को भी तोरण कहा जाता था। तोरण का यह अर्थ अभी तक भाषा में प्रचलित है। भरहुत के तोरणों की एक विशेषता उनकी बँडेरियों के दोनों गोल सिरों पर बनी मगरमच्छ की आकृतियाँ हैं जिनके मुँह खुले हुए और पूँछ गोलाई में है। इन्हें शिंशुमारशिरः कहा जाता था (आदिपर्व १७६।१५; "शिंशुमार-शिरः" नामक मेरा लेख देखिए, JISOA, १९३९; महाभारत नोट्स, भण्डारकर शोधसंस्थान पत्रिका, वर्ष २६, भाग ३-४, पृ० २८३-८६)। सबसे ऊपर की बँडेरी या धरन के बीच में एक बड़ा धर्मचक्र मुचकुन्द पुष्प की चौकी देकर लगाया गया था। इसके दोनों ओर दो त्रिरत्नचिह्न लगाए गए थे। बचे खुचे नमूनों से कनिंघम ने तोरण के इन उपरले धार्मिक चिह्न वाले अलंकरणों का समुद्धार किया (दे० चित्र १६७)। भरहुत स्तूप के वास्तु का विवरण कनिंघम और बरुआ ने अपने ग्रन्थों में दिया है। कनिंघम को वेदिका के ४७ स्तम्भ प्राप्त हुए थे। ३५ तो अपनी असली जगह मिल गए थे और १२ बटनमारा, लिथौरा आदि पास के गाँवों में ढूँढ़ने से मिले थे।
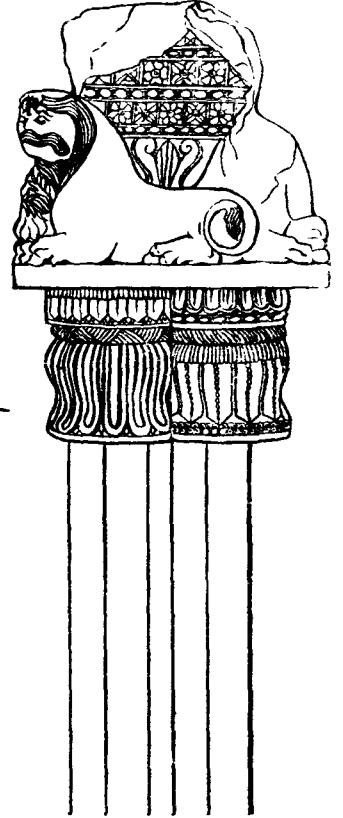
चित्र १६६

उसे उष्णीष के ४० पत्थरों में से १६ उपलब्ध हुए थे। पं० ब्रजमोहन व्यास ने भरहुत तोरण और वेदिका के ५३ भाग इलाहाबाद संग्रहालय के लिए अपनी कुशलता से पुनः प्राप्त किए। उनमें ३२ वेदिका स्तम्भ, १ दोरुखा कोणस्तम्भ, ३ सूची, १४ उष्णीष, एक खंडित शीर्षक और दो सोपान खंड हैं। वेष्टिनी और तोरणों की रचना और उन्हें जंगले के रूप में बाँध कर खड़ा करने की अनुकृति काष्ठ शिल्प से की गई थी। पत्थर में उस प्रकार का जंगला बहुत उपयुक्त नहीं माना जा सकता पर फिर भी उस कटहरे की सुरक्षा दो सहस्र वर्षों से ऊपर रही है जिससे उसके रचना के मूल नियम सही जान पड़ते हैं। स्तूप के अंड की मूल आकृति वेदिका पर तीन-चार जगह अंकित है जिसमें उसकी सच्ची प्रतिकृति का अनुमान होता है। इससे ज्ञात होता है कि मूल स्तूप एक बड़े घंटे की आकृति में (महाघण्टाकार) लगभग अर्धचन्द्राकार था। उसमें व्यास और ऊँचाई का अनुपात कालान्तर के स्तूपों की अपेक्षा कम था जिस समय कि स्तूप की ऊँचाई बढ़ती चली गई थी। साँची स्तूप की भी यही स्थिति है। बाद में ऊँचाई में वृद्धि होने लगी और स्तूप की आकृति लम्बोतरी हो गई जिसकी तुलना बुलबुले (महाबुब्बुल, महावंश ३०।१३) से की गई, जैसा कि कई शिलापट्टों पर उत्कीर्ण आकृतियों से ज्ञात होता है (जैसे मथुरा के क्यू० १ आयागपट्ट पर)। एक वेदिका स्तम्भ पर उत्कीर्ण आकृति इस प्रकार के स्तूप का परिचय देती है। उसके चारों ओर वेदिका भी दिखाई गई है। अंड के मस्तक भाग पर हर्मिका और छोटे खम्भों की वेदिका बनाई जाती थी। बीच में छत्र और उसकी यष्टि लगाई जाती थी और छत्र के गोल पार्श्व भाग की किनारी से लटकती हुई मालाएँ (पुष्पदाम, पुष्पप्रालम्ब) दिखाई जाती थीं। शिखर की चौकोर वेदिका के पाद और मस्तक भाग में बड़े फुल्लों का अलंकरण पाया जाता है और अंड के ऊपरी भाग में भी एक बेलनाकृति अलंकरण की सज उकेरी गई है।

महास्तूप के वास्तु की कल्पना एक महान् दिक् स्वस्तिक के रूप में की गई थी जिसमें चक्राकार वेदिका के चार भाग और चार द्वार-तोरण दिशाओं की दृढ़ सत्ता के सूचक थे। इस भाव के पीछे विश्व सृष्टि का तत्त्व ही निहित था। इस प्रकार की मान्यता को दिशाव्रत कहते थे और ऋग्वेद के समय में ही वह अस्तित्व में आ चुकी थी। वहाँ उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, ऊर्ध्व और ध्रुव इन छः दिशाओं में दृढ़ संस्थान का वर्णन कई मन्त्रों में पाया जाता है। लोक में चार महाराजिक देवों की पूजा का सम्बन्ध इसी से था और भरहुत स्तूप की वेदिका के वास्तु में उनका सुनिश्चित स्थान मिला है। कालान्तर में जब स्तूप के वास्तु का विकास हुआ तब भी चार दिशाओं का अव्यक्त प्रभाव उसके स्वरूप पर बना ही रहा जिसके कारण चार दिशाओं में बुद्ध की चार प्रतिमाएँ और बोधिसत्त्व तथा अन्य देवों की मूर्तियाँ बनाई जाती रहीं।

जैसा भरहुत स्तूप में प्राप्त हुआ है, प्रत्येक तोरण द्वार (चित्र १६७) दो बड़े स्तम्भों से बना है जो चार-चार अठपहल एवं चौपहल खम्भों को जोड़ कर बनाए गए हैं; उनके सिरे पर उलट कर रक्खा हुआ घंटाकृति पूर्णकुम्भ है। इस शीर्षक के ऊपर एक चौकी है जो दो सपक्ष सिंह एवं दो वृषभों के संघाट को धारण किए हुए है। इनके ऊपर पहली आड़ी धरन है, फिर पत्थर की चौकोर पिण्डिकाएँ हैं। पुनः दूसरी धरन है और उसके ऊपर वैसी ही चौकोर पिण्डिकाएँ हैं। उन पिण्डिका या चौकियों पर तीसरी धरन है। इनके गोलाकार सिरों पर मकराकृति उत्कीर्ण है। इस प्रकार इस तोरण द्वार की रचना की जाती थी और उसके आगे पीछे नाना दृश्य उत्कीर्ण किए जाते थे जिससे दर्शकों को पूर्व और पश्चिम भाग का अद्भुत सौन्दर्य दूर से ही दिखाई पड़ता था। बँड़ेरियों के बीच में भरे हुए छोटे वेदिका स्तम्भों से
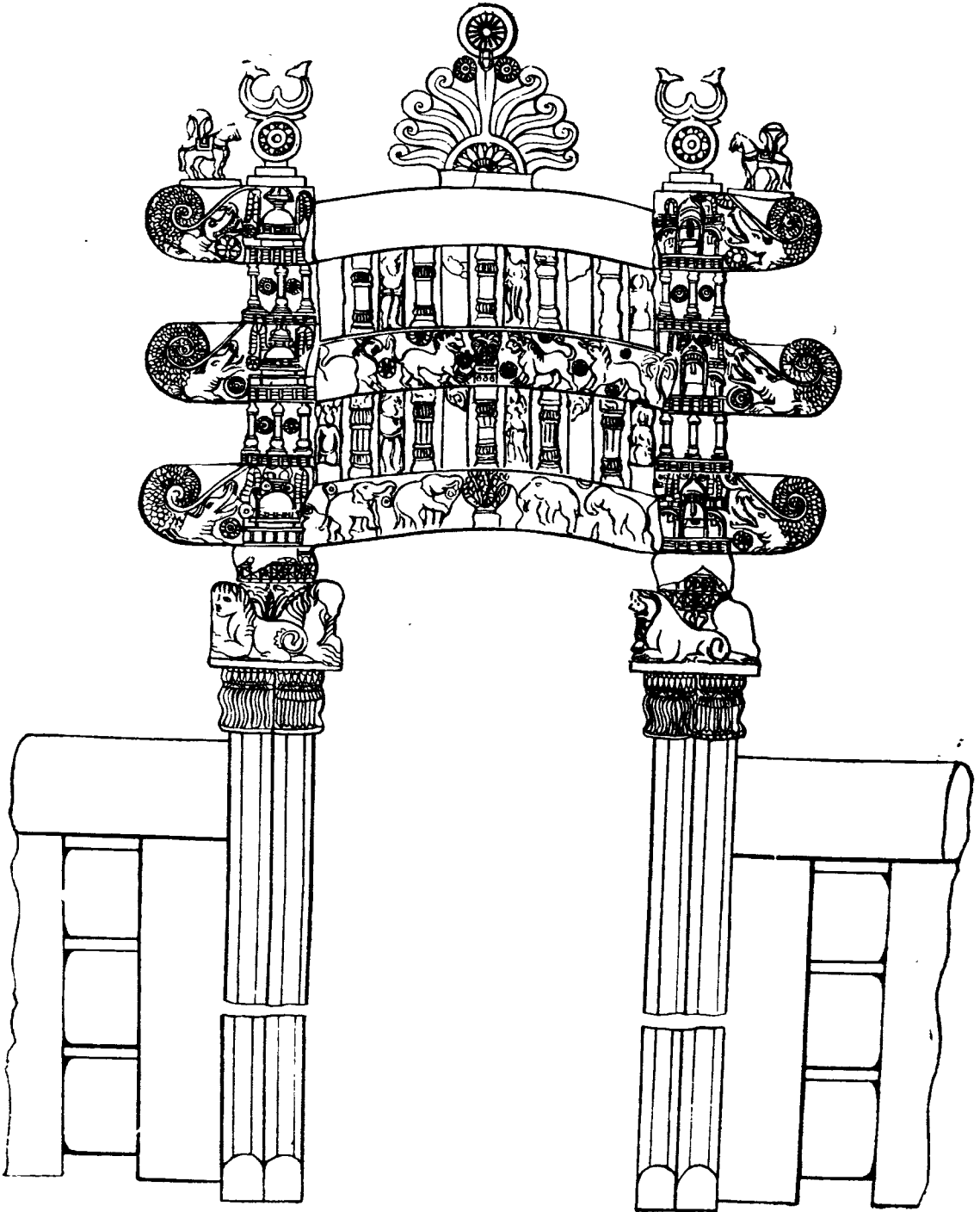
चित्र १६७

सम्पूर्ण रचना अत्यंत शोभायुक्त शलाका-वातायन के समान जान पड़ती थी। अवम, मध्यम और उपरिम इन तीन तोरणों का जंगला अनेक धार्मिक दृश्य और अभिप्रायों से अलंकृत शोभा-पट्टिकाओं सहित इन तोरणों की अद्भुत विशेषता थी। ऊपर की धरन मध्यवर्ती धर्मचक्र एवं पार्श्व भाग में स्थापित त्रिरत्न चिह्नों के साथ और अधिक भव्य जान पड़ती है। इसके रचयिताओं के मन में वास्तु-विधान की अतिशय सुन्दर कलात्मक कल्पना थी और इन आकृतियों का सर्वगत प्रभाव पाषाण में चित्र-लिखित सा जान पड़ता है। भूमिस्थित वेदिका के स्तम्भ, उष्णीष और सूचियों पर तो धार्मिक दृश्य और शोभार्थ अभिप्रायों का एक पूरा संसार ही दिखाई पड़ता है। मानों कलात्मक मेघों की जल वृष्टि ही हुई हो अथवा किसी शतसाहस्त्री जीवन-संहिता के अक्षर सदा के लिए पाषाण में सुरक्षित रह गए हों। वेदिका स्तम्भ, उनके बीच में फँसाए हुए तीन-तीन आड़े पत्थर, उनके मस्तक पर लम्बे उष्णीष (पाली, उन्हिस) एवं स्तम्भों के मूल भाग में स्थापित आलम्बनपिण्डिका या अधिष्ठान—इन सबको एक साथ जोड़ कर स्तूप की वेष्टिनी या कटहरे का दृढ़ संस्थान विरचित किया गया। प्रत्येक भारी उष्णीष दो स्तम्भों को साथ में जोड़े हुए है और सब उष्णीषों को मिला कर वेदिका के मस्तक पर बहुत विस्तृत मंडलाकार मानों पगड़ी जैसी बँधी हुई है। इनकी आकृति गोल मुँडेर जैसी है और इनकी कल्पना शिल्पी की निपुणता की साक्षी देती है। २०″ चौड़े, २२½″ ऊँचे और ७ फुट लम्बे शिलाखण्डों को जैसे खराद पर उतार कर गढ़ा गया है और उन्हें खम्भों के ऊपर असंशयालु स्थिति में संतुलित करने का प्रयत्न किया गया है। वे एक दूसरे के साथ चूल और खोते काट कर जुड़े हुए हैं। उन्हें खम्भों के साथ जोड़ने में भी यही युक्ति काम में लाई गई है। उष्णीष के प्रत्येक शिलाखंड में हलका सा घुमाव है क्योंकि तभी उससे वेदिका के पूरे मंडल का स्वरूप निष्पन्न हुआ। तीन खम्भों पर निकले हुए तीन चोटियों का त्रिभुज उष्णीष के तलवर्त्ती छेदों में फँसा होने के कारण प्रत्येक उष्णीष द्वारा कायबन्धिनी रस्सी के समान मानों बँधा रहता था। वेदिका के पूरे उष्णीष भाग की लम्बाई ३३० फुट थी और उसके सम्मुख एवं पृष्ठ भाग में सूक्ष्म उकेरी की सज बनाई गई। पृष्ठ भाग में जातकों के दृश्य, फुल्ले, फलों से भरी हुई लुम्बियाँ हार, कुंडल, केयूर, नूपुर आदि आभूषण एवं उत्तरीय और अधोवस्त्र के अलंकरण से सज्जित अंकित की गईं। वस्तुतः ये उत्तरकुरु में होने वाले कल्पवृक्ष और कल्पलताओं के दृश्य हैं। उनमें लगे हुए कटहल या पनस फल मदिरा के पात्र हैं और आम्रफल लाक्षाराग से भरे पात्रों के सूचक हैं। उष्णीष के सम्मुख भाग या बाहर की ओर कमल की भारी लतर के बीच बीच में सुन्दर फुल्ले बनाए गए हैं जिसके कारण पूरी वेदिका को ही पद्मवरवेदिका कहा जाता था। फुल्लों की इस बेल के नीचे की गोट में किंकिणीजाल पंक्ति या छोटी घुँघरूदार घंटियों के लटकन बनाए गए हैं और ऊपर की गोट में कपिशीर्षक या प्राकारकण्टकों की सजावट है जो कई आड़ी पट्टिकाओं को जोड़कर बनाए जाते थे और दुर्ग के प्राकार के ऊपर बनाए जाने वाले कँगूरों के समान थे। उकेरी एकदम खड़ी और टटकी है जैसे अभी शिल्पी की टाँकी से निकली हो।

वेदिका के स्तम्भ एकाश्मक या एक ही पत्थर के कटाव से बने हैं। वे आप में ७′ १″ ऊँचे, १′ १०½″ चौड़े और १′ २½″ मोटे हैं। उनके कोने कोर दिए गए हैं जिससे वे अठपहल हो गए हैं। इन्हें ही प्राचीन भाषा में अट्ठंसिक स्तम्भ कहा जाता था। उनके बीच में कमल का पूरा सूर्याकृति फुल्ला (पदुमक) और ऊपर नीचे चन्द्रकृति आधे फुल्लक या अर्धपदुमक हैं। इनकी आकृति में कर्णिका, पंखुड़ी, बछेड़ी, पद्मपत्र, पद्मनाल आदि का अंकन अनेक भाँति का है। उन पर अनेक भाँति

के पशु-पक्षियों की आकृतियाँ भी हैं एवं बौद्ध धर्म और आख्यानों के भी अनेक दृश्य हैं। कुछ खम्भों पर यक्ष, नाग और लोकदेवताओं की मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं। एक खम्भे पर एक सैनिक की ठाड़ी मूर्ति है। स्तम्भों पर कई जातकों के दृश्य भी हैं जिन पर उनके नाम लिखे हैं। एक दृश्य में माया देवी का स्वप्न है जिसमें एक हाथी स्वर्ग से उतर कर उनके गर्भ में प्रवेश करता दिखाया गया है (अवक्रान्ति)। खम्भों पर सात मानुषी बुद्धों के बोधिवृक्ष बना कर उनके नाम भी लिख दिए गए थे। ये पाषाण स्तम्भ और उनके कोर कर बनाए हुए पहल भाग एवं लटकन मूल में काष्ठकर्म या लकड़ी में काम करने वाले शिल्पियों की कारीगरी से लिए गए हैं। काष्ठशिल्प की अनुकृति पाषाणशिल्प में अवतीर्ण हुई। काष्ठकर्म की छोटी-छोटी बातें भी पत्थर में तद्वत उतार ली गई यद्यपि यहाँ वे उतनी सार्थक न थीं। कुछ खम्भों के फुल्लों पर हाथी, सपक्ष तुरग, बन्दर, मोर, जंगली सुग्गे और फलों को कुतरती हुई गिलहरियाँ अंकित हैं।

तोरण द्वार पर लगे खम्भों का अलंकरण औरों से भिन्न है। उन पर यक्ष-यक्षिणी, देवता और राजाओं की मूर्तियाँ हैं जो चार दिशाओं के रक्षक समझे जाते थे; जैसे उत्तरी द्वार पर कुबेर यक्ष और चन्द्रा यक्षी; दक्षिणी द्वार पर नागराज चक्रवाक और चुलकोका देवता हैं। बाहरी कोनों के खम्भों पर तीन पंक्तियों में बुद्ध के जीवन-दृश्य अंकित है; जैसे, राजा अजातशत्रु द्वारा बुद्ध का दर्शन और नागराज एलापत्र द्वारा बोधिवृक्ष की वन्दना (चित्र १७६–७), कोसल के राजा प्रसेनजित द्वारा धर्मचक्र-आयतन में आकर उसकी पूजा करना, जंगली हाथियों द्वारा गौतम बुद्ध के बोधिवृक्ष अश्वत्थ और काश्यप बुद्ध के बोधिवृक्ष न्यग्रोध की पूजा आदि।

वेदिका के निर्माण में सूचियों का स्थान उल्लेखनीय है। दो खम्भों के बीच में तीन-तीन सूचियाँ लगाई जाती थीं और यह प्रथा कई सौ वर्षों तक बनी रही। कुल २२८ सूचियाँ थीं जिनमें से ८० मिली हैं। प्रत्येक सूची १′११½″ लम्बी, १′१०½″ चौड़ी तथा ६″ मोटी है। खम्भों के फुल्लों के समान सूचियों पर भी अलंकृत फुल्ले बने हैं। उनमें कुछ जातक कथाएँ भी अंकित हैं पर मुख्यतः पुष्पों की आकृतियाँ और कुछ हँसी के दृश्य हैं। तोरण द्वारों के सामने जहाँ वेदिका का मोड़ भाग है वहाँ की सूचियाँ खम्भों की दूरी के कारण कुछ अधिक लम्बी हैं। उन पर स्तूप, बोधिवृक्ष और धर्मचक्र के दृश्य अंकित हैं।

प्रदक्षिणा पथ—देवता की परिक्रमा उसकी पूजा का आवश्यक अंग था। प्राचीन काल से ही पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण दिशाओं में देव के लिए नमस्कार की प्रथा थी। ज्ञात होता है कि यह दिशाव्रत की धार्मिक विधि थी, तदनुसार यज्ञ की वेदी, देवता के स्थण्डिल, बोधि-मण्ड, स्तूप इन सब के चारों ओर घूम कर दर्शन करना लोक में पूजा का सर्वमान्य प्रकार था। इसके लिए स्तूप और वेदिका के बीच में प्रदक्षिणा पथ का विधान किया जाता था। इसका बहुत महत्त्व था और किसी भी देवता की पूजा परिक्रमा के बिना पूरी नहीं समझी जाती थी। आगे चल कर देवप्रासाद या मन्दिरों में भी परिक्रमा की प्रथा का महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा और उसके लिए मन्दिरों की वास्तुकला में प्रदक्षिणा पथ का निर्माण किया गया। प्रदक्षिणा को भ्रमण या भ्रमणी भी कहा जाता है। जिस मन्दिर में प्रदक्षिणा पथ बनाया जाता था उसे सान्धार और जिसमें प्रदक्षिणा पथ के लिए जगती पर खुला स्थान रहता था उसे निरन्धार संज्ञा दी गई।

भरहुत स्तूप के चारों ओर का प्रदक्षिणा पथ बढ़िया वज्रलेप से आच्छादित था। इस मिट्टी को नवनीत मृत्तिका कहा जाता था। वह चिकनी और महीन होती थी। उसके नीचे लगभग १ पोरसा या

७-८ फुट की गहराई तक पत्थर के ढोंके, गिट्टी, बजरी की एक के ऊपर एक तह दे कर सबके ऊपर नवतीत मृत्तिका या मसके-दोगे का भूमि बन्धन किया जाता था। इस प्रकार का प्रदक्षिणा पथ भरहुत स्तूप में वस्तुतः पाया गया। प्रदक्षिणा पथ के बाहरी किनार पर उसे रोकने के लिए पत्थरों की गोट बाँधी गई और वेदिका के खम्भे इस किनारी से सटा कर लगाए गए थे। वेदिक स्तम्भों की पेंदी का अनगढ़ भाग भूमि पर टिकाया गया था। प्रदक्षिणा पथ का कुछ भाग वेदिका स्तम्भों के बाहर की ओर कई फुट तक निकला हुआ था। भीतरी परिक्रमा और उसके निकलते हुए बाहरी भाग को मिला कर प्रतिकण्ठुका भी कहा जाता था।

बाह्य वेदिका—उत्खनन में बड़ी वेदिका के बाहर एक छोटी वेदिका के अवशेप भी प्राप्त हुए। उसके खम्भों की ऊँचाई २′ १″, चौड़ाई ७″ और उष्णीष की ऊँचाई ७″ थी और इस प्रकार मिला कर उसकी कुल ऊँचाई ३′ ३″ थी। कुल वेदिका में २४० खम्भे तथा २५० सूचियाँ थीं जिसमें से केवल २ स्तम्भ और २ उष्णीष मिले और शेष सब नष्ट हो गए। यह बाह्य वेदिका जो अलंकरणों से युक्त थी सम्भवतः कुषाण युग में जोड़ी गई।

शिल्प का परिचय—भरहुत स्तूप की तोरण वेदिका पर लगभग २० जातक दृश्य, ६ ऐतिहासिक दृश्य, ३० से ऊपर यक्ष-यक्षी, देवता, नागराजाओं आदि की कढ़ी हुई बड़ी मूर्तियाँ और अनेक भाँति के वृक्ष और पशुओं की मूर्तियाँ हैं। इनमें से बहुतों पर उनके नाम खुदे हैं। इनके अतिरिक्त नौका, अश्वरथ, गोरथ, और कई प्रकार के वाद्य, कई भाँति की ध्वजाएँ तथा अन्य राजचिह्न अंकित हैं। सूचियों के लगभग अर्धसंख्यक मंडल और स्तम्भों के लगभग आधे चाँदे (चन्द्रक) कमल के फुल्लों से भरे हुए हैं जिनकी कल्पना अत्यंत सुकुमार और सुन्दर है। इन का विवरण इस प्रकार है—

अ. देवयोनियाँ

१. यक्ष २. देवता ३. नाग ४. अप्सरा

आ. मनुष्यवर्ग

१. राजा २. धार्मिक पुरुष

इ—पशु

ई—वृक्ष और फल

उ—उत्कीर्ण मूर्तियाँ या उकेरी के शिलापट्ट

१. जातक कथाएँ (संख्या में २० से अधिक)
२. ऐतिहासिक दृश्य (लगभग ६)
३. विविध प्रकार के दृश्य (लेख के साथ)
४. विविध दृश्य (बिना लेख के)
५. हास्य-व्यंग के दृश्य

ऊ—पूजा चिह्न

१. स्तूप २. चक्र (धर्मचक्र) ३. बोधि वृक्ष ४. पादुका ५. त्रिरत्न प्रतीक

ए. अलंकरणात्मक चिह्न

ऐ. वास्तु अवशेष

१. राजप्रासाद २. पुण्यशाला या धार्मिक सत्रगृह ३. वज्रासन या बोधिमंड ४. स्तम्भ ५. पर्णशाला ६. सामान्यगृह या आवास ।

इनके अतिरिक्त विविध यान, आसन, पात्र तथा वाद्य आदि के अंकन भी हैं ।

देवयोनि

यक्ष—यक्ष पूजा की प्राचीनता और उसका महत्त्व प्राचीन लोक कला के अन्तर्गत बताया जा चुका है (दे० पृ० १४६-१५४) । इस भाँति की प्रभूत सामग्री है कि चार दिशाओं की पूजा लोक धर्म का अंग थी और प्रत्येक दिशा में एक सविता देवता की सुरक्षा मानी जाती थी । (सविता पश्चात्तात्, सविता पुरस्तात्, सवितोत्तरात्, सविताधस्तात्, ऋ० १०३६.१४) । अथवा, प्रत्येक दिशा का अधिपति देवता पृथक् था, जैसे पूर्व में अग्नि, दक्षिण में इन्द्र, पश्चिम में वरुण, उत्तर में सोम ध्रुव दिक् में विष्णु, ऊर्ध्वा दिक् में बृहस्पति थे (अथर्व ३।२७।१-६,१२।३।५५-६०) । इस लोक धर्म के अनुयायी दिशाव्रतिक या दिशापोक्खिय कहे जाते थे । भगवती सुत्त से ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर में इस मत का मानने वाला एक व्यक्ति है जो पूर्व दिशा में सोम, दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में वैश्रवण (कुबेर) को अधिपति मानता है । इसी सम्प्रदाय का दूसरा केन्द्र वाराणसी में था । इसी धर्म के अन्तर्गत चातुर्महाराजिक देवों का सम्प्रदाय था । इस मान्यता का आधार विश्वव्यापी दिक् स्वस्तिक था जिसे स्तूप की वेदिका के तुरीयांशो और चार तोरणों के वास्तु में मूर्त रूप दिया गया । बौद्ध साहित्य में चातुर्महाराजिक देवों का प्रायः उल्लेख मिलता है और यह स्वाभाविक था कि स्तूप की रचना करने वाले वास्तु आचार्यों ने इन चार लोकपालकों को चार तोरणों पर इस प्रकार स्थान दिया । बौद्ध लोक-सृष्टि के अनुसार युगन्धर पर्वत की चार दिशाओं में लोकपालों की स्थिति इस प्रकार थी—

पूर्व दिशा—धृतराष्ट्र और उसके अनुयायी गन्धर्व ।

दक्षिण दिशा—विरूढक और उसके अनुयायी कुम्भाण्ड ।

पश्चिम दिशा—विरूपाक्ष तथा उसके अनुयायी नाग ।

उत्तर दिशा—वैश्रवण और उसके अनुयायी यक्ष ।

ये चार लोकपाल चार दिशाओं की रक्षा करते हुए मानों एक रक्षा-पञ्जर का निर्माण करते थे । इस रक्षा-पञ्जरिका के अन्तर्गत यक्ष, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, कुम्भाण्ड या छुटभैये कीचक और गुह्यक देवता, इन सबका समावेश हो जाता था । इस मान्यता की एक विशेषता यह थी कि देवताओं के इस चक्रवाल में आरम्भ से ही समन्वय की भावना थी जो अन्त तक बनी रही । इन चार लोकपालों की मूर्तियाँ साँची स्तूप के द्वार-तोरणों पर ज्यों की त्यों बच गई हैं । इनमें से दो भरहुत स्तूप में कनिंघम को प्राप्त हुई थीं, अर्थात् उत्तर में कुबेर यक्ष (कुपिरो यखो) और दक्षिण में विरूढक । उत्तर के स्तम्भ पर अजकालक यक्ष और चन्द्रा यक्षी की गढ़ कर कढ़ी हुई मूर्तियाँ भी हैं । पूर्वी तोरण पर सुदर्शना यक्षी, दक्षिणी तोरण पर विरूढक यक्ष के साथ गंगितयक्ष और चक्रवाक नागराज की मूर्तियाँ पाई गई हैं । पश्चिमी तोरण के एक स्तम्भ पर सुचिलोम यक्ष और सिरिमा देवता की मूर्तियाँ हैं । एक स्तम्भ पर सुपावस यक्ष (सं० सुप्रावृष्) की मूर्ति है । पूर्व दिशा में बनाई गई धृतराष्ट्र
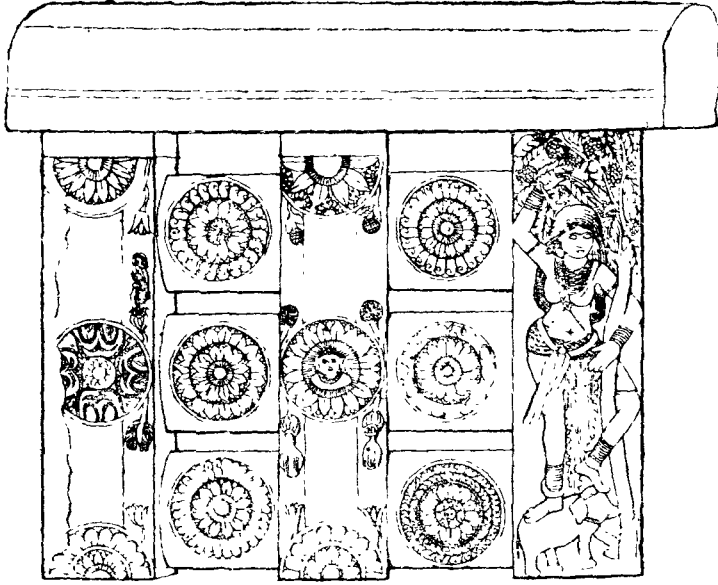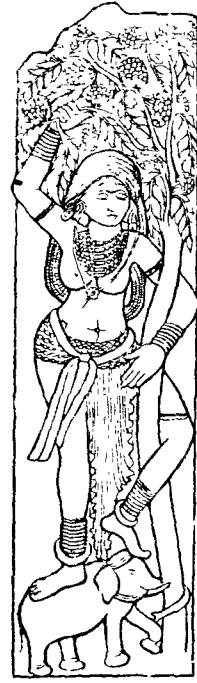
चित्र १६८ चुल्लकोका चित्र १६९
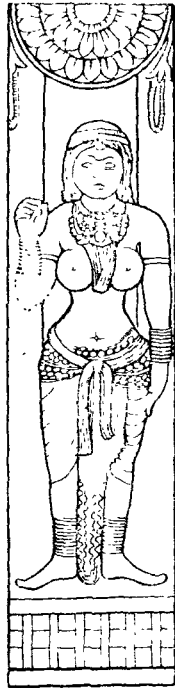
चित्र १७० कुपिरो चित्र १७१ सिरिमा चित्र १७२ चक्रवाक नाग चित्र १७३ सुपावस

की मूर्ति अब विद्यमान नहीं है। इस साक्षी से सूचित होता है कि भरहुत स्तूप के तोरणों पर कई लोक देवताओं के साथ चार दिशाओं के चार लोकपालों की सुनिश्चित स्थिति थी।

देवता—स्तम्भों पर उत्कीर्ण सब देवता मूर्तियाँ स्त्रियों की हैं जैसे सिरिमा देवता, चुलकोका देवता और महाकोका देवता। सिरिमा (सं० श्री-माँ लक्ष्मी), यह लोक की प्राचीनतम देवी थी। इसकी प्रशंसा में ऋग्वेद का श्रीसूक्त है जो उसका खिल भाग है। इसके अंकन की विशेषता इसकी स्तब्ध खड़ी हुई मुद्रा थी जिसमें दोनों पैर कुछ बाहर की ओर निकले हुए विजड़ित से दिखाए जाते हैं। लौरियानन्दन गढ़ से मिली हुई सुनहले पत्तर पर ठप्पेदार मातृदेवी की मूर्ति में यही लक्षण है एवं और भी अनेक मृन्मूर्तियों में यह पहचान मिलती है। यही प्राचीन मातृका देवी थी। संस्कृत मातृका से माइया, उसी से माय और माँ बने। भरहुत में इस देवी का जो स्वरूप विकसित हुआ वह इस प्रकार है—कमल के फुल्लों पर खड़ी हुई या कमल वन में बैठी हुई एक सुन्दर स्त्री मूर्ति के ऊपरी भाग में दो हाथी उसे आवर्जित घटों से स्नान करा रहे हैं (मि० कुमारस्वामी, बोधगया फलक ११७)।

चुल संस्कृत क्षुद्र का रूप है। चुलकोका, महाकोका ये दो छोटी बड़ी कोका देवता थीं। कोका शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे बगुला, गृहगोधा या छिपकली, भेड़िया तथा मेंढ़क। श्रीचक्र के कई उदाहरणों पर मातृदेवी के साथ गृहगोधा की पंक्तियाँ अंकित हैं। उस साहचर्य से ज्ञात होता है कि कोका का वही अर्थ चुलकोका नाम में भी है। वस्तुतः छोटी गोह और बड़ी गोह ये गोधा के दो भेद भी होते हैं। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि इन दो देवताओं की मुखाकृति सुन्दर स्त्री-मूर्तियों की है और मूर्ति में गोधा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कनिंघम को महाकोका की मूर्ति प्राप्त नहीं हुई थी पर पं० ब्रजमोहन व्यास ने उसे नागौद महाराज के महल में लगी हुई ढूँढ़ निकाला। काशी में लहुराबीर (लहुरा = छोटा), बुल्लाबीर (बुल्ला = विपुल = विपुल = बुल्ला = बड़ा) ये दो यक्ष देवता अभी तक पूजे जाते हैं। उन्हीं की तरह छोटी-बड़ी कोका देवियाँ थीं।

नाग—चक्रवर्ती मान्धाता जब उत्तरकुरु की राजधानी सुदर्शन नगर में गए तो वहाँ उन्हें पंचरक्षा देवपंक्ति के अन्तर्गत जल में से निकलते हुए (उदकनिःश्रृत) नाग देवताओं की रक्षापंक्ति मिली। भरहुत में इसी प्रकार जल में से निकलते हुए एरापत नागराज को सपरिवार बोधिवृक्ष की पूजा करते दिखाया गया। उसके मानवीय मस्तक पर साँप के फनों का आटोप है। इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित स्तम्भ के फुल्ले पर वटवृक्ष के नीचे पाँच फन वाले मुचलिन्द नागराज की मूर्ति उत्कीर्ण है जैसा उस पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है। वह बुद्ध की पादुका और बोधिमंड या वेदिका की रक्षा कर रहा है। कथा है कि बड़े अंधड़ के समय मुचलिन्द ने बुद्ध की अपने फन फैलाकर रक्षा की। यह कथा साँची, अमरावती और नागार्जुनीकोंड के स्तूपों पर भी उत्कीर्ण है। दक्षिण तोरण-द्वार के स्तम्भ पर नाग चक्रवाक की आकृति अंकित है।

अप्सरा—देवयोनि में एक वर्ग अप्सराओं का है जो नृत्य और गीत में संलग्न हैं। अप्सराओं की मान्यता वैदिक युग में ही चल पड़ी थी। उर्वशी और घृताची का उल्लेख ऋग्वेद में ही है। यजुर्वेद में सूर्यरथ के विराट वर्णन में और कई अप्सराओं के नाम हैं। भरहुत में अलम्बुसा, मिश्र-केशी, सुदर्शना तथा सुभद्रा इन चार अप्सराओं की मूर्तियाँ नामांकन सहित बनाई गई हैं। इस दृश्य को देवों के नृत्य और गीत का सट्टक उत्सव कहा है (साडिक सम्मदं तुरं देवानं)। साडिक

सट्टक नाम के वसन्तोत्सव का प्राकृत रूप था; वही पीछे चर्चरी कहलाया। सम्मद हर्षाभिनय की संज्ञा थी। तुरं का अर्थ तूर्य या वृन्द वाद्य था।

मानव वर्ग

राजा—कोसल के राजा प्रसेनजित् बुद्ध के दर्शनार्थ आए और उनकी वन्दना करते हुए दिखाए गए हैं। वे रथ में बैठे सवारी के आगे अंकित हैं। इसी दृश्य में वह पुण्यशाला भी अंकित है जो प्रसेनजित् ने श्रावस्ती में बनवाई थी। यह दुमंजिली इमारत है जिसका भूमिगत तल खुले हुए मण्डप के आकार का था और उसके बीच में धर्मचक्र की स्थापना थी। ऊपर के तल में दो द्वारों से युक्त पुण्यशाला दिखाई गई है।

एक अन्य दृश्य में हाथी पर सवार राजा अजातशत्रु लम्बे जुलूस के आगे आते हुए दिखाया गया है। हस्त्यारोही सम्राट् हाथी से उतर कर अञ्जलिमुद्रा में वज्रासन की वन्दना करते हुए दिखाए गए हैं। मूर्ति के लिप्यक्षर इस प्रकार हैं—अजातसत्तु भगवतो वंदते।

धार्मिक पुरुष—इनमें वल्कलधारी जटिल परिव्राजक अपनी पर्णशालाओं के आगे बैठे हुए और अग्निहोत्र करते हुए दिखाए गए हैं। स्पष्ट है कि ये लोग अग्निहोत्र द्वारा अग्निपूजन और यज्ञ करते थे। 'दीर्घतपसी' नामक एक परिव्राजक जिसके मस्तक पर जटाजूट है स्थिर आसन में बैठा हुआ अपने शिष्यों को वेदाध्ययन करा रहा है। उसकी हस्तमुद्राओं से ज्ञात होता है कि वह वेदों को कण्ठस्थ कराने वाला श्रोत्रिय अध्यापक था। इस प्रकार के छन्दोध्यायी आचार्यों की प्रथा वैदिक युग से आज तक चली आई है। इन दृश्यों से एक बात निश्चित ज्ञात होती है कि भरहुत के शिल्पियों में मानवीय आकृति और आश्रमवासी परिव्राजकों को अंकित करने की पूरी क्षमता थी। और, यदि वे चाहते तो सरलता से बुद्ध की मानवीय आकृति भी बना सकते थे। पर उन्होंने प्रतिबन्ध या मर्यादा के कारण कभी इस प्रकार का विचार ही नहीं किया।

पशु—पशुओं की आकृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी कल्पित; जैसे सपक्ष या आकाशचारी अश्व, सपक्ष सिंह, व्याल, जलेभ या गजमच्छ, मगरमच्छ, मछली की पूँछ के साथ मगर की आकृति आदि भरहुत स्तूप के शिल्प में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त भी प्राप्त हैं—चौदह प्रकार के पशु, छह प्रकार के पक्षी, सर्प, मकर, कच्छप, गोधा और मेंढक। चतुष्पदों में हैं—हाथी, सिंह, अश्व, गेंडा, जंगली बकरी, वृष, मृग, बारहसिंहा, भेड़िया, बन्दर, बिल्ली, कुत्ता, भेड़, खरगोश, गिलहरी। पक्षियों में कुक्कुट, सुग्गे, मोर, हंस, जंगली बत्तख तथा बटेर आदि हैं। इन पशुपक्षियों की आकृतियाँ प्रकृतिसिद्ध और दमदार हैं। शिल्पियों को बन्दर और हाथी की भावपूर्ण आकृतियाँ बनाने में विशेष सफलता मिली है।

बन्दर, हाथी और मनुष्य तीनों एक दूसरे के साथ मिल कर कई विचित्र हास्यपूर्ण दृश्यों की शोभा बढ़ा रहे हैं। एक फुल्ले के घेरे में एक महायक्ष छोटे मूढ़े पर बैठा है। उसके सिर पर भारी पग्गड़ है और चेहरा गलमुच्छों से भरा हुआ है। कुछ बन्दर कहीं से एक बड़ी सँड़सी ले आए हैं जिसे एक हाथी झटका देकर खींच रहा है और उससे महाभूत यक्ष की नाक का बाल कुपटा जा रहा है (चित्र १७९)। दो दृश्य ऐसे हैं जिनमें कुछ बन्दर जंगली हाथी को पकड़ कर मोटे रस्से से बाँधे हँसी खुशी ले जा रहे हैं (चित्र १७८)। एक अन्य दृश्य में एक महासामुद्रिक जन्तु या तिमिङ्गिल

मत्स्य मनुष्यों से भरी हुई एक नाव को अपने जबड़ों से चबा रहा है। नाव की रचना में उसके लम्बे तख्ते, मिली हुई सन्धियाँ, डाँड़े और पतवार ध्यान देने योग्य हैं।

पूजा के प्रतीक—भरहुत में बुद्ध की मूर्ति कहीं भी नहीं मिली किन्तु स्तूप, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, चरणपादुका, चूडा, उष्णीष, त्रिरत्न आदि बौद्ध चिह्नों की पूजा के अनेक दृश्य हैं। वे प्रतीक चिह्न तीन प्रकार के होते थे—

१. **शारीरिक**—जैसे बुद्ध के शरीर की धातुएँ अर्थात् उनकी अस्थियाँ तथा भस्मी, केश और कृंतित नख।

२. **उद्देशिक**—स्तूप आदि जो गौतम बुद्ध या पूर्व कालीन बुद्धों की स्मृति में बनाए जाते थे।

३. **पारिभोगिक**—बुद्ध के निजी व्यवहार में लाई गई वस्तुओं की पूजा के लिए निर्मित धार्मिक स्थान जैसे बोधिमंड जहाँ बुद्ध ने बैठ कर बोधि प्राप्त की, भिक्षापात्र, उनकी चूड़ा जिसके लिए देवों ने सुधर्मा सभा में चूड़ामह नामक उत्सव मनाया।

जातकों के दृश्य—बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ जातक कही जाती हैं। ये कथायें बड़ी लोकप्रिय थीं और इन्हीं में अनेक लोक कहानियाँ भी घुल-मिल गईं। कालान्तर में महायान के प्रभाव से उनमें से कुछ जातक अवदान बन गईं। जातक कथायें भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती, नागार्जुनीकोंड और अजंता में अंकित हैं। भरहुत में प्राप्त ये जातक हैं—

१. मिग जातक; २. नाग जातक; ३. यवमझकिय जातक; ४. मुग्गपकय जातक; ५. लटुवा जातक; ६. छदन्तिय जातक; ७. इसिसिंगिय जातक; ८. यम्बुमनोवयसी जातक; ९. कुरुंगमिग जातक; १०. हंस जातक; ११. किन्नर जातक; १२. असदृश जातक; १३. दसरथ जातक; १४. इसिमिग जातक; १५. उद जातक; १६ सेच्छ जातक; १७. सुजातोगहुतो जातक; १८. विडाल-कुक्कुट जातक; १९. मगदेविय जातक; २०. भिसहरनिय जातक; २१. विदुर पण्डित जातक; २२. गजसस जातक; २३. वेसन्तर जातक।

भरहुत स्तूप के वास्तु, शिल्प और मूर्तियों का अध्ययन करते हुए हमारा ध्यान इसी प्रकार के अन्य स्तूपों की ओर भी जाता है। वास्तु की दृष्टि से स्तूप विश्व के चतुष्टय विधान का स्फुट रूप था। जैसा ऊपर कहा गया है यूप का ही मूर्त्यन्तर रूप स्तूप की कल्पना थी। वैदिक लोक-सृष्टि में सबसे ऊपर द्युलोक के देवों का स्थान या देव-सदन माना जाता था जिसे नाक-पृष्ठ भी कहते थे। वही स्तूप में हर्मिका थी। उसके बीच की छत्रयष्टि द्यावा-पृथिवी के बीच में पिरोया हुआ बाण था जिसे उदुम्बर भी कहते थे। वैदिक लोक-सृष्टि में तीन पृथिवी और तीन द्युलोक माने जाते थे। हर्मिका के तीन छत्रों की कल्पना तीन द्युलोकों में मिलती है। तीन मेधि और तीन वेदिकाओं की स्तूपगत कल्पना तीन लोकों की ही परिचायक थी। महापुरुष के रूप में प्रत्येक स्तूप त्रिधावद्ध अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के साथ सम्बन्धित है। ये तीन लोक प्रत्येक मनुष्य में हैं। इन्हें ही मन, प्राण और भूत कहा जाता है। चार तोरण विश्वात्मक स्वस्तिक के प्रतिरूप हैं। चतुर्विध लोक कल्पना पुराणों के सुमेरु पर्वत और बौद्धों के अनवतप्त सरोवर एवं चक्रवर्ती के प्रासाद के रूप में प्राप्त होती है। एक ओर

चित्र १७४ अवक्रांति
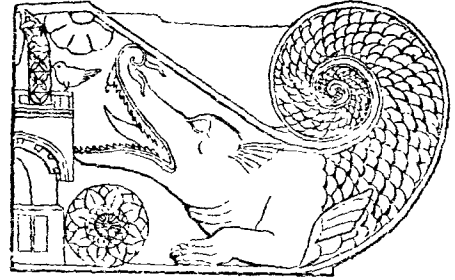
चित्र १७५ शिशुमारशिरः

चित्र १७६ अजातसत्तु भगवतो वंदते
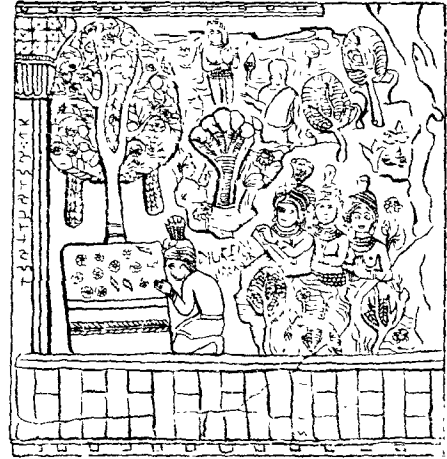
चित्र १७७ एरापतो नाग भगवतो वंदते

चित्र १७८

चित्र १७९

चित्र १८०

इन चारों का सम्बन्ध दिशाव्रत से और दूसरी ओर यक्ष, गन्धर्व, नाग और कुम्भाण्ड इन चार लोक देवताओं से जोड़ा गया है। वैदिक युग में यज्ञ मंडप के चारों ओर वेदिका का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह पवित्र देव भूमि या देवसदन को बाहरी लौकिक भूमि से अलग करती थी। पहले वह बाँस-बल्ले या काष्ठ का घेरा था। वही कटहरा स्तूप की पाषाण वेष्टिनी बन गया। इस प्रकार स्तूप-वास्तु के सब अंग प्राचीन परम्परा के साथ जुड़े थे और उन्हें ही हम भरहुत स्तूप में देखते हैं। बुद्ध का स्वयं वचन है कि स्तूप पुराकाल से ही बनाए जाते थे। आरम्भ में जो सादा मिट्टी का थूहा था वही अपने परिपूर्ण अलंकृत रूप में भरहुत स्तूप में विकसित हुआ। स्तूप के शिल्पात्मक अलंकरण का उद्गम अनेक लोक धर्मों पर आश्रित था। उसका प्रमाण भी भरहुत स्तूप में उपलब्ध होता है। स्तूप का स्वरूप ऐसा है जैसे अनेक धागों को बट कर एक सूत्र रचा गया है। लोक धर्मों की सूची बौद्ध और जैन साहित्य में इस प्रकार पाई जाती है—रुक्खमह, गिरिमह, नदीमह, सागरमह, चैत्यमह, थूपमह, सुरुजमह, चन्दमह, सक्कमह, नागमह, भूतमह, विष्णुमह, स्कन्दमह, ब्रह्ममह, धनुर्मह, दिशामह, कोट्टकिरियामह। इस सूची के साथ और भी नाम जोड़े जा सकते हैं जिन्हें देवव्रत कहते थे।

इस धार्मिक देवतामय संसार का उल्लासपूर्ण अंकन भरहुत स्तूप की वेदिका और तोरणों पर हुआ है। उदाहरण के लिए, वृक्षमह के अन्तर्गत कई प्रकार के बोधिवृक्षों का अंकन है, जैसे—अश्वत्थ या पीपल, गौतम बुद्ध का बोधिवृक्ष था। राजा, जनसमूह, हाथी और नाग इस बोधिवृक्ष की पूजा करते अंकित हैं। इसके चारों ओर वेदिका बनाई जाती है अथवा बोधिघर का अंकन किया जाता है जिसमें नीचे खुला हुआ मंडप है और ऊपर पटावदार शाला दिखाई गई है जिसकी कल्पना वास्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से अत्यंत सुन्दर है।

२. **वटवृक्ष**—काश्यप बुद्ध का बोधिवृक्ष; कई दृश्यों में इसका सुन्दर चित्रण हुआ है, विशेषतः एक दृश्य में जहाँ जंगली हाथी इस वृक्ष की पूजा करते हुए दिखाए गए हैं, इस पर यह लेख है—बहुहत्थिको निगोदे, अर्थात् बहुत से हथियों का न्यग्रोध या वटवृक्ष।

३. **उदुम्बर**—कनकमुनि बुद्ध का बोधिवृक्ष।

४. **पाटलि**—बुद्ध विपस्सिन् का बोधिवृक्ष, जिसका नाम फुल्ले के ऊपर उत्कीर्ण है। पाटलि वृक्ष को फूलों से लदा हुआ दिखाया गया है।

५. **शालवृक्ष**—बुद्ध विश्वभू का बोधिवृक्ष।

६. **शिरीष**—बुद्ध ककुच्छन्द का बोधिवृक्ष।

सौभाग्य से इन वृक्षों पर बुद्धों के नाम भी अंकित हैं। इनसे प्राचीन रुक्खमह का बौद्ध धर्म में स्वीकृत स्वरूप प्रकट होता है। इन्हीं के साथ प्राचीन उद्यान-क्रीड़ाओं का समूह दिखाया गया है जिनमें फुल्ल कुसुमित वृक्षों के नीचे स्त्रियाँ विविध क्रीड़ाएँ करती हैं जिन्हें उद्यान-क्रीड़ा (पाली उय्यान कीड़ा) कहा जाता था। इनमें से कुछ क्रीड़ाओं के ये नाम थे—शालभंजिका, अशोकपुष्पप्रचायिका। इनका अंकन भरहुत की वेदिका पर भी है और कुषाण युग के वेदिका स्तम्भों पर तो बहुत ही अधिक है।

भरहुत शिल्प में यक्षों और नागों का अंकन भी खुल कर हुआ है। ये प्राचीन यक्खमह और नागमह के अंग थे जिनमें इन दो प्रकार के देवताओं की पूजा की जाती थी। लोक में इनका अत्यधिक प्रचार था और बौद्ध धर्म की अपेक्षा इन लोक धर्मों का जन मानस पर कहीं अधिक प्रभाव था। यक्षों और नागों की पूजा की जड़ें भूमि में गहरी प्रविष्ट थीं। लोक में इनका सर्वत्र प्रचार था और उनकी परम्परा हमारे समय तक चली आई है। न केवल भरहुत में किन्तु दूसरे स्तूपों पर भी यक्ष और नाग देवों की पूजा के दृश्य पाए गए हैं। मह-सूची में वैश्रवणमह का नाम है और भरहुत में उसके अनुरूप कुबेर यक्ष की मूर्ति पाई गई है। कितने ही लोक देवताओं के नाम उत्कीर्ण लेखों से हमें प्राप्त हो गए हैं अन्यथा उनके विषय में हमें कुछ ज्ञात न हो सकता। इस प्रकार के न जाने और भी कितने देवता किसी समय लोक में विद्यमान थे। गन्धर्व और अप्सराओं का साहचर्य वैदिक और बौद्ध साहित्य दोनों में देखा जाता है और भरहुत में इनका भरपूर अंकन हुआ है। स्तूप में नृत्य और गीत के अनेक दृश्य हैं। उनके अभाव में तोरण और वेदिकाओं का उल्लसित रूप उदास रह जाता। स्तूप के निर्माताओं के मन में लोक धर्म के ये देवता इतने अधिक बसे हुए थे कि नाना रूपों में उनका अंकन भरहुत स्तूप के शिल्प विधान में अपनाया गया। भरहुत के अनन्तर साँची स्तूप में लोक धर्मों की बहती हुई यह जलधारा कुछ ठहर जाती है। सिरिमा देवता का अंकन इसी का दूसरा दृष्टान्त है। ऊपर की मह सूची में श्रीमह भी है। श्रीदेवी या श्रीलक्ष्मी की पूजा वैदिक युग से लेकर आज तक लोक में चली आई है। अब भी दीपावली के अवसर पर उसका विशेष पूजन होता है। यजुर्वेद में इन दो देवियों को नारायण पुरुष की पत्नी कहा है। उसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मण धर्म तक ही सीमित न था, जैन एवं बौद्धों में भी उसकी मान्यता थी। भरहुत, साँची एवं उदयगिरि, खण्डगिरि, बोधगया में भी लक्ष्मी की मूर्तियाँ मिली हैं। वह समुद्र मंथन से उत्पन्न समुद्र की कन्या मानी जाती है। ज्ञात होता है कि श्रीमह का कुछ सम्बन्ध प्राचीन सागरमह से था। कमल और हाथी, इन दोनों प्रतीकों को समुद्र और श्रीलक्ष्मी के साथ भी सम्बन्धित माना गया। इन्द्र का ऐरावत हाथी और सृष्टि का महाकमल समुद्र से उत्पन्न हुए। इन दोनों से ही श्रीलक्ष्मी का स्वरूप बनता है। श्रीलक्ष्मी को मातृत्व और समृद्धि की देवी माना गया है। जल और कमल के कारण उनमें मातृत्व का गुण है और हाथियों की शोभा सम्पत्ति की सूचक है। भरहुत में ये दोनों लक्षण हैं अर्थात् देवी पूर्णघट से निकलते हुए कमल पर खड़ी है और उसके पार्श्व में दो हाथी उसका घटाभिषेक कर रहे हैं। पूर्णघट और कमल, पद्मकोष या सृष्टि-जन्मा पुष्कर का प्रतीक था। अतएव देवी श्रीलक्ष्मी विश्व की जननी या माता मानी गई। अथर्ववेद में पूर्णकुम्भनारी का उल्लेख आया है। उससे पूर्ण कुम्भ के साथ श्री लक्ष्मी का भी ग्रहण किया जा सकता है। दीपावली की रात्रि में देवी श्रीलक्ष्मी का विशेष पूजन किया जाता था। बौद्धकला में लक्ष्मी और भद्रा दोनों कुबेर की पत्नी मानी गई हैं।

जो प्राचीन 'मह' धर्म थे उनका ही विकास बुद्ध के विशेष धार्मिक चिह्नों के उत्सवों के रूप में हुआ। जब उन चिह्नों की पूजा होने लगी तब भी उन पूजा-उत्सवों का स्वरूप वही था जो प्राचीन मह उत्सवों का, जैसे बुद्ध की चूड़ा के उत्सव को अभिलेख में चूड़ामह कहा गया है। धर्म चक्र स्तम्भ की पूजा के दो अङ्ग थे—१. धर्मचक्र २. स्तम्भ। इन दोनों की मान्यता प्राचीन काल अथवा ऋग्वेद के समय से ही चली आती थी। ऋग्वेद में कालचक्र का वर्णन आता है और वहां स्तम्भ को स्कम्भ कहा गया है। उसके आश्रय से द्यावापृथिवी को आधृत या टिका हुआ बताया गया है। वस्तुतः ये दोनों सूर्य के प्रतीक थे, सूर्य ही घूमने वाला धर्म चक्र है और वही स्तम्भ है जो द्युलोक और पृथिवी

की टेक है। यही स्थूणा है। अथर्ववेद के स्कम्भसूक्त में ब्रह्म को ही स्तम्भ माना गया है जो सब भुवनों, लोकों और देवों का आधार है। इस प्राचीन धार्मिक पूजा में स्तम्भ के ऊपर शीर्ष भाग में किसी पशु की आकृति भी बनाई जाती थी, जैसे सिंहस्तम्भ, वृषस्तम्भ, गजेन्द्रस्तम्भ, हस्तिस्तम्भ। उनके पूजन के लिए लोग स्तम्भ की परिक्रमा करते थे जैसा कला में कई जगह अंकित पाया गया है। भरहुत में भी ऐसा स्तम्भ अंकित है (चित्र १८१)। मथुरा कला में भी इसका उदाहरण मिलता है। चक्र की पूजा भी प्राचीन धर्म का अङ्ग था जिसका सम्बन्ध पहले विष्णु से था और वही बुद्ध का धर्म चक्र हो गया। भरहुत में धर्म चक्र की पूजा के कई दृश्य हैं जिन पर 'भगवतो धम्म चक्को' लेख है। इसी श्रेणी में बुद्ध के पादुका चिह्न की पूजा और बोधिमंड को भी सम्मिलित करना चाहिए।

चित्र १८१

किसी भी धार्मिक सन्त या आचार्य के चरणचिह्न और आसन की पूजा लोक में आज तक देखी जाती है और उसी का सम्बन्ध बुद्ध के साथ जुड़ गया। स्तम्भ के विषय में यह उल्लेखनीय है कि वह यूप के रूप में प्रत्येक यज्ञ में स्थापित किया जाता था। कालान्तर में यज्ञ की कल्पना में देव पूजा के आधार पर देव प्रासाद का निर्माण किया गया और तब यज्ञीय यूपों का भी उन प्रासादों के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। उनका सम्बन्ध स्मशान के साथ भी हुआ। ऐसे खम्भों को स्मशान यूप की संज्ञा दी गई। लौरियानन्दनगढ़ के स्मशान में काष्ठ स्तम्भ प्राप्त हुए हैं जो स्मशान यूप के उदाहरण हैं। स्तम्भ मह के रूप में स्तम्भ को देवता मानकर उसकी पूजा की जाती थी। स्तम्भ पूजा के नाना रूप लोक में प्रचलित थे जिनका नामकरण उनके शीर्ष भाग पर अंकित आकृतियों से किया जाता था, जैसे चक्र स्तम्भ, सिंह स्तम्भ, गरुड़ स्तम्भ, ताल स्तम्भ, वृष स्तम्भ। स्तम्भ को ही यष्टि भी कहा जाता था जैसे मकर-यष्टि या मकरांकित स्तम्भ। यष्टि से ही लट्ठि या लाट शब्द की उत्पत्ति हुई है। अशोक स्तम्भ भी यष्टि ही थे जिन्हें आज तक लोक में 'अशोक की लाट' कहा जाता है। उन्हें ही 'लकुट' भी कहा गया जिससे लउड एवं लौर शब्द की उत्पत्ति हुई और जिसके कारण नन्दनगढ़ गाँव का नाम लौरिया नन्दनगढ़ प्रसिद्ध हुआ। इसे ही ध्वज भी कहते थे, जैसे चक्र स्तम्भ की संज्ञा चक्रध्वज थी। पूर्णघट भी मांगलिक चिह्न था और उसको भी शीर्ष स्थान में रख कर स्तम्भ स्थापित किया जाता था। पूर्णघट की पूजा का स्वतन्त्र रूप से भी बहुत प्रचार था। पूर्णघट से प्रतिमंडित वेदिकाओं या गृहों का उल्लेख आता है। भरहुत में कमलों से अलंकृत पूर्णघट पर देवी श्रीलक्ष्मी का स्वरूप दिखाया गया है। श्रीलक्ष्मी विश्व की मातृ देवी थी और पूर्णघट विश्व का प्रतीक था। इस प्रकार दोनों का भव्य संयोग कल्पित किया गया। भरहुत के शिल्पियों ने पूर्णकुम्भ और मातृ देवी के प्रतीक को बहुत ही सुन्दर रूप में अंकित किया है (मि०, पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतम्, अथर्ववेद ३।१२।८)। स्तूप का निर्माण करने वाले महास्थपति स्तम्भ, पूर्णघट, महाचक्र, चार आजानेय पशु, श्रीलक्ष्मी, बोधिमंड आदि प्रतीकों के महत्त्व और अभिप्राय से भली-भाँति परिचित थे। इन अलंकरणों को अकेले या संयुक्त रूप में उन्होंने अंकित किया है, इन्हीं से आरम्भिक भारतीय शिल्प कला की बारहखड़ी बनाई गई जिसकी लिपि भरहुत, साँची, बोधगया, अमरावती, मथुरा आदि के स्तूपों और वेदिका-तोरणों पर शिल्पांकित है।

इन चिह्नों के धार्मिक संकेत जनता और लोक में सुविदित थे। चार महाआजानेय पशुओं की मान्यता को भी स्तूप के अलंकरण में स्वीकृत किया गया। निद्देस नामक बौद्ध ग्रन्थ में इन मान्यताओं को हस्तिव्रत, अश्वव्रत, गोव्रत, सुपर्णव्रत कहा गया है और भरहुत में धार्मिक वातावरण के अन्तर्गत इन पशुओं और पक्षियों को स्थान दिया गया। इनमें सुपर्ण की पूजा ऋग्वेद काल से चली आती थी और भरहुत में उसे हम विशेष रूप से देखते हैं। एक दृश्य में सिंह और मृग चैत्य-पूजा करते हुए दिखाए गए हैं। अन्यत्र जंगली हाथी अपने यूथ के साथ वृक्ष की पूजा कर रहे हैं। इन वन्य पशुओं को नाना योनियों में उत्पन्न बोधिसत्त्व के रूप में देखना चाहिए जो बुद्धत्व प्राप्ति के लिए धार्मिक कार्यों में संलग्न हैं। विभिन्न प्रकार के धार्मिक उत्सवों में व्याप्त होने के कारण उनका महत्त्व स्पष्ट है।

इन्हीं के साथ कुछ ऐसे अभिप्राय भी हैं जिनका सम्बन्ध जल तत्त्व से विशेष था और वे आपोमयी सृष्टि के प्रतीक समझे जाते थे, जैसे वृषभमच्छ अर्थात् मछली की पूँछ वाले बैल (चित्र १८२–१८३), शिंशुमारशिरः (चित्र १७५), कुम्भोदर यक्ष के मुख या नाभि से निकलती

चित्र १८२

चित्र १८३
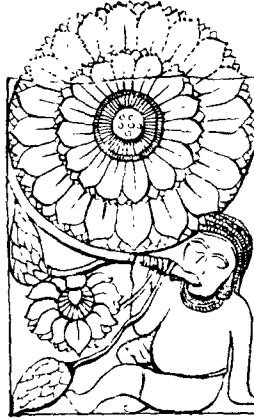
चित्र १८४

चित्र १८५

चित्र १८६

चित्र १८७

चित्र १८८

हुई कमल की लतर (चित्र १८४–१८५), देवी के चारों ओर समर्पित कमल माला (चित्र १८६) या कमल के खिले हुए फुल्लों से बनी हुई पद्म माला—इन अभिप्रायों का समुद्र अथवा जल से

घनिष्ठ सम्बन्ध था और प्राचीन काल में सलिल या समुद्र से जो सृष्टि की कल्पना थी उसी का संकेत इन अभिप्रायों द्वारा किया जाता था। इनमें से कुछ अभिप्राय मातृदेवी की प्राचीन चकियों या श्रीचक्रों पर भी पाए जाते हैं, जैसे झूमते हुए हाथियों की गजपंक्ति (चित्र १८७), अथवा सपक्ष सिंहों की श्रेणी (चित्र १८८)। (श्रीचक्रों के लिए दे० पीछे चित्र १०३ तथा पृ० ११०-११)

स्तूप के अलंकरण में पद्ममाला, पद्मपुष्प, पद्मकलिका और पद्मपत्रों को सविशेष स्थान दिया गया है। स्तम्भ, सूची और उष्णीषों पर कमल के फुल्लों की पंक्तियाँ दिखाई गई हैं जिसके कारण इस प्रकार की वेदिका की संज्ञा पद्मवर वेदिका हो गई। इस अलंकरण का संकेत देवता के लिए एक महास्रज् या सहस्र पुष्पों की माला समर्पित करना था जिसे किञ्जल्किनी भी कहा जाता था। इस प्रकार समस्त स्तूप के अलंकरण या रूप संपादन में बहुत ही श्रम, विचार और अर्थव्यय की आवश्यकता होती थी। भरहुत स्तूप के अलंकरण की सर्वाधिक विशेषता कल्पलताओं का अंकन है जिनकी ऊँची-नीची लहरिया भाँति से नाना प्रकार के वस्त्र और आभरण उत्पन्न होते हुए दिखाए गए हैं। इस प्रकार की लतर बनाने का हेतु क्या था ? इस प्रश्न का समुचित समाधान अभी तक भारतीय कला के लेखकों ने नहीं किया। क्या कारण था कि शिल्पियों के मन में यह अभिप्राय इतना अधिक भरा हुआ था ? क्यों इतनी उमंग के साथ वेदिका के सर्वांग को विविध प्रकार के मण्डनों की सामग्री से सुशोभित किया गया ? अवश्य ही जन-मानस में इस अभिप्राय के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वस्तुतः यह प्राचीन काल से प्राप्त कल्पवृक्ष और कल्पवल्ली का अलंकरण था। साहित्यिक वर्णन के ठीक अनुरूप शिल्प का अंकन है। इसमें कल्पलता की बलखाती हुई टहनियों से कर्णकुण्डल, हार, कंठे, बाहुवलय, करधनी, नूपुर आदि भाँति-भाँति के आभूषण लटकते हुए दिखाए गए हैं। कहीं पर मूल्यवान उत्तरीय और अधोवस्त्र उसी प्रकार लतर की मोड़-मुड़क से जन्म लेते हुए दिखाए
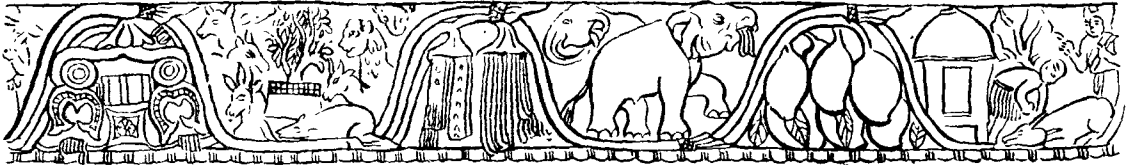
चित्र १८९

गए हैं। कहीं मदिरा से भरे हुए पनसफल और कहीं लाक्षाराग से भरे हुए आम्रफल की आकृति के पात्र हैं। इस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन उत्तरकुरु की प्रशंसा में आता है, उसी की सर्वाधिक मान्यता लोक में थी। ज्ञात होता है कि जनता उत्तरकुरु के दर्शन के लिए लालायित रहती थी। चक्रवर्त्ती सम्राट् उत्तरकुरु को जीत कर उसके वरदानों को अपने यहाँ लाना चाहते थे। अथवा, प्रत्येक घर उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों की छाया में फूलता फलता माना जाता था। माता और पिता, भाई और बन्धु, ये सब कल्पवृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के समान थे जो नवयुवतियों के शृङ्गार की इच्छाओं की सहज पूर्ति करते थे। (चित्र १८९)।

ये ही दो फल क्यों चुने गए ? क्योंकि पके कटहल में मदिरा की गन्ध और आम का रस लाक्षाराग जैसा होता है। महावाणिज जातक में (४९३, ३५२) उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों का जैसा वर्णन है ठीक वैसा ही भरहुत में उनका चित्रण है। कुछ व्यापारी यात्रा करते हुए उस प्रदेश में पहुँच गए और वहाँ

उन्होंने एक बड़ा न्यग्रोध का वृक्ष देखा। उसकी वरदायक पूर्वी शाखा से सब प्रकार के पेय पदार्थ निकल रहे थे जिनसे उन्होंने अपने आप को भली-भाँति तृप्त किया। दक्षिणी शाखा से नाना प्रकार के भोजन और व्यञ्जन मिल रहे थे। पश्चिमी शाखा से सुन्दर स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषण हरेक व्यापारी ने प्राप्त किए। उसी शाखा से सुवर्ण-रजत आभूषण, वाराणसी के सूक्ष्म वस्त्र और प्रावार प्राप्त हुए जिन्हें व्यापारियों ने इच्छानुसार प्राप्त किया—

इन्घ अस्स पुरिमं साखं भयं वाणिजा। तत्थ छिन्नाव पग्घरि अच्छं वारिं अनाविलं ॥
ते तत्थ नहात्वा च पिविन्वा च यावत् इच्छिसु वाणिजा। इंघ अस्स दक्खिणं साखं भयं छिन्दां वाणिजा ॥
मा च छिन्ना व पग्घरि सालिमांसोदनं बहुम्। अप्पोदवण्णे कुम्मासे सिन्गि विदल सूपियो ॥
ते तत्थ भूत्वा च पिवित्वा च यावत् इच्छिसु वाणिजा। इंघ अस्सा पच्छिमं साखं मयं छिन्दाय वाणिजा ॥
सा च छिन्ना व पग्घरि नारियो समलंकता। विचित्रवत्थाभरण आमुत्तमणिकुण्डला ॥
अपि सु वाणिजा एका नारियो पणवीसति। समन्ता परिकरीन्सु तस्स रुक्खस्स छादिया ॥
ते ताहि परिवारेत्वा यावत् इच्छिसु वाणिजा। चतुत्थं समचिन्तेसुं बाला मोहेन पारुता ॥
इन्घ अस्स उत्तरं साखं भयं छिन्दां वाणिजा। सा च छिन्ना व पग्घरि मुत्ता वेदरिया बहू ॥
रजतं धातरूपण च कुत्तियो पटियानि। कासिकानि च वत्थानि उद्दियाने च कम्बले ॥
ते तत्थ बारे बन्धित्वा यावत् इच्छिसु वाणिजा। वारिदा पुरिमा साखा अन्नपानञ्च दक्खिणा ॥
नारिदा पच्छिमा साखा सब्बकामे च उत्तरा। निग्रोधो किं अपरज्झति वाणिजा भद्दम अत्थुते ॥

(महावाणिज जातक ४९३, पृ० ३५१–३५२)

इस काव्यमय वर्णन का समर्थन रामायण, महाभारत एवं पुराणों से और भी सटीक रूप में होता है और इस सब साक्षी से सूचित होता है कि उत्तरकुरु के सम्बन्ध में लोक की मान्यता बहुत व्यापक थी। उदाहरण के लिए रामायण में सुग्रीव ने सीता की खोज में कपि यूथों को उत्तर दिशा में भेजते हुए कहा—उत्तर दिशा में जहाँ भूमि का अन्त होता है वहाँ उत्तर कुरु देश है। वहाँ सुवर्ण पुष्प सदा पुष्पित देखे जाते हैं। वहाँ वृक्षों पर अग्नि के समान दहकते हुए पुष्प और फल वृक्षों पर सदा फूलते फलते हैं जिनमें दिव्य गंध और रस होते हैं। कुछ उत्तम वृक्षों पर अनेक प्रकार के वस्त्र और मुक्तावैदूर्य से सुशोभित आभूपण फलते हैं जो सब ऋतुओं में सुख देते हैं। कुछ वृक्षों पर विचित्र आस्तरण युक्त शयन, मनोहर माल्य, महार्हमणियाँ, पान, भक्ष्य एवं रूप यौवन से युक्त गुणवती स्त्रियाँ भी फूलफल के समान उत्पन्न होती हैं—

सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः। महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ते नगोत्तमाः ॥ ४६ ॥
शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च। मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ॥ ४७ ॥
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च। स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ॥ ४८ ॥

(किष्किन्धा काण्ड, अ० ४३)।

महाभारत में उत्तर दिशा में मेरु के समीप उत्तरकुरु प्रदेश का और भी पल्लवित वर्णन है जहाँ सब कामों के देनेवाले वृक्ष पाए जाते हैं। वह पवित्र देश है और वहाँ सिद्ध निवास करते हैं। वहाँ नित्य फलने वाले मधुफल वृक्ष हैं। उनमें सुगन्धित पुष्प और रसवाले फल लगते हैं। उनमें कुछ वृक्ष सर्वकामफल अर्थात् सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाले हैं। कुछ क्षीरी वृक्ष ऐसे हैं जो अमृत के समान क्षीर का प्रस्रवण करते हैं। उनमें वस्त्रों और आभूपणों के फल लगते हैं। स्त्री-पुरुषों के मिथुन फल के समान उन वृक्षों से उत्पन्न होते हैं और उनमें स्त्रियाँ अप्सराओं के तुल्य होती हैं।

वे अमृत दूध का पान करती है। समय पर उत्पन्न हुए मिथुन साथ-साथ बढ़ते हैं। वे रूप गुण और वेष में एक समान होते हैं--

उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः। तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपमा॥
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च। सर्वकामफलास्तत्र केचिद्वृक्षा जनाधिप॥
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप। ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्॥
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च। मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियाश्चाप्सरसोपमाः॥
तेषां तु क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसन्निभम्। मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते॥
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च॥

(भीष्मपर्व ७।२।११)

जातक, रामायण और महाभारत के वर्णन क्रमशः विकसित होते गए हैं। भाजा, भरहुत और साँची के दृश्य महाभारत के वर्णन के सबसे अधिक निकट हैं क्यों कि उनमें स्त्री-पुरुषों के मिथुन भी मिलते हैं। कालान्तर में मिथुन, यष्टि और कामलता के अलंकरण द्वार स्तम्भों पर बनाए जाने लगे। दण्डीकृत अवन्तिसुन्दरी में काम फलों को उत्पन्न करने वाली (कामप्रसवोपादानक्षमः) कल्पद्रुमयष्टि का उल्लेख है। वराङ्ग चरित में उसे कामलता कहा गया है।

वायु पुराण के भुवन कोष प्रकरण में उत्तरकुरु का और भी अधिक पल्लवित वर्णन मिलता है (अध्याय ४५, श्लोक ११-५०)। वहाँ शतसहस्र संख्यक कल्पवृक्षों से अनेक प्रकार के वाद्य, शयनासन और अन्नपानों के उत्पन्न होने का वर्णन है।

ऊपर के वर्णनों से भरहुत और साँची के अनेक दृश्यों की मार्मिक व्याख्या प्राप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए साँची स्तूप के दक्षिण तोरण के पश्चिमी स्तम्भ के पश्चिमी पार्श्व पर उत्तरकुरु के दृश्यों में कल्पवृक्षों के नीचे बैठे हुए मिथुन संगीत और वाद्य का आनन्द ले रहे हैं और उन वृक्षों से वस्त्र और आभूषण प्रकट होते हुए दिखाए गए हैं (मार्शल, साँची का स्तूप, भाग १, पृ० १४४, भाग २, फ० २१०)। भाजा चैत्य गृह के द्वार के एक पार्श्व में चक्रवर्त्ती मान्धाता के उत्तरकुरु में जाने का चित्रण है। उसमें उत्तरकुरु के उद्यान के कई दृश्य हैं। उद्यान में यथाकाम फलने वाले कल्पवृक्षों से मिथुन, वस्त्र और आभूषण उत्पन्न होते हुए दिखाए गए हैं। इस प्रकार के कई कल्पवृक्ष उस दृश्य में हैं जो वस्त्र और आभूषणों की संवृद्धि से तुरन्त पहचाने जा सकते हैं। एक वृक्ष की शाखाओं से मिथुनों का जन्म भी दिखाया गया है।

कनिंघम के 'भरहुत' में (फलक ३९-४८) उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों के अनेक चित्र देखे जा सकते हैं।
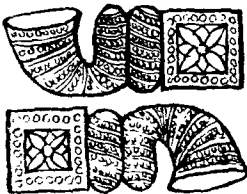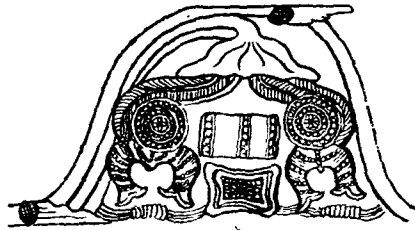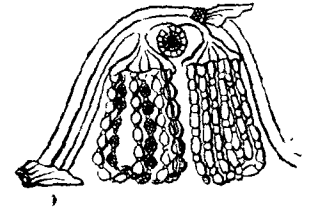
चित्र १९० चित्र १९१ चित्र १९२

इनमें निम्न आभूषण हैं--प्राकारवप्रकुण्डल या परकोटे के समान चौड़े भारी कुण्डल (चित्र १९०),

त्रिरत्न की आकृति के कर्णाभूषण (चित्र १९१), कण्ठे, हार, मेखला (चित्र १९२), हाथों के कड़े, अंगुलियों में पहनने की गूँजे, कई घेर वाले नूपुर। अन्यत्र एक भुजबन्द या केयूर ऊपर फुल्लों की गोट और नीचे क्षुद्र किंकणियों की पंक्ति से सुशोभित है (दे० श्री काला कृत, भरहुत वेदिका)। वस्त्रों में पुष्पपट्ट की जाति के उत्तरीय और शाटिकायें हैं। यक्षों की अलकापुरी में होने वाले कल्पवृक्षों का सटीक वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है जो कालान्तर का होते हुए भी इन अभिप्रायों का उल्लेख करता है—

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्मामेकं सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥
(मेघदूत २।११)।

जो उत्तरकुरु प्रदेश का विशेष अभिप्राय था उसे ही कुबेर की अलका के साथ जोड़ दिया गया। अलका की यक्ष सुन्दरियों के लिए मधु, लाक्षाराग, वस्त्र और विविध आभूषण कल्पवृक्षों से स्वयं उत्पन्न हो सकते हैं। यही इन्द्र के नन्दन वन में होने वाले वृक्षों की विशेषता है जो देव कन्याओं के लिए शृंगार की यह सब सामग्री उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भारतीय लोकधर्म के अभिप्राय परस्पर संक्रान्त होते रहे हैं। बाण ने भी इस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख किया है (परिस्फुरदाभरणसमूहेनेव कल्पलतानिवहेन, कदम्बरी, वैद्य संस्करण, पृ० १८६)।

इस प्रकार के दिव्य वस्त्रों का जन्म अत्यन्त मंगलदायक माना जाता था (क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतम्, शाकुन्तल, अंक ४)।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उत्तरकुरु के कल्पवृक्षों की कल्पना अत्यन्त प्राचीन काल से मध्य काल तक साहित्य और कला में बराबर चली आई और वह लोकधर्म का भी अंग थी। ज्ञात होता है कि घर-घर में कल्पवृक्ष का ही स्नेह भरा रूप विद्यमान था। उदाहरण के लिए भूषणों के विकल्प या भाँति-भाँति के गहने देने वाली शाखा का रूप पिता था। आज भी कन्या के लिए आभूषणों का संकल्प पिता ही अपने वित्त की सामर्थ्य के अनुसार पूरा करता है। माता विविध वस्त्रों को प्रदान करने वाली स्नेहमयी शाखा है। भाई नाना प्रकार के अनुलेपन एवं शृङ्गार सामग्री देने वाली शाखा है। सखियाँ पैरों के लिए लाक्षाराग या महावर देती हैं। पति वह शाखा है, जो मादकता से भरा हुआ मधु प्रदान करती है। घर-घर में कुमार और कुमारियों के मिथुन कुटुम्ब रूपी कल्पवृक्ष से निरन्तर जन्म ले रहे हैं। जो स्वर्ग का अभिप्राय था वह गृहस्थ जीवन के लिए प्रत्येक परिवार में पृथिवी पर उतर आया। भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण गृहस्थ जीवन को पल्लवित और पुष्पित बनाना था। इसीलिए स्तूपों के वेदिका और तोरण स्तम्भों पर उत्तरकुरु के इन अभिप्रायों का इतना अधिक अंकन किया गया। कल्पवृक्ष का यह विचार बौद्ध, जैन और भागवत सबको समान रूप से स्वीकृत था। जैन साहित्य से १० प्रकार के कल्पवृक्ष ज्ञात हैं–१. मद्यांगवृक्ष २. तूर्यांगवृक्ष ३. भूषणांगवृक्ष ४. ज्योति वृक्ष ५. गृहवृक्ष ६. भाजनांगवृक्ष ७. दीपांगवृक्ष ८. वस्त्रांगवृक्ष ९. भोजनांगवृक्ष १०. मालांगवृक्ष। ये दस प्रकार के सर्वोत्तम सुखों के भी प्रतीक हैं (दशविधमहाभोग)। यह कल्पवृक्ष की मूल कल्पना का ही परिवर्धित रूप है। भागवतों ने भी कल्पवृक्ष के भाव को अपना कर इसे पारिजातहरण की कथा का रूप दिया है। पारिजात स्वर्ग का वृक्ष था, जिसे कृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के लिए इन्द्र से बलपूर्वक छीन कर पृथिवी पर लाए। कल्पवृक्ष ही श्रीवृक्ष के रूप में ब्राह्मण धर्म के देवप्रासादों में स्वीकृत किया गया।

भरहुत शिल्प में वरदायक कल्पलताओं के अभिप्राय अनेक प्रकार से अंकित किए गए हैं जिनमें आभूषण और वस्त्रों की उकेरी एवं कटहल और आम के फलों की शोभा कलात्मक अलंकरण
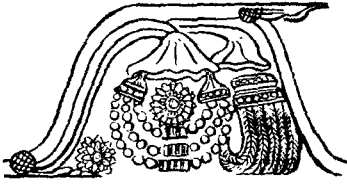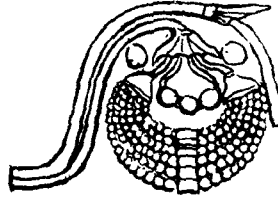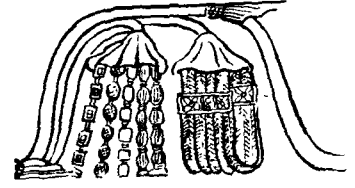
चित्र १९३ चित्र १९४ चित्र १९५
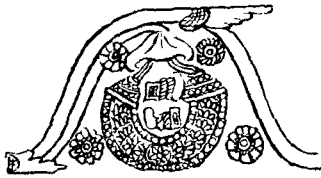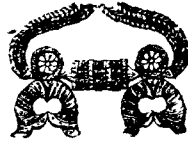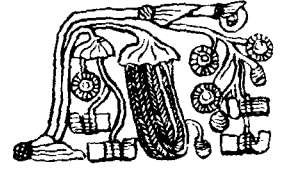
चित्र १९६ चित्र १९७ चित्र १९८
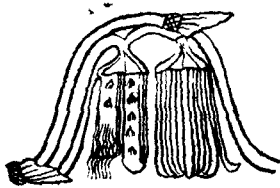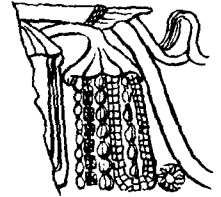
चित्र १९९ चित्र २०० चित्र २०१
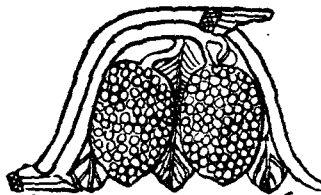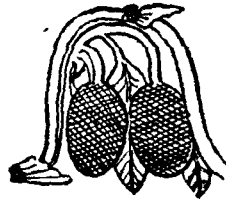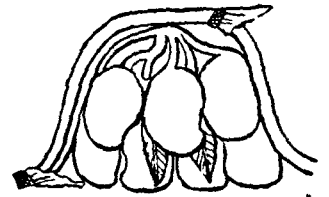
चित्र २०२ चित्र २०३ चित्र २०४

की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। उदाहरण के लिए मोतियों का तिलड़ा हार (चित्र १९३), छह लड़ का हार (चित्र १९४), दोहरे त्रिरत्नों का हारपदक (चित्र १९७), चौड़ा जड़ाऊ कंठा (चित्र १९६), प्राकारवप्रकुण्डल जिनका ऊपरी भाग चौड़ा घनाकृति और नीचे का गरेरीनुमा है (चित्र १९०), कान के फुल्ले (चित्र १९८), कई लड़ों की मेखला (चित्र १९५), बलेवड़ा नूपुर (चित्र १९२), धोती (चित्र १९९-२००), पनसाकृति मधुपात्र (चित्र २०२-३), महावर से भरे हुए आम्रफल जैसे पात्र (चित्र २०४)। कहीं (चित्र २०५-६) हाथी के खूँटीनुमा मुख, नागदन्त तथा सूंड़ से मुक्ताजाल, मेखला और नूपुर लटकते हुए दिखाए गए हैं। प्राचीन राजप्रासादों के रत्नभण्डारों में इन

आभूषणों को रखने का प्रचार था। इस प्रकार के नागदन्तों से युक्त यष्टियों पर स्वर्ण की मालायें, हार और दूसरे आभूषण रखने की प्रथा थी।

ये अनेक प्रकार के छोटे-मोटे दृश्य उत्तरकुरु या अलका के यक्ष-भवनों के अन्तर्गत आते थे और लोक में उनकी उल्लासपूर्ण मान्यता थी जिसके कारण प्रायः सभी स्तूपों में इन दृश्यों को स्थान दिया गया। कुमारस्वामी और कनिंघम ने अपने भरहुत संबंधी ग्रन्थों में जो सामग्री चित्रित की है

चित्र २०५

चित्र २०६
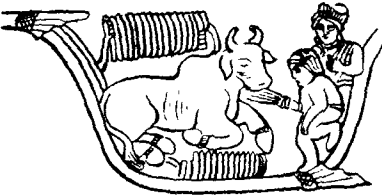
चित्र २०७
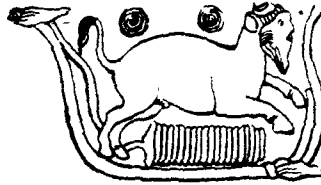
चित्र २०८
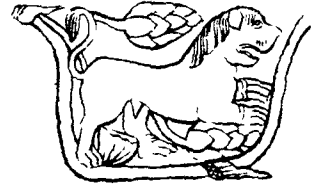
चित्र २०९

उससे ज्ञात होता है कि भरहुत में निम्नलिखित अन्य अभिप्राय अंकित हैं—बोधिवृक्ष (कु०स्वा० ५,६,८); बोधिगृह (कु०स्वा० २७,२८); स्तूप (कु०स्वा० २४,६५); चक्र (कु० स्वा० २५,२८,३४,३६,६२,६४,६६, यहाँ चित्र२१०); गजलक्ष्मी (कु० स्वा० १२२,१२३,१२४), पूर्णकुम्भ (कु० स्वा० १२५,१२६); श्रीचक्र जिसमें पद्ममाला के भीतर पद्माश्री अंकित है (कु० स्वा० ९८, यहाँ चित्र १८६); सिंह पंक्ति (चित्र १८८), गजेन्द्र पंक्ति (चित्र १८७), द्वि-भूमिक देवप्रासाद (कु० स्वा० ८७); महद्भूतयक्ष (चित्र २११)। यक्षमह, नागमह, वैश्रवणमह, वृक्षमह आदि दृश्यों की सूची में सुवण्णमह (सं० सुपर्णमह, हिन्दी सौन) का स्थान भी है। इसमें एक अश्वारोही स्त्री हाथ में एक ध्वज लिए है जिस पर सुपर्ण या गरुड़ का चिह्न है और जो गरुड़ध्वज का सबसे प्राचीन रूप है (चित्र ६०)। इसमें अश्व का सम्बन्ध सौपर्ण-आख्यान के सूर्य के अश्व से और स्त्री का सम्बन्ध विनता से ज्ञात होता है। इन दृश्यों के अतिरिक्त जातकों के दृश्य और बुद्ध की वर्तमान जीवन कथा के दृश्य हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। इस प्रकार स्तूप का महान् चित्रपट सामने फैला हुआ दिखाई पड़ता है। त्रिपिटक के समान स्तूप का जीता-जागता महान विस्तार था। जिस समय बुद्ध ने तथागत के लिए चतुष्पथ पर स्तूप बनाने की बात कही थी अथवा उनके बन्धु-बान्धवों ने पिपरहवा नामक स्थान में उनके लिए स्तूप बनाया था या उससे भी पूर्व युगों में ये भारी
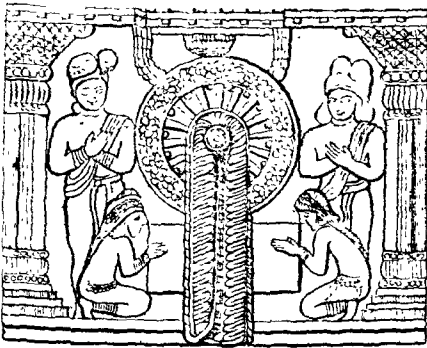
चित्र २१०

भरकम स्तूप बनाए जाते थे तब भी इस प्रकार के दृश्यों की सज्जा से वे सज्जित किए जाते होंगे। अमृत देव और मर्त्य मानव दोनों ही अपनी श्रद्धांजलि स्तूप के लिए अर्पित करते थे। एक ओर स्तूप महापुरुष की महिमा का प्रतीक था, दूसरी ओर वह विश्व सृष्टि का भी निदान या मूर्त्त रूप था। स्तूप की रचना का मूल बौद्ध धर्म से भी पहले वैदिक सृष्टि विद्या की परम्पराओं से संयुक्त जान पड़ता है, जैसे स्तूप की हर्मिका वैदिक देव-सदन से, छत्रावली नाकपृष्ठ से, यष्टि बाण या उदुम्बर से, स्तम्भ

चित्र २११

चित्र २१२

स्कम्भ से एवं यज्ञ भूमि से वेदिका और तोरण द्वार अनुप्राणित थे। स्तूप के दो भाग थे—एक भूमि से अण्ड तक और दूसरा उसके शिखर पर बनी हुई हर्मिका। अण्ड भाग को भूमि से मिलाने वाला ब्रह्मसूत्र या भूलम्ब उस बाण के समान था जो द्यावापृथिवी को धारण करता है। वैदिक मान्यता के अनुसार तीन पृथिवी और तीन द्युलोक हैं, जो स्तूप की तीन मेधियों या तीन मेखलाओं के समान थे। तीसरे द्युलोक में जो देव सदन या नाकपृष्ठ था वह देवताओं का अमृत लोक या सुखनिवास माना जाता था। वही देवसदन स्तूप का हर्मिका भाग है।

स्तूप की बाह्य भूमि शिल्पियों द्वारा शोभा रचना के लिए चित्रपट के समान थी जिसका उद्देश्य सौन्दर्य विधान था। कहना चाहिए कि शिल्पियों ने इससे भरपूर लाभ उठाया इसलिए जहाँ तक शोभा या सौन्दर्य का सम्बन्ध है स्तूप के बाह्य भाग और देव प्रासाद के बाहरी भाग दोनों कलात्मक शिल्प सौन्दर्य में पगे हुए बनाए जाते हैं। पर बाह्य मूर्त रूप के आगे उसका भीतरी धार्मिक अर्थ भी है जो स्तूप रचयिताओं को अभीष्ट था और वहाँ तक पहुँचना भी द्रष्टाओं के लिए आवश्यक था। अतएव बाह्य अलंकरणों के आभ्यन्तर अर्थों का अनुसन्धान भी उतना ही आवश्यक है। इन दोनों दृष्टियों को मिलाने से ही स्तूप का दर्शनीय और संवेदनीय रूप सम्पन्न होता है अर्थात् वह ऐसे चित्र के रूप में सामने आता है, जो नेत्रों के लिए सुख कर हो, किन्तु उससे भी अधिक मन में भावों या विचारों को प्रेरित करने वाला हो। स्तूप के बाह्य भाग में सौन्दर्य का स्थान है और दर्शक के लिए उसकी पहली प्रतिक्रिया सौन्दर्य की ही होती थी, जैसी किसी अन्य कलाकृति की होती है। नेत्रों का आकर्षण, यह उसका प्रथम उद्देश्य था जैसा कि सभी उत्तम शिल्प-कृतियों का होता है। यही उसका दर्शनीय (पा० दस्सनीय) उद्देश्य था। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्तूप का 'संवेजनीय' पक्ष था जिसके द्वारा गम्भीर अर्थों का भान कराया जाता था। इसके द्वारा मन की भाव भूमि और हृदय के धरातल में एक कम्पन उत्पन्न हो जाता था, जो दर्शक के व्यक्तित्व को ऊपर की ओर आकृष्ट करता है और उसमें आध्यात्मिक परिवर्तन उत्पन्न करता है। वही

धर्म और दर्शन का सच्चा फल है। यह अवश्य है कि आन्तरिक रस के लोभी या पारखी बाह्य रूप को देखने वालों की अपेक्षा कम होते हैं, पर रसिक भावुकों का स्थान सदा ऊँचा होता है और उन्हीं के लिए स्तूप के कलात्मक रूप की सच्ची अर्थवत्ता मानी जाती थी। जब बाह्य अभिप्रायों का रूचा अर्थ समझ में आता है तो मन पर एक चोट लगती है, जिससे अन्तरात्मा में सच्चा परिवर्तन होता है। बाह्य रूप के दर्शन से जो आध्यात्मिक तरंगें हृदय में उत्पन्न होती हैं, वे ही अन्ततोगत्वा दर्शक को मोक्ष या निर्वाण तक ले जाती हैं। जैसा ऊपर कहा गया है महापुरुष का परिनिर्वाण विषादमय घटना न थी। एक महान् आनन्द का विषय था कि महापुरुष मर्त्यलोक में प्रकट हुए और उन्होंने मानव धरातल पर अपनी जीवन लीला का विस्तार किया। भरहुत स्तूप अपनी कला और धार्मिक अर्थ दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

स्तूप का काल—भरहुत स्तूप का निर्माण किस समय हुआ? यह स्वाभाविक प्रश्न है। कनिंघम ने उसे अशोक के समय में रखा था अर्थात् २५०-२०० शती ई० पू० के बीच में। इसका आधार अशोक लिपि और भरहुत के लेखों की लिपि में गहरा सादृश्य था। इस तर्क में सार है। किन्तु ज्ञात होता है कि मूल ईंट-गारे का स्तूप अशोक के समय में बनाया गया था पर पत्थर की वेदिका और तोरणों का निर्माण लगभग ५० वर्ष बाद दूसरी शती के पूर्वार्द्ध में शुंग युग में हुआ। इसका प्रमाण स्तूप के पूर्वी तोरण पर उत्कीर्ण एक लेख है, जिसमें शुंग राजा धनभूति का उल्लेख है। यह अभिलेख इस प्रकार है—

१. सुगनं रजे रात्रो गागीपुतस विसदेवस—
२. पुतेन गोतिपुतस अगरजसपुतेन
३. वाछिपुतेन धनभूतिन कारितं तोरणं।
४. सिलकंमत च उपंन [।]

इसी राजा धनभूति ने मथुरा में भी तोरण युक्त स्तूप और एक रत्नगृह का निर्माण कराया था। धनभूति का समय १८०-१५० ई० पू० के लगभग है।

साँची स्तूप

साँची विदिशा से केवल ५½ मील है। वेत्रवती और विदिशा नामक नदियों के संगम पर दशार्ण देश की प्राचीन राजधानी विदिशा मथुरा से प्रतिष्ठान को जाने वाले महापथ पर प्राचीन व्यापारिक केन्द्र था। आजकल उसे भेलसा कहते हैं और रेल लाइन वहाँ से होकर गई है। वह पूर्वी मालवा का सबसे बड़ा स्थान था अतएव उसे महाचैत्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त समझा गया। विदिशा के पास एक ओर साँची की पहाड़ी पर बौद्ध भिक्षुओं ने अपने विहार और स्तूपों का निर्माण किया तो विदिशा के दूसरी ओर भागवतों ने भगवान् विष्णु के मन्दिर, गरुड़ध्वज और कामदेव के लिए मकरयष्टि या मकरध्वज नामक स्तम्भ स्थापित किए। सौभाग्य से साँची के स्तूप बहुत अच्छी दशा में सुरक्षित रह गए और भारतवर्ष के बौद्ध अवशेषों में उनका मूर्धन्य स्थान कहा जा सकता है। इस पहाड़ी पर अशोक के समय से अर्थात् ई०पू० ३री शती से लेकर ९ वीं शती तक लगभग १२०० वर्षों तक निर्माण कार्य होता रहा। महावंश के अनुसार जब अशोक उज्जयिनी के शासक नियुक्त हुए तो वे कुछ समय के लिए विदिशा में ठहरे थे जहाँ उन्होंने एक धनिक व्यापारी की पुत्री देवी से विवाह

किया। उसी रानी से महेन्द्र और संघमित्रा का जन्म हुआ। साँची के टीले को महा चैत्यगिरि कहा गया है, यह संज्ञा उस पर बने बड़े स्तूप के कारण पड़ी होगी। यह डूँगरी ३०० फु० के लगभग ऊँची और आकृति में कमठपृष्ठ के समान है। साँची में और उसके आस-पास लगभग ६१ स्तूप इस प्रकार हैं—

सोनरी में ८ स्तूप; सतधरा में ५ स्तूप; अंधेर में ३; भोजपुर में ३७; साँची में ८।

साँची में सबसे अधिक महत्त्व के तीन स्तूप हैं, सं० १, २ और ३। इनमें स्तूप संख्या ३ में बुद्ध के सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन नामक दो शिष्यों के अस्थि-अवशेष और फूल सुरक्षित हैं। स्तूप १ और ३ खास टीले पर हैं और स्तूप संख्या २ पहाड़ी के पश्चिम की ओर है। पहाड़ी पर दो वेसर आकृति के चैत्य घर भी थे जिनकी नींव बच गई है। उनमें से एक (संख्या १८) महा स्तूप के दक्षिण की ओर है और दूसरा (संख्या ४०) दक्षिणी भाग में ही कुछ दूरी पर है। गुप्त और मध्यकाल में निर्मित ५ बड़े विहार भी यहाँ थे।

महास्तूप के चारों ओर की चार दिशाओं में चार बड़े तोरण द्वार हैं और दक्षिण तोरण के सामने एक अशोक स्तम्भ है। स्तूप संख्या तीन के साथ केवल एक तोरण द्वार है और स्तूप दो में कोई तोरण नहीं है। अशोक ने साँची में इष्टिका स्तूप का निर्माण कराया था जो शुंग काल में शिला कञ्चुक से आच्छादित कर दिया गया। पाँचों द्वार तोरणों और महावेदिका का निर्माण भी शुंग युग में प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध के लगभग हुआ। दक्षिणी द्वार तोरण की सबसे ऊपर की बँड़ेरी पर स्तूप के सामने की ओर एक लेख उत्कीर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि उसे आन्ध्र वंशी राजा सातकर्णी के आवेशिन या मुख्य स्थपति आनन्द ने दान में दिया था (अभिलेख, सं० ३९८; मार्शल, साँची, १, ३४२)। कुषाण युग में कोई महत्त्वपूर्ण निर्माण कार्य नहीं हुआ। केवल वसिष्क के राज्यकाल में मथुरा के मजीठी पत्थर की एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना की गई। गुप्त युग में साँची का महत्त्व फिर उभर आया। एक लेख में वहाँ के बौद्ध महासंघ के लिए एक गाँव दिए जाने का वर्णन है। इस समय प्राचीन महाचैत्यगिरि का नाम काकनादबोट पड़ा।[1]

१—तिथि क्रम के अनुसार साँची के अवशेषों का वर्गीकरण इस प्रकार सम्भव है—

(१) अशोक कालीन (२७४–२३२ ई० पू०)।

(क) महाचैत्य के भीतर इष्टिका निर्मित स्तूप (स्तूप सं० १;२५० ई० पू०) (१६′×१०′×३′)।

(ख) महा स्तूप की हर्मिका के ऊपर चुनार के बलुआ पत्थर का बना हुआ चमकीला ओपदार छत्र।

(ग) दक्षिणी तोरण के सामने एकाश्मक सिंह स्तम्भ।

(घ) वृत्तायत या द्व्यस्र चैत्यघर (संख्या ४०)। इस आकृति में सामने का मंडप आयताकार और पीछे का गर्भ गृह गोल होता था, जिसके कारण इसे वृत्तायत या द्व्यस्र भी कहते थे। द्व्यस्र से ही कालान्तर में वेसर शब्द बना।

२—शुंगकाल (१८५ शती ई० पू०—७०वीं शती ई० पू०)।

(क) अल्पेशाख्य स्तूप का महेशाख्य रूप में परिवर्तन (सं० १)—जब कि मूल स्तूप का दुगने आकार में विस्तार किया गया।

(ख) शिलाच्छादन या शिला कञ्चुक—विस्तारित महास्तूप या महाचैत्य को पाषाण घटित आवरण से आच्छादित किया गया या उस पर शिला कंचुक चढ़ाया गया।

महास्तूप—अशोक के राज्य काल में जो बड़ा इष्टिका स्तूप बनवाया गया था, उसे सुरक्षित रखते हुए उसके ऊपर पत्थर का कंचुक (शिला आच्छादन) शुंग युग में चढ़ाया गया। स्तूप पर शिला या कंचुक पहनाने का कार्य बहुत ही व्ययसाध्य और महत्त्वपूर्ण था। नये स्तूप का व्यास दुगुना बढ़ाकर १२६ फुट और उसकी ऊँचाई ५४ फुट कर दी गई। स्तूप के पादमूल में पहले अनगढ़ पत्थरों का चोला बनाया गया और फिर उस पर गढ़े हुए पत्थरों की ईंटों का आच्छादन ढका गया (शिलेष्टका)। इनमें किसी तरह की जुड़ाई का मसाला नहीं था। भारतवर्ष में यह चूने के बिना की हुई चुनाई का पहला नमूना है। शिला कंचुक के ऊपर ४ इञ्च मोटी कंक्रीट का खोल चढ़ाया गया। उसके ऊपर गचकारी का लेप और दोगा पन्नी या स्वर्णद्रव चढ़ाकर और रंग-बिरंगी चित्रकारी की गई।

(ग) हर्मिका, पाषाण यष्टि और महाछत्र।

(घ) भूमि तल की महावेदिका।

(ङ) ऊपर की मेधि जो भूमि से १५′ ऊँची और चौड़ाई में ६′ है और जिस पर बिचला प्रदक्षिणा पथ बनाया गया है।

(च) टेकरी के ऊपर पत्थर का फर्श (पाषाणकुट्टिम)।

(छ) स्तूप २—भूमिस्थ वेदिका, प्रथम मेधि, सोपान और उनके वेदिकाकार डंडे, हर्मिका, धातुमंजूषाएँ।

(ज) स्तूप ३—स्तूप का अंड भाग, सोपान के वेदिकाकार डंडे, द्वितीय मेधि, हर्मिका, धातु-गर्भ मंजूषा।

(झ) चैत्यघर १८—भूमितल, प्राचीन बेसर मंडप के अवशेषों पर बना स्तम्भयुक्त मंडप।

३—आंध्रकाल—(२२० ई० पू०—१५० ई०)।

(क) महास्तूप—चार तोरणद्वार (२५ ई० पू०), तथा भूमिगत वेदिका का विस्तार।

(ख) स्तूप ३—भूमिस्थ वेदिका तथा एकमात्र तोरणद्वार।

(ग) चैत्यघर १८—तृतीय तल।

४—गुप्तकाल (४ थी–५वीं शती ई०)।

(क) महास्तूप—प्रदक्षिणापथ के चार मंदिर।

(ख) चैत्यघर १८—द्वितीय तल।

(ग) चैत्यघर ३१—मूर्ति के पद्मासन के नीचे चौकी तथा अधिष्ठान, दो स्तम्भ, नागी प्रतिमा।

(घ) ३६, ४६ तथा ४७ संख्यक विहार।

५—मध्यकाल (७वीं–९वीं शती ई०)।

(क) स्तूप ६ का मुखभाग।

(ख) चैत्यघर १८—शैल स्तम्भ तथा दीवारें। मृन्मय ठिकरे।

(ग) चैत्यघर ३१—पुनर्निमित दीवारें, खम्भे, पद्मासन तथा प्रतिमा।

(घ) भवन ४०—मंडप के पूरब का भाग, मंदिर तथा चबूतरा।

(ङ) चैत्यघर ४५।

(च) ४६, ४७ संख्यक विहार—ऊपरी भागों में विस्तार।

६—उत्तरमध्यकाल (१०वीं–११वीं शती ई०)।

चैत्यघर १८ तथा विहार ४०, ४७ में कुछ सामान्य परिवर्धन। चैत्यघर ४५ में वर्तमान मंदिर, गर्भगृह की मूर्ति तथा अन्य सामान्य परिवर्धन।

साँची का महाचैत्य या महास्तूप त्रिमेधि स्तूप था, अर्थात् उसमें भूमि तल की मेधि, बीच की मेधि या कमरपेटी और हर्मिका की मेधि या पगड़ी ये तीन मेधियाँ थीं। अण्ड अर्ध-चन्द्राकृति या औंधे कटोरे के समान है। उसकी मध्य की मेधि भूमि से १६ फीट ऊँची है, जिस पर बीच का प्रदक्षिणा पथ था। इस पर पहुँचने के लिए दक्षिण की ओर से दोहरा सोपान चढ़ाया गया था। इस दूसरी मेधि की चौड़ाई ५$\frac{3}{4}$ फुट है। इसी पर प्रदक्षिणा पथ था। प्रत्येक सोपान में २५ सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक सीढ़ी १७ इंच चौड़ी और ७ इंच ऊँची है।

भूमि तल पर स्तूप के चारों ओर पत्थर का फर्श है। वही स्तूप की पहली मेधि थी। उसी पर महावेदिका या गोल वेष्टिनी है। वेदिका बड़े प्रमाण की पर सादा है। भरहुत की तरह उस पर कोई अलंकरण नहीं है। वेदिका कुल मिलाकर ११ फुट ऊँची है और देखने में इंगलैण्ड की स्टोन हेंज
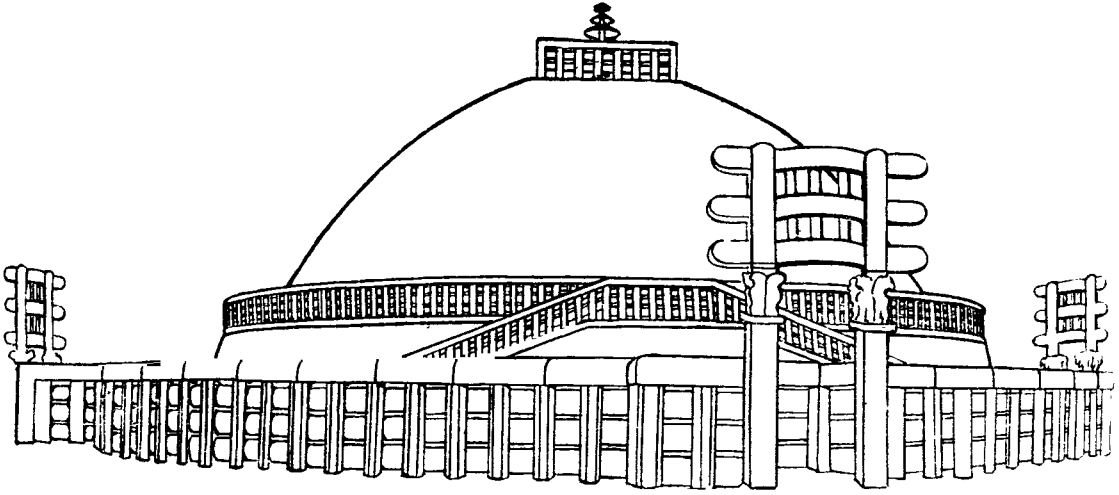
चित्र २१३

की भाँति भव्य है। स्तम्भ, सूची और उष्णीषों पर किसी प्रकार की उकेरी नहीं है। अपने सादा लक्षण में साँची की वेदिका भरहुत से भिन्न है। हरेक स्तम्भ भूमि से ९ फुट ऊँचा है। दो स्तम्भों के बीच में २ फुट की दूरी है और उनके बीच में दो सूचियाँ हैं। प्रत्येक सूची २ फुट की है और उनके बीच में केवल ३$\frac{1}{4}$ इंच की तंग जगह है। स्तम्भों के मस्तक पर गोल मुँडेर वाला बड़ा मण्डलाकार उष्णीष है। उसमें मूलभूत काष्ठ शिल्प की विशेषताएँ हैं; विशेषतः उष्णीषों के आपसी जोड़ और वेदिका स्तम्भों के साथ उन्हें जोड़ने की गाहागूहन या चूल और चोटिया का प्रयोग। तीन सूचियाँ और उनके प्रवेश के लिए शिल्पी द्वारा पार्श्व पुडन्तरों का प्रयोग यज्ञ भूमि की काष्ठ वेदिकाओं से अपनाया गया है (चित्र १६४)।

द्वारतोरण और वेदिका के निर्माण में बहुसंख्यक जनता ने अपने दान की वृष्टि की। इस प्रकार के बहुत से दान-सूचक लेख वेदिका पर खुदे हैं। बूलर ने इस वेदिका के ३७८ लेख तथा स्तूप सं० २ के ७८ लेख प्रकाशित किए थे। उसके बाद एन० जी० मजूमदार ने स्तूप संख्या १, २, ३ के कुल मिलाकर ८२७ लेख प्रकाशित किए। पूर्वी तोरण पर गुप्त संवत् ९३ (४१२-१३ ई०) के एक लेख में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा की विजय की।

द्वारतोरण

महास्तूप के द्वार तोरण की सर्वोपरि विशेषता उसके चार तोरण द्वार हैं। वे नीचे से फुनगी तक उकेरी से सजे हुए हैं। सबसे पहले दक्षिण का द्वार बनाया गया। उसके बाद उत्तर दिशा का द्वार बनाया गया जो सबसे अधिक सुरक्षित है। पूर्वी और पश्चिमी तोरण क्रमशः उसके बाद बने। वे आकार में एक से और ३४ फुट ऊँचे हैं। प्रत्येक द्वार में दो भारी स्तम्भ हैं। उनके ऊपर स्तम्भों पर शीर्षक हैं। शीर्षकों के ऊपर तीन आड़ी धरनों का पंजर है, धरन के दोनों गोल से सिरों पर आवर्त्त या घेर-घिरारों का अलंकरण है। शीर्षकों पर रखे हुए चार चौकोर ठीहे एक धरन को दूसरी धरन से अलग करते हैं। उनके बीच में पत्थर की छोटी बैलियाँ हैं। उनके बीच-बीच में गजारोही या अश्वारोही बबुए हैं जिनका दर्शन आगे-पीछे दोनों ओर से होता है। शीर्षकों पर खड़ी हुई ठिगनी यक्ष मूर्तियाँ और हाथी या सिंहों के अग्रभाग हैं। इन तोरणों पर स्तम्भ और नीचे की धरन के बाहरी कोने में भंगिमा पूर्ण मुद्रा में सघन वृक्षों के नीचे खड़ी हुई तोरण शालभंजिका मूर्तियाँ बहुत ही आकर्षक हैं। अर्वाचीन लेखक उन्हें वृक्षका या यक्षी भी कहते हैं। धरन के दोनों निकलते हुए बेलनाकृति सिरों पर सिंह और हाथियों की मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं। धरन और बौलियों के पंजर की खुली जगहों में अश्वारोही और सपक्ष सिंहों की छोटी मूर्तियाँ हैं, जिनका दुमुही दर्शन आगे-पीछे से होता है। एक उभयतः मुखी यक्षी भी धरन पर उकेरी गई है। सबसे ऊपर की धरन या बड़ेरी पर धर्म चक्र और उसके दोनों ओर चामरग्राही यक्ष और त्रिरत्न चिह्न हैं। द्वारों पर उत्कीर्ण दृश्य भरहुत जैसे हैं। उनमें बौद्ध धर्म और लोकधर्म दोनों के विषय संमिलित हैं। बोधिवृक्ष, स्तूप, बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं के अनेक दृश्य अंकित हैं।

हर्मिका—अशोक के समय में महास्तूप का निर्माण होने के बाद उसके ऊपर की हर्मिका बनाई गई; अर्थात् मंच, वेदिका, छत्र और उसकी यष्टि की रचना हुई। साँची के तीनों स्तूपों में इस प्रकार की हर्मिका है। छत्र-यष्टि की स्थापना एक बड़ी पाषाण मंजूषा के बीच में की गई, जिसके गर्भ में धातुओं का निधान किया गया। धातु गर्भ मंजूषा के पिधान या ढक्कन का व्यास ५ फुट ७ इंच और मोटाई १८ इंच है। मार्शल को वेदिका के सत्तर खण्ड मिले थे, जिनकी सहायता से उसने वेदिका का पुनर्निर्माण कर लिया। उसका नागौर पत्थर कुछ सफेदी लिए हुए भूरे रंग का है और उसकी काट-छाँट और कोर-किनारों का निकास बहुत सच्चे ढंग से किया गया। हर्मिका की वेदिका चौकोर थी। उसकी नाप या प्रत्येक भुजा २१ फुट ६ इंच और कोण रेखा ३० फुट १ इंच है। इसमें ऊर्ध्व स्तम्भ, सूची और उष्णीप अन्य वेदिकाओं के समान हैं। प्रत्येक स्तम्भ ९ फुट ११ इंच है जिसका २ फुट ६ इंच का निचला भाग स्तूप की चिनाई में दबा है। स्तूप के सपाट मत्थे का व्यास ३८ फुट है। इस पर वेदिका बनाई गई है।

छत्र—हर्मिका के ऊपर एक छत्र था, जिसके कई टुकड़े मलवे में पाये गये। उसके छत्रों के निचले भाग में बहुत बारीक काम की पोरियाँ दिखाई गई हैं। मौर्यकाल में शिल्प कर्म की जितनी सावधानी और निपुणता अन्य कहीं भी प्राप्त है वह इस छत्र की रचना में दर्शनीय है। मार्शल के अनुसार किसी भी देश के शिल्प कर्म में इससे बढ़कर उत्तम काम नहीं पाया गया।

शिल्प

इसके दो वर्ग हैं। पहले वर्ग में वे दृश्य हैं, जिनका संपुंजन जानीबूझी योजना के अनुसार किया गया है। दूसरे में अलंकरण एवं प्रतीकात्मक चिह्न हैं, जिन्हें बहुत बार दुहराया गया।
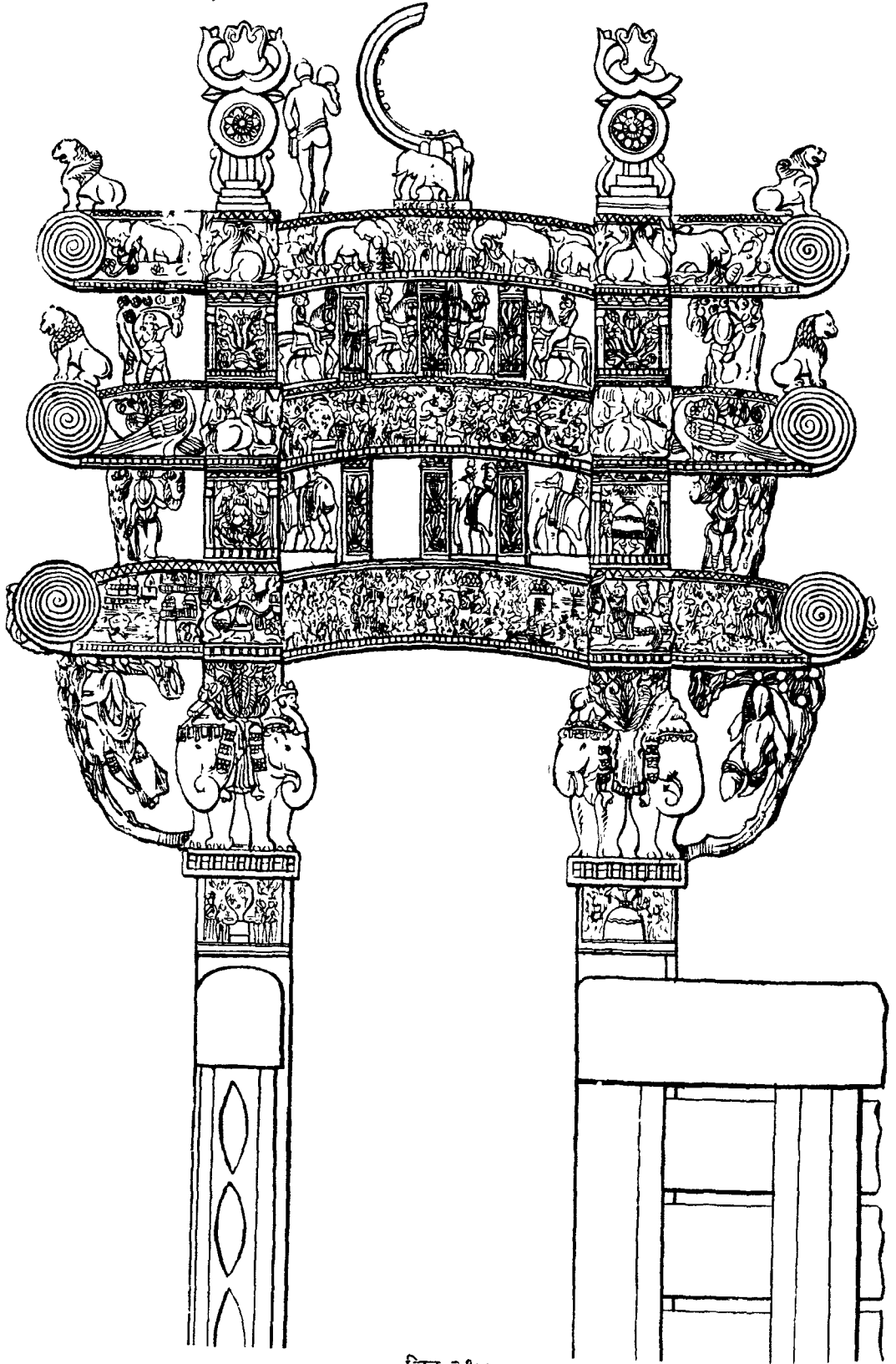
चित्र २१४

दूसरी प्रकार के रूप चार तरह के हैं—(१) बुद्ध के जीवन की चार घटनाएँ, (२) यक्ष मूर्तियाँ, (३) पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ, (४) फूल-पत्तियाँ।
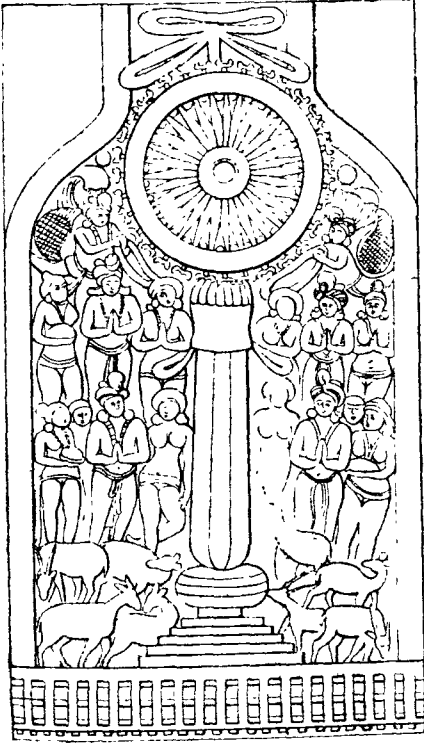
चित्र २१५
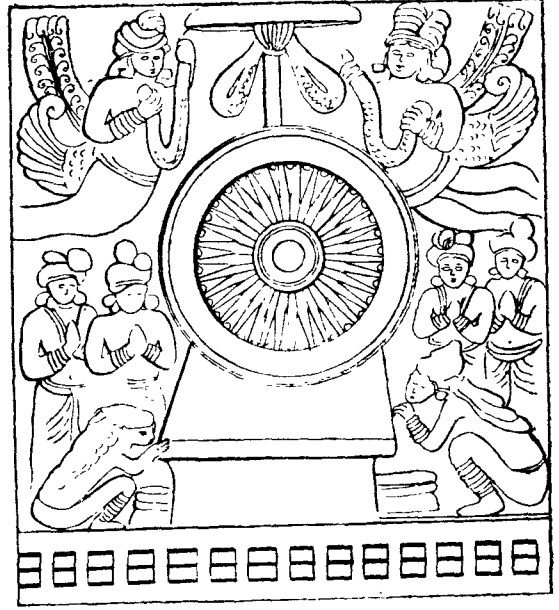
चित्र २१६
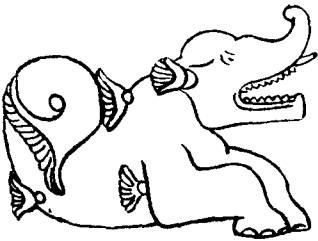
चित्र २१७

चित्र २१८

बुद्ध के जीवन दृश्यों में उनका जन्म (जाति), सम्बोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन और महानिर्वाण हैं। बुद्ध जन्म का अंकन कमल या पूर्णघट से जन्म लेते हुए पद्मों के रूप में किया गया है। कुछ दृश्यों में माया देवी पूर्ण विकसित कमल के ऊपर दिखाई गई हैं। कुछ में आसन्न-प्रसव के लिए खड़ी हुई माया देवी का अंकन है। फूशे ने दो नागों से अभिषिक्त श्री लक्ष्मी की पहचान माया देवी से की है जिसे हम गज
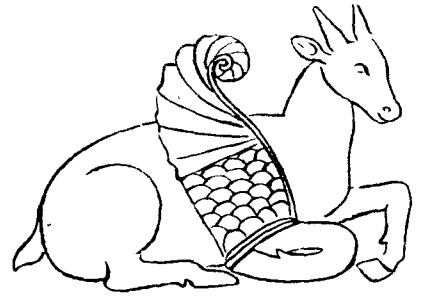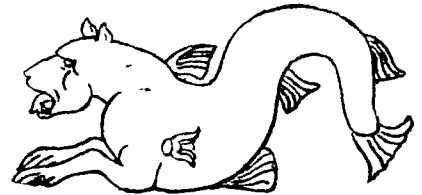
चित्र २१९

लक्ष्मी कहते हैं। उनके हिसाब से शिल्पियों की योजना के अनुसार वह माया देवी के स्थान पर आती है, इसीलिए उनका आग्रह इस के चित्रण के लिए था। सम्बोधि का चित्र पीपल के नीचे आसन या केवल अश्वत्थ से किया गया है। सम्बोधि के कुछ दृश्यों में उपासक पूजा के उपहार चढ़ा रहे हैं अथवा कुछ विशेष दृश्यों में मारधर्षण का भी अंकन है। वाराणसी के मृगदाँव में धर्मचक्र प्रवर्तन चक्र के रूप में अंकित किया गया है; कभी चक्र को आसन पर और कभी स्तम्भ के ऊपर दिखाया गया है। मृगदाँव में दो हिरन अंकित किये जाते हैं। महा परिनिर्वाण का चिह्न स्तूप है, जिसकी पूजा कुछ लोग कर रहे हैं। सात मानुषी बुद्धों के स्तूपों और बोधिवृक्षों का अंकन साँची में भी भरहुत के समान किया गया है।

भरहुत स्तूप के चार द्वारों पर चतुर्महाराजिक देवों की क्रमिक मूर्तियाँ मिली हैं। वे चार दिशाओं के लोक पाल थे, और भरहुत के समान साँची में भी उनकी ऊर्ध्व निर्गत या उभरी उकेरी की मूर्तियाँ मिली हैं। बड़ेरियों के बीच की छोटी बौलियों पर बौनी यक्ष मूर्तियाँ हैं।

पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ संघाट या जोड़ों के रूप में है। पशुओं की आकृतियाँ उन ठीहों पर भी हैं जो बड़ेरियों को एक दूसरे से अलग करते हैं। ये पशु वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार के हैं। पशुओं की पीठ पर कभी आरोहक हैं कभी नहीं हैं। पशुओं में अज, वृषभ, ऊँट, गज, सिंह और सिंह व्याल हैं। पूर्वी द्वार पर (सबसे नीचे की बड़ेरी, पृष्ठ भाग, उत्तरी ओर) जो आरोहक हैं वे उदीच्य वेश में हैं। अतः उन्हें किसी ठण्डे देश से आए हुए शक, तुषार आदि जातियों के लोग होना चाहिए। सपक्ष सिंह, सिंह-व्याल आदि जो अभिप्राय यहाँ हैं वे जम्बूद्वीप की व्यापक कला के अंग थे। फूल-पत्तियों के अलंकरण में साँची के शिल्पियों ने बढ़े-चढ़े कौशल का परिचय दिया है। मार्शल के मत में वल्लरी प्रधान अभिप्राय सदा ही भारतीय शिल्पियों ने बड़ी सावधानी और निपुणता से बनाए हैं। किन्तु साँची के शिल्पी इन सबमें सिरमौर हैं। केवल दक्षिणी द्वार पर मुचकुन्द का रूप और पश्चिम द्वार पर अंगूरीलता का अंकन उतना अच्छा नहीं। वृक्ष-वनस्पति के सब अलंकरण भारतीय हैं और उन्हें हूबहू प्राकृतिक जगत् से लिया गया है। इसी के कारण उनकी ऐसी शोभा है, जैसी ईरानी या असीरिया की कला में कभी नहीं पाई जाती। फूल-पत्तियों के अलंकरण में सबसे प्रधान कमल है, जो व्यष्टि मानव और समष्टि विश्व के उद्भव का प्रतीक है। द्वार-स्तम्भों के बाहरी ओर कमल के फुल्ले या पुष्कर बहुत ही सुन्दर बने हैं। कमलों का अंकन उठती हुई लतर या कल्पलता के रूप में हुआ है, जैसा भरहुत में है। कहीं कमल के फुल्लों को कई बार दुहराकर श्री वृक्ष के रूप में कल्पित किया गया है। इन्हें सिंह व्याल और सिंहों की आकृति से जिनकी पीठ पर आरोहक हैं, युक्त कर और भी सुशोभन भव्य बनाया गया है। इस प्रकार के श्री वृक्ष से संबन्धित द्राक्षालता या अंगूर की बेल और शृंगवान् सिंह पश्चिमी एशिया या जम्बूद्वीप की कलाकृतियों की ओर संकेत करते हैं। भारतीय श्री वृक्ष के साथ उनका मेल बैठाया गया। बुद्ध पादुका और त्रिरत्न ये तो भारतीय थे ही जिन्हें स्तम्भों पर स्थान मिला।

दक्षिणी द्वार

महास्तूप की रचना में पहला स्थान दक्षिणी द्वार का था। १८८२ में इसका पुनरुद्धार किया गया। इसमें तीन बँडेरियाँ हैं। सबसे ऊपर की धरन के अग्रभाग पर मध्य में कमल वन में खड़ी हुई देवी श्रीलक्ष्मी की मूर्ति है। दो हाथी उसका घटाभिषेक करा रहे हैं। उनसे दृश्य की शोभा अधिक हो गई है। फूशे ने उसे माया देवी माना है, किन्तु उसका श्रीलक्ष्मी या सिरिमाँ होना अधिक संभव

है। बीच की बड़ेरी के अग्रभाग पर रामग्राम का स्तूप है जिसके दर्शन के लिए राजा अशोक रथपर चढ़कर आ रहे हैं और उनके पीछे गजारोही और पदाति हैं। कहा जाता है कि नागदेवता स्तूप के रक्षक थे। स्तूप के दोनों ओर माला लिए हुए किन्नर हैं। स्तूप की बाईं ओर पुरुष-विग्रह में नागनागी मूर्तियाँ हैं, जो स्तूप की पूजा कर रही हैं अथवा जल में से निकलती हुई (उदक निःसृत मुद्रा में) दिखाई गई हैं। इसी बड़ेरी के बायें सिरे पर एक हाथी कमल वन में कुछ हथिनियों के साथ क्रीड़ा कर रहा है। पृष्ठ भूमि में भवन से बाहर की ओर झाँकती हुई कुछ स्त्रियाँ हैं। इस दृश्य की पहिचान अनिश्चित है। नीचे की धरन पर बौने और लम्बोदर कुम्भाण्ड बैठे हैं जो हाथों में मोतियों की माला लिए हैं और उनके मुख से कमल की लतर निकलती दिखाई गई है। भारतीय कला का यह लोकप्रिय अभिप्राय था। कुम्भाण्डों के अधिपति विरूढ़क थे, जो चार महाराजिक देवों में दक्षिण दिशा के स्वामी माने जाते थे। अतः दक्षिण द्वार पर कुम्भाण्डों का अंकन संगत है। बड़ेरी के बाहरी छोरों के दोनों ओर चक्रव्यूह का अलंकरण है, जिसमें ७ आवर्त या घिरारे हैं। बाँई ओर की धरन को अलग करने वाले ठीहों पर बोधिवृक्ष और स्तूप का अंकन है और दाहिनी ओर बोधिवृक्ष और श्रीलक्ष्मी का अंकन है। बड़ेरियों के उपशीर्षकों पर दाहिनी और बाईं ओर आरोहक समेत पशु अंकित हैं, जैसे हयसंघाट, मृगसंघाट, गजसंघाट। इस प्रकार के अलंकरण पश्चिमी भारत के चैत्यघरों, भरहुत और मथुरा में मिलते हैं और जैन सूत्रों में भी उनका वर्णन है।

पृष्ठ भाग—पहली बड़ेरी—मध्य भाग में ४ वृक्षों से अन्तरित तीन स्तूप हैं। उनके नीचे देव और मनुष्यों से पूजित चार बोधिमण्ड हैं। इन सातों के द्वारा सप्तमानुषी बुद्धों का प्रतीकात्मक चित्रण है। तीन के चिह्न स्तूप और चार के बोधिवृक्ष हैं। शिरीष वृक्ष क्रकुच्छन्द, उदुम्बर कनकमुनि, न्यग्रोध काश्यप और पिप्पल शाक्यमुनि का बोधिवृक्ष था।

बीच में अंकित स्तूप के अण्ड भाग पर एक लेख है जिसमें शातकर्णी के स्थपति आनन्द का नाम है।

बीच की बड़ेरी—छद्दन्त जातक की कथा जिसमें बोधिसत्त्व ने गजयूथ के (स्वामी) नेता के रूप में जन्म लिया। वे पद्मवन में विहार करते हुए बीच के न्यग्रोध वृक्ष की ओर आ रहे हैं। सोणुत्तर नामक लुब्धक चट्टान के पीछे छिपा हुआ अपने धनुष बाण का संधान कर रहा है।

निचली बड़ेरी—इसमें धातु-युद्ध का अंकन है, जिसमें कुशीनारा के मल्लों के विरुद्ध और सात राजाओं ने भाग लिया। मध्य में कुशीनगर का घेरा दिखाया गया है। दाहिनी और बाईं ओर विजयी राजा रथों में और हाथियों पर बैठकर जा रहे हैं। युद्ध के बाद बुद्ध की धातुओं पर राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेट्ठदीप, पावा पुरी और कुशीनारा में स्तूप बनाए गये।

तीनों बड़ेरियों के सिरों पर चक्रव्यूह का अलंकरण है। धरन के पार्श्वाकृति ठीहों पर पूर्ण कुम्भ, बोधिवृक्ष, बुद्धत्रयपूजा और उपशीर्षकों का अलंकरण है। द्वार में दो ऊँचे चौकोर स्तम्भ हैं। उनपर भी सामने, बगल और पृष्ठ भाग में प्रभूत शिल्पांकन है। दक्षिण द्वार के बायें खम्भों के मुख भाग पर तीन दृश्य हैं। पहले में धर्मचक्र पूजा है जिसमें चक्र पीठों के आसन पर रक्खा है। चक्र में ३२ अरे हैं। उसके नेमि भाग पर ३२ त्रिरत्न हैं। धर्मचक्र के ऊपर छत्र, और माल्यदाम हैं। अठपहल छत्र यष्टि की पेंदी पूर्णघट के भीतर निविष्ट है। दोनों ओर अंकित अनेक उपासक और मृगों के कारण यह धर्मचक्र का बहुत ही प्रभावशाली उदाहरण हैं।

स्तम्भ का अग्रभाग दूसरी बगड़ी—रथ में सम्राट् अशोक अपने पार्श्वचरों के साथ। स्तम्भ का भीतरी या बल्ली का भाग—उपरला और बीच का दृश्य—राजा अशोक अपनी दो पत्नियों के साथ बोधगया में बोधिवृक्ष प्राकार के समीप। अश्वत्थवृक्ष के चारों ओर अशोक ने इस बोधिघर का निर्माण कराया था। मुर्झाये हुए बोधि को देखकर अशोक बेसुध हो गए। स्तम्भ का पृष्ठभाग-नीचे का दृश्य—बुद्ध का चूडामह, अर्थात् केश और उष्णीष की पूजा जो भरहुत में भी है। त्रयस्त्रिंश-देव बुद्ध के केशों का पूजन कर रहे हैं। इसी स्तम्भ के मुख भाग पर इसी के मेल का जो दृश्य है उसमें देवता गजारोही, अश्वारोही और पदाति रूप में बुद्ध की चूड़ा-पूजा के लिए संभ्रम के साथ जा रहे हैं। हाथी पर शची के साथ इन्द्र है।

स्तम्भ के पश्चिमी पृष्ठ पर कमल की लतर या कल्पलता के मोड़ में तीन दृश्य हैं जिनका अर्थ अभी तक अज्ञात रहा है। कल्पवृक्षों की शाखाओं से वस्त्र और आभूषण एवं तीन मिथुन जन्म लेते हुए दिखाए गए हैं। इस प्रकार के मिथुन प्राचीन कला में विशेषतः भाजा में अंकित है जहाँ तथा-कथित इन्द्र के दृश्य में सम्राट् मान्धाता उत्तरकुरु देश की विजययात्रा पर गए हैं। साँची में लतर के निचले भाग में मिथुन या स्त्री-पुरुष वन में बैठे हैं। इनके चारों ओर पुष्प, फल, और सिंह चित्रित हैं। स्त्री के पैरों के पास दो नूपुर रक्खे हैं। वह अपने हाथों में मांगलिक चिह्नों से बना हुआ कठुला लिए है। ऐसा हार अशुभ-निवारण का सूचक था और विशेषतः उत्तरकुरु का प्रतीक समझा जाता था। यह द्रष्टव्य है कि इससे ऊपर के दृश्य में स्त्री इस प्रकार की मंगलक माला पहने हुए है। उत्तरी तोरण के पूर्वी स्तम्भ पर ऐसी दो मंगलक मालाओं का हृदयग्राही चित्रण है। नीचे के दृश्य में मिथुन मूर्ति वीणा बजा रही है जैसा भाजा के दृश्य में भी है, जहाँ कल्पवृक्ष के नीचे स्थित मिथुन नृत्य देखने का आनन्द ले रहे हैं। इस दृश्य को लेकर शुंग कला में मिट्टी के टिकरे भी ढाले गए। उस समय इनका उत्तरकुरु-संबन्धी प्रतीकात्मक अर्थ लोक में भली प्रकार समझा जाता था। ऐसे टिकरे मथुरा, राजघाट, और पटना से मिले हैं।

दक्षिणी द्वार का दाहिना स्तम्भ—ऊपरी पट के दृश्य में बोधिवृक्ष और नागराज मुचलिन्द का चार नागियों के साथ अंकन है जिनके मस्तक पर एक फण है। बीच के कवाट में चार लोकपाल चार अनुचरों के साथ हैं जो बुद्ध को चार भिक्षापात्र अर्पित कर रहे हैं। नीचे के दृश्य में प्रपुश और भल्लिक रथ में बैठे हुए उरुविल्व ग्राम की ओर आ रहे हैं।

भीतरी बगड़ी—ऊपर की कवाट में बुद्ध का बोधिवृक्ष है जिसके सामने एक स्त्री दंडवत् अभिवादन कर रही है। बीच के दृश्य में लेशिक नाम का घसियारा हाथ में हँसिया लिए हुए दिखाया गया है जिसने बोधिमंड पर बिछाने के लिए एक गट्ठर घास प्रदान की थी। चौथे दृश्य में बोधिमंड और उपासक दिखाए हैं जो हाथ में पानी की झारी लिए हैं। नीचे के कवाट में बुद्ध का चंक्रम है।

दक्षिण द्वार के स्तम्भों पर सिंह संघाट के शीर्षक हैं जिनमें पीठ सटाकर दो सिंह सामने और दो पीछे की ओर बैठे हुए हैं; जैसे उत्तरी और पूर्वी द्वार पर गजसंघाट और पश्चिमी द्वार पर कीचक मूर्तियाँ हैं।

उत्तरी दिशा का द्वार तोरण

यह सबसे सुरक्षित दशा में है जिसकी अधिकांश मूर्तियाँ और अलंकरण अच्छी दशा में हैं। सबसे ऊपर की बड़ेरी पर सात मूर्तियाँ थीं—बीच में धर्मचक्र, उसके दोनों ओर एक-एक अनुचर यक्ष, त्रिरत्न और सपक्ष सिंह थे। स्तम्भों के किनारों पर बारीक द्राक्षालता की उकेरी है।

ऊपर की बँड़ेरी के मुख भाग पर और अन्तरित बोधिवृक्षों के प्रतीक द्वारा सात मानुषी बुद्धों का अंकन है जैसा और तीन द्वारों पर भी पाया गया है। बीच की धरन पर सात बोधिवृक्ष दुहराये गए हैं जो सात मानुषी बुद्धों के चिह्न थे।

ऊपर की ओर बीच की बड़ेरियों के मध्य में तीन छोटी थम्हिया और चार अश्वारोही मूर्तियाँ हैं जिनका दर्शन उभयतःमुखी है। अश्वारोहियों की छाती पर श्रीवत्स चिह्न है। यह मांगलिक चिह्न इस तोरण पर उत्कीर्ण मंगलक-मालाओं में भी दिखाया गया है। बीच की थुम्बी पर वेष्टनी के भीतर चक्रध्वज है। वेदिका के कोनों में दो चक्र अंकित हैं।

सबसे निचली बँड़ेरी—इस धरन पर साँची की कला का सर्वोत्तम शिल्पांकन उत्कीर्ण है। इसमें वेस्सन्तर जातक का दृश्य है जिसमें बुद्ध ने राजकुमार वेस्सन्तर के रूप में जन्म लेकर दान पारमिता का परिचय दिया था। यहाँ कथा का चित्रण पूरे विवरण के साथ बँड़ेरी के मुख भाग और पृष्ठ भाग पर किया गया है। इसमें वेस्सन्तर द्वारा अपने राजकीय हस्ती का दान, उसका निष्कासन और अपने माता-पिता से विदा लेने का दृश्य है। रथ में बैठकर नगर से बाहर जाना और घोड़ों के दान देने का अंकन है। उकेरी की दृष्टि से यह साँची शिल्प की सर्वोत्तम कृति है जिसमें नगर के वास्तु-विन्यास, वेशभूषा, आभूषण और अश्वयोजित रथ का बहुत ही स्पष्ट प्रदर्शन है। इस बँड़ेरी की पेंदी में सुन्दर कमल के फुल्लों की पंक्ति है। उसके बीच में पद्म और नीलोत्पल की गोट है। तीनों बँड़ेरियों के चौकोर किनारों पर गजलक्ष्मी का अंकन है जिनमें देवी पद्मासन पर विराजमान है और हाथी सनाल कमल के ऊपर खड़े हैं। देवी का यह रूप मथुरा कला की कितनी ही मूरतों में पाया गया है। तीनों बँड़ेरियों की सब गजलक्ष्मियों के पार्श्व भाग में आम्र या अशोक शाखाओं का अवलम्बन किए हुए वृक्षका-स्त्रियाँ हैं जिनकी अनुकृति पर उत्तरकालीन कला में बहुत सी शालभंजिका मूर्तियाँ बनाई गईं। किन्तु सबसे अधिक सूक्ष्म और सुन्दर उकेरी उन तोरण शालभंजिकाओं के रूप में है जो स्तम्भ और बँड़ेरी के बाहरी कोनों में लगी हुई हैं। पूर्वी द्वार पर भी वे इसी मुद्रा में हैं।

ऊपरी और बीच की बँड़ेरी के पृष्ठ भाग में छद्दन्त जातक के दृश्य हैं। यूथपति हस्ती बोधिवृक्ष की पूजा कर रहा है। बीच की धरन पर "मार-धर्षण" का अंकन है। नीचे की धरन पर मुख भाग की भाँति वेस्सन्तर जातक की उकेरी है जिसमें पर्णशाला में राजकुमार की दिनचर्या, अपने पुत्र-पुत्री का दान, अपनी पत्नी का दान और अन्त में सबके पुनर्मिलन का दृश्य है।

बाँया स्तम्भ—इसके मुख भाग पर श्रावस्ती के आम्रवृक्ष के नीचे बुद्ध के महाप्रातिहार्य या चमत्कार का दृश्य है। उस समय वे अधर में चले थे और उनके सिर से जल की धाराएँ और पैरों से अग्नि की ज्वालाएँ निकलने लगी थीं।

दूसरे कवाट में जेतवन में बुद्ध की तीन गन्धकुटियाँ, अर्थात् गन्धकुटी, कोसम्बकुटी और करोरिकुटी हैं और उनके आसन के सामने आहत मुद्राओं के बिछाने का दृश्य है, जैसा भरहुत में भी पाया गया है। श्रेष्ठी अनाथ-पिण्डद ने राजकुमार जेत से जेतवन का क्रय करके उसे बुद्ध को दान में दिया था। ये आहत मुद्राएँ शुंग काल तक प्रचलित थीं यह अंकन इस बात का प्रमाण है।

तीसरे कवाट में बुद्ध अपने चंक्रम स्थान के ऊपर वैहायस गति से अधर में चल रहे हैं और नीचे भूमि पर प्रसेनजित और उनके पार्षद खड़े हैं। चौथे दृश्य में राजा प्रसेनजित बुद्ध से मिलने के लिए श्रावस्ती के नगर द्वार से जेतवन की ओर जा रहे हैं। दृश्य पाँच में उत्तरकुरु का ही लघुचित्र है

जिसमें ऊपर मिथुनों की पानगोष्ठी, वीणावादन और नीचे गजारूढ़ मान्धाता का अंकन है। इसे अभी तक भूल से इन्द्रसभा समझा जाता रहा है।

स्तम्भ का भीतरी पक्ष—इन्द्रशैल गुफा में बैठे हुए बुद्ध के दर्शन के लिए इन्द्र का आगमन—ऊपरी भाग में कृत्रिम पर्वत गुफा का मुहार उसी प्रकार का है जैसा पश्चिमी भारत के चैत्य घरों के मुखपट्ट पर पाया जाता है। द्वार के संमुख बुद्ध की उपस्थिति का सूचक आसन है। चट्टान में छिपे हुए पशु, जिनमें पुरुष मस्तक वाले मेढे भी हैं, वन के सूचक हैं। नीचे इन्द्र अपने साथियों को लेकर पूजा कर रहा है। इन्द्र का अंकन दो बार किया गया है, एक बार मुख्य पात्र के रूप में और दूसरी बार पीठ घुमाए हुए।

दूसरे दृश्य में एक राजा अपने सदस्यों के साथ नगर से बाहर आता हुआ दिखाई देता है। संभवतः अजातशत्रु जीवक के साथ आम्रवन देखने आ रहा है। कवाट तीन में राजगृह के वेणुवन में बुद्ध का आसन दिखाया गया है जिसके दोनों ओर उपासक खड़े हैं। स्तम्भ के पृष्ठ भाग पर स्तूप द्वारा बुद्ध परिनिर्वाण का दृश्य अंकित है।

स्तम्भ का बाहरी भाग—साँची शिल्प कला में सबसे अधिक रोचक दृश्य यहाँ दिखाया गया है। इसमें एक सुवर्ण यष्टि अंकित है। उसमें नागदंत या खूँटियों के ८ जोड़े हैं जिन पर सोने की मालाएँ लटकाई जाती थीं जिससे उस यष्टि की हेममालिनी संज्ञा भी थी। राजाओं के रत्नभण्डार में और धनाढ्य पुरुषों के यहाँ भी इस प्रकार की हेममालाओं से युक्त यष्टियाँ रक्खी जाती थीं। इन्हें देवी श्री लक्ष्मी का प्रत्यक्ष रूप माना जाता था। श्रीसूक्त में इस विशेषण का प्रयोग हुआ है जहाँ देवी का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीं। सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीम्। (श्री सूक्त १४)

अर्थात् सोने की देवी श्रीलक्ष्मी का रूप उस सुवर्ण यष्टि पर था जिस पर सोने की मालाएँ लटकाई जाती थीं और जो सूर्य के समान भास्वर थी। ज्ञात होता है कि इसी सुन्दर अभिप्राय का संबन्ध उत्तरकुरु देश से हो गया जहाँ अक्षय्य निधियों का भण्डार था जैसा इस प्रकार की सुवर्ण यष्टि से सूचित होता। उत्तरकुरु प्रदेश में आरक्षार्थ मङ्गलक माला को विशेष रूप से स्थान दिया गया। इस प्रकार की मङ्गलक मालाएँ और भी पूर्वयुगों में लोकप्रिय रही होंगीं। दक्षिण द्वार पर भी स्त्रियों के कण्ठ में इस प्रकार की मङ्गलक माला दिखाई गई है और मिथुन भी उसे हाथ में लिए हैं। यहाँ इस प्रकार की दो मालाएँ हैं। बाँयी माला में ११ और दाहिनी में १३ मांगलिक चिह्न हैं जो इस प्रकार हैं—

बायाँ कठला—१. सूर्य, २. चक्र, ३. पद्मसर, ४. अंकुश, ५. वैजयन्ती, ६. पंकज, ७. मीन-युगल, ८. श्रीवत्स, ९. परशु, १०. दर्पण, ११. कमल।

दाहिना कठला—१. कमल, २. अंकुश, ३. कल्पवृक्ष, ४. दर्पण, ५. श्रीवत्स, ६. वैजयन्ती ७. पंकज, ८. मीनयुगल, ९. परशु, १०. पुष्पस्रज्, ११-१३. चक्र और दो अन्य चिह्न।

इस प्रकार की दिव्य और मांगलिक हेममालाओं का धारण करना श्री लक्ष्मी की पूजा का अंग ज्ञात होता है जो पुण्य लक्ष्मी के आवाहन और पापी लक्ष्मी के निवारण करने में सहायक था। कालान्तर में मांगलिक चिह्नों की संख्या आठ हुई और ऐसे हार को अष्टमंगलक माला, जिसके आठ

चिह्न ये थे—मीन-मिथुन, देवविमान गृह, श्रीवत्स, वर्द्धमान (या शराव संपुट), त्रिरत्न, पुष्पदाम, इन्द्रयष्टि, या वैजयन्ती और पूर्णघट, कहने लगे। कुषाण काल में जैन आयाग पट्टों पर अष्टमंगलक माला का चित्रण किया गया है। सार्थवाह और समुद्रीयात्री आत्मरक्षा के लिए इन्हें धारण करते थे। ज्ञात होता है बुद्ध के साथ भी इन यष्टियों का संबन्ध जुड़ गया जिनके कारण इन्हें 'भगवतो पमाण लट्ठि' यह संज्ञा दी गई (मार्शल, साँची, भाग २, फलक २७)। इनमें से एक मंगल चिह्न भी अपने प्रभाव से कष्ट का निवारण कर सकता था। इनके कुछ नमूने स्तूपों के गर्भ में सुरक्षित मंजूषाओं में मिले हैं। राजा लोग अपने नित्य के आह्निक में सोने के स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त आदि मांगलिक चिह्नों का दर्शन करते थे—

स्वस्तिकान् वर्धमानांश्च नन्द्यावर्तांश्च काञ्चनान्, द्रोणपर्व, ५८।१९। बाण ने भारतीय समुद्र के अष्टादश द्वीपों को अष्टमंगलक माला संज्ञा दी है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह नाम रूढ़ हो गया था (अष्टादश द्वीपाष्टमंगलकमालिनी मेदिनी, हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ० १८५)।

मांगलिक चिह्नों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए साँची के इस अंकन का सविशेष अभिप्राय और उद्देश्य सामने आता है। इसे लेख में 'भगवतो पमाण लट्ठि' कहा गया है, जिसका शब्दार्थ है भगवान् बुद्ध का लट्ठि या खम्भे के रूप में प्रमाण या मूर्त शरीर। इसमें अशोक के सारनाथ के स्तम्भ शीर्षक की कल्पना के बाद बुद्ध की मूर्ति का प्रतीकात्मक अंकन था। किसी प्रतिभाशाली शिल्पी ने यष्टि रूप में बुद्ध की नयी कल्पना की। इस प्रमाण लट्ठि में कई अभिप्रायों का मिश्रण है, एक सुवर्णयष्टि, दूसरे खूँटियों पर टँगी हुई हेममालाएँ, तीसरे दो मांगलिक मालाएँ, चौथे श्रीवृक्ष, पाँचवे नीचे की ओर बुद्ध की पादुका और छठे ऊपर की ओर चक्र और त्रिरत्न के चिह्न—इस प्रकार श्री लक्ष्मी, श्रीवृक्ष और पादुका, धर्मचक्र एवं त्रिरत्न के अभिप्रायों को एक साथ मिला कर शिल्पी ने बुद्ध के शरीर को मूर्त रूप देने का विचित्र प्रयास किया और उसमें उसे अद्भुत सफलता मिली। इसमें एक ओर बौद्ध धर्म के प्रतीक और दूसरी ओर लोक धर्म में व्याप्त श्री लक्ष्मी के प्रतीक हैं जिनका अंकन साँची में बार-बार हुआ और जिसे बुद्ध के जन्म का प्रतीक माना गया जैसा फूशे का मत है। श्रीवृक्ष की कल्पना किसी एक अलंकरण या अभिप्राय को बार-बार दुहराने से की जाती थी जो यहाँ प्रत्यक्ष है। भगवतो प्रमाणलट्ठि अत्यन्त सार्थक सूत्र के रूप में इस यष्टि की व्याख्या करता है। पैरों से सिर तक बुद्ध का जो प्रमाण या माप थी उसकी व्यंजना चित्र में अंकित है। नीचे की पादुका भूमि और ऊपर का धर्म चक्रांकित त्रिरत्न द्युलोक या मस्तिष्क का प्रतीक है। भूमि और द्युलोक के बीच में बुद्ध का प्रांशु प्रमाण ही वह यष्टि है जिसे यहाँ चित्रित किया गया है। इस शरीर यष्टि के महान् उदय को वैदिक भाषा में 'वर्ष्मन्' भी कहा जाता था। इसमें शारीरिक और मानसिक सभी शक्तियों का अन्तर्भाव समझना चाहिए। बुद्ध के प्रमाण की इस यष्टि या लाट का संबन्ध श्रीवृक्ष एवं देवी श्रीलक्ष्मी की मंगलक माला और उत्तरकुरु की हेममालाओं से कल्पित करके कलाकार ने प्रमाण यष्टि के लौकिक स्वरूप का भी अंकन किया है। इस प्रकार जो हमारे सामने मौर्यकला में अशोक चक्र स्तम्भ है जिसमें चार सिंहों के आसन पर महाधर्म चक्र रूपी बुद्ध का प्रतीत है, वही दूसरी ओर शुंग कला में और भी अधिक सूक्ष्म व्यंजना वाले प्रतीकों से निर्मित यह भगवान् की प्रतिमा यष्टि है। अशोक की चक्र यष्टि राजकीय या संभ्रान्त कला का फल है और साँची की प्रमाण यष्टि लोक कला की व्यंजनात्मक कृति है।

उत्तरी द्वार का दाहिना स्तम्भ—अग्रभाग पर त्रयस्त्रिंश देवों के स्वर्ग से बुद्ध का अवतरण दिखाया गया है, बीच में इन्द्र और ब्रह्मा के साथ सीढ़ी है। दूसरे दृश्य में बुद्ध का अभिनिष्क्रमण है। तीसरे दृश्य में शाक्यों का धर्म परिवर्तन और कपिलवस्तु में किये हुए प्रातिहार्य का अंकन है।

भीतरी पक्ष के दृश्य—ऊपरी दृश्य में मल्लों द्वारा बुद्ध की धातुओं पर स्तूप का निर्माण अंकित है। दूसरे दृश्य में बन्दर बुद्ध को मधुपात्र दे रहे हैं।

पृष्ठ भाग में तीसरा दृश्य—बोधिवृक्ष, बुद्धासन और उपासक चित्रित हैं। त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अवतरण एवं मधुपात्र प्रदान आदि बुद्ध की जीवन घटनाओं को कालान्तर में मथुरा और गन्धार शिल्प में भी अपनाया गया।

पूर्वी दिशा का द्वार तोरण

उत्तरी तोरण की भाँति पूर्वी तोरण भी अपने मूल स्थान पर है, यद्यपि बहुत कुछ खण्डित हो गया है। स्तम्भ शीर्षकों और उपशीर्षकों के अलंकरण भी प्रायः वही हैं किन्तु यहाँ उनके अंकन में अधिक तरलता और स्वच्छन्दता बढ़ती गई है और उकेरी भी औरों से अच्छी है।

ऊपर की बँड़ेरी, मुख्य भाग—स्तूप और बोधिवृक्षों से सूचित सात मानुषी बुद्ध, जैसे अन्य द्वारों पर हैं।

बीच की बँड़ेरी—कपिलवस्तु से बुद्ध का अभिनिष्क्रमण; नगर के चित्रण में परिखा, प्राकार और द्वार दिखाये गये हैं। राजकुमार के बहिर्गमन को सूचित करने के लिए दृश्य को चार बार उत्कीर्ण किया गया है।

तीसरी बँड़ेरी के अग्रभाग में राजा अशोक का बोधिवृक्ष के समीप आगमन अंकित है। बीच में बोधगया का बोधिघर है, जिसमें बोधिवृक्ष की शाखा प्रशाखाएँ दिखाई गई हैं। बाईं ओर वादक वृन्द और झारी लिये हुए उपासक हैं; दाहिनी ओर, हाथी से उतर कर राजा-रानी बोधिवृक्ष की पूजा करते हुए दिखाये गये हैं। इसमें अशोक और उनकी रानी तिस्सरक्खिती का बोधिवृक्ष के दर्शन के लिए आना प्रदर्शित है। राजदम्पति जल की झारी से सींचकर सूखे बोधिवृक्ष को फिर हरा बनाना चाहते थे। रानी ने प्रकोपवश उसे छँटवा डाला था। इस बँड़ेरी के मयूर-संघाट में सम्भवतः अशोक का संकेत है क्योंकि वह मौर्य वंश का था जिसका चिह्न मयूर था। उपशीर्षकों पर चक्रव्यूह, स्तूप-पूजा और गजलक्ष्मी के रूप हैं।

पहली बँड़ेरी का पृष्ठभाग—बोधिवृक्ष और बोधिमण्डों द्वारा सप्तमानुषी बुद्धों का चित्रण।

बीच की बँड़ेरी—बोधिवृक्ष के नीचे बोधिमण्ड का पशुओं द्वारा पूजन, जिसमें वास्तविक और काल्पनिक पशु, विहंग और नाग सम्मिलित हैं।

नीचे की बँड़ेरी—हाथियों द्वारा स्तूप पूजा। दक्षिणी छोर पर पूर्णघट, स्तूप पूजा, बोधिवृक्ष की पूजा और पशु शीर्षक; उत्तरी छोर पर पूर्णघट और स्तूप पूजा अंकित है।

बायाँ स्तम्भ, अग्रभाग—दृश्य १ और २ में सम्बोधि और चंक्रमण अंकित हैं। दूसरे दृश्य में बोधगया का वह वेदिकायुक्त बोधिघर है जिसका निर्माण अशोक ने कराया था। उसके ऊपरी

गवाक्ष के भीतर से बोधिवृक्ष की शाखा-प्रशाखा बाहर निकल रही हैं। यह बुद्ध की सम्बोधि का प्रतीक है। बोधिघर के दाहिने-बाएँ अंजलि मुद्रा में चार आकृतियाँ हैं जो सम्भवतः चार दिशाओं के अधिपति लोकपाल हैं। तीसरे दृश्य में बुद्ध द्वारा जलों पर चलने का प्रातिहार्य है। अग्रभाग में नीरंजना नदी है। नीचे के दृश्य में राजा बिम्बिसार अपने पार्श्वचरों सहित बुद्ध के दर्शनार्थ राजगृह के बाहर आ रहे हैं।

भीतरी पक्ष या बगली के अंकन—ऊपर के दृश्य में इन्द्र और ब्रह्मा उरुविल्व में बुद्ध के दर्शनार्थ आए हुए हैं।

दूसरे दृश्य में उरुविल्व नामक स्थान में काश्यप मुनि की अग्निशाला में बुद्ध की सर्प पर विजय है।

तीसरा दृश्य—बुद्ध के समिधा, अग्नि और आहुति सम्बन्धी चमत्कार। काश्यप मुनि के धर्म परिवर्तन की कथा में आता है कि अग्निशाला के प्रातिहार्य के बाद ब्राह्मणों ने एक यज्ञ की व्यवस्था थी। उसके लिए समिधा नहीं चीरी जा सकी, अग्नि नहीं जल सकी और आहुति नहीं डाली जा सकी, जब तक कि इन तीनों के लिए बुद्ध ने अपनी अनुमति नहीं दी।

दाहिना स्तम्भ-अग्रभाग—कामावचर देवों के छह निचले स्वर्ग या लोक। नीचे से उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. चातुर्महाराजिक लोक।
२. त्रयस्त्रिंशद् देव, जिसका अधिपति इन्द्र है।
३. यमलोक, जहाँ यम के राज्य में रात्रि और दिन का अन्तर या चक्र नहीं है।

४. तुषितदेव स्वर्ग जहाँ अवक्रान्ति से पूर्व बोधिसत्त्व जन्म लेते हैं और जहाँ इस समय बोधिसत्त्व मैत्रेय का निवास है।

५. निर्माणरति स्वर्ग, उन देवों का लोक जो अपने निर्माण कार्य में निरत रहते हैं।

६. परिनिर्मितवशवर्तिन् देव स्वर्ग, जो औरों की बनाई सृष्टि पर अधिकार रखते हैं और जिनका स्वामी मार है।

ये षड्कामावचर देव छह प्रकार के हैं। ये उन लोकों के निवासी हैं जहाँ कामवासनाओं को जीता नहीं गया है। यहाँ उनके अंकन में बहुत कुछ एकरूपता है। प्रत्येक लोक राजप्रासाद की भूमि के रूप में अंकित है, प्रत्येक भूमि सामने की ओर स्तम्भों से तीन द्वारों में विभक्त है, तल्लों के स्तम्भ या तो सादा हैं या ईरानी ढंग के पशु संघाट के शीर्षकों से युक्त हैं। बीच के द्वारमण्डप में इन्द्र दाहिने हाथ में वज्र और बाएँ में अमृत घट लिये हुए बैठे हैं। इसमें अमृतघटधारी यक्ष और वज्रधर इन्द्र का समन्वय किया गया है। इन्द्र के पीछे उसकी स्त्री-परिचारिकाएँ हैं जिनके हाथों में छत्र और चँवर हैं। उनके दक्षिण पार्श्व के द्वार में इन्द्र का उपराजा और बाईं ओर सुधर्मा सभा में नृत्य और गान करने वाले व्यक्ति हैं। कुछ अन्तर के साथ ये ही मूर्तियाँ छहों देवलोकों में दिखाई गई हैं।

स्तम्भ का पृष्ठभाग—ऊपर के दृश्य में देवता बोधिसत्त्व से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे भूमि पर जन्म लें।

भीतरी दृश्य—ऊपरी दृश्य—श्याम जातक। श्याम अपने माँ-बाप वृद्ध तपस्वी और तापसी के लिए जल लेने गया था। वहाँ उसे वाराणसी के राजा का बाण लगा। राजा के पश्चात्ताप करने और श्याम के माता-पिता के शोक प्रकट करने के कारण इन्द्र ने बीच में पड़कर श्याम के घाव को भर दिया और माता-पिता को पुनः दृष्टि प्रदान की। ऊपर के दाहिने क्षेत्र में दो पर्णशालाएँ हैं जिनके सामने माता-पिता बैठे हैं। नीचे श्याम नदी से जल भरने जा रहा है। बाईं ओर वाराणसी के राजा का तीन बार चित्रण है। पहले चित्र में वह नदी में प्रविष्ट श्याम को बाण से मार रहा है। दूसरे चित्र में वह धनुष-बाण लिए है और तीसरे में धनुष-बाण फेंक कर पश्चात्ताप कर रहा है। ऊपर के बाएँ कोने में बुड्ढे-बुढ़िया प्रकृतिस्थ दशा में दिखाए गए हैं। उनके बराबर में राजा और विशेष उष्णीष से उपलक्षित इन्द्र खड़े हैं।

दूसरा कटाव या फलक—नागराज मुचलिन्द वृष्टि से बुद्ध की रक्षा कर रहा है। तीसरा फलक—इसका केवल ऊपरी भाग रह गया है। इसमें बुद्ध के गंगा पार करने का प्रातिहार्य है जब वे राजगृह से पाटलिपुत्र जा रहे थे।

दाहिना-स्तम्भ—अग्रभाग-ऊपरी दृश्य—महाकपि जातक। बोधिसत्त्व बन्दरों के राजा के रूप में उत्पन्न हुए और उन्होंने अपने शरीर को टाँग कर एक पुल बनाया जिस पर चढ़कर उनके अनुयायी नदी पार बड़े आम्रवृक्ष के फल खाने के लिए गए। ब्रह्मदत्त ने वृक्ष को घेर लिया तो भी बोधिसत्त्व ने अपने साथियों को सुरक्षित पार पहुँचा दिया। पर देवदत्त ने उनकी पीठ पर धक्के के साथ कूदकर उनका हृदय तोड़ डाला। ब्रह्मदत्त ने बोधिसत्त्व के इस पुण्य कार्य को देखा और वह पश्चात्ताप करने लगा। उसने मरते हुए बोधिसत्त्व के प्रति बहुत करुणा प्रकट की और मृत्यु के बाद उनका राजकीय संस्कार किया। दृश्य में ऊपर की ओर महान् आम्र-वृक्ष है जिस पर दो बन्दर लटके हुए हैं जब कि कपियों का राजा नदी के आर-पार अपने शरीर को फैलाए हुए है। उसके शरीर पर चढ़कर कुछ बन्दर इस पार आकर पर्वत और जंगल में फैले हैं। दृश्य के निचले भाग में बाईं ओर राजा ब्रह्मदत्त घोड़े पर चढ़ा हुआ अपने सैनिकों के साथ दिखाया गया है। दृश्य में ऊपर की ओर राजा ब्रह्मदत्त मरणासन्न बोधिसत्त्व से बात कर रहा है। दूसरा फलक—अध्येषण ब्रह्मा और इन्द्र की प्रेरणा से देवता बुद्ध से प्राणियों को मुक्ति के मार्ग का उपदेश करने के लिए अवतरण लेने की प्रार्थना कर रहे हैं। तीसरा फलक—इन्द्रशैल गुफा में इन्द्र द्वारा बुद्ध-दर्शन। नीचे का दृश्य—प्राण और समृद्धि के प्रतीक श्रीवृक्ष पर झम्पा मुद्रा में तीन सिंह। वृक्ष के पल्लव आरम्भिक शैली के हैं जो उत्तरकालीन कला में नहीं मिलते। यहाँ मुड़े हुए पनालीदार तालपत्र और कमल के फुल्ले एक साथ दिखाए गए हैं।

भीतरी कक्ष्य—सम्बोधि का दृश्य, जिसमें बोधिवृक्ष के नीचे बोधिमण्ड और चारों ओर अपने पुत्र-पुत्रियों सहित मार का अंकन है। दूसरा दृश्य—शाक्यों का धर्म परिवर्तन जिसमें बुद्ध ने कपिलवस्तु के न्यग्रोध वन में अपने पिता शुद्धोदन और शाक्य राजाओं को धर्म का उपदेश दिया। पृष्ठ भाग—बुद्ध का परिनिर्वाण जिसमें स्तूप और कुछ अन्य व्यक्ति हैं।

इन चार द्वार तोरणों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ कहीं बाहर की ओर अधिक निकली हुई स्वतन्त्र-सी जान पड़ती हैं और कहीं उनकी उकेरी अलंकरणों के रूप में विविक्त या कम उठी हुई है, जैसी धातुओं के युद्ध में। वेस्सन्तर जातक के दृश्य में कथा के भाग क्रमशः अंकित हैं और उनका क्रमाङ्कन सुस्पष्ट है।

इन पर प्राकृतिक दृश्यों की बहुतायत है जिनमें हाथी, सिंह, मृग आदि जंगली जन्तु स्तूप या बोधिवृक्ष की पूजा करते और क्रीडा करते हुए दिखाए गए हैं। भरहुत और साँची के अङ्कन में कुछ स्फुट अन्तर भी हैं। भरहुत में जातकों की संख्या साँची से कहीं अधिक है। भरहुत के शिल्पियों ने जातकों की लघुकथाओं या लोककथाओं के अङ्कन में रुचि प्रदर्शित की। साँची के शिल्पी केवल वेस्सन्तर, छद्दन्त, श्याम और महाकपि जातकों के दृश्यों का ही अङ्कन करते हैं। बुद्ध के जीवन-दृश्यों का अङ्कन साँची में कहीं अधिक है और उनमें भी उनके प्रातिहार्य कर्मों के अङ्कन में अधिक रुचि दिखाई गई है; जैसे उनका आकाश गमन, जल संतरण और काश्यप के आश्रम में जल और अग्नि का प्रातिहार्य। साँची में ऐतिहासिक दृश्यों की भी संख्या अधिक है; जैसे राजा अजातशत्रु अथवा प्रसेनजित कोसल का बुद्ध के दर्शन के लिए आना, प्रसेनजित का श्रावस्ती के आम्र वन में आना, अजातशत्रु का जीवक के आम्र वन में आना, शुद्धोदन का बुद्ध के स्वागत के लिए नगर से बाहर जाना, अशोक का बोधगया में बोधिवृक्ष के पास जाना, रामग्राम के नाग स्तूप को देखने जाना। साँची में बुद्ध के जीवन की घटनाओं को चुनकर उन्हें प्रतिमांकित किया गया, जैसे बोधिवृक्ष, धर्मचक्र और स्तूप की पूजा के दृश्य बार बार दुहराए गए हैं जो क्रमशः संबोधि, प्रथम उपदेश और परिनिर्वाण के सूचक हैं।

साँची की शिल्प कला की विशेषता उत्तरकुरु प्रदेश के जीवन का अङ्कन है। इन दृश्यों में सुखी मिथुन कल्पवृक्षों की छाया में नृत्य-गीत और पान का आनन्द लेते हुए दिखाए गए हैं। ज्ञात होता है कि उत्तरकुरु को बौद्धों का एक स्वर्ग मान लिया गया था यद्यपि उसका उत्तरकुरु मह का स्वरूप भी लोक में मान्य था। भरहुत के तोरणों पर बड़ेरियों के सिर मकराङ्कित हैं जिनके कारण उनकी संज्ञा शिंशुमारशिरः थी। साँची की धरनों के सिरे व्यूह से अलंकृत हैं। शीर्षकों में पशु संघाटों की कल्पना साँची में कहीं अधिक है, जैसे अश्वसंघाट, गजसंघाट, मृगसंघाट, वृषसंघाट, सिंहसंघाट। साँची तोरणों की एक बड़ी विशेषता उपशीर्षक हैं। श्रीलक्ष्मी की पूजा का साँची स्तूप के समय अत्यधिक प्रचार था। श्रीलक्ष्मी की पूजा के अन्तर्गत उत्तरकुरु की भी कई विशेषताएँ स्वीकार कर ली गईं और वह वहाँ की समृद्धि की देवी माने जाने लगी। दूसरी ओर उसे बुद्ध के जन्म का प्रतीक माना गया जिससे बौद्ध धार्मिकों को भी उसके प्रति अनुराग हुआ। इस बात का बहुत ही उत्तम प्रमाण वह सुवर्ण यष्टि है जिसमें खूँटियों पर उत्तरकुरु से सम्बन्धित और श्रीदेवी की मंगलक मालाएँ टँगी दिखाई गई हैं।

मार्शल के अनुसार स्वयं साँची के शिल्पियों के भी कई स्तर थे जैसा उनकी कला शैलियों से ज्ञात होता है। पश्चिमी द्वार के दाहिने स्तम्भ के मुख भाग के दूसरे हिस्से के अङ्कन में पुरानेपन की प्रवृत्ति है, जब कि दक्षिणी द्वार के बाएँ स्तम्भ के मुख भाग के सबसे निचले दृश्य में उकेरी पर्याप्त नयापन लिए है। दक्षिणी और पश्चिमी द्वारों पर धातु युद्धों के अङ्कन में संपुंजन-सामंजस्य का अच्छा निर्वाह किया गया है। मथुरा और प्रतिष्ठान के मध्य में विदिशा की इस शिल्प शैली ने उत्तरकालीन मथुरा की कुषाण शैली को प्रभावित किया जहाँ बुद्ध के जीवन दृश्यों के चुनाव और प्रतीकात्मक प्रदर्शन सम्बन्धी अनेक बातें भरहुत–साँची से ली गईं। शैलकर्म के तक्षण में भी मथुरा के शिल्पी भरहुत और साँची के आभारी थे। यह लिखा है कि दक्षिणी द्वार का निर्माण विदिशा के दन्तकारों ने या हाथी दाँत का काम करने वाले गुणीजनों ने किया था (वेदिसकेहि दन्तकारेहि रूपकम्मं कटं)। रूपकर्म में चतुर इन शिल्पियों को अकेली मूर्तियों के या उनके समूहगत अङ्कन में सफलता मिली।

उन्होंने अपनी कला की सरलता और सहज स्वाभाविकता का निर्वाह किया। उज्जयिनी-विदिशा के धार्मिक श्रेष्ठी कला के इस विशिष्ट गुण के विशेष प्रेमी थे। शिल्पी क्रमशः धर्मानुमोदित कला की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त हुए जैसा कि इन शिलापट्टों के धार्मिक प्रतीकों से विदित होता है।

मार्शल ने इनमें से कुछ दृश्यों को लौकिक और काम-प्रधान माना है। किन्तु वह उसका भ्रम था क्योंकि उसने उत्तरकुरु देश के वर्णन और तक्षण को नहीं समझा था जिन्हें अपना दायित्व समझने वाले शिल्पियों ने स्तूपों की धार्मिक कला में स्थान दिया और लोक धर्मों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन किया। यह वही युग था जब जातकों और रामायण-महाभारत में उत्तरकुरु के पल्लवित वर्णनों को स्थान दिया गया जिनके साथ शैलकर्म के ये दृश्य सुसंगत हैं। यह भी स्मरणीय है कि इन स्तूपों के दृश्य मह नामक अनेक लोकधर्मों या देवव्रतों या देवयात्राओं की व्याख्या करते हैं जो ई० पू० की शताब्दियों में यहाँ के जीवन में बहुमान्य और लोकप्रिय थीं और जिनके साथ बौद्ध धर्म कन्धा मिलाकर चल रहा था।

स्तूप संख्या दो

महाचैतिय के अनन्तर स्तूप संख्या २ का स्थान है। यह साँची का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्तूप है। पहाड़ी के पश्चिमी ढलान पर लगभग ३५० गज दूरी पर यह स्तूप मेड़ पर बना है। ज्ञात होता है कि तीनों स्तूपों का निर्माण योजना के अनुसार किया गया। महा स्तूप में बुद्ध की धातुएँ रखी गईं जिसका निर्माण महाप्रभविष्णु रूप में पहाड़ी के सर्वोच्च प्रदेश में किया गया। स्तूप संख्या ३ में बुद्ध के पट्ट शिष्य सारिपुत्र और महामोग्गलायन की शरीर धातुएँ गर्भित की गईं जो पहाड़ी के ऊर्ध्व भाग में ही है। इनके अतिरिक्त अशोक के समय कार्य करने वाले प्रमुख धर्म प्रचारकों की अस्थियाँ स्तूप संख्या २ में कुछ दूरी पर पधराई गईं। स्तूप ३ के लिए पहाड़ी से सटा हुआ कृत्रिम मंच बनाया गया। स्तूप एक, तीन और दो संख्याएँ वर्तमान काल की और आकस्मिक हैं।

परिमाण और निर्माण की दृष्टि से स्तूप संख्या २ हूबहू महा स्तूप संख्या १ जैसा है। दोनों का अन्तर भूमिस्थवेदिका के अलंकरण में है। स्तूप संख्या १ की वेदिका सादी है जब कि संख्या २ की वेष्टिनी पर उकेरी की भरमार है। प्रदक्षिणापथ और वेष्टिनी को छोड़ कर स्तूप का व्यास ४७ फुट है। इसकी ऊँचाई अण्ड के मस्तक तक २९ फुट और छत्र तक ३७ फुट है। इसकी भूमिस्थ वेदिका के चारों भागों में ८८ स्तम्भ थे। इस स्तूप में भी तीन वेदिकाएँ थीं, एक भूमितल पर, दूसरी कटि प्रदेश में और तीसरी हर्मिका में। कटि प्रदेश की काँधनी या मध्यवेदिका तक पहुँचने के लिए सोपान भाग बनाया गया था। भूमितल की वेदिका पर अनेक दृश्य हैं जिनसे इस वेष्टिनी का महत्त्व बढ़ जाता है, जिसके कारण यह न केवल बौद्ध कला में अपितु समस्त भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। वेदिका पर उत्कीर्ण विषय प्रायः वैसे ही हैं जैसे महास्तूप के द्वार तोरणों पर। उनमें बुद्ध के चार जीवन-दृश्य—जाति, संबोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन और परिनिर्वाण—प्रमुख हैं। प्रत्येक का अङ्कन प्रतीक द्वारा हुआ है, यथा—कमल, अश्वत्थ, चक्र और स्तूप। दूसरे स्थान पर यक्ष-यक्षी, फणाटोप युक्त नागराज और नागी और अनेक वास्तविक एवं काल्पनिक पशुओं की मूर्तियाँ हैं जिन पर आरोहक हैं और नहीं भी हैं, जैसा महास्तूप के द्वार स्तम्भों के उपशीर्षकों पर है। इन पशु संघाटों में गज, वृषभ, तुरग, मृग, सपक्षसिंह, मकर, श्येनव्याल और अन्य ईहामृग हैं। कुछ ऐसे भी रूप हैं जो तोरणों पर नहीं आते जैसे अश्वमच्छ, किन्नर मिथुन। पुष्पों में कमल सबसे अधिक प्रिय अलंकरण था जो प्राण

और जीवन का सर्वोत्तम वैदिक प्रतीक माना जाता था। कभी यह सादा ढंग से और कभी बहुत ही विकसित रूप में चित्रित किया जाता था। पक्षियों में मयूर, हंस, सारस प्रमुख हैं। बौद्ध मांगलिक चिह्नों में त्रिरत्न, श्रीवत्स, सिंह-ध्वज, गजस्तम्भ आदि का स्थान है (मार्शल)।

शोभनार्थ ये अलंकरण जिनमें पत्र-पुष्प, पशु-पक्षी, मनुष्य और देव योनियाँ सम्मिलित हैं, परम्परा प्राप्त थे। वैदिक, बौद्ध और आगमिक साहित्य में इनके उल्लेख हैं, वहीं से इनकी कला में अवतारणा हुई। रायपसेणिय सुत्त में प्राप्त पद्मवर वेदिका में इन अभिप्रायों की कालक्रम से आई हुई सूची है। यह असंदिग्ध है कि ये अलंकरण काष्ठशिल्प में दीर्घकाल से चित्रित किए जाते थे। वहीं से शैलकर्म के स्थपतियों ने उन्हें सरलता से लिया। इस प्रकार की वेदिका का आकर्षण बहुत बढ़ा और भरहुत, साँची, बोधगया और मथुरा के शिल्पियों ने इसे अपनाया। कंकाली टीले के पहले जैन स्तूप के वेदिका स्तम्भों से ऐसा ज्ञात होता है मानों साँची के स्तूप संख्या २ की वेदिका को ही वहाँ स्थानान्तरित कर दिया गया हो और ऐसा करते हुए अलंकरण के जितने अभिप्राय और उकेरी की स्वाभाविक सरलता साँची में थी, वह सब मथुरा में जा पहुँची हो। सारनाथ में प्राप्त कुछ शुंग कालीन वेदिका स्तम्भ भी साँची स्तूप की वेष्टिनी से मिलते हैं। स्तूप २ के वेदिका स्तम्भों का काल निर्णय उनकी शैली और उनके लेखों की लिपि के आधार पर दूसरी शती ई० पू० के अन्तिम भाग में किया जा सकता है।

सोपान और मध्य प्रदक्षिणा पथ की वेदिका और हर्मिका की वेदिका स्तूप ३ की वेदिका से आकार और रचना में मिलती है। सोपान के स्तम्भ अग्र भाग में और पृष्ठ भाग में उकेरी से युक्त हैं। उन पर एक पूरा फुल्ला और आधे फुल्ले विभिन्न प्रकार के हैं। सोपान की ऊपरी चौकी या पालक-पीढी (सं० पर्यङ्कपीठिका) के स्तम्भों पर भी ऐसे ही फुल्ले हैं। किन्तु बाहर की ओर फुल्लों के बीच में और भी कई प्रकार की उकेरी की सज है। मध्यभाग या कटिभाग के वेदिका स्तम्भों पर केवल मण्डल या घेरे हैं। इन्हीं स्तम्भों के पृष्ठ भाग या भीतरी मुख पर किन्हीं पर बीच के घेरे भी नहीं हैं। किन्तु स्तम्भों की बाहरी ओर के फुल्ले नानाकृति कमलों, लतरों और पशुओं से सज्जित हैं। यथा—सिंह, वृषभ या गज आदि। हर्मिका के उष्णीष के भीतरी ओर कमल के फुल्लों की पुष्करस्रज चित्रित है। स्तूप के धातुगर्भ में धातुमंजूषाएँ पाई गई थीं जो केन्द्र से दो फुट हटा हुआ है। उसके भीतर घिया पत्थर की बनी हुई चार छोटी मंजूषाएँ थीं जिनमें शरीर धातुएँ रक्खी थीं। ये धातुएँ उन आचार्यों की हैं जिन्हें अशोक ने धर्म प्रचार के लिए विदेशों में भेजा था। उनमें से कुछ ने पाटलिपुत्र की अशोक-कालीन बौद्ध संगीति में भी भाग लिया था। यद्यपि ये अशोक के समय में हुए थे किन्तु भिन्न भिन्न स्थानों में रखी हुई उनकी शरीर धातु को इस स्तूप में संगृहीत कर दिया गया जैसी शुंग युग की प्रथा थी।

भूमि तल की वेदिका का अलंकरण—भूमि तल की वेदिका के मुख भाग और पृष्ठ भाग पर जो उकेरी की सज्जा है वह अपना विशेष महत्त्व रखती है। इनके पूरे फुल्लों और अर्द्धों पर अनेक प्रकार के विषय हैं, जो उस युग में विद्यमान लोक धर्मों से लिए गए। इनमें कमल और उसकी लहराती लतरों के अनेक रूप बहुत ही प्रभावशाली हैं। कमल के पूरे खिले हुए फुल्ले-नीलोत्पल की कलियाँ और पुरइन बेल के पत्ते स्वाभाविक या रूढ़िग्रस्त रूप में चित्रित किए गए हैं, उनका सहज रूप वन-लताओं का और निरूढ़ पद्म-लताओं (वनलय, पउमलय) का है। कमल का ऐसा विविध चित्रण उसकी धार्मिक पूजा-मान्यता पर

निर्भर था जो वैदिक काल से लोकधर्म के रूप में चली आई थी। कमल का संबंध ब्रह्मा से था जिनका आसन कमल पर माना गया। लिखा है कि ब्रह्म ने पुष्कर या कमल के आसन पर ब्रह्मा की सृष्टि की (ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे, गोपथ ब्राह्मण १।१।१६)। कमल भूपद्मकोश या विश्व का प्रतीक है। पार्थिव अग्नि और दिव्य सूर्य को पुष्कर कहा गया है। सृष्टि के मूल कारण आपः या समुद्र से इन दो कमलों का जन्म हुआ। कमलों की माला या पुष्करस्रज जिसमें पृथ्वी की अग्नि और द्युलोक के सूर्य का तेज है, भारतीय धर्म का विशेष चिह्न था। देवता स्वर्ग में और पृथ्वी पर भी हैं। अतः उन्हें कमलों की माला चढ़ाते थे।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो छह फूलों की माला है, वही पुष्करस्रज है। प्राण और अपान रूपी दो अश्विनी कुमार उस माला को पहने हुए हैं (अश्विनौ पुष्करस्रजौ)। कमल पूजा के साथ ही देवी श्रीलक्ष्मी की पूजा भी थी जिसे वैदिक युग में ही पद्मा, पद्महस्ता, पद्ममालिनी, पद्मवने स्थिता आदि विशेषण दिये गये थे। श्री लक्ष्मी के स्वरूप की कल्पना करते हुए कमल पुष्प की प्रभूत सहायता ली गई। कमलों से भरे हुए पूर्णघट पर लक्ष्मी का आसन दिखाया गया। पद्मवन और लक्ष्मी इनका साहचर्य लोकमान्य था। उसे अवर्जित घटों से अभिषेक कराने वाले हाथी भी सनाल कमलों पर खड़े हुए दिखाये जाते हैं। इस प्रकार के अंकन वेदिका की सज्जा में पाये जाते हैं।

श्रीलक्ष्मी इन्द्र के नन्दन वन की देवता मानी गई। उसके पद्मकुम्भ को महेन्द्रकुम्भ कहा गया जिसका मुँह लाल कमल और नीले कमल के ढकन से ढका रहता था (पद्मोत्पलपिधान)। अन्य अलंकरण इस भाँति हैं:—

चित्र २२०

चित्र २२१

चक्र पूजा, स्तूप पूजा, उत्तरकुरु के दृश्य, पशु रूप, किन्नर-मिथुन, श्रीवत्स, नाग और यक्ष आदि। कुछ अन्य अभिप्रायों के नाम ये हैं—

शालभंजिका—प्राचीन वेदिकाओं के तुरीयांश या पादभाग में १६ शालभंजिकाएँ बनाई जाती थीं। यों वेष्टिनी के पूरे चक्रवाल में ६४ स्तम्भों पर विभिन्न मुद्राओं में ६४ शालभंजिकाएँ बनती थीं। भरहुत की वेदिका में यही संख्या मिली थी। इन ६४ के अतिरिक्त द्वार तोरण के निकलते हुए प्रवेश स्थान या घूघस के लिए २० शालभंजिकाएँ और बनाई जाती थीं। यों ८४ खम्भों से स्तूप की वेष्टिनी का पूरा रूप बनता था। शालभंजिका मुद्रा में खड़ी स्त्री अपने बाँयें हाथ से फूली हुई शाखा को झुकाकर ललित मुद्रा में खड़ी होती थी।

श्री लक्ष्मी, श्री देवी, गजलक्ष्मी या लक्ष्मी जिसके दोनों ओर दो हाथी, नीचे दो सिंह और मिथुन अंकित हैं (चित्र २२०)। ये सब कमल वन में या पद्मों के ऊपर खड़े दिखाए जाते हैं।

कमल पर श्री लक्ष्मी, या हाथ में कमल लिए लक्ष्मी जिसके दोनों ओर दो अनुचर छत्र और चवर लिए हुए हैं (चित्र २२१)। कमलों का स्तबक, कमल लिए हुए हाथी, मकर के खुले हुए मुख से निकलती हुई कमल की लता जिसके बीच में यक्षों के छोटे बबुए भी दिखाए गए हैं;

चित्र २२२ चित्र २२३ चित्र २२४

कछुए के मुख से निकलती हुई पद्मलता (चित्र २२२), कमल लिए हुए गैंडा, पद्मलता लिए हुए हाथी (चित्र २२३), सिंह, ये अलंकरण वेदिका स्तम्भों पर हैं। इस प्रकार शिल्पियों ने कमल के फुल्लों और सहस्रों रूपों का अंकन करने में अपनी निपुणता का प्रदर्शन किया है। कछुए पर बैठी हुई यक्षी (चित्र २२५), पद्मलता लिए हुए यक्षी (चित्र २२४), यक्षी की नाभि से निकलती हुई पद्मलता (चित्र २३१) आदि के अलंकरण भी हैं।

स्तम्भ के ऊपर चार सिंहों के मस्तक पर धर्म चक्र जिसके चारों ओर चार मृग हैं जिनसे मृगदाव का धर्मचक्रप्रवर्तन सूचित किया गया है। ८ अरों से युक्त अष्टार धर्म चक्र, चक्रपूजा (दे० चित्र २२७), बोधिवृक्ष पूजा, वेदिकान्तरगत वृक्ष—ये अभिप्राय भी हैं।

लगभग १२ बार श्रीवत्स चिह्न का अंकन हुआ है जो श्री लक्ष्मी की पूजा के साथ सम्बन्धित हो गया था। त्रिरत्न चिह्न जो लगभग एक दर्जन बार अंकित है, आरम्भिक युग का प्रतीक था, जिसे बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों ने अपना लिया। इसके द्वारा तीन संख्या का संकेत भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया गया है।

स्तूप पूजा—स्तूप का अंडभाग घंटाकार या कटोरे की आकृति का न होकर ऊँचे बुलबुले जैसा है। इस पर तीन वेदिकायें हैं। स्तूप ऊँची मेधि पर है जिस पर कमल और श्रीवत्स के अलंकरण हैं जिनसे सूचित होता है कि श्रीलक्ष्मी पूजा और स्तूप पूजा को एक दूसरे से परस्पर प्रभावयुक्त बनाया जा रहा था। नीचे के दृश्य में श्री वृक्ष हैं। उनसे भी श्री देवी पूजा का पूरा स्वरूप प्रकट होता है (चित्र २२६)।

पशु—सिंह संघाट, सपक्ष सिंह, वृषभ, गजारोही, अश्वारोही, ये चार महाआजानेय पशु स्तूप पूजा के अंग थे। पशुपंक्तियों की यह प्राचीन परम्परा थी जिसकी सुविस्तृत व्याख्या हमने अपनी पुस्तक 'चक्रध्वज' में की है। द्विककुद् क्रमेलक या बेखँभिया ऊँट जो मध्य एशिया का पशु था

चित्र २२५
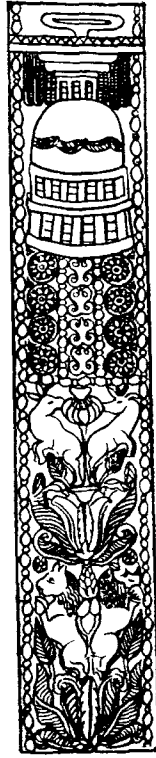
चित्र २२६

चित्र २२७
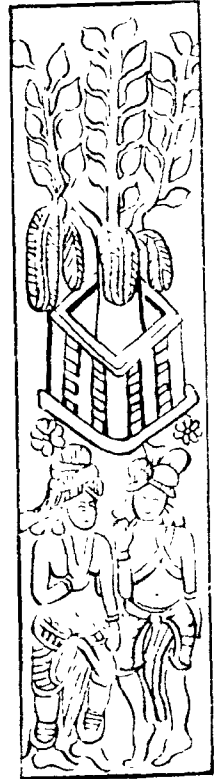
चित्र २२८

और जिसके लिखने में मध्य भारतीय शिल्पी भी परिचित हो गए थे, वराह संघाट, लड़ते हुए गज और सिंह, बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय।

चित्र २२९

चित्र २३०

चित्र २३१

उत्तरकुरु महास्तूप (संख्या १) का प्रिय अभिप्राय है। वही स्तूप संख्या दो की वेदिका पर मिथुन और कल्पलता के रूप में बारबार पाया जाता है (चित्र २२८)। किन्नर मिथुन अभिप्राय में या तो किन्नर अश्व-विग्रह किन्नरी की पीठ पर सवार है या किन्नरी मानुष विग्रह के पृष्ठ पर है (चित्र २२९)। इसका मुख्य उद्देश्य अश्व की वृष-शक्ति की ओर ध्यान दिलाना था। जो लोग प्रतीकों की रचना करते थे, वे अपने लिए पशु, मनुष्य और वनस्पति जगत से एक नई बारहखड़ी का निर्माण करते थे। नृविग्रह और पशुविग्रह के सम्मिलन से पुरुष-पशु अभिप्राय कल्पित किए गए, उन्हीं में किन्नर-किन्नरी या हयग्रीव अभिप्राय भी था। कालान्तर में हयशीर्षदेवता का माहात्म्य बढ़ा और उसे नारायण विष्णु का अवतार समझा जाने लगा। किन्नर-मिथुन का अलंकरण मथुरा आदि स्थानों में भी पाया गया है। इसे ही साहित्य में अश्वमुखी यक्षी भी कहा है।

विहग—इनका सम्बन्ध प्राचीन सुपर्णमह से था। यहाँ अपने भयंकर तुण्ड में नाग को दपोचे हुए गरुड़ का अंकन है और नाग ने अपनी कुण्डली में गरुड़ को कसकर जकड़ लिया है (चित्र २३०)। यह मथुरा कला में भी है। हंस मिथुन और सारस मिथुन भी यहाँ अंकित हैं।

यक्ष—यक्ष पूजा जैसी लोकप्रिय थी उसका गहरा प्रभाव भरहुत और साँची के स्तूपों में देखा जाता है। यक्षों के बिना शिल्पियों को अन्य कुछ नहीं सुहाता। वे उनका सम्बन्ध उत्तरकुरु के साथ भी जोड़ते हैं और आपोमयी सृष्टि की कल्पना के साथ भी यक्षों का गहरा सम्बन्ध दिखाया गया है। वेद में यक्ष को सलिल-पृष्ठ का देवता कहा है। बैठे हुए घटोदर, स्थूलकाय यक्षों की नाभि और मुख से निकलती हुई पद्मलता दिखाई जाती है। (चित्र २२४, २३१) कुबेर के अनुचरों के रूप में यक्षों को धन और भद्रमणि तथा अमृत का रक्षक देव माना गया। एक आकृति विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें कूर्म पृष्ठ पर एक यक्षी बैठी है और जो हाथों में लहराती हुई पद्मलता लिए है, जिसमें हंस बैठे हैं (चित्र २२५)। कूर्म, यक्ष, पद्म और हंस इन चार अभिप्रायों के सम्मिलन से यह विचित्र नया अभिप्राय कल्पित किया गया जिसमें चतुर्मुखी अर्थ-संकेत था। पद्मनाल यक्ष की नाभि से उद्गत है। यक्ष का दूसरा रूप हृष्ट-पुष्ट मल्ल जैसे पुरुष या नर का था, जिसके कारण कुबेर को नरवाहन कहते थे। एक खम्भे पर एक राजा, दो रानियाँ और तीन पार्षद हैं जो छत्र और चमर लिए हैं। नीचे के दृश्य में राजा रथ में और मंत्री हाथी पर बैठकर जा रहे हैं। इसमें अशोक की बोधिवृक्ष के दर्शनार्थ बोधगया यात्रा का दृश्य है जैसा कि महास्तूप के पश्चिमी द्वार पर भी अंकित है।

स्तूप संख्या तीन

पठार पर महा चैत्य के उत्तर-पूर्व ५० गज की दूरी पर स्तूप तीन स्थित है जिसमें बुद्ध के दो शिष्य सारिपुत्र और मोग्गलायन की शरीर-धातु गर्भित हैं। इसकी ऊँचाई २७'; छत्र यष्टि की चोटी तक ३५' ४" तथा व्यास ४९' ६" है। स्तूप के गाभे के ऊपर कञ्चुक स्थानीय अनगढ़ शिलाओं से बना है जिनके बीच-बीच में पत्थर की कतरन भर दी गई है। बड़े स्तूप की तुलना में इसमें कई भिन्नताएँ हैं। इसका परिमाण छोटा है। इसका केवल एक तोरण द्वार है। इसकी भूमिगत वेदिका अलंकृत है। अण्डभाग घंटाकृति है। भूमि की वेदिका एकदम जाती रही है। प्राचीन काल में ही यहाँ के पत्थर किसी दूसरे अवशेष के काम में लाए गए। इस पर भी बीच में सोपान, मेधि और वेदिका थी। इसके दक्षिणी ओर केवल एक द्वार तोरण है। यह साँची के कुल पाँच तोरणों में से

सबसे बाद का है और सम्भवतः १०० ई० के आरम्भ में जोड़ा गया है। द्वार १७′ ऊँचा है और उस पर समृद्ध उकेरी है। इस पर भी यक्ष-यक्षिणी, अश्वारोही, त्रिरत्न, धर्मचक्र आदि की मूर्तियाँ थीं।

मजूमदार का मत था कि इसकी धातु मञ्जूषा, सोपान और बिचली वेदिका के लेखों की लिपि उसी काल की है जिस काल की महास्तूप की भूमि-वेदिका की लिपि है, अर्थात् २०० ई० पू० के मध्य भाग की है।

इस स्तूप के वेदिका-स्तम्भ और तोरणों पर कुछ अलंकरण इस प्रकार हैं—मालाधारी यक्ष जो यहाँ लतरों के उतार-चढ़ाव में पहली बार अंकित किए गए हैं और कालान्तर में मथुरा, गन्धार एवं अमरावती में उकेरे हुए इन रूपों मे मिलते हैं। महावंश और दिव्यावदान में मालाधारी देवों को आदर्श चक्रवर्ती की राजधानी की पंच रक्षा-पंक्तियों में गिना गया है।
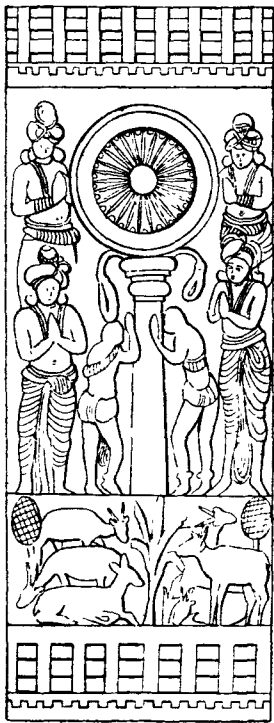
चित्र २३२ चित्र २३३

यह भी इंगित किया गया है कि यह अभिप्राय आरक्षा और शोभा इन दोनों उद्देश्यों से बनाया जाता था। अन्य दृश्य ये हैं, स्तूप पूजा, बोधिवृक्ष पूजा, सिंह स्तम्भ, चक्र स्तम्भ, चक्र पूजा (चित्र २३२-३), मगरमच्छ जिसके मुख से कमल की बेल निकल रही है, पञ्च फणयुक्त नागराज, हाथों में कमल की लतर लिए हुए कीचक, गज लक्ष्मी, सिंह संघाट, वृषभ, अश्व, हाथी या उनके संघाट, कल्पलता और उद्यान क्रीड़ा और सलिल क्रीड़ा में निरत उत्तरकुरु के मिथुन। नए अभिप्रायों और पुरानों को नए रूप में चित्रित करने में यहाँ पर्याप्त विकास हुआ है, यथा मेरु पर्वत के तट पर इन्द्र के वैजयन्त प्रासाद का दृश्य। सबसे नीचे की बँडेरी के दोनों सिरों पर उत्तरकुरु के और भी दृश्य हैं, जैसे आभूषण के विकल्पों या रूपों का प्रसव करती हुई कल्पलताएँ जो यक्षों के मुख से निकलती दिखाई गई हैं। इस अभिप्राय का सम्बन्ध न केवल उत्तरकुरु से किन्तु वैश्रवण कुबेर की अलकापुरी से भी ज्ञात होता है। ये सभी अलंकरण उत्तरकुरु से सम्बन्धित माने गए और लोक जीवन एवं कला में इसी रूप में उनके प्रति विश्वास बढ़ा।

अशोक स्तम्भ—साँची पठार पर गुप्त युग के स्तम्भ कई हैं पर इन सबसे प्राचीन और विशिष्ट मौर्य युग का अशोककालीन सिंहशीर्षक स्तम्भ हैं जो महाचैत्य के दक्षिणी द्वार-तोरण के सामने है। उसकी कला अत्यन्त विशिष्ट है और उस पर एक लेख है। स्तम्भ की डंडी टूट जाने से वह ठूँठ सा

लगता है पर उसका सुन्दर सिंहशीर्षक, जिसके अंड भाग पर हंस पंक्ति है, संग्रहालय में सुरक्षित है। मूल में स्तम्भ ४२′ ऊँचा था। उसकी लाट चिकनी, चमकदार और अल्पमात्रा में गावदुम थी। उसके सिरे पर पद्मपत्रों से भरा हुआ पूर्णघट, गोल अण्ड और चार उकड़ूँ सिंह थे जैसे सारनाथ शीर्षक में हैं। ऊपर से नीचे तक इस पर मौर्य युग की भास्वर प्रभा है। इसके अवयवों की रूप कल्पना में सम्भवतः स्वयं सम्राट् की वैसी ही मौलिक सूझ पाई जाती है जैसी सारनाथ के सिंहशीर्षक और लाट में। गोल चौकी या अंड पर चार मुचकुन्द के पुष्प और उनके बीच में हंस मिथुन हैं। सिंहों की उकेरी में सारनाथ जैसी हीपूर्णता है, यद्यपि कुछ रूढ़िवत्ता की छाया है। इनके शरीर की माँसपेशियाँ और पैरों की फड़कती नसें महान बलशाली पशु के अनुकूल हैं। कई सौ मील दूर चुनार की खदान से यह हलका लल्छौंह बलुआ पत्थर लाया गया था जिससे अशोककालीन बन्धानियों के पौरुष का परिचय मिलता है जिनके भुजदण्डों पर मशक जैसी पेशियाँ, फूला हुआ छाती का वक्षस्थल, सुडौल पिण्डलियाँ गट्ठर जैसे भारी मस्तक और साँड़ों जैसे कन्धे इस प्रकार के कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। वे अट्टालिका बन्ध, मयूरिका बन्ध, क्रौञ्च बन्ध आदि फन्दों के रूप में ल्हास नामक मोटी रस्सी का लँगोटा खम्भों की पेंदी में बाँध कर उन्हें चाहे जैसे झुला देते थे। उसी उद्योग के बल पर ये देवकाय स्तम्भ चुनार से हजार मील की दूरी तक ले जाए गए। साँची का स्तम्भ भी उनकी उस उद्योग सिद्धि का प्रमाण है। (देखिए पृ० १३८–९)

दो द्व्यस्र या अर्धवृत्ताकार चैत्यगृह—साँची में दो द्व्यस्र या बेसरायत चैत्यघर भी मिले हैं। उनकी संख्या १८ एवं ४० है। वे शुंग काल के हैं और शैल स्वरूप में कार्ले की पाषाण गुफा से मिलते हैं। महास्तूप के दक्षिणी द्वार के ठीक सामने पहला द्व्यस्र चैत्य गृह है (चित्र १३४)। इसका गर्भगृह स्तम्भों की माला से नहीं बल्कि ठोस दीवार से घिरा था। गर्भगृह के भीतर और बाहर की भित्तियाँ पत्थर के ढोकों की सूखी चिनाई से चिनी गई थीं। मण्डप के पूर्वकालीन स्तम्भ १७′ ऊँचे और एकाश्मक हैं जो चोटी की ओर कुछ झुकाव लिए हैं। गर्भगृह के केन्द्र में किसी समय स्थित स्तूप में एक सेलखड़ी की मञ्जूषा या डिबिया थी। दूसरा बेसर चैत्य भी
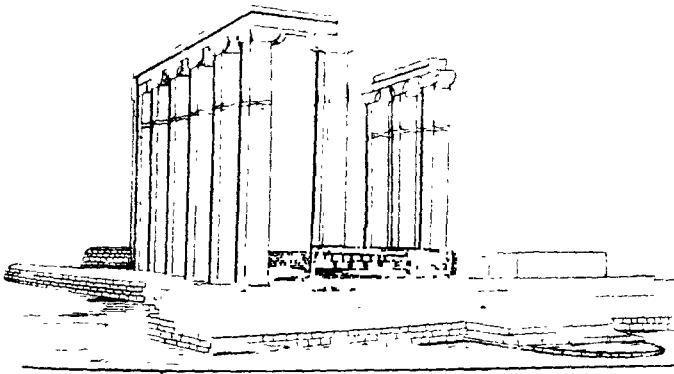
चित्र २३४ बेसर चैत्यघर १८

(सं० ४०) पठार के दक्षिणी भाग में था। इसके विन्यास में एक गर्भगृह, मण्डप और प्रदक्षिणा पथ था जिसके दोनों लम्बे पार्श्वों में एक-एक प्रवेश द्वार था जैसा बराबर की सुदामा गुफा में मिला है। वह पश्चिम भारत के चैत्य घरों के विन्यास से भिन्न था जिनमें सामने की ओर से एक या अधिक प्रवेश द्वार रहते हैं। इस चैत्य घर का कई बार संस्कार हुआ जान पड़ता है पर मुख्य लक्षण दूर के सिरे वाला इसका गोल गर्भगृह ही था।

दीवारों की चिनाई विषम या ऊबड़-खाबड़ थी और उसकी नींव पर अर्धवृत्त ठाठ खड़ा किया गया था जो शुरू में लकड़ी का था पर बाद में क्रमशः शैल-शिला में परिवर्तित किया गया। बहुत समय

बाद मध्य काल में जब इस मन्दिर का प्रतिसंस्कार हुआ तब पाँच पंक्तियों में १०-१० स्तम्भों के क्रम से उनकी संख्या पचास या उससे भी अधिक हो गई। सारनाथ, अहिच्छत्रा आदि में भी ईंटों के ऐसे वेसर चैत्य घर मिले हैं। वे प्रायः मौर्य-शुंग युग में बनाए गए थे।

बोधगया

बोधगया वह स्थान है जहाँ बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्त की थी। यह गया से ६ मील दक्षिण प्राचीन उरुविल्व ग्राम के स्थान पर है। वहीं ऋषि काश्यप का आश्रम और सुजाता का घर था। कहा जाता है कि उपगुप्त ने अशोक को बताया था कि उसी स्थान पर भगवान् को सम्बोधि प्राप्त हुई और तब अशोक ने वहीं बोधिघर का निर्माण कराया। वह पीपल का वृक्ष था, पर उसे बोधिद्रुम या ज्ञान का वृक्ष कहा गया। उसके नीचे बुद्ध का आसन या बोधि मण्ड था। बोधि मण्ड के चारों ओर निर्मित बोधिघर को महाबोधि-विहार की संज्ञा प्राप्त हुई और कालान्तर में उसी के पास के बड़े विहार को महाबोधि संघाराम कहा गया। वस्तुतः अशोक कालीन बोधिघर के चारों ओर कुछ हटकर एक पत्थर की वेदिका थी जिसके बहुत से स्तम्भ और उष्णीष आज तक हैं। मूल बोधिगृह अब सुरक्षित नहीं रहा पर उसकी आकृति भरहुत के वेदिका स्तम्भ पर मिली है जिसके अनुसार यह स्तम्भों पर खड़ा हुआ मण्डप था। उसकी छत खुली हुई थी जिसमें से बोधिवृक्ष की शाखाएँ आकाश की ओर उठ रही थीं। उसके बीच में बोधिमण्ड या वज्रासन था। उसके सामने चार अर्ध स्तम्भ थे। आसन के पीछे बोधिवृक्ष या पीपल का ऊँचा तना था जो बोधिघर से भी ऊँचा निकल गया था। वृक्ष के दोनों ओर धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिह्न छोटे स्तम्भ के ऊपर हैं। वज्रासन मण्डप के दोनों ओर उसी प्रकार के दो मण्डप और हैं। बोधिमण्ड या वज्रासन के ऊपर पुष्प बिखरे हुए हैं पर बुद्ध का कोई प्रतीक नहीं है। इस मञ्च का आकार पुष्पाधान या पुष्पग्रहणी वेदिका के ढंग का है, जैसी मथुरा के जैन स्तूप के तोरण पट्ट पर अंकित है। अर्वाचीन पुनर्संस्कार करते हुए पुराना बोधिमण्ड प्रतिसंस्कृत अवशेषों के नीचे पाया गया। यह आसन चुनार के बलुआ पत्थर का है और इस पर मौर्यकालीन चमकीली ओप है। इसके सामने चार छोटे खम्भे हैं जैसा भरहुत में दिखाया गया है।

बोधिघर के चारों ओर अशोक ने एक वेष्टिनी बनवाई थी, जिसकी चारों दिशाओं की लम्बाई २५८ फुट है। मूल में यह ईंटों की थी जो अब भी नींव में लगे हैं पर बाद में इसके स्तम्भ, सूची और उष्णीष सब पत्थर के कर दिए गए। यह वेदिका विन्यास में भरहुत या साँची जैसी है पर इसका समय उनके बीच में है और भरहुत के समान सर्वथा अलंकृत है। इस पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि यह इंद्राग्निमित्र की रानी कुरंगी और ब्रह्ममित्र की रानी नागदेवा का धार्मिक दान था। इसमें ६४ खम्भे थे स्तंभ की ऊँचाई ६ फुट ८ इंच, चौड़ाई १२/१४ इंच, उष्णीष १ फुट २ इंच, अधिष्ठान २ फुट २ इंच—इस प्रकार वेदिका की पूरी ऊँचाई कुल १० फुट थी।

ज्ञात होता है कि यह भी पद्मवर वेदिका के नमूने पर थी। इसके उष्णीषों पर पद्मवल्लरी और खम्भों पर पदुमक हैं जिन्हें सूरजमुखी का फूल भी कहा जा सकता है। इस पर उत्तरकुरु प्रदेश के कल्पवृक्ष और कल्पलताएँ, जातक कथाएँ और बुद्ध के जीवन के ऐतिहासिक दृश्य हैं। उदाहरण के लिए अष्टांसिक स्तम्भों के कोरे हुए सँकरे कोनों पर कल्पवृक्ष के साथ मिथुन और आभूषण उत्कीर्ण किए गए हैं। स्तम्भों के अग्र भाग और पृष्ठ भाग में कल्पवृक्ष मिथुन और पुष्पाभरणों की प्रसव-सम्पदा को अलग अलग भी दिखाया गया है। आसन पर बैठी हुई मिथुन मूर्ति; एक प्रासाद में वेदिका तोरण

त्रित्र २३५
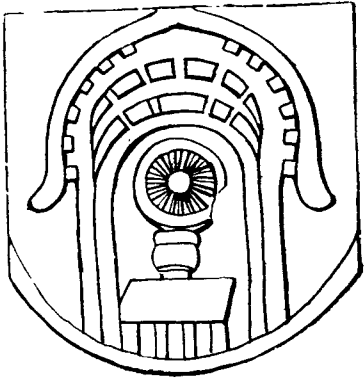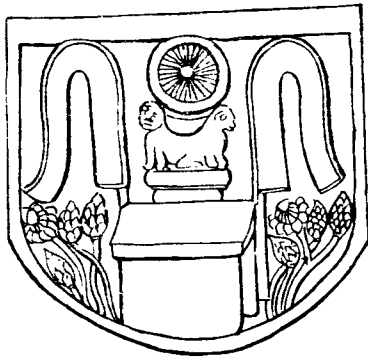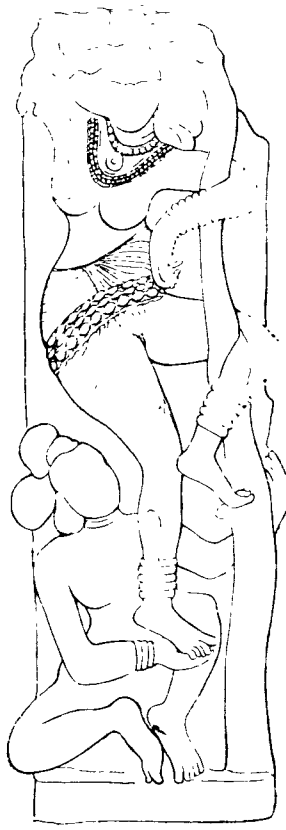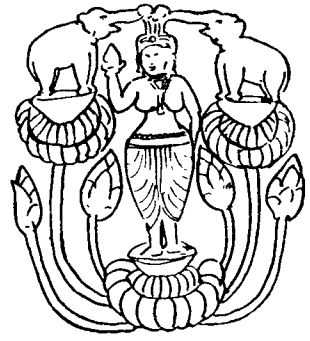
चित्र २३८

चित्र २३६

चित्र २३७
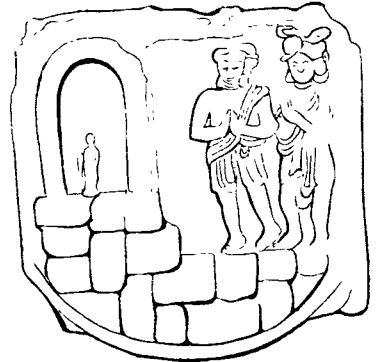
चित्र २३९

के अग्रभाग में पुरुष और पीछे दो स्त्रियाँ; प्राचीन श्री देवी की परम्परा में गज लक्ष्मी; सच्छत्र बोधिमण्ड युक्त बोधि वृक्ष की पूजा करते हुए मिथुन (बोधगया में सबसे उपयुक्त अंकन); बोधिमण्ड या स्तम्भ पर प्रतिष्ठित धर्म चक्र की पूजा (चित्र २३५–६); बोधिमण्ड पर त्रिरत्न; स्तूप मह; शंकुकर्ण यक्ष (ऊर्ध्वकर्ण गुह्यक या किंकर राक्षस); नीचे बैठे हुए यक्ष की सहायता से वृक्ष पर आरोहण करती हुई वृक्षका देवी (चित्र २३७); चौकी पर बकरी के साथ माता और पुत्र; पूर्णघट पर कमल वन में खड़ी हुई स्त्री की भव्य मूर्ति जैसी मथुरा से प्राप्त श्री लक्ष्मी की मूर्ति अपने नए स्वरूप में है (चित्र २३८)। बुद्ध के जीवन दृश्यों में वीणा लिए हुए पञ्चशिख गन्धर्व के साथ इंद्र द्वारा इंद्रशैल गुफा में बुद्ध का दर्शन (चित्र २४२); गुफा के बाहर अंजलि मुद्रा में खड़ी हुई मिथुन मूर्ति (चित्र २३९); एक गुफा के बाहर बैठा ऋषि और भीतर वज्रासन (चित्र २४०), ये दो दृश्य सूचित करते हैं कि

चित्र २४०

किस प्रकार उत्तरकुरु सम्बन्धी अभिप्राय बौद्ध धर्म सम्बन्धी अभिप्रायों के साथ घुल-मिल गए थे; आठ कोठों की आठ पंक्तियों अर्थात् ६४ घरों के फलक पर चौपड़ खेलते हुए दम्पती;
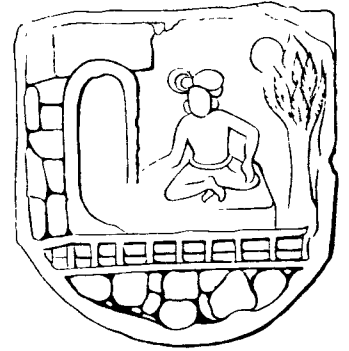
जेतवन का दान (चित्र २४?); बोधि वृक्ष की पूजा करते हुए हस्ति-समूह, जैसा भरहुत साँची में अति विशद है। बोधगया में जातकों की संख्या सीमित है, यथा—छद्दन्त जातक, पदकुसल-

चित्र २४२
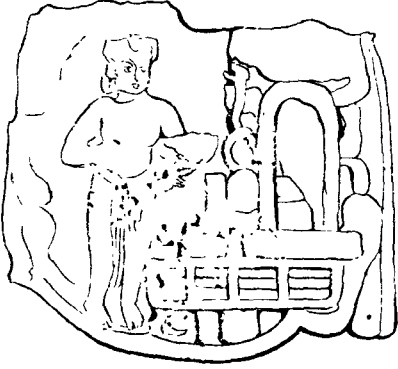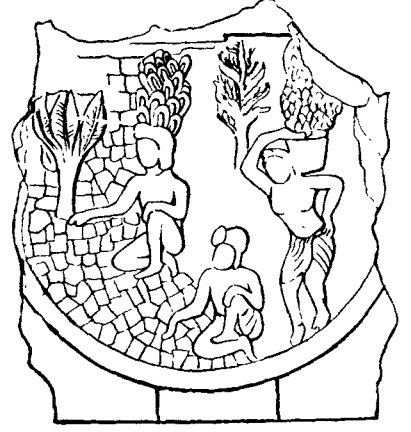
चित्र २४१

माणव जातक जिसमें अश्वमुखी यक्षी और ब्राह्मण युवक हैं (दे० पी० चित्र ५७), वेस्सन्तर जातक, किन्नर जातक, और भी अनेक हैं जिनकी पहचान अभी नहीं हो पाई है। ये बड़ी जातकें हैं, भरहुत जैसे चुटकुले नहीं।

पशुओं का अंकन बोधगया की विशेषता है, यथा—सपक्ष सिंह, सपक्ष अश्व, सपक्ष हस्ती, नर मच्छ, वृषभ, मेढ़े, बकरे, मगरमच्छ एवं अन्य बहुत से ईहामृग या कल्पनाजन्य पशु (चित्र २४३-६)। एक स्तम्भ पर गजमच्छ या जलेभ पर आरोहक पुरुष मूर्ति है। उसी स्तम्भ पर दूसरी मूर्ति सिंह-मुखी मगरमच्छ की है। अन्य जलचर, थलचर पशुओं की ईहामृग मूर्तियाँ उष्णीष पर अंकित हैं, जो साँची और मथुरा कला में उत्कीर्ण पशु मूर्तियों की व्याख्या के लिए सुन्दर भूमिका प्रस्तुत करती हैं। यही विदित होता है कि बोधगया के शिल्पियों ने जो थाती भरहुत से प्राप्त की, उसे और पल्लवित रूप में साँची और मथुरा के कला शिल्पियों को प्रदान किया। उन्होंने कई प्रकार से अपनी मौलिकता दिखाई। एक तो ईहामृगों के रूपों में वृद्धि की, विशेषतः सपक्ष पशुओं के प्रदर्शन में; दूसरे उनकी शैली सीधी, सरल और एक सूत्र में ग्रथित है, जिसमें साँची के समान क्रमिक दृश्य नहीं हैं। उन्होंने पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भी अपनी दृष्टि का विकास किया, जैसे एक स्तम्भ पर एक पेचीदा दृश्य है जिसमें बड़ी कोणांकित वेदिका में वेष्टिनी युक्त एक वृक्ष और पुनः वेष्टिनी में कई भवनों का अंकन है।

बोधगया के मन्दिर का कई बार संस्कार हुआ। इनमें गुप्तयुगीन मन्दिर सबसे महत्त्वपूर्ण था, जिसे लेख में वज्रासन स्थान पर निर्मित बृहद्गन्धकुटीप्रासाद कहा है। इसका और भी आमूल-चूल परिवर्तन १०३५-१०७९ ई० के मध्य में ब्रह्मदेश के धर्म यात्रियों ने किया। उसी समय गर्भगृह के भीतर भूमिस्पर्श मुद्रा में पद्मासन में बैठी हुई बुद्ध की बड़ी प्रतिमा पधराई गई और मन्दिर के बाहर गचकारी के काम का कञ्चुक चढ़ाया गया।

चंक्रमण (पाली चंकम) चैत्य—वज्रासन के समीप जहाँ बुद्ध भ्रमण करते थे, वह स्थान चंकम कहा गया। कहा जाता है कि सम्बोधि प्राप्त करने के बाद सात दिन तक वे ध्यान में डूबे हुए
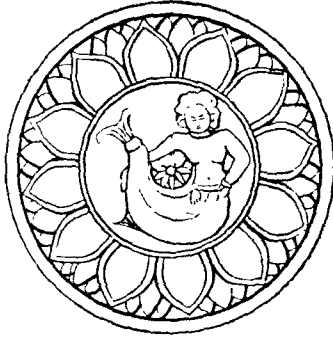
चित्र २४३

चित्र २४४
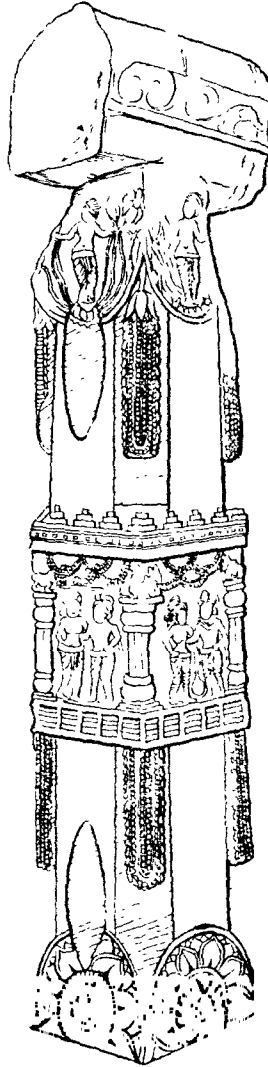
चित्र २४५

चित्र २४७ वेदिका-स्तंभ

चित्र २४६

और कुछ उधेड़-बुन करते हुए इस स्थान पर टहलते रहे। वहीं पर बाद में टहलने का चबूतरा बना दिया गया जो ५३ फुट लम्बा, ३ फुट ऊँचा और ३ फुट ६ इंच चौड़ा है। इसके दोनों ओर ११ स्तम्भ-कुम्भिका या खम्भों की चौकियाँ हैं जो चंकम की छत के खम्भों के लिए बाद में जोड़ी गईं। ये खम्भों के पादपीठ या कुम्भ मथुरा के हुविष्क विहार में मिले हुए कुम्भों के सदृश हैं (दे० फोगेल का कैटेलौग, फलक II c-d)।

एक चौकी पर पूर्णघट के मुख पर खड़ी हुई भव्य स्त्री मूर्ति या देवी श्री लक्ष्मी की मूर्ति मिली है। अत्यन्त प्राचीन काल से बौद्ध जनता में रत्नचंकम चैत्य का बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में प्रतीकात्मक महत्त्व माना गया था।

अध्याय ९

दरीगृह या पर्वत में उत्कीर्ण गुहा वास्तु

९ (अ). उदयगिरि और खंडगिरि की गुहाएँ

शुंगकालीन वास्तुकला का एक महत्त्वपूर्ण रचना-केन्द्र पूर्व दिशा की ओर उड़ीसा प्रदेश में था। भुवनेश्वर से ५ मील उत्तर-पश्चिम की ओर खंडगिरि और उदयगिरि की पहाड़ी शृङ्खलाओं में कुछ गुफाएँ उत्कीर्ण की गईं जिनके बीच में से एक पहाड़ी नदी बहती है। बलुए पत्थर की इन चट्टानों में बहुत सी गुफाएँ खोदी गईं जिनमें उन दिनों भिक्षु रहते थे। इनकी रचना में वास्तुकला का विकास देखा जाता है। खंडगिरि की गुफाएँ छोटी गर्भशालाएँ या बिल जैसी हैं और उदयगिरि की बड़ी एवं लम्बी-चौड़ी हैं। सामान्य गुफा के भीतर एक गर्भशाला और सामने छोटा स्तम्भों पर आश्रित मंडप है। कुछ गुफाओं में भीतर कई कोठे हैं, जो द्विगर्भ, त्रिगर्भ शैली की गुफाएँ थीं। बड़ी गुफाएँ द्विभूमिक या दोखंडी हैं, जिनमें ऊपर का खंड नीचे की अपेक्षा कुछ पीछे को हटाकर बनाया गया है जिससे उसके सामने खुला हुआ आंगन पड़ जाता है। ऐसी गुफाओं की एक विशेषता यह है कि सामने के मंडप में तीन ओर १—१$\frac{१}{२}$ फुट ऊँची एक आसन-पिंडिका उठने-बैठने के लिए बनी हुई है। इसी मंडप के दोनों पार्श्व भागों में ऊपर की ओर छत के नीचे गहरी खुदाई करके फुटकर सामान रखने के लिए दो भांडागारिका या भँडरिया बनी हुई हैं। गुफा में प्रवेश द्वार छोटे हैं; जैसे रानी गुम्फा का द्वार (३′ ११″×२′), जिनमें भिक्षुओं को घुटरुआँ सरक कर जाना पड़ता था। गर्भशालाओं को एक दूसरे से अलग करने के लिए ३″ मोटी भित्तियाँ हैं जो चट्टान में ही उकेरी गई हैं।

उदयगिरि में १९ और खंडगिरि में १६, यों कुल ३५ गुफाएँ हैं। उदयगिरि में गुफाओं के नाम ये हैं—रानी गुम्फा, स्वर्गपुरी या अलकापुरी, जयविजय गुम्फा, वैकुंठपुर, पातालपुरी, मंचपुरी, गणेश गुम्फा, हाथी गुम्फा, सर्प गुम्फा, व्याघ्र गुम्फा, जगन्नाथ गुम्फा, ठकुरानी, वज्रधारा, रसुई एवं हरिदास गुम्फा। खंडगिरि की कुछ प्रमुख गुफाओं के नाम इस प्रकार हैं—नवमुनि गुम्फा, सतभर गुम्फा, आकाश गंगा, देवसभा, अनन्त गुम्फा। ये गुम्फाएँ जैन भिक्षुओं के लिए बनाई गई थीं जिनके संरक्षक कलिंग के सम्राट् खारवेल थे। उनका एक बड़ा लेख हाथी गुम्फा के निकलते हुए छज्जे के नीचे की ओर उत्कीर्ण है। देखने में यह प्राकृतिक गुफा जान पड़ती है। महामेघवाहन खारवेल बड़े प्रतापी एवं उत्साही शासक थे। उन्होंने लगभग १६० ई० पू० में राज्य किया। यही समय इन गुम्फाओं का है। खारवेल का व्यक्तित्व बहुमुखी था और उन्होंने वास्तु और स्थापत्य सम्बन्धी अनेक कार्य किए, जैसे राजधानी का पुनर्निर्माण कराया। उसमें प्राकार, गोपुर, तटाक का निर्माण करके विद्याधराधिवास नामक प्राचीन राजप्रासाद का संस्कार कराया। नन्द राजाओं द्वारा निर्मित एक प्रणाली या नहर भी फिर से ठीक कराई और उसके जल की धारा नगर में ले आए। इसके अतिरिक्त स्वयं अपने मन की प्रेरणा से "महाविजय" प्रासाद नामक एक नया राजमहल बनवाया। ये सब सम्राट् की कला-सम्बन्धी रुचि के प्रमाण थे। उसने मगध

के राजा बृहस्पतिमित्र को युद्ध में हराया। लेख में यह भी लिखा है कि नन्दराज जिस जिन प्रतिमा को कलिंग से मगध ले गए थे उसे खारवेल फिर लौटा लाए। यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है जो द्वितीय शती ईसवी पूर्व जैन तीर्थंकर मूर्तियों का अस्तित्व सिद्ध करता है। सम्भवतः मूर्ति बनाने की यह प्रथा जैनों में और भी पुरानी थी जैसा कि पटना के लोहानीपुर मोहल्ले से प्राप्त तीर्थंकर की ओपदार खड़ी मूर्ति से भी इस कल्पना को बल मिलता है। खारवेल ने ही अपने राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में कुमारी पर्वत पर, जो उदयगिरि-खंडगिरि का प्राचीन नाम था, जैन संघ के लिए गुम्फाएँ उत्कीर्ण कराईं (जीवदेह सजिका परिखाता)। यह स्थान पहले से अर्हत्-निसीदिया नाम से प्रसिद्ध था।

इन गुम्फाओं में सुंदर आकृति की (वराकार) और वास्तु-सम्बन्धी कई विशेषताओं से (अनेक-योजना) युक्त स्तम्भों पर आश्रित सामने की ओर निकली हुई ऊँची खुली छतें हैं (समुत्थापित हिता)। इनके पीछे गर्भगृह या शालाएँ हैं जो वैदूर्य के समान ओपदार या प्रभा से युक्त हैं। इन धार्मिक संस्थानों के निर्माण के बाद सम्राट् ने एक बहुत विशिष्ट महोत्सव कराया। सम्राट् खारवेल के लिए इस अभिलेख में जो विशेषण आए हैं, अर्थात् क्षेमराज, वृद्धराज, भिक्षुराज, धर्मराज एवं महाविजय-राज, उनकी चरितार्थता इसी दृष्टि से सिद्ध होती है कि उन्होंने एक ओर राज-विजय और दूसरी ओर धर्म-विजय के सम्बन्ध में ऐसे लोकोत्तर कार्य किए। उनके महनीय कार्य लेख के शब्दों में आज भी गूँज रहे हैं। खारवेल की अग्रमहिषी द्वारा मंचपुरी गुफा में उत्कीर्ण एक छोटे लेख में कहा है कि वह 'लेण' जैन श्रमण या भिक्षुओं के लिए खुदवाई गई।

रानी गुम्फा—रानीगुम्फा यहाँ की सब गुफाओं में विशिष्ट है, जिसमें अनेक प्रकार की उकेरी की सज पाई जाती है। इसमें दोनों ओर बड़े पार्श्वभाग या पक्खे, भीतर बहुसंख्यक गर्भशालाएँ एवं सामने बड़ा चतुरस्र आंगन है। यह द्विभूमिक या दो मंजिलों या मालों वाली गुम्फा है, जिसमें बीच में आंगन और उसके तीन ओर चौसल्ले (चतुश्शाल) के ढंग की शालाएँ हैं (४९′ × २४′)। ऊपरी मुखमण्डप की लम्बाई ६२ फुट और निचले की ४४ फुट है। ऊपर की मंजिल निचले माले के ठीक ऊपर न होकर पहाड़ में भीतर की ओर हटी हुई है, जिससे उसके सामने खुला आंगन बन गया है। इस खुली छत तक पहुँचने के लिए दोनों ओर सीढ़ियों के कटाव हैं। इन सोपान मार्गों से छत पर जाकर दर्शक नीचे के खुले आंगन को भली प्रकार देख सकता है।

उड़ीसा की इन गुम्फाओं में भीतर उस प्रकार के चैत्यघर या पूजा स्थान नहीं हैं जैसे पश्चिमी भारत की पर्वतीय लेणों में पाए जाते हैं। चतुश्शाल आंगन के तीन ओर इस प्रकार की लम्बी-चौड़ी कक्ष्याओं और मुखमण्डपों को बनाने में निर्माणकर्ताओं का कुछ विशेष उद्देश्य जान पड़ता है। आरम्भ से ही जैन श्रमण लोक जीवन में भी रुचि लेते थे। ज्ञात होता है कि इन दुखण्डी गुफाओं का एक उद्देश्य लोगों की रुचि के लिए नाट्यशालाओं का प्रबन्ध करना भी था, जैसा रायपसेणिय सुत्त में सूर्याभदेव के विमान-वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन श्रमण और श्रावक दोनों ही धार्मिक नाटकों के आयोजनों पर निछावर थे। सामने के मुख-मंडप की पिछली भित्ति पर उत्कीर्ण दृश्यों से इस बात का संकेत मिलता है। इन दृश्यों में भारतीय साहित्य और लोकवार्त्ता की कुछ प्रमुख नाट्य-कथाओं का अंकन है। इनमें एक निश्चित रूप से उदयन-वासवदत्ता की कथा है, जिसकी पहचान में कोई सन्देह नहीं रह जाता। दूसरी कथा सम्भवतः दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा है। रानीगुम्फा के

उपरले बरामदे में आठ द्वार हैं, उनके बीच के सात भित्तिभागों में सात दृश्य उत्कीर्ण हैं। गणेश गुम्फा में उत्कीर्ण शोभापट्टी (सुहावटी) के दृश्यों में केवल दो महत्त्वपूर्ण हैं[1]।

उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(अ) रानीगुम्फा, दृश्य १ (मित्र, फलक ६)—माल्य चंगेरी लिए हुए कोई देवयोनि पुरुष। इसी शोभापट्टी के बाईं ओर का जोड़ीदार अंकन।

दृश्य २—तीन हाथी जो भगदड़ में पड़ी हुई भीड़ पर बिगड़ पड़े हैं। सामने एक स्त्री और पुरुष हाथ में भारी सोंटा लिए हुए अपना बचाव कर रहे हैं। उनके पीछे घबराई हुई स्त्रियों का झुण्ड है जो तितर-बितर हो कर भाग रही हैं, या बचाव करने वालों को सहायता देने की मुद्रा में हैं। फर्गूसन ने इसकी मिथ्या पहचान यह की थी कि इसमें राजकुमार विजय के सिंहल द्वीप में उतरने और वहाँ की यक्षिणियों के आत्म-रक्षा करने का दृश्य है (Cave temples, पृ० ८१)। (चित्र २४८)
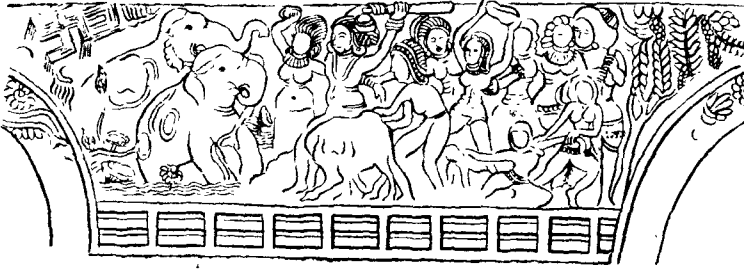
चित्र २४८

दृश्य ३—यह सबसे अधिक रोचक और सुरक्षा की दशा में है। इसमें चार स्त्रियाँ और चार पुरुष चार जोड़ों में अंकित हैं। पहले भाग में द्वार के भीतर एक पुरुष सोया हुआ है और एक स्त्री पास बैठी हुई देख रही है। इनके सामने एक दूसरी पुरुष को हाथ पकड़ कर ला रही है कि उसका परिचय पहले जोड़े से करा दे। इसके बाद दाहिनी ओर एक स्त्री और एक पुरुष हाथों में तलवार और ढाल लिए हुए घमासान युद्ध कर रहे हैं। दाहिने कोने में एक पुरुष एक स्त्री को उठाए ले जा रहा है और स्त्री अपने हाथ की उँगली से पहले लड़ते हुए जोड़े की ओर संकेत कर रही है (मित्र, फलक ६, पृ० ८, Cave temples, पृ० ८२)। यही दृश्य गणेशगुम्फा की शोभापट्टी पर भी है और प्रायः इसे स्त्रीहरण का दृश्य माना जाता है।

दृश्य ४—पट्ट के पहले भाग में तीन व्यक्ति, एक अश्व और उसे थामे हुए एक सूत है। पहले अनुचर के दाहिने हाथ में चँवर और बाएँ में छत्र है जिससे सूचित होता है कि कोई राजा घोड़े पर चढ़कर आया था और उतर गया है। दृश्य के दूसरे भाग में धनुष-बाण लिए एक राजा अपने सामने हिरनों के झुण्ड पर शर-वृष्टि करने की मुद्रा में है। उनके बीच में एक पुष्पित वृक्ष है।

---

१. रानीगुम्फा की शोभापट्टी में उत्कीर्ण सात चित्र राजेन्द्र लाल मित्र कृत 'उड़ीसा के प्राचीन अवशेष' खण्ड २ (Antiquities of Orissa) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किए गए हैं (फलक ६–११)। गणेश गुम्फा के दो दृश्य उसी ग्रन्थ के फलक १५–१६ पर प्रकाशित हैं। उनका सविस्तर वर्णन फर्गूसन और बर्जेस कृत 'भारत के गुहा मन्दिर' (Cave Temples of India) नामक पुस्तक में (पृ० ८१–८४ रानीगुम्फा, व ८६–८८ गणेश गुम्फा) किया गया है।

दृश्य के तीसरे भाग में राजा ने अपने धनुष को वापिस ले लिया है। वह एक वृक्ष के पास खड़ा है जिसके ऊपर एक स्त्री बैठी है। पेड़ के नीचे एक हिरन है। फर्गूसन ने इसकी पहचान साम जातक से की थी, जो संदिग्ध है (मित्र, फलक ९, पृ० ८; Cave temples, पृ० ८३)।

बिचले भाग में अंकित दृश्य ५ में कुछ स्त्रियाँ पद्मासन में बैठे हुए किसी साधु की पूजा करने की मुद्रा में हैं (मित्र, फलक १०, पृ० ८-९, Cave temples, पृ० ८३-८४)।

दृश्य ६ में तीन स्त्री-पुरुषों के मिथुन मधुपान करते हुए दिखाए गए हैं। ये साँची में अंकित मिथुनों के समान हैं (मित्र फलक ११, पृ० ९; Cave temples, पृ० ८३-८४)।

(आ) गणेश गुम्फा की शोभापट्टी में उत्कीर्ण तीन पूरे और दो आधे दृश्य हैं। केवल दो में मूर्तियाँ हैं। अंतिम और बीच के भाग में वेदिका का प्रचलित अलंकरण है।

दृश्य १—अवशिष्ट दो दृश्यों में से एक में रानीगुम्फा जैसा स्त्री-अपहरण का दृश्य है। इसमें भी वैसे ही आठ व्यक्ति हैं जो उसी प्रकार की चेष्टा में निरत हैं। गणेश गुम्फा की यह उकेरी रानीगुम्फा से ऊँचे स्तर की है और मूर्तियों के भाव भी अधिक सरल और स्वाभाविक हैं (मित्र, फलक १५, पृ० १०; Cave temples, पृ० ८७)।

दृश्य २—इस पट्ट में १६ व्यक्ति अंकित हैं। दृश्य के आरम्भ में कुछ पैदल सैनिक हैं, जो छोटे प्रावार या चोलक पहने हुए हैं और पीछा करने की मुद्रा में हैं। उनके सामने तीन गजारोही व्यक्ति हैं। सबसे पीछे बैठा हुआ व्यक्ति थैली खोलकर मुद्राएँ बिखेर रहा है। बीच का पुरुष, जो अधिक सम्मानित है, पीछा करते हुए सैनिकों की ओर बाण चला रहा है। सबसे आगे एक स्त्री है जो हाथ में अंकुश लिए हुए हाथी को हाँक रही है। इसके और अगले दृश्य के बीच में एक वृक्ष है। दृश्य के इस भाग में हाथी घुटनों के बल झुक गया है और उसकी पीठ पर बैठे हुए व्यक्ति उतर रहे हैं। इससे अगले भाग में वे तीनों व्यक्ति चल रहे हैं और अंतिम व्यक्ति अपने कंधे पर एक करंडी उठाए हुए है (चित्र २४९)।
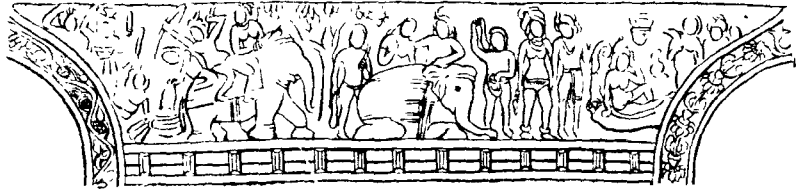
चित्र २४९

चौथे दृश्य में वही स्त्री एक राजसी आसन पर दुःखित मुद्रा में बैठी है और उसका साथी उसे धैर्य बँधा रहा है (मित्र, फलक १६, पृ० १०; Cave temples पृ० ८८)। मेजर किट्टो ने अपनी उड़ीसा यात्रा के वृत्तान्त में, जो एशियाटिक सोसायटी बंगाल की पत्रिका के १८३८ के अंक में मुद्रित हुआ था, ये दो दृश्य काष्ठकृत ठप्पों द्वारा चित्रित किए गए थे (पृ० ६७९-६८५)।

इन दो गुफाओं में उत्कीर्ण दृश्यों पर राजेन्द्र लाल मित्र और फर्गूसन ने विचार किया था पर वे कोई निश्चित कथा न पहचान सके। हमारे विचार में इनमें से गणेश गुम्फा वाले दृश्य उदयन-वासवदत्ता की सुप्रसिद्ध कथा से सम्बन्धित हैं और रानी गुम्फा के दृश्य दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा को चित्रित करते हैं।

वासवदत्ता-उदयन कथा—इस पहचान का आधार वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी से प्राप्त मिट्टी के तीन टिकरे हैं। ये टिकरे इस समय भारत कला भवन में सुरक्षित हैं और एक ही साँचे की ढार जान पड़ते हैं। इनमें कथावस्तु अपने तन्त पर है जिसमें वासवदत्ता का अपने पितृगृह अवन्ति से उदयन के साथ पलायन का दृश्य है। हथिनी की पीठ पर कौशाम्बी का विदूपक वसन्तक भी बैठा है। कौशाम्बी से प्राप्त टिकरे उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् की पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं[1]। इस दृष्टि से गणेश गुम्फा में उत्कीर्ण शोभापट्टी का दृश्य स्पष्ट हो जाता है। पाषाण एवं मिट्टी दोनों के दृश्यों में अवन्ति के सैनिक हथिनी का पीछा कर रहे हैं। पीछे बैठा हुआ वसन्तक सिक्के बिखेर रहा है जिससे सैनिकों का ध्यान उन्हें उठानेमें बँट गया है। पार्थिव टिकरे में उदयन अपनी घोषवती वीणा लिए हुए है किन्तु पाषाण दृश्य में वह धनुष बाण लिए हुए पदातियों पर शरवृष्टि कर रहा है। दोनों दृश्यों में वासवदत्ता के बैठने की मुद्रा एक जैसी है। वह दाहिने हाथ में अंकुश लिए अपनी हथिनी को चला रही है। टिकरे पर केवल पलायन का दृश्य है किन्तु शोभापट्टी पर और भी आगे के कई दृश्य हैं। वनान्त के सूचक वृक्ष के अनन्तर वासवदत्ता और उदयन कौशाम्बी पहुँच गए हैं और हथिनी पर से उतर रहे हैं। उसके बाद के दृश्य में वसन्तक मुद्राओं की थैली कंधे पर लिए है और उदयन वासवदत्ता को हाथ पकड़कर राजप्रासाद में लिए जा रहे हैं। चौथे दृश्य में वासवदत्ता कुछ व्याकुल मुद्रा में है और उदयन उसे सांत्वना दे रहे हैं (चित्र २४९)। उदयन की कथा ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्य में मिलती है[2]। मूलतः यह प्रेमाख्यान था अतः धर्म भेद से कथा में भेद नहीं पड़ा। आख्यान के तीनों रूपों में उज्जयिनी से उदयन के भागने का वर्णनपरक अंश समान रूप से है। मिट्टी के टिकरे और कलिंग की गुम्फाओं की शोभापट्टी दोनों ही लगभग दूसरी शती ई० पू० के हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उत्तर और पूर्व भारत में उस प्राचीन काल में कथा का क्या रूप था। दोनों में और सब बातें तो एक सी हैं केवल भेद यह है कि टिकरे पर उदयन के हाथ में घोषवती वीणा है जो पत्थर में नहीं है। भास के नाटक में वीणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः सम्भव है कि टिकरे की कथा का और भास के नाटक का मूल स्रोत एक ही हो।

हाथी को वश में करने का दृश्य—इसमें अवन्तिराज के मस्त हाथी नलगिरि को उदयन द्वारा अपने मधुर संगीत से वश में लाने का या शान्त करने का दृश्य (चित्र २४८) है। हेमचन्द्र की कथा में यह दृश्य इस प्रकार है—

---

१. "रायकृष्णदास—वासवदत्ता-उदयन कथा सम्बन्धी मिट्टी का टिकरा", दे० अंग्रेजीअनुवाद, JUPHS, पन्नालाल विशेष अंक, १९४५, पृ० ८२–९०)।

२. उदयन की कथा का हिन्दू रूप कथासरित्सागर के दूसरे लम्बक में उदयन आख्यान के अन्तर्गत पाया जाता है। भास और हर्ष के नाटकों में भी यह कथा आई है। बौद्ध कथा का रूप जातकों में है। इन तीनों रूपान्तरों का विवेचन बर्लिंगम ने अपनी पुस्तक "बौद्ध आख्यान" (Buddhist Legends), भाग १, पृ० ६२ (हर्वर्ड ओरियन्टल सीरीज २८) में किया है। यद्यपि उदयन कथा का बीज आवश्यक सूत्र नामक जैन ग्रन्थ में है किन्तु पूरी प्रेम कथा बाद के तीन ग्रन्थ अर्थात् हेमचन्द्र कृत त्रिशष्टि-शलाका-पुरुषचरित (१२वीं शती), सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध (११५८ शती) एवं मलधारी देवप्रभ कृत मृगावतीचरित में पाई जाती है। हरिभद्र कृत आवश्यक सूत्र टीका से देवप्रभ ने अपनी सामग्री ली।

एक दिन नलगिरि ने उन्मत्त होकर अपना बन्धन-स्तम्भ उखाड़ डाला, दो महावतों को गिरा दिया और अपनी मनमानी गति से जनता में भगदड़ मचा दी। प्रद्योत राजा ने मन्त्री अभय से पूछा—आपे से बाहर हुए इस हाथी को कैसे वश में लाया जाए। उसने कहा—उदयन का संगीत कराइए। राजा की आज्ञा पाकर उदयन और वासवदत्ता ने मिलकर नलगिरि के समीप गान किया। गान सुनकर नलगिरि कुछ ठिठका तभी उसे गिराकर रस्सों से बाँध लिया गया। तब राजा ने अभय को एक और वर दिया, जिसे उसने फिर कभी माँग लेने का वादा किया।

स्त्री-अपहरण दृश्य—रानी गुम्फा और गणेश गुम्फा के स्त्री-अपहरण दृश्य की पक्की पहचान नहीं की जा सकती। दृश्य के पहले भाग में अंकित स्त्री-पुरुषों से वासवदत्ता की कथा का कुछ संकेत मिलता है। ज्ञात होता कि राजा चण्डप्रद्योत ने उदयन को वन्दीगृह में रख दिया था और वासवदत्ता छिपकर उससे मिल रही है। दूसरे दृश्य में स्वयं वासवदत्ता या उसकी कोई सखी वसन्तक को उदयन के पास ले जा रही है। किन्तु तीसरे-चौथे दृश्यों में स्त्री और पुरुष के बीच तलवार द्वारा घमासान युद्ध और स्त्री के अपहृत किए जाने की बात का इससे मेल नहीं खाता (चित्र २५०)।

चित्र २५०

राजा की मृगया का दृश्य—दुष्यन्त-शकुन्तला कथा का दृश्य—इस रोचक दृश्य का सारा रूपक राजा दुष्यन्त का कण्वाश्रम में आगमन और प्रथम दर्शन में शकुन्तला पर मोहित हो जाना है (सं० ४ रानीगुम्फा; मित्र, फलक ९)। उत्कीर्ण दृश्य के कई भाग स्पष्ट और निश्चित हैं। आरम्भ में दुष्यन्त अपने सैनिकों के साथ आए हैं। उनकी उपस्थिति कोतल घोड़े से दिखाई गई है जिसके पीछे एक अनुचर चँवर और छत्र लिए हुए, जो राजचिह्न थे, अंकित है। दूसरे दृश्य में राजा धनुष-बाण लिए भयभीत मृगों का आखेट कर रहा है। तीसरे दृश्य में मृग-झुण्ड का नेता राजा को एक स्त्री के समीप ले जा रहा है। राजा अपना शरासन फेर कर उस स्त्री से बात कर रहे हैं। स्त्री वृक्ष की शाखा पर बैठी है और मृग नीचे खड़ा है (चित्र २५१)।
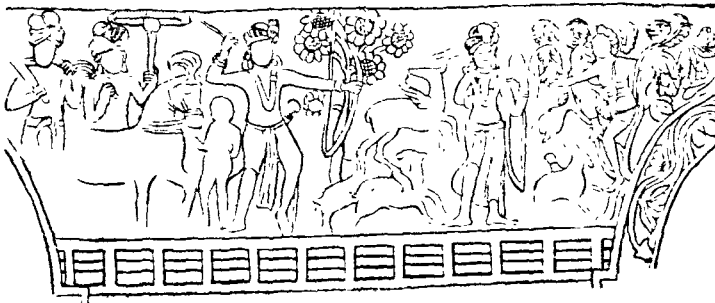
चित्र २५१

कथा का यह रूप महाभारत के आदि पर्व में दी हुई कहानी के अधिक निकट है (अध्याय ६३-६४, पूना संस्करण)। वहाँ कहा है कि एक बार दुष्यन्त आखेट का साज सजाकर एक वन से दूसरे वन में विचरता हुआ कण्व के आश्रम में जा पहुँचा। आश्रम सुनसान था। केवल एक ऋषि

कन्या वहाँ थी जो उससे बातें करने लगी। राजा ने चतुराई से बात चलाते हुए कहा कि वह ऋषि के दर्शन के लिए वहाँ आया था। कन्या ने उत्तर दिया कि उसके पिता वन के भीतर फल चुनने गए हुए हैं। इस पर राजा ने कन्या से उसका परिचय पूछा और प्रश्न किया कि ऋषि होते हुए कण्व के यहाँ पुत्री का जन्म कैसे हुआ। उत्तर में शकुन्तला ने मेनका और विश्वामित्र से अपने जन्म की कथा कही। जैसे ही उसकी बात पूरी हुई राजा ने उससे प्रणय का प्रस्ताव किया जिसे उसने कुछ संकोच के साथ एवं राजा से वचन पाकर स्वीकार किया। कथा के इस सीधे-साधे रूप में शकुन्तला की प्रियंवदा और अनुसूया नामक सखियों का कोई उल्लेख नहीं है और न दोनों ओर से प्रेम सम्बन्धी वार्तालाप का वर्णन है, जैसा कालिदास के नाटक में है।

इस प्रकार की प्रेम कथाएँ साहित्य और कला दोनों का अंग थीं एवं देश के पूर्वी छोर पर उनके अंकन से उनकी लोकप्रियता सूचित होती है।

मुखमण्डप की टेक सादा खम्भों पर है। ऊपरी छत के एक ओर पत्थर की आसन्दी और पादपीठ है जिस पर सम्भवतः विहार-स्वामी बैठते थे। द्वारों के उठते हुए कमांचों के बिचले भागों में छोटी वेदिका के अलंकरण हैं जैसे पश्चिमी भारत के चैत्यगृहों के मुहार पर पाए जाते हैं। वेदिका में दो खम्भों के बीच तीन सूचियाँ हैं, जिन पर फुल्लों के कटाव नहीं हैं (चित्र २५२)। किन्तु रानीगुम्फा और गणेश-गुम्फा के शिल्पी पुष्कर या कमल के फुल्लों में पर्याप्त रुचि रखते थे और वेदिका एवं शोभापट्टी में उन्होंने इस अलंकरण का उपयोग किया है (चित्र २५३)। इससे ज्ञात होता है कि उनके मन में पद्मवर वेदिका के अभिप्राय की वैसी ही स्पष्ट कल्पना थी, जैसी मथुरा एवं भरहुत के कलाकारों के मन में थी। वेदिका के ऊपर मानवी आकृतियों की विविक्त या कम उभरी हुई सज है। अर्धवृत्ताकार कमांचों पर फूल-पत्ते और कई भाँति की लतर या अलंकरण तथा सिंह, हाथी या मृगों के मुख से निर्गत वल्लरी के कटाव हैं धार्मिक चिह्नों के कुछ उदाहरण ये हैं—वेदिकामय कटहरे में बोधिवृक्ष, स्तूप पूजा के दृश्य जैसे भरहुत, साँची व बोधगया में हैं, एक तिकोने कठौटे पर स्वस्तिक और त्रिरत्न की उकेरी। दूसरे खण्ड की शोभापट्टी के दाहिने कोने में एक शकजातीय कुन्तधारी राजमानुष उत्कीर्ण है जो उदीच्य वेष पहने है, अर्थात् कसा हुआ वारबाण, पटका जिससे म्यान में रक्खी ऊना या छोटी तलवार झूल रही है, पिण्डली तक पैरों को ढकने वाले भारी जूते (खपुसा)
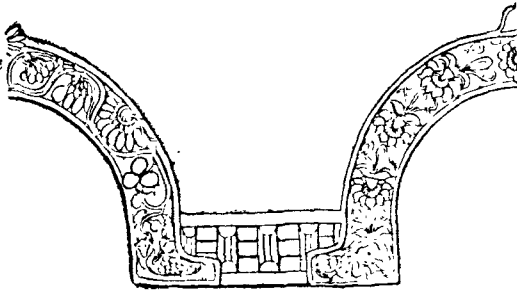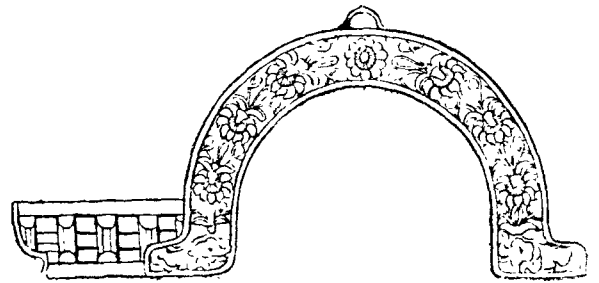
चित्र २५२

चित्र २५३

(चित्र २५४)। उत्तरकुरु दृश्यों में जो आपान गोष्ठी के दृश्य पाए जाते हैं और जैन साहित्य में मद्यांग कल्पवृक्ष के नाम से जिनका उल्लेख है, भरहुत की भाँति यहाँ भी दिखाए गए हैं। इन्हीं में पनस फल की आकृति के पात्र भी हैं जो मद्य रखने के काम आते थे (चित्र २५५)।

चित्र २५४
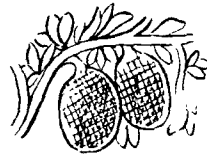
चित्र २५५

चित्र २५६

एक दूसरे दृश्य में बंदरों द्वारा हाथियों के बन्धन का दृश्य है। बानर इन महाकाय पशुओं को विजयोल्लास के साथ हाँके ले जा रहे हैं (चित्र २५६)। एक वानरराज तपस्वी बनकर बैठ गया है (चित्र वही)। हाथी और बंदरों के बीच छेड़-छाड़ की यह कोई पुरानी लोक कथा थी जिसका अंकन भरहुत वेदिका पर भी हुआ है। इसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी आया है (विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड १ अ० २५१)। अन्य पशु ये हैं—पर्याण और आभूषणों से सज्जित अश्व, सपक्ष मृग, आरोहक स्त्री युक्त वृषभ (चित्र २५७)।

चित्र २५७

जैसा पूर्व में कहा है, इन गुफाओं की विशेषता मुखमण्डप की वह द्वार पंक्ति है जिसमें पशु-संघाट (पीठ सटा कर बैठे हुए पशुओं के जोड़े) शीर्षक वाले चौकोर खम्भों पर कमांचे टिके हुए हैं। उड़ीसा की गुम्फाओं में ये डाटें अर्धवृत्ताकार हैं, घोड़े की नाल जैसी नहीं। ये खम्भे चौकोर हैं, जिनके ऊपर पूर्णघट के शीर्षक और सादी घुड़िया हैं, जैसे रानी गुम्फा में। अन्यत्र पशु संघाट अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत हैं। अनन्त गुम्फा में स्तम्भ के खड़े डंडे और घुड़िया के बीच में तोरण शालभंजिका की आकृतियाँ साँची के तोरणों की अपेक्षा अधिक सादा हैं। मञ्चपुरी गुम्फा में तोरण के इस भाग में अलफ मुद्रा में अश्वारोही मूर्तियाँ

उत्कीर्ण हैं। इसी की अनुकृति पर आगे चलकर व्याल तोरण की मूर्तियाँ बनने लगीं जैसी सारनाथ में पाई गई हैं।

उदयगिरि की दूसरी महत्त्वपूर्ण गुफा का नाम गणेश गुम्फा है। यह एकमंजिली है। पीछे की ओर द्विगर्भशाला, सामने स्तम्भों पर आश्रित मुखमण्डप (३० फुट लम्बा और ६० फुट गहरा) है। उस पर चढ़ने के लिए एक सोपान मार्ग है जिसके दो ओर दो द्वारपाल हाथी बने हैं। यह योजना यहाँ प्रथम बार इसी गुफा में मिली है। मुखमण्डप में पाँच खम्भ और थमले हैं। खम्भे ऊपर नीचे चौकोर और बीच में अठपहल हैं। उनका अष्टास्त्रि रूप पख मारकर निकाला गया है। ऊपर के शीर्षक के कोने में एक स्त्री मूर्ति या तोरणशाल-भंजिका शरीर की मोड़-मुड़क के साथ बनाई गई है, जैसी मंचपुरी गुम्फा में हैं। दोनों ओर के अर्धस्तम्भों पर गढ़ कर काढ़े हुए दो कुन्तधारी राज-मानुष या रक्षापुरुष हैं। अभ्यन्तरशाला में दो गर्भगृह हैं। उनमें प्रवेश पाने के लिए चार द्वार हैं (चित्र २५८)। इन प्रवेश द्वारों के गोलम्बर पर कीर्तिमुख के अलंकरण हैं जैसे चैत्य गृहों में पाए जाते हैं। द्वारों के बीच के अन्तःप्रदेशों पर वासवदत्ता-उदयन की कथा के दृश्य उत्कीर्ण हैं।
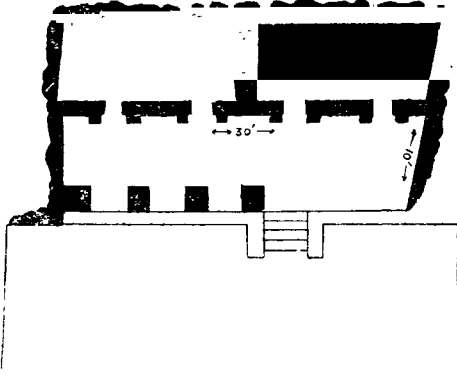
चित्र २५८

जयविजय गुम्फा के वास्तु-विधान की विशेषता यह है कि उसमें नीचे-ऊपर के दोनों खण्ड ठीक एक दूसरे के साथ ब्रह्मसूत्र में हैं अर्थात् ऊपरी खण्ड का न्यास नीचे की अपेक्षा पीछे हटाकर नहीं बनाया गया। दो गर्भशालाओं के सामने जो मुखमण्डप है, उसके दो रक्षकों में एक पुरुष और एक स्त्री है, जैसा प्रायः पश्चिम भारत के चैत्यों के गृहमुखों में देखा जाता है। द्वार मुखों पर उत्कीर्ण वेदिका अलंकरणों के बीच में बोधिवृक्ष बने हैं। स्त्रियाँ उनकी पूजा कर रही हैं। शोभापट्टी के अंत में फूलपत्ती का काम रानीगुम्फा के समान है और यक्षों की मूर्तियाँ भी बनी हैं। स्वर्गपुरी गुम्फा का ऊपरी तल मंचपुरी के समान भूमितल के ठीक ऊपर है। यह सुविस्तृत मण्डप के आकार का है जिसमें पूजा-पाठ के लिए श्रमण संघ एकत्र होता था और भिक्षु संगीति का समारोह मनाते थे। द्वार के दोनों कच्छपुटों (कछौटों) में हाथियों के दो अति सुन्दर अलंकरण हैं।

वास्तु कला की दृष्टि से व्याघ्रगुम्फा एक मौलिक विन्यास है। इस गुफा की आकृति लेटे हुए एक सम्मुखदर्शन या जम्हुआते हुए बाघ की है जिसका ऊपरी जबड़ा छत पर और नीचे का देहली द्वार के स्थान पर है। यही गुफा का प्रवेश द्वार है। गुफा छोटी, ६ फुट ४ इञ्च गहरी और ७ से ९ फुट लम्बी है। द्वार के पार्श्वस्तम्भ भीतर की ओर कुछ झुके हैं और दोनों थमलों पर सपक्ष गजों के एवं पूर्ण घट युक्त शीर्षक हैं। जैसे धौली की पहाड़ी में महाकाय हाथी की प्रभावोत्पादक मूर्ति है, वैसे ही यहाँ की महाव्याघ्र मूर्ति है। उड़ीसा के शिल्पी इस प्रकार की कलाकृतियों के धनी थे। एक छोटे लेख
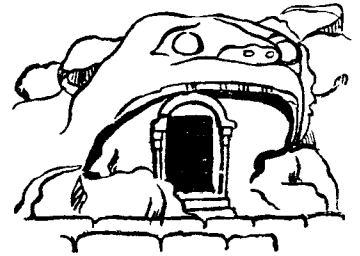
चित्र २५९

के अनुसार यहाँ सभूति नामका श्रमण मानों मृत्युमुख में रहता हुआ ध्यान में लीन रहता था (चित्र २५९)।

सर्प गुम्फा की एकगर्भ शाला के सामने के छोटे मण्डप के द्वार के कछौटे में एक त्रिफण सर्प की मूर्ति है। ज्ञात होता है कि जैनों को भी नाग, यक्ष, श्रीलक्ष्मी आदि लोकदेवताओं में रुचि थी।

खण्डगिरि पहाड़ी पर अनन्त गुम्फा सबसे विशिष्ट है। इसमें भीतरी गर्भशाला (२४′ × ७′) के सामने मुखमण्डप (२६′ × ७′) है जो खम्भों पर टिका है और जिसके सामने खुली छत की शान है (चित्र २६०)। गर्भशाला की छत में फुट भर की गोलाई है। मूलतः इसमें चार द्वार थे जिनके गोलम्बरों के बीच में शोभा-पट्टियाँ थीं। इस गुम्फा में जो मूर्तियाँ हैं उनका बहुत महत्त्व है। ज्ञात होता है जैसे कलाकारों ने प्राचीन अलंकरणों की एक प्रदर्शिनी की कल्पना की हो। इसके कारण इस गुम्फा की सजावट भरहुत-साँची के बड़े स्तूपों और पश्चिमी भारत के चैत्यघरों के समान बहुमुखी और महत्त्व की ठहरती है। उदाहरण के लिए यहाँ कपिशीर्षक या पञ्चपट्टिका अलंकरण के बीच में एक सुन्दर त्रिकोणाकृति कमल है। उसकी बेल में वेदिका और फिर कमल, इस प्रकार का क्रम है। कमांचे के शिखास्थान या चोटी पर त्रिरत्न चिह्न बना है। कछौटों में जोड़ा खाते हुए नाग मिथुन हैं। उन्हीं में विद्याधर-युगल हैं, जो पुष्प चंगेरी लिए हुए दाहिने हाथ से दिव्य पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। इनमें कुछ ऐसे स्तम्भ हैं जिनके सिरे पर औंधे रखे हुए कमलों के खारेदार या लहराते हुए मौज पत्ते

चित्र २६०

ऐसे ही हैं जैसे बेसनगर के स्तम्भ शीर्षक पर। एक अर्धस्तम्भ पर पूर्णघट की शोभा है। अन्यत्र चतुरस्र वेदिका के मध्य में चैत्यवृक्ष है, जिसके दाहिनी ओर अंजलिमुद्रा में एक पुरुष और बायीं ओर फूलमाला लिए हुए एक स्त्री वृक्ष की पूजा कर रहे हैं। उनके साथ टोंटीदार झारी लिए दो वामन अनुचर हैं और चोंच में कमल के फूल लिए उड़ते हुए बारह हंसों की श्रेणी है। शाला की गर्भ-भित्ति पर भी त्रिरत्न और स्वस्तिक के भूषण हैं। एक दूसरी मूर्ति में कमलों पर खड़ी हुई देवी श्रीलक्ष्मी दिखाई गई हैं। उनके दोनों ओर उठते हुए कमलों पर दो हाथी देवी का अभिषेक करने की मुद्रा में हैं (चित्र २६१)। श्रीलक्ष्मी या गजलक्ष्मी की यह मूर्ति लगभग सारे भारत में और सब धर्मों को मान्य थी। ऋग्वेद के खिलसूक्त से लेकर
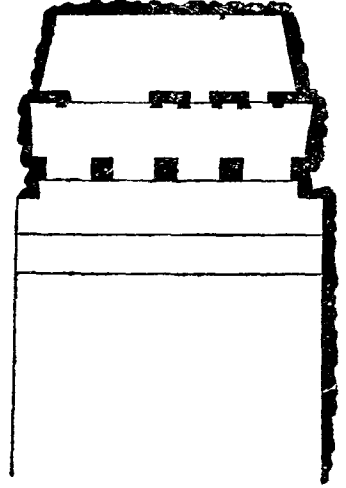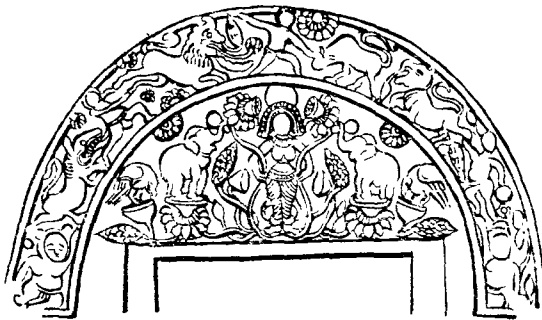
चित्र २६१

यजुर्वेद (श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ) के पुरुषसूक्त में एवं समस्त भारतीय साहित्य और कला में, मुद्राओं पर और खिलौनों में देवी श्रीलक्ष्मी का वर्णन और अंकन पाया जाता है। महाभारत और पुराण पद्मश्री के वर्णन से भरे पड़े हैं। वस्तुतः श्रीलक्ष्मी एक लोकदेवता थी जिसकी मान्यता ऋग्वेद के समय में थी और आजतक चली आई है। वह सब धर्मों में गृहस्थ जीवन की अधिष्ठात्री देवी थी और आज भी है।

अतः स्वाभाविक है कि कलिंग की जैन गुम्फाओं में, भरहुत, साँची के स्तूपों पर एवं पश्चिमी भारत की चैत्य गुफाओं में श्रीलक्ष्मी का अंकन किया गया हो। इसे श्री माँ भी कहते थे। कलिंग में प्राप्त इसकी मूर्ति सूचित करती है कि धर्म का जो कमल सारे देश में खिला था, उसी की पंखुड़ियाँ उड़ीसा में भी विकसित हुईं। अनन्तगुम्फा में एक अन्य विशिष्ट मूर्ति सूर्य की है जो चार घोड़ों के रथ में अपनी दो पत्नियों सहित बैठे हैं। यह वैसीही है जैसी बोधगया में बोधिमण्ड की वेदिका पर पाई गई है।

द्वारों के पार्श्वस्तम्भ अपने ढंग के एक ही हैं, जिनमें कलिंग के शिल्पियों की मौलिकता और बहुमुखी अलंकरण-प्रियता देखी जाती है। अर्धस्तम्भों के बीच का दण्ड भाग नीचे की ओर पूर्णघट के मुख में खड़ा किया गया है, जिसमें से कमल के लहराते पत्ते बाहर आ रहे हैं। पूर्णघट की चौकी में ऊपर नीचे कई चौके लगे हैं। खम्भों के डण्डे ऊपर नीचे चौकोर और बीच में कोर कर अष्टांसिक या अठपहल बनाए गए हैं। स्तम्भशीर्षक में पशुसंघाट बने हैं। शीर्षकों के सपाट स्थान में श्रीवृक्ष का अलंकरण है, जिसमें वर्धमान फुल्लों के अतिरिक्त ऊपर नीचे दो पद्मक अंकित हैं। इस अभिप्राय की व्याख्या पुष्करस्रज से सम्भव है (अश्विनौ पुष्करस्रजौ, ऋ० १०।१८४।२)। यह अश्विनीकुमारों की माला थी और इसका संकेत शरीरस्थ प्राण-अपान के मेरुस्थित पाँच चक्रों से था। जैन कथा में रानी त्रिशला ने अपने १४ स्वप्नों में पुष्करस्रज का भी दर्शन किया था।

कलिंग की ये गुम्फाएँ कला के देशव्यापी आन्दोलन का अंग थीं जिसके दूसरे छोर पर पश्चिमी भारत के चैत्यगृह थे और बीच में हृदय स्थानीय भरहुत साँची के महान स्तूप थे। शुंग कला उस युग की सृजन शक्ति का प्रमुख परिचय देती है। इसका एक अन्य केन्द्र चित्तौड़ के समीप नगरी नामक स्थान में नारायणवाटक या संकर्षण-वासुदेव का खुला हुआ देवस्थान था जिसके चारों ओर भारी पत्थरों के कटाव की विकट भित्ति या वेदिका थी जो आज भी विद्यमान है। शुंग युग में ही मथुरा में शोडाष के राज्यकाल में शैल देवगृह और चतुश्शाल तोरणों का निर्माण हुआ। विदिशा में विष्णु का मन्दिर एवं यवन राजदूत भागवत धर्मानुयायी हेलियोदोर का गरुड़ध्वज स्थापित किया गया। उसी युग में अजन्ता की गुफा ९ और १० उत्कीर्ण कराई गईं। भरहुत, साँची और बोधगया में महान तोरणों और वेदिकाओं का निर्माण हुआ। सह्याद्रि में भाजा की विशिष्ट गुफा पर्वत में खोदी गई जो एक महान आन्दोलन की प्रवर्तक सिद्ध हुई जिसमें आगे चलकर लगभग १२०० चैत्यघरों और विहारों की शृंखला पूरी हुई। इसी युग में प्रतापी खारवेल ने कुमारी पर्वत या उदयगिरि की गुफाओं के निर्माण को प्रेरणा दी और इसी युग में सुप्रसिद्ध अमरावती आदि के महान स्तूपों के निर्माण का वह सिलसिला शुरू हुआ जो विराट् आन्दोलन के रूप में पाँच सौ वर्षों तक बढ़ता रहा और जिसने आँध्र प्रदेश को दिव्य-कलाकृतियों से पाट दिया।

इस प्रकार शुंग कला का देशव्यापी महत्त्व दृष्टि में आता है। वास्तु-स्थापत्य, शिल्प और चित्र इन तीनों की अवशिष्ट साक्षी से सिद्ध होता है कि देश में धर्म और कला की जो प्राचीन परम्पराएँ थीं, उन्हें शुंग युग के कलाविदों ने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। उन्हें निर्माण के नवीन प्रबल आन्दोलन का अंग बनाकर स्तूपों, चैत्यगृहों और गुम्फाओं में ढाल दिया गया। कला के क्षेत्र में ऐसा महान प्रयत्न कम देखने में आता है। उपर्युक्त तीन कलाओं के अतिरिक्त शुंगकाल में अनेक केन्द्र मिट्टी के खिलौनों या पार्थिव मूर्तियों की रचना के लिए थे, जैसे मथुरा, अहिच्छत्रा, बैराट, कौशाम्बी, वाराणसी, पाटलिपुत्र एवं चन्द्रकेतु गढ़ (२४ परगना, बंगाल)। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि शुंग युग में कला के सौन्दर्य और भावना की अनुभूति का व्यापक प्रचार देश भर में था।

अध्याय ९

९ (आ). बौद्ध पर्वतीय चैत्यगृह और विहार

हीनयान गुफाएँ—अशोक ने बिहार की बराबर पर्वत श्रेणी में गुफाएँ उत्कीर्ण करने की परिपाटी का आरम्भ किया था। लेखों में उन्हें 'कुभा' कहा गया है। वे अत्यन्त सादा ढंग की हैं और उनमें खम्भे बिलकुल नहीं हैं। अशोक के पौत्र दशरथ ने वास्तु की इस शैली को आगे बढ़ाया और नागार्जुनी पहाड़ी में वैसी ही गुफाएँ खुदवाकर उन्हें आजीवक भिक्षुओं को वर्षावास के लिए दान में दिया। अशोक के काल में ही बौद्ध धर्म पश्चिम भारत तक पहुँच चुका था। रैवतक पर्वत (गिरनार पहाड़ी) के पादमूल में जहाँ अशोक के चौदह शिलालेख उत्कीर्ण हैं, गुफाओं का एक समूह भी उत्कीर्ण है। ऐसे ही दूसरा समूह प्राचीन शूर्पारक (वर्तमान सोपारा) के समीप भी पाया गया है, जहाँ चौदह शिलालेखों का दूसरा ठिकाना था। सौराष्ट्र के मध्य में जूनागढ़ में, पूर्ववर्ती तलाज में और प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग के सान नामक स्थान में लगभग एक सौ चालीस गुफाएँ मिली हैं जो कहीं एक गर्भशाला और कहीं बहुगर्भशालाओं के रूप में खुदी हैं। इन शालाओं को यहाँ के लेखों में 'अपवरक' कहा है। उनका द्वार सामने के मुखमण्डप में खुलता है। इन्हें चैत्यगृह की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि तलाज और सान को छोड़कर और कहीं भी चैत्य या स्तूप गुफा के भीतरी भाग में नहीं है।

इस आन्दोलन का दूसरा केन्द्र शूर्पारक में था, जो उस युग का महान समुद्रपत्तन या पोतपत्तन सामुद्रिक व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। उस समय यह शोणापरान्त देश की राजधानी थी (कोंकण)। वहाँ के समृद्ध व्यापारी बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए और उसके संरक्षक बन कर उन्होंने उस युग के वास्तु और शिल्प की ओर भी ध्यान दिया तथा चैत्यगृह एवं भिक्षुओं के आवास के लिए विहार बनवाए। दिव्यावदान की पूर्णावदान शीर्षक कहानी में कहा है कि शूर्पारक का महा सार्थवाह पूर्ण बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया था। लिखा तो यह है कि उसने बुद्ध से मिलने के लिए श्रावस्ती की यात्रा की और उनका शिष्य बन गया। बुद्ध ने उसे शोणापरान्त में धर्म प्रचार के लिए भेजा जहाँ के मनुष्य बड़े कठोर स्वभाव के थे। शूर्पारक का राजा पूर्ण का मित्र था। दोनों ने बुद्ध को वहाँ आने का निमंत्रण दिया। इस कथा के मूल में यह तथ्य निहित है कि चाहे बुद्ध स्वयं वहाँ न आए हों किन्तु उनका धर्म शूर्पारक प्रदेश में पहुँच गया था।

क्योंकि यहाँ के मनुष्य लड़ाकू प्रकृति के थे, इसलिए अशोक ने भी उनकी ओर अधिक ध्यान दिया। ज्ञात होता है कि जब अशोक ने इस प्रसिद्ध स्थान को अपने शिलालेखों के लिए चुना तभी से यहाँ पर्वत में गुफाओं की खुदाई का काम भी शुरू हुआ। कालान्तर में वास्तु का यह आन्दोलन शूर्पारक से दो सौ मील के पेटे में फैल गया जिसमें भाजा, कार्ले, कन्हेरी जैसे उत्तम और विशाल चैत्य मन्दिर भी उत्कीर्ण हुए।

चट्टान में खोदी हुई इस शाला को कुभा, गुहा या घर भी कहा है। ये तीनों शब्द लेखों में आए हैं। एक छोटी शाला को अपवरक या गर्भ कहते थे। खुदाई के काम को सेलकम्म (शैलकर्म) और खुदाई करने वालों को सेलवड्ढकी (सं० शैलवर्धकि) कहते थे। इस वास्तु के आचार्यों को

महाशैल-कर्मान्तिक या महारूपकारक भी कहा गया है। पाषाण में मूर्तियाँ बनाने की संज्ञा शैल-रूप कर्म थी। इस प्रकार की वास्तु शैली का प्रधान अंग जीवित चट्टान का उत्खनन कार्य था। इस दृष्टि से खोदी गई गुफा के लिए 'कीर्ति' शब्द का प्रयोग होने लगा। इसका मूल 'कृ' धातु थी जो उत्कीर्ण शब्द में भी पाई जाती है। जिसे हम इस समय चैत्य गवाक्ष कहते हैं (Chaitya window) उसका प्राचीन नाम 'कीर्तिमुख' था। इसका शब्दार्थ 'कीर्ति' या उत्कीर्ण गुफा का मुख या प्रवेश द्वार था। भीतर के मण्डप को प्रकाश और वायु से भरने के लिए यह 'सूर्यद्वार' का काम देता था। खुदाई करते हुए ज्यों-ज्यों भीतर की ओर चट्टान खोखली होती जाती थी, उसका मलबा इसी बिल या मुख के द्वारा बाहर फेंका जाता था। कीर्ति या उत्कीर्ण गुफा के सामने चट्टान का कटाव करके खम्भे बनाने की प्रथा थी जिन्हें इसी कारण कीर्ति-स्तम्भ कहने लगे। कार्ले और कन्हेरी के चैत्य मन्दिरों के सामने अभी तक इस प्रकार के ऊँचे कीर्ति स्तम्भ बच गये हैं। उनका दर्शन चौमुखी है और उनके चारों ओर परिक्रमा की जा सकती है। त्रैकूटक राजाओं के एक लेख में इस प्रकार के शैल गृह को वस्तुतः कीर्ति की संज्ञा दी गई है। शैल गृह बनाने के लिए खनन का कार्य इसी कीर्तिमुख से आरम्भ किया जाता था। शनैः शनैः चट्टान को टाँकी से, जिन्हें तकुए कहते थे, काटकर भीतर की ओर प्रवेश करते थे। उसके वास्तु का सांगोपांग न्यास शिल्पी अपने मन में बैठा लेते थे। चैत्यगृह का मुखभाग या घरमुख दो भागों में विभक्त किया जाता था। एक ऊपर का कीर्ति मुख या सूर्यद्वार और दूसरा ठोस चट्टानी भित्ति भाग जिसमें तीन प्रवेश द्वार काटकर भीतर जाने के लिए तीन मार्ग बनाए जाते थे। बीच के द्वार से महामण्डप या नाभि स्थान में और दो पार्श्व-स्थित द्वारों से प्रदक्षिणापथ के दाहिने-बाएँ भाग में प्रवेश किया जाता था। भीतर का बड़ा मण्डप कीर्ति और ऊपर का बड़ा बिल या मुखछिद्र कीर्तिमुख कहलाता था। इस प्रकार की कीर्ति या गुफाओं के लिए लेण (सं० लयण) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जो आजतक चालू है।

उनके दो रूप थे, एक चैत्यगृह, दूसरे विहार। चैत्यघर में कोई रहता न था। वह केवल पूजा का स्थान था। उसकी आकृति वृत्तायत होती थी अर्थात् आरम्भ का भाग आयताकार और अन्तिम अर्ध-वृत्ताकार होता था। अर्धवृत्तभाग में ऊपरी छत के गर्भसूत्र के ठीक मध्य बिन्दु के नीचे चट्टान में कटाव करके ठोस अण्डाकृति स्तूप की रचना की जाती थी। अन्यत्र की भाँति स्तूप में चतुरावलि हर्मिका और सुविधानुसार एक दो वेदिकाओं का अलंकरण बनाया जाता था। स्तूप को चैत्य भी कहते थे, इसी कारण इन लेणों का सरल नाम चैत्यगृह विख्यात हुआ। बीच के लम्बे मण्डप में पूजा-पाठ और संगीति के लिए भिक्षु एकत्र होते थे और दोनों ओर के प्रदक्षिणापथ में चलकर चैत्य की परिक्रमा करते थे। यह प्रदक्षिणापथ मण्डप के खम्भों और चैत्य-घर की पाषाण-भित्ति के बीच का मार्ग था, जो स्तूप के पीछे से घूमता था। स्तूप वाला भाग मन्दिरों के गर्भगृह के समान था और स्वयं स्तूप देवमूर्ति के तुल्य। इस प्रकार मण्डप और प्रदक्षिणापथ को मिलाकर इन बौद्ध
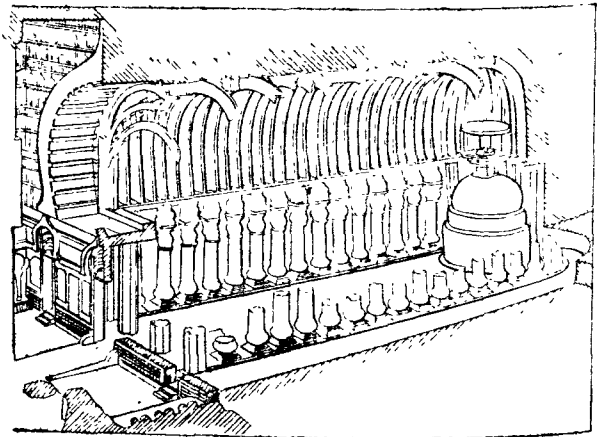
चित्र २६२

चैत्य-गृहों में और कालान्तर के ब्राह्मण देवालयों में वास्तु-विन्यास की अद्भुत समानता थी। बीच का मण्डप देखने में विशाल और भव्य जान पड़ता था। उसके दोनों ओर के ऊँचे खम्भों पर ढोलाकार छत टिकी रहती थी। यद्यपि चट्टानी कटाव में इस प्रकार के पायों का विशेष प्रयोजन न था, क्योंकि पहाड़ी छत स्वयं अपने बल पर टिकी रहती थी। पर कहीं-कहीं तो इससे भी आगे बढ़कर गोल छत के नीचे लकड़ी की बड़ी-बड़ी गोल धन्नियाँ (वक्रदारु) लगाई जाती थीं। उन्हें देखकर उन कर्मान्तिकों के अमित धैर्य और तक्षण बल का कुछ अनुमान होता है (चित्र २६२)। इन गुफाओं में रहने वालों के सामने पानी की समस्या थी। इसके लिए पहाड़ के ऊपरी ढलानों से छोटी-मोटी सलिलान्तर नालियों का एक जाल सा बिछा कर जगह-जगह पानी की छोटी धार या गूल ले जाते थे और उस जल को गुफा के पास चट्टान में द्रोणि काटकर एकत्र करते थे। इन नालियों को पानीय पणाडी और संग्रह की गहरी द्रोणियों को लेखों में पानीय पोढ़ि या पानीय भाजन या पानीय घर कहा गया है। यह युक्ति पर्याप्त सफल हुई, क्योंकि कन्हेरी, अजन्ता, ऐलीफेन्टा में ये पानी भरी द्रोणियाँ आज तक हैं। इनका सबसे बड़ा और विस्तृत रूप कन्हेरी में है।

इन लेणों की खुदाई में ऊँची ढोलाकार छत बड़ी प्रभावशाली है। जैसा कहा गया है इनमें जड़ी हुई लकड़ी की बड़ी पसलियों का पंजर आश्चर्य का विषय है और प्राचीन काष्ठ शिल्प का चमत्कार सा लगता है। चट्टानी गुफाओं से पूर्व की शतियों में इस प्रकार के महामण्डप काष्ठ से ही बनाए जाते थे। उन्हीं की अनुकृति शैल-गुफाओं के मण्डपों में बरती गई। यद्यपि उसका वह पूर्व प्रयोजन शेष हो चुका था तो भी इसके निर्माण में समय, धन और शक्ति का पर्याप्त व्यय तो होता ही था। इन शैलीय गुफाओं में और भी कई तरह से काष्ठ शिल्प का प्रयोग चालू रहा; जैसे—कीर्तिमुख के गोलम्बर में भरे हुए पंजर में और नीचे लगे हुए पर्दों में या उसके आगे निकलते हुए गहरे छज्जों में जो संगीत-शालाओं के काम आते थे (चित्र २६२)। कुछ गुफाओं में ये अभी तक हैं और कुछ के चले गए हैं। भरहुत और साँची के बौद्ध स्तूपों की महावेदिकाओं के लिए पर्वतीय चैत्य गुफाओं में कोई स्थान या औचित्य न था। किन्तु रूपकर्म के अभ्यासी तक्षाओं के मन पर वेदिका अलंकरण की ऐसी मोहिनी व्याप्त थी कि पश्चिमी भारत के इन चैत्य घरों के मुखमण्डपों के भीतर-बाहर की भित्तियों या मुखपटों को उन्होंने छोटी-छोटी वेदिकाओं के अलंकरणों से पाट दिया है। इनसे वेदिकाओं का कटहरे या वेष्टिनी जैसा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। ये केवल शोभा के लिए हैं और इन्हें 'मिथ्या वेदिका' कह सकते हैं। ऊपर नीचे बेल में काढ़ी हुई इनकी लम्बी पंक्तियाँ देखने में बहुत सुहावनी लगती हैं।

भारतीय कला में वास्तु और शिल्प का ऐसा आन्दोलन प्रायः अपनी उपमा नहीं रखता जैसा इन पर्वतीय गुफाओं में मिलता है। तीसरी शती ईसवी पूर्व से लगभग ८वीं शती तक अर्थात् एक सहस्र लम्बे समय तक यह वास्तु शैली फूलती-फलती रही। उत्तर में मगध से लेकर पूर्व में कलिंग तक और पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर दक्षिण में महाबलीपुरम् के मण्डपों तक इस शैली के लगभग १२०० नमूने मिले हैं जो ५० केन्द्रों में बँटे हैं। इनमें से कुछ समूहों में १०० गुफाएँ तक हैं, जैसे जुन्नार में। अजन्ता में गुफाओं की संख्या तो २९ है पर उनका विशाल कलात्मक और सुन्दर रूप सर्वोपरि है। इनमें से ९०० गुफाएँ बौद्धधर्म की प्रेरणा से बनी एवं शेष तीन सौ जैन और ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस विशेष वास्तुशिल्प और इसके निपुण शिल्पी आचार्यों की सत्ता देश भर में व्याप्त हो गई। तिथिक्रम की दृष्टि से गुफा वास्तु दो काल-खण्डों में विभक्त है—एक हीनयान धर्म की

गुफाएँ और दूसरी महायान की। हीनयान गुफाओं का काल तीसरी शती ईसवी पूर्व से दूसरी शती ईसवी तक था। फिर बीच में दो शतियों के व्यवधान के बाद लगभग पाँचवी शती से एक सहस्र ईसवी तक यह आन्दोलन अपने परम उत्कर्ष और विकास को प्राप्त हुआ जिसकी प्रेरणा के मूल में महायान बौद्ध धर्म था।

चैत्य गृह और विहार रूप में उनके दो भेद हैं। चैत्य गृहों की संख्या केवल २० से ३० तक है, शेष सब विहार गुफाएँ हैं।

चैत्यगृह—चैत्यगृह सभी शिलाटंकित हैं। केवल तीन चिनाई से बनाए गए हैं; एक साँची में, दूसरा तेर में (नलदुर्ग, हैदराबाद) और तीसरा चेजरला (कृष्णा जिला) में।

हीनयान युग (२०० शती ई० पू० से २०० शती तक) के आठ चैत्यगृह प्रसिद्ध हैं—भाजा, कोण्डाने, पीतलखोरा, अजन्ता (गुफा सं० १०), बेडसा, अजन्ता (गुफा सं० ९), नासिक और कार्ले। सम्भावना यह है कि जिस क्रम से ये नाम हैं सम्भवतः उसी क्रम से ये गुफाएँ भी बनीं।

चैत्यगृह को वस्तुतः बौद्ध धर्म का देवालय कहना चाहिए। इसका आकार ईसाई धर्म के गिरजे से बहुत मिलता है, जिसमें नेव (मण्डप), आइल (प्रदक्षिणापथ) और ऐप्स (गर्भगृह) ये तीन भाग होते हैं। मण्डप और प्रदक्षिणापथ के बीच में मालाकार स्तम्भ पंक्ति होती है। गर्भगृह वह भाग है जिसमें ठोस स्तूप या चैत्य रहता है, जिसकी पूजा की जाती है। यह चैत्य चट्टान को काटकर या काष्ठ अथवा इष्टकाओं से बनाया जाता था। चैत्यगृह की तुलना यदि हिन्दू देवालय के विभिन्न भागों से की जाय तो और अधिक उपयुक्त होगी। चैत्यगृह में जो स्थान चैत्य या स्तूप का था वही देवालय
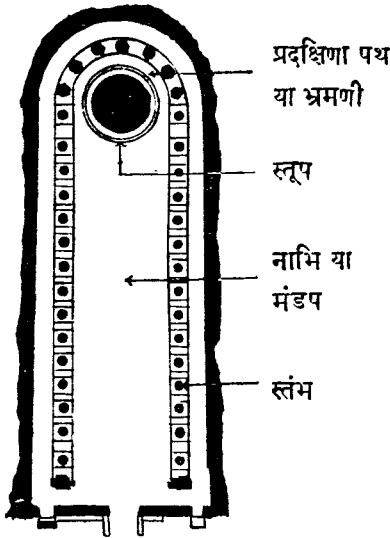
चित्र २६३
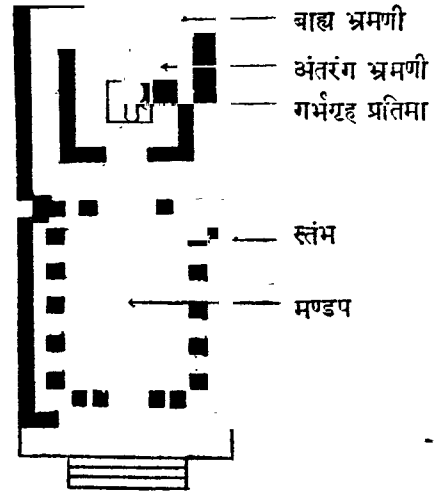
चित्र २६४

में गर्भगृह में देवमूर्ति का था। चैत्यगृह के मण्डप और प्रदक्षिणापथ भी ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवालयों के इन भागों से बहुत साम्य रखते हैं। कालक्रम से देवालयों के वास्तु और शिल्प का अत्यधिक विकास हुआ, किन्तु उनके मूलभूत अंग चैत्यगृहों जैसे ही थे (चित्र २६३-४)। आरम्भिक काल के चैत्यगृह और विहारों में भाजा को छोड़कर प्रतिमाशिल्प न्यूनतम है।

विहार—गुफा वास्तु का दूसरा भेद विहार था, जिसमें भिक्षु रहते थे। विहार का टकसाली रूप यह था—उसके भीतर एक बड़ा मण्डप चतुश्शाल के आंगन की भाँति होता था। उसमें तीन या चार ओर गर्भशालाएँ या छोटी कोठरियाँ खोदी जाती थीं। सामने की दीवार में प्रवेशार्थ एक द्वार और उसके सामने स्तम्भों पर आश्रित मुखमण्डप या बरामदा रहता था। भीतरी मण्डप की कोठरियाँ चौकोर होती थीं, जिनमें भिक्षु रहते थे (चित्र २६५)।
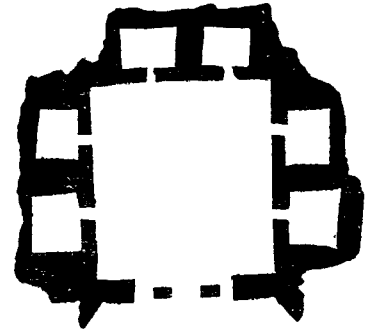
चित्र २६५

विहार भिक्षुओं का आवास गृह था। एक भिक्षु के रहने के लिए एक कोठरी या गर्भ पर्याप्त था। दो भिक्षुओं के लिए द्विगर्भ और तीन के लिए त्रिगर्भ शालाएँ बनाई जाती थीं। जहाँ बहुत से भिक्षुओं का संघ निवास करता था उस बड़े विहार को संघाराम कहा जाता था। आरम्भ में विहार छोटी गर्भशालाओं के लिए प्रयुक्त हुआ किन्तु पीछे भिक्षुओं के बड़े आकार के आवास स्थान भी विहार कहलाए। विशेषतः गुप्त युग में भिक्षुओं के विहार या संघाराम काफी बड़े होते थे, जिनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या सैकड़ों तक पहुँचती थी। विहार शब्द का यही दूसरा अर्थ प्रायः समझा जाता है। विहारों की साक्षी तो अब केवल शैलगुफाओं में ही बची है, क्योंकि उससे पूर्ववर्ती काष्ठ-निर्मित विहार अब कोई नहीं बचा। आरम्भिक चैत्यगृहों के समकालीन विहारों का वास्तुविन्यास सादा है। कालान्तर में दूसरी शती के बाद महायान धर्म के विहार विशाल और वास्तुविन्यास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने लगे। युवाङ् चाङ् ने बड़े संघारामों का वर्णन किया है जो कहीं कहीं पँचखण्डे महलों की तरह थे और जिनमें एक के ऊपर एक मंजिल मेरु की भाँति उठती चली गई थी। इनमें भूमितल की मंजिल में पाँच सौ कोठे तक होते थे और फिर हर एक माले में सौ गर्भ या शालाएँ क्रमशः कम होती जाती थीं। हीनयान युग में भी भिक्षुओं के आवास के लिए ईंटों के विहार बनते रहे होंगे। उन्हीं की अनुकृति शैलगुहागत विहारों में पाई जाती है। हीनयानी विहारों के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) बीच में आँगन की तरह का वर्गाकार बड़ा मण्डप बनाया जाता था। उसमें कोई खम्भा न होता था। उसी बीच के मण्डप में भिक्षु प्रार्थना आदि के लिए एकत्र होते थे।

(२) मण्डप के चारों ओर अपवरक या छोटी कोठरियाँ होती थीं। उनके भीतर भिक्षुओं के सोने और बैठने के लिए पत्थर में ही काटकर बनाई गई चौकियाँ होती थीं।

(३) अपवरक या कोठरियाँ आकार में छोटी (९′×९′) होती थीं और उन्हीं में एक ओर सोने के लिए लम्बी चौकियाँ बना देने के कारण प्रवेश द्वार बीच में न होकर एक सिरे पर रखा जाता था।

जो विहार बचे हैं, उनके कई समूह हैं, जैसे—(१) मगध की बराबर पहाड़ी की विहार गुफाएँ; (२) कलिंग में उदयगिरि और खण्डगिरि की गुम्फाएँ, जिनमें जैन भिक्षु रहते थे; (३) पश्चिमी भारत की विहार गुफाएँ, जैसे—नासिक, अजन्ता, भाजा में। अधिकांश में विहार चैत्यगृहों के साथ हैं, जैसे—बेडसा, पीतलखोरा, कोण्डाने, कार्ले एवं जुन्नार।

भाजा में चैत्यगृह के साथ विहार अति प्राचीन है। यह पंचगर्भ विहार है। तीन में एक-एक चौकी और एक में दोहरी चौकी है। बीच का मण्डप ३३ फुट लम्बा है। उसमें दो ओर लम्बी आसन्दी

या बैठने की चौकियाँ है। इस समय यह मण्डप सामने से खुला है, पर किसी समय इसमें भी लकड़ी की वैसी ही ओट या पर्दा था जैसा साथ के सटे हुए चैत्यगृह में है। विहार और चैत्यगृह दोनों ही दूसरी शती के आरम्भ काल के हैं। दोनों एक ही कला शैली के फल हैं। मिले हुए चैत्यगृह और विहार पुराने केवल भाजा में हैं या फिर बाद के धामनार में। बेडसा में विहार और चैत्यघर एक दूसरे से थोड़ा हटकर हैं। बेडसा विहार की एक विलक्षण बात यह है कि चैत्यगृह की भाँति वह भी भीतर से वृत्तायत या बेसर आकृति का है, जिसका आगे का सिरा चौकोर और पीछे का घुमावदार है। जान पड़ता है कि आरम्भ में जब शैलवर्धकी विहार बनाने लगे तो उन्होंने सोचा कि उसे भी चैत्यघर के नमूने पर ही बनाना चाहिए।

चैत्यगृह तो सदा ही वृत्तायत होते थे। चैत्यगृहों के मण्डप की छतें गजपृष्ठाकृति या ढोलाकार होती थीं जिनका पिछला सिरा कुछ खरबुजिया आकृति का होता था। प्रत्येक में सामने प्रवेश द्वार और बड़ा कीर्तिमुख बनाया जाता था।

चैत्यगृह और विहार दोनों ही अपने मूलभूत काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प में उतारे गए। न केवल काष्ठशिल्प की आकृति को ही अपनाया गया किन्तु उसके जोड़, यहाँ तक की कील-काँटे, संधियाँ, अलंकरण, सज और उकेरी की भी हूबहू नकल उतारी गई। वर्तमान पाषाणशिल्प पुकार कर कह रहा है कि उसका मूलस्रोत क्या था। कई जगह अभी तक पाषाण शिल्प के ऊपर काष्ठ शिल्प का मेल है। काष्ठ शिल्प के ये जड़ाव चैत्यगृह के भीतर और बाहर दोनों जगह मिले हैं। ये शैलवर्धकी नौसिखिए न थे, किन्तु शिल्प-वास्तु के अनुभवी आचार्य थे, जैसा उनके रूपनिर्माण-कौशल एवं विकसित अलंकरण क्षमता से और कला सौन्दर्य से सूचित होता है। जो सबसे आरम्भ के उदाहरण हैं, उनमें भी इन गुफाओं का हरएक भाग अवान्तर भागों से मेल में है और प्रत्येक रेखा की सीध और कोर मानों धातु में गढ़कर निकाली गई है। शैल तक्षकों ने अपना कार्य ऐसी सुघड़ता से किया है कि पत्थर में कहीं भी चिप्पड़ नहीं उखड़ी या बाल नहीं पड़ा और ऊपर की सतह को माठने-घोटने (घृष्टमिष्ट) में सर्वत्र नेत्रों को प्रिय लगने वाली स्वच्छता देखी जाती है। ज्ञात होता है कि पत्थर को खुटने और चिकनाने का काम एक ही शिल्पी के हाथ से निकलता था। उनके औजार सीधे-सादे होते थे। इनमें बारीक काम के लिए दो सूत की छोटी रुखानियाँ और मोटे काम के लिए बड़ी टाँकियाँ या तकुए होते थे।

पश्चिमी भारत के चैत्यगृह और विहार

नासिक केन्द्र के चारों ओर २०० मील के घेरे में पश्चिमी भारत के लगभग ९०० गुफा मन्दिर हैं। इनमें सबसे प्राचीन भाजा की गुफा है, जो भोरघाट में कार्ले से चार मील पर हैं।

भाजा—यह शुंगकाल के आरम्भ में लगभग दूसरी शती ईसवी पूर्व के शुरू में केन्द्र बना। भाजा में तीन अवशेष हैं—(१) विहार, (२) बड़ा चैत्यगृह और (३) ठोस कटे हुए १४ स्तूपों का समूह।

विहार—भाजा के विहार का तलन्यास यह है—सामने मुखमण्डप जो १७½ फुट लम्बा है। उसका पूर्वी सिरा ७ फुट और पश्चिमी सिरा ९½ फुट चौड़ा है। पिछले भाग में एक दीवार है जिसमें दो द्वार और एक छड़दार खिड़की की भाँति का शलाकामय वातपान है। उसके भीतर १६ फुट ७ इंच माप का कक्ष या मण्डप है। उसके चारों ओर भिक्षुओं के लिए बीच में गहरी बनाई

हुई कोठरियाँ या अपवरक शालाएँ थीं। हरएक में सोने के लिए पत्थर की चौकी बनी है। भाजा विहार की मूर्तियाँ सबसे विलक्षण हैं। उनका आगे को काढ़कर उभारा हुआ रूप मन पर हावी हो जाता है। इनमें एक शोभापट्टी, पाँच आलों या रथिकाओं में आयुध लिए हुए पाँच मूर्तियाँ या आयुध पुरुष, और दो उत्कीर्ण शिलापट्ट हैं। आयुध पुरुष या राजमानुष मूर्तियाँ महाकाय या कद्दावर और वपुष्मान हैं, जैसी प्राचीन यक्ष मूर्तियाँ होती थीं। उनकी मशक जैसी फूली हुई मांसपेशियाँ मन पर गहरी छाप छोड़ती हैं। उनके सिर पर भारी पग्गड़ हैं, कानों में बड़े कुण्डल, गले में मोटे कंठे और उसी की टक्कर के बड़े हार हैं, बाहुओं में अंगद और हाथों में कटकाकृति आभूषण हैं। मुख मण्डप के पूर्वी छोर पर एक स्तम्भ और एक अर्ध स्तम्भ हैं जिनके शीर्ष भाग में अवाङ्मुखी पंखुड़ियों से भरे हुए कमल और उनके ऊपर मानवाकृति ऊर्ध्वकाय स्त्री मूर्तियाँ पुरुष साथियों को लिए हुए वृषारोही मुद्रा में हैं। यह भाँति अन्यत्र प्राप्त अश्वारोही किन्नर मिथुन मूर्तियों से मिलती है। द्वारों के पार्श्व स्तम्भ भीतर की ओर कुछ झुकते हुए हैं।

उनके ऊपर की पट्टियाँ और बीच के भित्ति भाग छोटी वेदिकाओं के अलंकरणों से सजाए गए हैं। इन्हें देखकर कला प्रेमी को ऐसा सुख होता है मानों कोई वनयात्री हरी भरी वन-खण्डियों की सुखदायी शीतलता का अनुभव करके तृप्त हुआ हो। जहाँ देखो वहीं नेत्र कलात्मक रूपों से अकथनीय तृप्ति का अनुभव करते हैं।

ये मूर्तियाँ मुखमण्डप के पूर्वी छोर के प्रवेश द्वार के दोनों ओर उत्कीर्ण हैं। बाईं ओर की मूर्ति में एक राजा चार घोड़ों के रथ पर सवार है। उसके पीछे छत्र और चँवर लिए हुए दो अनुचर स्त्रियाँ हैं। छत्र और चँवर राजचिह्न थे। रथ के पहिए भारी-भरकम कुठले जैसे फूले हुए नंगे असुरों के शरीरों पर से गुजर रहे हैं। अब तक इस मूर्ति की पहचान सूर्य से की जाती थी (चित्र २६६)।
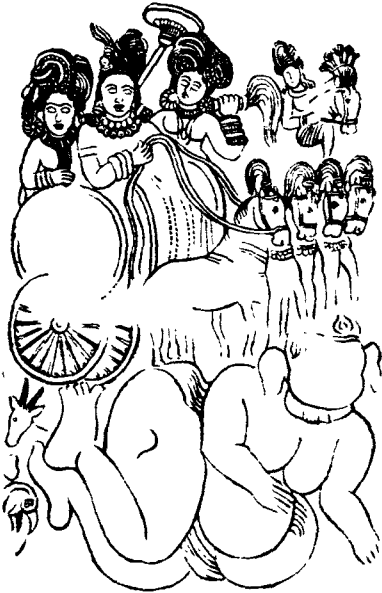
चित्र २६६

चित्र २६७

उत्तरकुरु में मांधाता

दाहिनी ओर की मूर्ति में दिग्गज तुल्य ऊँचे एक हाथी पर एक राजा और उसके पीछे ध्वज लिए हुए अनुचर है। हाथी बाईं ओर को चल रहा है और उसने अपनी उठी हुई सूँड़ से एक पेड़ उखाड़ लिया

है। पट्ट के शेष भाग में वेदिकाओं में कुछ वृक्ष लगे हैं। एक वृक्ष से मिथुन मूर्तियाँ जन्म ले रही हैं और वृक्ष के नीचे बैठे हुए मिथुन वाद्य और नृत्य का आनन्द ले रहे हैं। बड़ी पुरुष मूर्ति की पहचान ऐरावत पर सवार इन्द्र से की जाती है। कुमारस्वामी ने ऐसा ही माना था पर उन्हें ये शंका हुई कि दूसरे दृश्यों का इन्द्र से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। साथ ही द्वार के दोनों ओर अंकित सूर्य और इन्द्र में भी परस्पर कोई संगति नहीं है (चित्र २६७)।

तथ्य यह है कि इन दोनों दृश्यों में सूर्य और इन्द्र की मूर्तियाँ नहीं हैं। इनमें सम्राट मान्धाता के उत्तरकुरु देश में जाने का अंकन है। तथाकथित सूर्य मूर्ति वस्तुतः चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता की है जो अपने चतुरश्व-योजित दिव्य रथ में बैठकर उत्तरकुरु लोक की यात्रा के लिए जा रहे हैं। छत्र और चँवर उनके स्फुट राजचिह्न हैं। दिव्यावदान की कथा के अनुसार सम्राट के आकाशगामी रथ के चक्र असुरों के शरीरों को रौंदते हुए ऊपर से चले (असुराणां उपरि वैहायसं रथो गच्छति)। मान्धाता के पुण्य के प्रभाव से असुरों के शरीर विजित, भग्न, पराजित और पीस डाले गए (दिव्यावदान, कावेल संस्करण, पृ० २२३)।

दाहिनी ओर के दृश्य में चक्रवर्ती मान्धाता उत्तरकुरु की पाँच रक्षा-पंक्तियों को जीत कर उसके बाह्योद्यान में पहुँच गए और उन उद्यानों का स्वच्छन्द उपभोग करने लगे। वहीं के कल्पवृक्षों के कुछ दृश्य यहाँ अंकित हैं। महावाणिज जातक, महाभारत एवं रामायण के अनुसार उत्तरकुरु ऐसा प्रदेश है जहाँ स्त्री और पुरुषों के मिथुन चिरयौवन का और सब सुखों का उपभोग करते हैं और वहाँ के कल्पवृक्ष सब प्रकार की सुख-सामग्री का प्रसव करते हैं। लिखा है कि उत्तम वस्त्र, अलंकार, अन्न पान, मद्य-मैरेय आदि भी उन वृक्षों की शाखाओं से जन्म लेते हैं जिनका मनमाना उपभोग वहाँ के युगल मिथुनों को प्राप्त होता है। इस चित्र में नीचे की ओर बीच में उत्कीर्ण कल्पवृक्ष एक प्रकार का आभरण वृक्ष है जिसकी शाखाओं में नाना भाँति के अलंकार और वस्त्र फलों की भाँति लगे हैं। भरहुत वेदिका पर उत्कीर्ण लतरों के उतार-चढ़ाव के मोड़ों में जो कल्पलताओं का अंकन है, उसमें भी इसी प्रकार के अलंकारों और वस्त्रों के नाना विकल्प दिखाए गए हैं। दाहिनी ओर जो बैठे हुए स्त्री-पुरुष संगीत में निरत हैं, वे उत्तरकुरु के सुखी निवासी देव और देवकन्याएँ हैं (देवो वा देवकन्या वा वेणु वल्लरि सुघोषका क्रीड़न्ति रमन्ते)। इस विटप के महावितान में दो कल्पतरुओं का मेल ज्ञात होता है, जिन्हें भूषणांग और वस्त्रांग कहते थे और जो जैन ग्रंथों में दी हुई दस प्रकार के कल्पवृक्षों की सूची में आते हैं। नाचगान वाले वृक्ष को तूर्यांग और पानगोष्ठी वाले कल्पवृक्ष को मद्यांग कहते थे। इसके ऊपर वेदिका में एक वृक्ष है, जिससे स्त्री-पुरुषों के मिथुन जन्म लेते हुए दिखाए गए हैं। वृक्ष के ऊपर एक स्त्री मूर्ति शयन मुद्रा में आड़ी लेटी हुई दिखाई गई है। कुमारस्वामी ने जिसे नरबलि कहा था, वह मिथुन-प्रसव का दृश्य है। उसके ऊपर नंदन्त हाथी की सूँड में लपेटा हुआ एक कल्पवृक्ष है। इस प्रकार मांधाता ने उत्तरकुरु की राजधानी सुदर्शन नगरी के दिव्य उद्यान में स्वतंत्र विहार किया। उसका बहुत ही सटीक अंकन इन दृश्यों में है। मान्धाता के महाबलशाली मत्त गजेन्द्र की तुलना में उत्तरकुरु के मिथुनों को तुलनात्मक रीति से छोटे आकार में उत्कीर्ण करके शिल्पी ने अपनी आरोहावरोही कला का सफल परिचय दिया है। यह उल्लेखनीय है कि नृत्य और वाद्य में निरत मिथुन-दृश्य मिट्टी के चौकोर टिकरों पर भी अलग से बनाया जाने लगा था। उसके कई नमूने मथुरा की पार्थिव कला में मिले हैं। ज्ञात होता है, लोक में वे भली प्रकार पहचाने जाते थे।

यद्यपि उत्तरकुरु के कल्पवृक्ष और कल्पलताओं का अंकन भरहुत, साँची और बोधगया में भी मिलता है किन्तु भाजा विहार में उत्तरकुरु के प्रधान नगर सुदर्शन का प्रतापी मान्धाता द्वारा विजित

किए जाने का जैसा भव्य अंकन है उसकी उपमा अन्यत्र नहीं है। मान्धाता के रथ का असुरों के शरीरों को रौंदते हुए जाना शिल्पी की अत्यन्त सफल और मौलिक कल्पना है, जो सम्भवतः लोककथा से उसे प्राप्त हुई। भारतीय कला में भी असुर शरीरों का ऐसा प्रभावशाली अंकन अन्यत्र नहीं है। वे चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता जो त्रिलोकी को जीतकर उत्तरकुरु के सुदर्शन नगर को भी अपने वश में ले आए इन्द्र के समान पराक्रमी थे।

भाजा विहार के मण्डप का सम्मुखी भाग वेदिका संयुक्त काष्ठ शिल्प का उदाहरण था जिसमें नीचे प्रवेश द्वार थे और पास वाले चैत्यगृह की भाँति का वेदिका अलंकरण था।

चैत्यगृह—भाजा का चैत्यगृह वास्तु कला की दृष्टि से और भी उल्लेखनीय लक्षणों से युक्त है। यह ५५ फुट लम्बा और २६ फुट चौड़ा है। दोनों ओर के प्रदक्षिणापथ का गलियारा केवल ३½ फुट चौड़ा है। मण्डप का प्रत्येक स्तम्भ ११ फुट ऊँचा है। अपने ब्रह्मसूत्र से वे भीतरी ओर ५ इंच झुके हुए हैं। छत का ढोला भूमितल से २९ फुट ऊँचा है और कला कौशल का बढ़िया नमूना है, उसमें बड़ी झुकी हुई धन्नियों का एक महापंजर नीचे की ओर अभी तक जड़ा हुआ है। कमानीदार धन्नियाँ आपस में समानान्तर हैं। चट्टान में काटा हुआ ठोस स्तूप दो भागों में है, नीचे गोल अधिष्ठान और उसके ऊपर लम्बोतरा अण्डभाग, जिस पर कभी काष्ठ की हर्मिका और छत्रावली थी। एक विलक्षण बात सामने के मुखमण्डप में पाषाण और काष्ठ शिल्प का परस्पर संयोग था, जो अब नष्टप्राय है। इसमें सामने की ओर लकड़ी की एक ओट थी, उसके दो तल्ले थे। नीचे का एक पर्दा स्तम्भों पर आश्रित था। उसमें तीन द्वार थे—एक बीच में और दो उसके दोनों ओर। पीछे की भीत में भी ऐसे ही तीन द्वार थे। अगले खम्भों के बीच में सुन्दर वेदिका का भराव था। कोण्डाने, पीतलखोरा और अजन्ता की १०वीं गुफा के चैत्यगृह भी ऐसे ही काष्ठकर्म की भित्तियों से अलंकृत थे। जहाँ सामने का यह पर्दा शिलाघटित था वहाँ वह बचा है, पर काष्ठ शिल्प के नमूने गल गए हैं। केवल उन छेदों के कटाव अभी हैं, जिनमें ऐसे पर्दे अटकाए गए थे।

कीर्तिमुख या चैत्य का सूर्यद्वार काष्ठ शिल्प से अलंकृत था, जो अब नहीं रहा यद्यपि उन्हें फँसाने वाले कीलों के बारीक छिद्र अभी तक हैं। कीर्तिमुख के गोलम्बर में लगा हुआ काष्ठ पंजर अब नहीं है। पर उसकी आकृति की कल्पना अन्यत्र बोधगया, भरहुत आदि में उत्कीर्ण नमूनों को देखकर की जा सकती है। इसे प्राचीन परिभाषा में 'घरमुख पंजर' कहते थे। केवल कार्ले के चैत्यघर में इस प्रकार का घरमुख पंजर बचा है। किन्तु न केवल भाजा में पर अन्य अनेक चैत्यगृहों में इस प्रकार के जो अभिप्राय मण्डप या मुखौटे की भित्तियों पर बहुतायत से बने हुए हैं वे गवाक्ष पञ्जर की आकृति इंगित करते हैं (चित्र २६८)।

चित्र २६८

निःसन्देह भाजा के विहार और चैत्य गृह के समान महासंस्थान पहले काष्ठशिल्प में बनाए जाते थे। उनमें जो काष्ठ अंश रचना में सम्भव था, उसे शिलागत कटाव में भी अपनाया गया। शिलागत उकेरी और काष्ठकर्म का सन्तुलित योग आरम्भिक विहारों और चैत्यगृहों में देखा जाता है। शिल्पियों का अभ्यास और जनता की रुचि इस प्रकार के वास्तु-विधान का कारण थी। लंका का निकुम्भिला चैत्य काष्ठ का ही था, जिसका आकार विपुल था। मण्डप के खम्भों में मिलने वाला भीतरी झुकाव इसीलिए दिया गया था कि उससे काष्ठनिर्मित ढोलाकार भारी छत का बाहर की ओर का फेंकाव रोका जा सके। शिलामय उकेरी में उसका कोई उपयोग न था। द्वारों के पार्श्व स्तम्भ भी इसी भाँति अपने ऊर्ध्व सूत्र से भीतर की ओर सलामी में हैं। कुछ समय बाद शैलवर्धकी यह ताड़ गए कि पहले चट्टान काटकर फिर उसकी जगह काष्ठशिल्प के ओटे का भराव कुछ बुद्धिमानी नहीं, केवल समय और शक्ति का अपव्यय है। कालक्रम से तीन प्रकार का विकास हुआ—पहली अवस्था में पत्थर का ओटा छाँटकर उसकी जगह लकड़ी का ओटा लगाया गया। दूसरी दशा में पत्थर और लकड़ी का मेल किया गया और तीसरी अवस्था में शिलाकर्म द्वारा केवल पाषाण का ही पर्दा प्रवेश द्वारों के साथ बनाया गया और बीच के खम्भे और पार्श्व के अर्धस्तम्भ दोनों का उठान एक सीध में कर दिया गया।

इस चैत्यगृह में मूर्ति शिल्प का प्रायः अभाव है। केवल मण्डप के स्तम्भों पर पाँच मांगलिक चिह्न बने हैं, यथा—त्रिरत्न, नन्दिपद, श्रीवत्स, चक्र और बीच के मस्तक और कमल को घेरे हुए चार त्रिरत्नों का मण्डलाकृति घेरा।

भाजा के स्तूप—चैत्यगृह से कुछ ही दूर पर चट्टान की खड़ी मुहार में कटे हुए भिन्न परिमाण के १४ ठोस स्तूप हैं। सबमें अण्ड के ऊपरी भाग पर वेदिका-अलंकरण की गोट लगी है। इनमें से दो जो झूलते हुए चट्टानी छज्जे के नीचे हैं, आकार में ४ फुट ८ इंच से ६ फुट ३ इंच तक हैं। बाहर के तीन स्तूपों में चौकोर अण्ड के ऊपर केवल हर्मिका है, जैसी गुहागत चैत्य में भी है। सबसे बड़े स्तूप की शिलामयी छत्र-यष्टि छत तक ऊँची थी। शेष दो में वह काष्ठ की थी। अगली पंक्ति में ९ स्तूपों में पहले के ऊपर ३ फुट ८ इंच ऊँचा एक रूपसम्पन्न शीर्षक है। औरों के शीर्षक भग्नप्राय हैं। कई में हर्मिका भी थी किन्तु उसके नीचे चौकी न थी और चोटी में धातुगर्भ या शरीरनिधान के लिए छेद भी हैं। उन पर खुदे हुए थेरों (स्थविर भिक्षुओं) के नाम अभी तक सुपाठ्य हैं।

कोण्डाने

विहार एवं चैत्यगृह—कार्ले से १० मील पर कोण्डाने का चैत्यगृह और विहार है। विहार एकभूमिक है। वास्तु की दृष्टि से यह विहार अपूर्व है। मध्य में स्तम्भों पर टिका हुआ एक बड़ा मण्डप है। बाहर की ओर स्तम्भयुक्त मुखमण्डप है जिसके अगले भाग में खम्भों पर टिका हुआ बड़ा भारपट्ट आगे को निकला हुआ है। इसका अंग-प्रत्यंग सर्वथा काष्ठ शिल्प की अनुकृति है। मुखमण्डप की पिछली भित्ति में तीन प्रवेश द्वार और दो जाल वातायन या जालीदार खिड़कियाँ हैं। भीतरी मण्डप २३ फुट चौड़ा व २९ फुट लम्बा है और उसमें तीन ओर अपवरक या कोठरियाँ बनी

हैं। स्तम्भों पर गजपृष्ठाकृति छत है, जिसके नीचे टेढ़ी धन्नियों का पंजर है जैसा दूसरे चैत्यगृहों में मिलता है और जो निश्चय ही मूलभूत काष्ठकर्म से अपनाया गया था। मुखमण्डप के एक ओर ठीक वैसा ही वेदिकामय अलंकरण है, जैसा घरमुखों पर मिलता है और जिसमें चैत्यगृहों के वास्तु की सभी विशेषताएँ उत्कीर्ण की गई हैं। कोण्डाने चैत्यगृह का मुखमण्डप भाजा जैसा ही था किन्तु उसके स्तम्भ अंशतः शिला में उत्कीर्ण और अंशतः काष्ठ शिल्प द्वारा निर्मित थे जो सम्भवतः उत्तरकाल की विशेषता थी। गर्भगृह को लेकर आभ्यन्तर मण्डप ६६ फुट लम्बा और २६ फुट ६ इंच चौड़ा था जो भाजा से भी कुछ बड़ा था। इसकी छत की ऊँचाई २८ फुट है (चित्र २६९)।

चित्र २६९

हीनयान चैत्यगृहों में कोण्डाने का कालक्रम भाजा के ठीक बाद है।

पीतलखोरा

इसका प्राचीन नाम पीतंगल्य था। यहाँ एक पहाड़ी नाले के दो ओर १३ गुफाएँ हैं, ९ एक ओर और ४ दूसरी ओर। औरंगाबाद से चालिसगाँव जाने वाले मार्ग पर शतमाला नाम की पहाड़ी में ये गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। गुफाओं का यह समूह काग-उड़ावनी सीध में अजन्ता से पश्चिम-दक्षिण की ओर ५० मील और एलोरा से उत्तर-पश्चिम की ओर २३ मील पर है। गुफाएँ प्राचीन सार्थवाह पथ पर स्थित थीं। गोवर्धन प्रदेश (नासिक) और शूर्पारक की ओर से आता हुआ सार्थपथ सातवाहनों के महान व्यापारिक केन्द्र प्रतिष्ठान की ओर बढ़ता हुआ इन गुफाओं के पास से निकलता था। चालिसगाँव—औरंगाबाद—पैठण का वर्तमान मार्ग ठीक वही है। कालान्तर में बौद्धों ने जिसे अपनी विहार गुफाओं के लिए चुना वह एलोरा भी इसी मार्ग पर था।
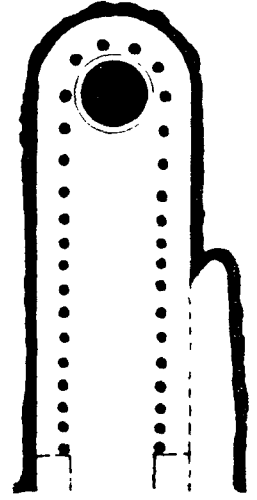
महामायूरी नामक बौद्ध यक्ष सूची में चार यक्षों के नाम हैं—पीतंगल्य में शंकरिन्, प्रतिष्ठान में खण्डक, नासिक में सुन्दरक और भृगुकच्छ में असंग, मानों यह चौभीता प्रदेश था, जिसमें एक ओर वाणिज्य-व्यापार और दूसरी ओर धार्मिक आन्दोलन की होड़ लगी थी। पीतलखोरा में पर्वतीय वास्तु का आरम्भ दूसरी शती ईसवी पूर्व में हुआ। उसी के रूप चैत्यगृह और विहार हैं। यह स्थान दो शती बाद कुछ उजड़ गया किन्तु कालान्तर में भिक्षुओं ने फिर इसे अपना केन्द्र बनाया और उस समय विहार में मूर्तियाँ और चैत्यगृह में भित्तिचित्र लिखे गए जो अजन्ता शैली के हैं। यों पीतलखोरा में भी हीनयान और महायान कला शैली के वे ही दो डिग पाए जाते हैं, जो अजन्ता में हैं।

विहार के मुखमण्डप में काष्ठ शिल्प के पर्दे या तिरस्किरणी लगाई गई थीं जिनके अटकाने के लिए चट्टान में काटी गई चूलें अभी तक हैं। भीतर प्रत्येक अपवरक में एक शयन है।

गुफा ३ चैत्यगृह है (३५ फुट × ८६ फुट) जिसका एक सिरा अर्धवृत्त या बेसर आकृति का है। इसमें ३७ अठपहल (अष्टांसिक) स्तम्भ थे, जो मण्डप और प्रदक्षिणापथ को बाँटते थे। उनमें से केवल १२ अपने पूर्वरूप में बिना टूट-फूट के बचे हैं। उन पर पाँचवी शती के कुछ चित्र हैं और दो लेख उस समय के हैं जब गुफाएँ काटी गई थीं। उनके अनुसार प्रतिष्ठान के श्रेष्ठियों ने गुफाएँ बनवाई थीं। सब स्तम्भों का झुकाव भाजा की भाँति भीतरी ओर है। प्रदक्षिणा पथ ४ फुट ११ इंच चौड़ा है और उसकी छत में पत्थर की धन्नियों का कटाव है। किन्तु मध्यमण्डप की ढोलाकार छत में ये

घुमावदार धन्नियाँ काष्ठशिल्प की थीं जिनके अब केवल कुछ चिह्न बचे हैं जहाँ वे छत में जड़ी थीं। लकड़ी की धन्नियों के बीच-बीच में चौखूँटे चित्रफलक थे जो अब कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। स्तम्भ और भित्तियों पर बुद्ध और बोधिसत्त्वों के चित्र महायान युग में वाकाटक कालीन कला के नमूने हैं, जिनका विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

चैत्यघर के भीतर के स्तूप का निचला घेरा ३० फुट है। उसका ऊपरी अण्ड भाग, जो ईंटों का था, अब नहीं रहा। स्तूप के गर्भ के आयताकार कटावों में स्फटिक की मंजूषाएँ शरीर-धातुओं के निधान के लिए किसी समय रक्खी गई थीं। इन्हें चूलों में फँसे हुए शिलामय पिधान या ढक्कनों से ढँक दिया गया था। भाजा में भी इस युक्ति से काम लिया गया था परन्तु वहाँ पीतलखोरा की भाँति स्फटिक मंजूषाएँ नहीं पाई गईं।

दूसरी विशेषता ११ सीढ़ियों का सोपान है। सोपान के दोनों ओर चट्टान की उकेरी में बाहर की ओर निकले हुए सपक्ष या बलाहक अश्व हैं जिनके आगे पीछे दो यक्ष हैं। उनका शरीर भारी-भरकम है, भुजाएँ ऊपर को उठी हुई (किंकर या भारपुत्रकों की मुद्रा में), नेत्र बाहर की ओर उबले हुए, होंठ मोटे और पालियाँ कनफटी हैं जिनके छेदों में बालियों के गुच्छे भरे हुए हैं। ये यक्ष उसी भाँति के हैं जैसे साँची और कार्ले के लम्बोदर कीचक यक्ष हैं। वैश्रवण कुबेर की वैहायसी या

चित्र २७०
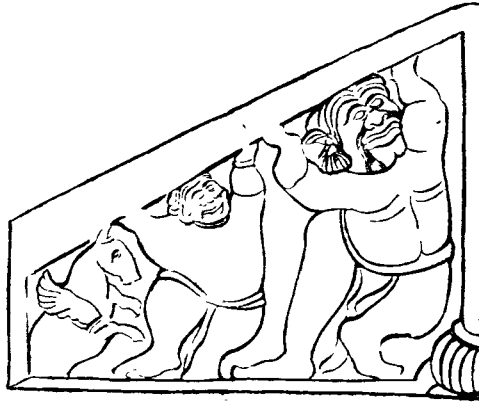
चित्र २७१

चित्र १७२

आकाशगामी सभा को अपने शरीरों पर तौलने वाले किंकर या गुह्यक यक्षों की मूर्तियाँ भी ऐसी ही बनाई जाती थीं। सभापर्व (१०।३३,२५) में उन्हें शुक्तिकर्ण राक्षस एवं घोर और महाकाय कहा गया है (चित्र २७०–२)।

गुफा ४ में विहार था, जिसका मुखपट्ट भव्य मूर्तियों से अलंकृत था और उनके ऊपर कीर्त्तिमुख का अलंकरण था। अब जो बचा है उसमें छह चैत्य गवाक्षों की पंक्ति है, जिनके भीतर प्रविष्ट वातायनों की उकेरी है और गोलम्बर के कछौटों पर वेदिकाओं के रूप खचित हैं। इनके नीचे मिथुन मूर्तियाँ हैं जो इसे भव्यता प्रदान करती हैं। इस गुफा के भीतर पार्श्वस्तम्भों पर विभिन्न मूर्तियाँ हैं और स्तम्भों पर नरव्याल एवं पशुसंघाटों के शीर्षक हैं। कोठरियों के प्रवेशद्वारों के कामांचों के ऊपर भी अलंकरण हैं। मण्डप के भीतर सात गर्भशालाएँ हैं और बाहर की ओर मुखशाला है। उसके मुख्यद्वार के दो ओर महाकाय रक्षापुरुष अंकित हैं। ऊँची कुर्सी के नीचे हाथियों की एक सम्मुखीन

पंक्ति है जिनकी निकलती गर्दन पर महावत सवार हैं। प्रवेश द्वार (५'४" × २'६") के पार्श्वस्तम्भों पर त्रिरत्न और फुल्लों के अलंकरण हैं। द्वारपाल मूर्तियाँ बहुत प्रभविष्णु हैं। वे धोती के ऊपर कसा हुआ चोलक और सिर के ऊपर भारी उष्णीष या पगगड़ बाँधे हैं। उनके कानों में ढेपेदार या भारी-भरकम कुण्डल हैं। उनके एक हाथ में कुन्त और दूसरे में चौखूँटी ढाल है। रक्षापुरुषों की ये दोनों मूर्तियाँ अपने शरीर की गठन, पुष्ट मांसपेशियों और हँसता-मुखी चेहरों के कारण विशेष प्रभावशाली हैं, जैसी आरम्भयुग की कला में कम देखी जाती हैं। प्रत्येक के मस्तक से ऊपर के भाग में एक-एक हाथी का पार्श्वगत चित्र है। इन दो हाथियों के बीच में और द्वार के ऊपर गजलक्ष्मी की प्रतिमा थी जो अब अपने स्थान से च्युत हो गई है। लक्ष्मी कमलासन पर बैठी हुई दोनों हाथों में कमलनाल लिखे हुए है। दो हाथी आवर्जित घटों से देवी को स्नान करा रहे थे। यही देवी श्री लक्ष्मी का अंकन आरम्भ युग की कला में बहुत ही सुन्दर था (चित्र २७३)।
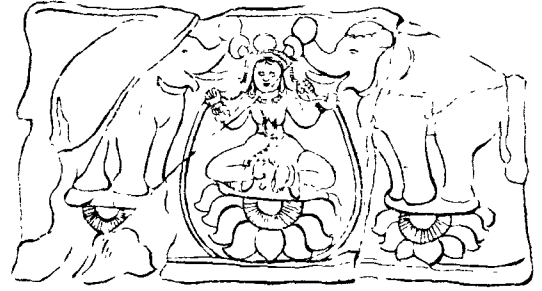
चित्र २७३

दाहिनी ओर हाथी के बराबर एक अश्वारोही की कायपरिमाण मूर्ति है, उसके सामने एक अनुचर और पीछे चामरग्राही है। यह मूर्ति जिसके ऊपर दानदाता का नाम खुदा है, सम्भवतः दूसरे युग की है, जब गुफा का संस्कार किया गया। इसमें महाभिनिष्क्रमण का दृश्य अंकित है। इस गुफा में दूसरी शती ईसवी पूर्व की लिपि में कई छोटे लेख उत्कीर्ण हैं।

गुफा संख्या ५–९ विहार हैं। नवीं गुफा सबसे बड़ी है, जिसमें आगे की ओर चार स्तम्भों और दो अर्धस्तम्भों पर आधारित मुखभाग है। मुखशाला (२६' × ५'९") के बीच में भीतर जाने का द्वार है। भीतरी मण्डप के चारों ओर अपवरक पंक्ति है। उसके निकलते हुए निर्यूह या छज्जे के ऊपरी तोरण भाग में सब ओर वेदिका अलंकरण फिरा हुआ है (चित्र २७४)।
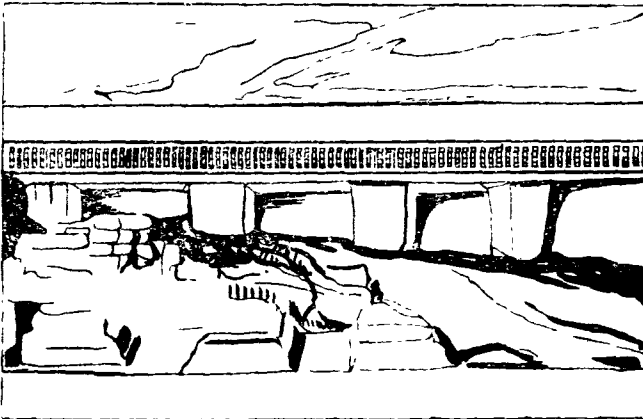
चित्र २७४

दूसरे समूह की गुफा १० में ढोलाकार छत और स्तूप की योजना से पूर्ण एक अर्धवृत्त चैत्यगृह था। गुफा संख्या ११,१२,१३ भी ऐसी ही थीं। गुफा १२ की छत में चट्टान में सात इंच मोटी पत्थर की धन्नियाँ थीं। प्रत्येक दो पसलियों के बीच में आड़े डण्डे भी काटे गए थे जिससे बीच का स्थान आठ चौखूँटे तख्तों में विभक्त हो गया था। शिल्पियों ने विशेष शोभा के लिए यह कड़ी-बरंगों की छत का विधान सोचा था जो उस युग की काष्ठनिर्मित छतों में भी बनाया जाता था।

गुफा संख्या १३ भी चैत्यगृह है। उसका वृत्तायत मण्डप २७ फुट १० इंच लम्बा, १५ फुट चौड़ा और १५ फुट ऊँचा है। मण्डप की दो स्तम्भ पंक्तियाँ स्तूप के पीछे तक चली गई हैं। इससे बीच की नाभि केवल ७ फुट और प्रदक्षिणा पथ १ फुट ११ इंच चौड़ा है। अगले हिस्से में दोनों ओर १० और स्तूप के पीछे ४ स्तम्भ थे। वे सभी जीर्ण दशा में हैं, केवल उनकी डण्डी के ठूँठ बचे हैं। ढोलाकृति छत में पत्थर के कड़ी-बरंगे वैसे ही हैं जैसे गुफा १२ की छत में।

इससे सूचित होता है कि दरीगृहों के वास्तुविन्यास की जो विशेषताएँ अन्यत्र थीं, वे पीतलखोरा में भी हैं, जैसे वेदिका अलंकरण, स्तम्भों पर मुखमण्डप, सलामीदार पार्श्वस्तम्भ, ढोलाकार कड़ी-बरंगों की छत एवं आभ्यन्तरिक मण्डप, प्रदक्षिणा पथ और गर्भगृह का विन्यास। ये गुफाएँ एक ही महान् आन्दोलन का अंग थीं। इनमें उत्कीर्ण स्थापत्य-शिल्प भी उसी हीनयान युग की प्रेरणा से अस्तित्व में आया, जैसे द्वारपालों की महाकाय बलधारी मूर्तियाँ, हाथी और घोड़ों की मूर्तियाँ, अनुचरों के साथ राजा-रानी की मूर्तियाँ, श्रीलक्ष्मी, नागराज, भारवाही कीचक और किंकरों की पंक्तियाँ, मिथुन एवं वाद्य और गान में निरत मण्डली।

गुफा सात की पानीय पोढ़ी के पास कुछ मिट्टी के भाण्डे मिले थे। उनमें टोंटीदार झारियाँ भी थीं जो पश्चिमी एशिया में प्राप्त रोम देश के मजीठी रंग के भाण्डों से मिलती हैं। उन्हीं की नकल यहीं स्थानीय बर्तनों में मारी गई ज्ञात होती है, जिनकी रचना भौंडी और लाल रोगन चटका हुआ है। उनकी मौली सतह में महीन बारीक बाल भरे हैं।

अजन्ता

अजन्ता में उत्कीर्ण चैत्यगृह और विहार वास्तु सम्बन्धी इस आन्दोलन के उच्च शिखर पर हैं। उनमें चित्र, शिल्प और वास्तु विद्या सम्बन्धी दीर्घकालीन प्रयत्न व्यक्त हुआ है जिसकी अवधि दूसरी शती ई० पू० से सातवीं शती तक लगभग एक सहस्र वर्षों की है। यह प्रयास दो युगों में बँट जाता है—पहला हीनयान (दूसरी शती ई० पू० से दूसरी शती तक) और दूसरा महायान जो चौथी शती से आरम्भ होकर सातवीं शती तक जारी रहा। बीच में दो शताब्दियों का व्यवधान है। अजन्ता में कुल २९ गुफाएँ हैं, जिनमें चार चैत्यगृह और शेष २५ विहार गुफाएँ हैं। गुफा संख्या १० चैत्यगृह है, जो दूसरी शती ई० पू० का माना जाता है। यह ९६ फुट ६ इंच गहरा, और भीतर ४१ फुट ३ इंच चौड़ा तथा ३६ फुट ऊँचा है। मण्डप और प्रदक्षिणापथ के बीच में ५९ खम्भों की माला या दौड़ती हुई पंक्ति है। खम्भों के बीच की डण्डी चौकोर और कुछ भीतरी झुकाव लिए हुए है। खम्भों में ऊपरी सिरे और नीचे की पेंदी नहीं हैं। गर्भगृह या स्तूप भाग की छत में टेढ़ी धरन हैं जो खम्भों के मत्थों से निकली हैं। मण्डप की छत के ढोलने में भी किसी समय काष्ठशिल्प की

चित्र २७५

भारी धरन लगी हुई थीं, जो अब नहीं रहीं, पर उनकी चूलों के छेद पत्थर में कटे हैं। पर्वत की कुक्षि में इस गुफा के उत्कीर्ण करने वाले स्थपति शिलाचार्य शिलाकर्म में अत्यन्त दक्ष और साहसी थे। उन्होंने

नाना भाँति के अलंकरणों से गुफा को सजाने में विचित्र कौशल का परिचय दिया है। गर्भगृह में उत्कीर्ण स्तूप दो भागों में है—एक गोल अधिष्ठान भाग और दूसरा उसके ऊपर लम्बा अण्डभाग जिससे स्तूप का कुछ विकास सूचित होता है (चित्र २७५)।

चैत्यगृह गुफा संख्या ९ संख्या १० से छोटी है, जिसके मुख भाग में किसी प्रकार का काष्ठ-शिल्प नहीं पाया जाता। इसके मुखपट्ट के बीच में एक प्रवेश द्वार और दो पार्श्व गवाक्ष हैं। इन तीनों की ऊपरी बेल में छज्जा सा निकला हुआ है, जिससे उथले मुख मण्डप का आकार बन जाता है। इसके ऊपर संगीतशाला है और उसके भी ऊपर कुछ पीछे की ओर १२ फुट ऊँचा कीर्त्तिमुख या सूर्यद्वार है जो चैत्यगृह के भीतरी भाग को प्रकाश और वायु से भरने का मुख्य साधन था (चित्र २७६)।
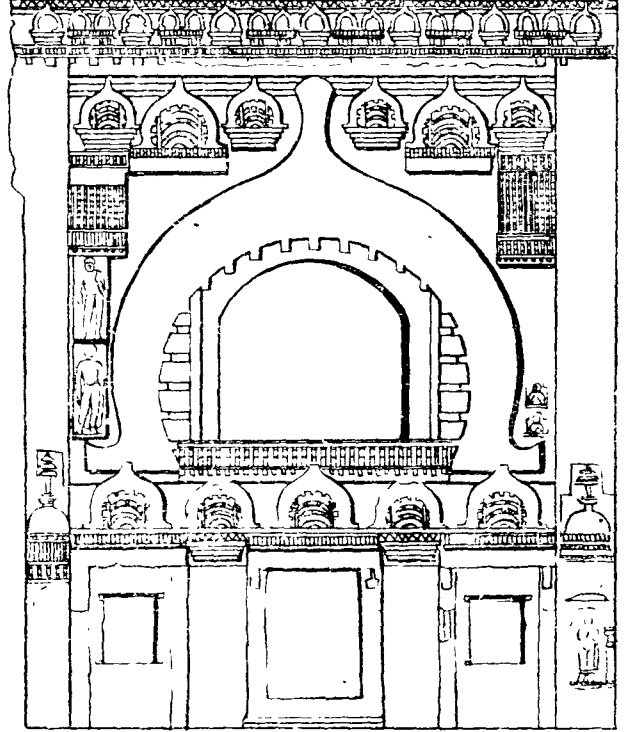
चित्र २७६

सामने के पर्दे पर वेदिका का अलंकरण उसी प्रकार भरा हुआ है जैसे भाजा, कोण्डाने और नासिक के घरमुखों में। भीतरी मण्डप चौकोर है। उसके खम्भे सतर और सीधे हैं। परिक्रमा भाग की छत सपाट है। मूल रूप में मण्डप की ढोलाकार छत के नीचे लकड़ी की भारी धरन जड़ी थीं पर उनका कोई उपयोग न होने से वे निकाल दी गईं। इन दोनों चैत्यगृहों में शुंगकालीन शैली के अनेक चित्रों का आलेखन था। इनमें शिल्पगत मूर्तियाँ नहीं थीं। अब जो बुद्ध-बोधिसत्त्व मूर्तियाँ पाई जाती हैं वे बाद की हैं जब गुफाओं का प्रतिसंस्कार हुआ।

अजन्ता में गुफा संख्या १२, १३ और ८ विहार हैं। इनमें विहार गुहा सं० १२ सबसे प्राचीन थी जो दसवीं गुफा के चैत्यगृह के साथ संलग्न थी। संख्या १३ भिक्षुओं की वृद्धि के कारण बाद में जोड़ी गई। गुहा सं० ११ बहुत बाद के महायान युग में बढ़ाया हुआ विहार है। हीनयान युग में ही इस संस्था की जो वृद्धि हुई उसी के कारण चैत्य गुफा ९ और विहार गुफा ८ को उत्कीर्ण किया गया। विहार संख्या १२ एकभूमिक है। उसका मुखपट्ट या सामने का भाग गिर गया है। भीतर का मण्डप चौकोर (३८′ × ३८′) है जो भिक्षुओं के एकत्र होने के लिए उपस्थान शाला का काम देता था। इसमें छत को रोकने के लिए खम्भे न थे। मण्डप के दोनों ओर पीछे तक घूमी हुई स्तम्भ पंक्ति है, जिसके ऊपरी भाग में घुड़नाल के आकार की शोभापट्टी है। यहाँ के शिला वर्धकियों ने अपने चिर-अभ्यस्त शिल्प का बहुत अच्छा परिचय दिया है, जिसके कारण उकेरी की कोर सर्वथा सच्ची हैं।

मण्डप के तीन ओर चार-चार गर्भशालाएँ हैं, जिनमें कुल ग्यारह पत्थर में कटे हुए शयनासन हैं। उनमें शिरोधान या तकिए भी बने हैं। शालाओं के दरवाजों में लकड़ी की किवाड़े थीं जो अब नहीं रहीं पर उनके घूमने के लिए देहली और उतरंगे में कटी हुई चूलें अभी तक हैं। यह भिक्षुओं की शयनशाला थी जिसमें वे अपने आपको वन्य पशुओं से सुरक्षित समझते थे।

गुफा सं० १३ का विहार शुरू में एक भिक्षु के लिए था। बाद में इसका आकार बड़े मण्डप का कर दिया गया, जिसकी भीत चमकीली थीं पर उसमें खम्भे न थे (१४′×१७′×७′)। गुफा १२ के समान इसमें भी कटावदार शयनासन के साथ कई अपवरक या कोठरियाँ थीं।

गुफा ८ प्राकृतिक कन्दरा थी। पर उसे खोदकर बढ़ा दिया गया (३२′×१७′×१०′)। इसके पिछले भाग में दोनों सिरों पर दो-दो गर्भशालाएँ हैं और दो बीच में हैं जो गर्भगृह में मिलती हैं। गर्भगृह में जाने के लिए एक छोटा द्वार है और उसमें एक आसन्दी के अतिरिक्त कोई मूर्ति नहीं है।

अजन्ता पहाड़ी के अंतरंग में पहले यही ५ गुफाएँ थीं (१०, ९, ८, १२, १३)। फिर महायान युग में ८ गुफाएँ दक्षिण पूर्व की ओर और १४ दक्षिण-पश्चिम की ओर और जोड़ी गई। इनमें गुफा संख्या १६-१७ विहार और १-२ चैत्यगृह हैं। ये अत्यन्त भव्य चित्रों के आलेखन और पाषाण शिल्प की मूर्तियों से भरी हुई हैं।

बेडसा की गुफाएँ

बेडसा कार्ले से १० मील दक्षिण में है। यहाँ की गुफाओं में काष्ठशिल्प से पाषाण शिल्प की ओर सविशेष प्रगति पाई जाती है। सामने का पर्दा पत्थर में काटा गया है। खम्भे कहीं अधिक सीधे और संतर हैं यद्यपि उनमें बहुत हलका सा झुकाव अभी भी है। द्वारों के पार्श्व स्तम्भ लगभग समानान्तर हैं। वस्तुतः इसके विन्यास में शिल्प की दृष्टि से सुग्रथित चैत्यगृह के सभी लक्षण पाए जाते हैं।

मुख मण्डप के सामने के भाग में दो बड़े स्तम्भ हैं जो बगली स्तम्भों के बीच में लगे हैं। उन्हें बिल्कुल स्वतन्त्र स्तम्भ तो नहीं माना जा सकता, जैसे कार्ले की गुफा में हैं, फिर भी उनकी मध्ययष्टि या मँझलेट की लम्बी लाट और पशु शीर्षक पर अशोक कालीन स्तम्भों का स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है। स्पष्ट है कि इन खम्भों की थूनी जैसी टेक पर मुखमण्डप का लम्बा-चौड़ा भारपट्ट रुका हुआ था। काष्ठ-शिल्प की अनुकृति पर इनका कटाव चट्टान में हुआ था।

स्तम्भ अष्टांसिक या अठपहल हैं और उनका निचला भाग पूर्णकुम्भ के मुख में निविष्ट है जिनके सिरे पर नीचे को लहराती हुई कमल की बड़ी पंखुड़ियाँ या मौज पत्ते हैं। इनकी व्याख्या सारनाथ सिंहस्तम्भ के संदर्भ में की जा चुकी है। इन स्तम्भों के शीर्षक अत्यन्त शोभायुक्त हैं। उनके अण्ड भाग या चौकी पर युगल आरोही सहित एक ओर हय संघाट और दूसरी ओर गज संघाट की मूर्तियाँ हैं। पशु और मनुष्य दोनों की रचना में शिल्प कला अत्यन्त आकर्षक और प्रभविष्णु है। उनसे इंगित होता है कि किस प्रकार मूर्ति कला और वास्तुकला, इन दोनों का संतुलित समन्वय सिद्ध किया जा रहा था और वह भी एक संकुल कठिन स्थान में। बेडसा के इन शीर्षकों की कल्पना किसी प्रतिभाशाली मस्तिष्क की उपज है। इनकी और कार्ले के शीर्षकों की रचना अत्यन्त श्लाघनीय है (दे० पी० चित्र ६७-८)।

इन खम्भों के सामने अनगढ़ चट्टान का कुछ भाग छोड़ दिया गया है जो खम्भों को सामने से देखने में बाधक है। स्तम्भ युक्त मुख मण्डप के ऊपर एक विशद आगार था जिसमें सम्भवतः सामने संगीतशाला और पीछे महान कीर्त्तिमुख था। मुखमण्डप के भूमितल की पिछली दीवार में

भीतरी मण्डप में प्रवेश करने के लिए अन्यत्र की भाँति यहाँ भी एक प्रवेश द्वार था। मुहार का पूरा भाग वेदिका अभिप्राय से अलंकृत है। कीर्तिमुख का ऊपरी भाग भी वेदिका अलंकरण की दो पट्टियों से सुशोभित है। समस्त मुखपट्ट इस प्रकार की वास्तु और शिल्पकला का सर्वोत्तम नमूना है, जिसके सौन्दर्य की तुलना में केवल कार्ले की गुफा का मुखपट्ट ठहरता है। जैसे किसी ब्याहली बहू के झालर-दार घूँघट की शोभा होती है वैसी ही इस गुफा के मुखपट्ट की शोभा है। यह किसी महान् स्थपति की विचित्र कल्पना का फल है।

शलाका-वातायन के सदृश वेदिकामय अलंकरण इस बात का द्योतक है कि इस चैत्यघर को तिथिक्रम में कहाँ स्थान मिलना चाहिए। बेडसा गुफा के बाद यह अलंकरण क्रमशः घटता जाता है और महायान काल की गुफाओं में बिलकुल नहीं रहता। हीनयान युग में यदि वेदिका अलंकरण कहीं अधिक और कहीं कम हो तो वह उस गुफा के पूर्वापर काल का निश्चित सूचक है। इस गुफा में तो सामने का लगभग पूरा भाग वेदिका और कीर्तिमुखों से अलंकृत है। इसमें एक जालक-वातायन या जालीदार शलाकाओं से भरा हुआ गोलम्बर भी है जो केवल अत्यन्त प्राचीन गुफाओं में पाया गया है। उस प्रकार का झरोखा या पञ्जर शिलाकर्म के लिए अनुपयुक्त समझकर बहुत पहले ही छोड़ दिया गया था।

चैत्यघर का भीतरी भाग ४५½ फुट लम्बा व २१ फुट चौड़ा है। यह एकदम सादा है जिसके खम्भों पर न ऊपर शीर्षक हैं और न नीचे अधिष्ठान या चौकियाँ हैं। कहीं कहीं बौद्धों के मांगलिक चिह्न अवश्य उत्कीर्ण हैं। छत के ढोले में लकड़ी की भारी धरन लगी हुई थीं, पर वे लगभग अब गिर चुकी हैं। स्तूप और स्तम्भों पर चित्रों के कुछ अवशेष हैं जो महायान युग में लिखे गए। चैत्यगृह के पास ही एक आयताकार विहार है, किन्तु उसके चौकोर मण्डप का पिछला भाग वृत्ताकार है और उसके तीन ओर चौकोर कोठरियाँ हैं।

नासिक की गुफाएँ

पतंजलि ने इस प्राचीन नगरी का नाम नासिक्या लिखा है। गोदावरी के तट पर अपनी अनुकूल स्थिति के कारण यह प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र बन गया। इसीलिए बौद्ध भिक्षुओं ने भी इसे अपने एकान्त आवास और ध्यान के लिए चुना।

यहाँ १७ गुफाएँ हैं, उनमें एक चैत्यगृह और सोलह विहार हैं। इनमें ६ या ७ प्रथम श्रेणी की हैं। किसी युग में नासिक के विहारों की भित्तियों पर भी अजन्ता के समान चित्र लिखे थे, पर अब वे नहीं रहे।

नासिक में सबसे प्राचीन विहार दूसरी शती ई० पू० का है। उसके भीतर का चौकोर मण्डप १४'×१४' है। उसके तीन ओर दो-दो चौकोर अपवरक हैं। चौथी ओर के बाहर एक मुखमण्डप है जिसमें दो अठपहल खम्भे हैं। प्रत्येक अपवरक के प्रवेश द्वार के ऊपर एक-एक चैत्यमुखी वातायन है। यह विहार अजन्ता के दो प्राचीनतम विहारों के सदृश ही है। इस गुफा में आन्ध्रवंशीय शासक महाराज कृष्ण का एक लेख १७० ई० पू० का उत्कीर्ण है।

नासिक में तीन और बड़े विहार हैं, उनमें नहपान का विहार सबसे प्राचीन है। दूसरा गौतमी-पुत्र का और तीसरा यज्ञ श्री शातकर्णी का। इन तीनों का समय प्रथम शती ई० पू० से द्वितीय शती

ईसवी के बीच में है। नहपान विहार और शातकर्णी विहार नाप में और वास्तु विन्यास में सर्वथा एक से हैं। उनके भीतरी वर्गाकार मण्डप ४०′×४०′ हैं। उनके बीच में कोई स्तम्भ नहीं है। उनके तीन ओर सब मिलाकर १६ कोठरियाँ हैं। सामने मुखमण्डप में ६ खम्भे हैं और नहपान विहार में दोनों सिरों पर दो कोठे भी हैं। नहपान विहार के मुखमण्डप के खम्भे ठीक कार्ले के चैत्यगृह जैसे हैं। कार्ले में नहपान के जामाता उषवदात और उसकी भार्या दक्षमित्रा के लेख हैं। उन्होंने ही नासिक के नहपान विहार के दो कोठे दान में दिए।

नहपान विहार में बरामदे का अठपहल खम्भ एक पूर्णकुम्भ में पिरोया हुआ है जो चार चौकों के अधिष्ठान पर पधराया हुआ है। खम्भे के ऊपरी सिरे पर भी ऐसा ही औंधा रखा हुआ पूर्ण कुम्भ है, जिसके ऊपरी भाग में चार शिलाओं की वैसी ही उल्टी पिढ़िया है। पीढ़े के ऊपर वृष संघाटों से अलंकृत शीर्षक हैं। शीर्षकों के ऊपर बड़े भारपट्ट हैं और उनके ऊपर वेदिका अलंकरण से मंडित सच्छिद्र कपिशीर्षकों से युक्त पर्दे की भीत है।

गौतमीपुत्र विहार के स्तम्भ अत्यधिक शोभायुक्त हैं जो पद्मवर वेदिका से घिरे हैं। इस वेदिका के खम्भों और सूचियों पर वैसे ही कमल के फुल्लों की सज है जैसी मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त पद्मवर वेदिका पर पाई गई है। इन पदुमक या पुष्करों की शोभा अत्यन्त निराली है। अठपहल खम्भे के ऊपरी सिरे पर स्पष्ट रूप से औंधे ढके हुए पूर्ण कुम्भ का अलंकरण है और उनके ऊपर के पीढ़े सिंह संघाटों से सज्जित हैं। सिंह शीर्षकों के ऊपर बड़ा भार-पट्ट है जिसके ऊपर सच्छिद्र ओटा है और उसके ऊपर चतुष्पद पंक्तियों की शोभापट्टी है। उसके और ऊपर कमल के फुल्लों की कई बेले हैं।

यज्ञश्री शातकर्णी का महाविहार इन सबमें विशिष्ट है। उसका महामण्डप ६१ फुट लम्बा, बाहर की ओर ३७½ फुट और भीतर की ओर ४४ फुट चौड़ा है। उसके तीनों ओर आठ कोठरियाँ हैं। आरम्भ में विहार केवल ४० फुट लम्बा था पर पीछे बढ़ाकर ६१ फुट कर दिया गया। इसकी एक विशेषता यह है कि मण्डप के पिछले भाग में एक गर्भगृह है जिसके सामने की ओर दो खम्भे हैं। उनकी उकेरी बड़ी शोभायुक्त है। उसमें बुद्ध की बैठी हुई एक बड़ी प्रतिमा है। उसके दोनों ओर दो पार्श्वचर और कई वामनाकृति अनुचर मूर्तियाँ हैं जैसी बाद की महायान गुफाओं में मिलती हैं। इसके लेख में लिखा है कि इस विहार का निर्माण वासु ने कराया था जो यज्ञश्री शातकर्णी के सेनापति की पत्नी थी। विहार मूलतः प्राचीन काल में कुछ बौद्ध भिक्षुओं की प्रेरणा से बना था किन्तु उसका पुनः संस्कार यज्ञश्री शातकर्णी के राज्यकाल के सातवें वर्ष में हुआ। यह कार्य द्वितीय शती ईसवी के द्वितीयार्ध में किया गया होगा।

नासिक की गुफा संख्या १७ सबसे अंत की है, जिसमें महायान युग की पूरी विशेषताएँ पाई जाती हैं; जैसे बुद्ध की प्रतिमाएँ सभी मुद्राओं में और बैठी एवं खड़ी हुई सभी आसनों में उत्कीर्ण हैं। उनके साथ पार्श्वचर, वामनाकृति अनुचर, दिव्य पुष्पवृष्टि करने वाले विद्याधर एवं बोधिसत्त्व भी हैं। गुफा का यह कायाकल्प ६००-८०० ईसवी के बीच में किया गया जान पड़ता है। नासिक की महत्त्वपूर्ण गुफाएँ या लेण सातवाहन या आन्ध्र-भृत्य युग की हैं।

विहार संख्या १२ छोटी होते हुए भी एक शिलालेख के कारण महत्त्व की है। उसके अनुसार इस गुफा को इन्द्राग्निदत्त नामक यवन ने बनवाया था जो उदीच्य में दत्तामित्री नगरी का रहने वाला था।

नासिक का चैत्यगृह—नासिक का चैत्यगृह आरम्भिक गुफा की अपेक्षा कुछ बाद का है और प्रथम शती ई० पू० के मध्यभाग में खुदवाया गया ज्ञात होता है। मण्डप के खम्भे और द्वारों की बगलियाँ कुछ सलामी में बनाई जाती थीं। शनैः शनैः इन्हें समानान्तर सीध में रखने लगे। उनके झुकाव से उनका काल सूचित होता है। नासिक के भीतरी मण्डप के स्तम्भ इतने सतर हैं कि उनका झुकाव दृष्टि में नहीं आता और बगली खम्भे तो लगभग समानान्तर ही हैं। चैत्यगृह का मुखमण्डप वास्तुविन्यास की श्रेष्ठता का बहुत अच्छा उदाहरण है। वह दो तल्लों में है। नीचे की मंजिल में गोलम्बर सहित प्रवेश द्वार हैं और ऊपर महाकीर्तिमुख या सूर्यद्वार है। द्वार के पार्श्व में एक महाकाय यक्षाकृति रक्षापुरुष है। चैत्यगृह के भीतरी खम्भे पर एक लेख है। लेखों के अनुसार इस चैत्यघर का वास्तु-विधान और शिल्प की मूर्तियाँ कई दानदाताओं की उदारता का फल थीं। मुख-मण्डप के द्वार के लेख से ज्ञात होता है कि बम्भिका ग्राम के लोगों ने इसे दान में दिया। दूसरे लेख में जो प्रवेश द्वार के बाईं ओर के छज्जे पर खुदा है, लिखा है कि यक्ष की मूर्ति और वेदिकामय अलंकरण नडसिरि के दान से बनाया गया। भीतरी मण्डप के दो खम्भों पर उत्कीर्ण लेख में लिखा है कि चैत्यगृह का निर्माण भट्टपालिका ने कराया।

नासिक का यह चैत्यगृह पाण्डुलेण के नाम से प्रसिद्ध है (चित्र २७७)। यह सर्वथा पहाड़ी में उत्कीर्ण किया गया है और इसमें कहीं भी काष्ठकर्म का प्रयोग नहीं देखा जाता। इसका मुखपट्ट प्रवेशद्वार के ऊपर चन्द्राकृति गोलम्बर के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। प्रवेशद्वार के दोनों ओर के द्वारस्तम्भों के शीर्षकों पर पशुसंघाटों की शोभा है। यह स्पष्ट सूचित होता है कि नासिक चैत्यघर के शिलावर्धकी यह अनुभव कर चुके थे कि चैत्यघर के स्थापत्य और शिल्प को कितना समुन्नत बनाया जा सकता था। मण्डप के चौकोर स्तम्भों पर चौकोर अण्ड भाग के ऊपर अत्यन्त भव्य शिल्पगत मूर्तियाँ हैं। उनमें पशुओं के रूप और भाँति-भाँति के सुन्दर अभिप्राय हैं। खम्भों के निचले सिरे पूर्णकुम्भों के मुख में प्रविष्ट हैं। शिल्पियों ने अनुभव किया कि खम्भों की पेंदी में और ऊपर के सिरे पर पूर्णकुम्भ मध्ययष्टि को अद्भुत सौन्दर्य प्रदान कर देता है। पूर्णघट का यह अभिप्राय मांगलिक था और यही मानकर उसका प्रयोग किया गया। पर बताए गए कई उदाहरणों से ज्ञात होता है कि खम्भों के ऊपर नीचे पूर्ण घट का रिवाज आम बात थी। इससे हमारा ध्यान सारनाथ के अशोककालीन सिंह शीर्षक की ओर भी जाता है, जिसके सिरे के अलंकरण को हमने पहले कमल की पंखुड़ियों से भरा हुआ पूर्णघट कहा है। चैत्यगृह में स्तम्भों की आकृति में भी बहुत कुछ परिवर्तन आ गया है। वे अब स्थूल और भारी भरकम न होकर लम्बे और छरहरे हो गए हैं
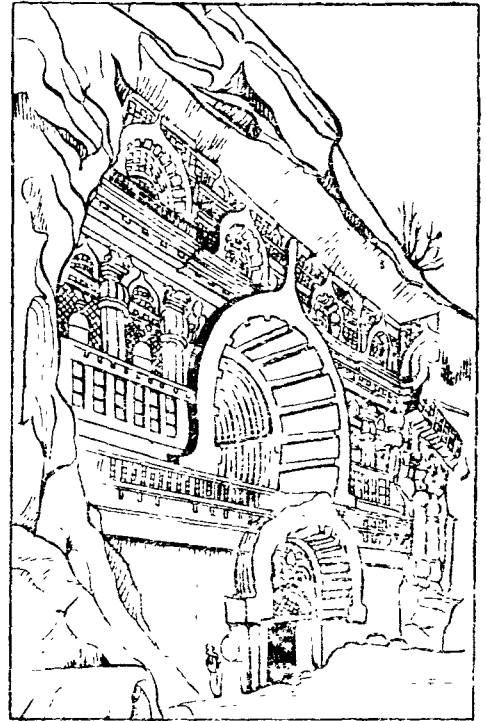
चित्र २७७

जिनका व्यास उनकी ऊँचाई से अष्टमांश है। यह विशेषता ग्रीस और रोम के उत्तम स्तम्भों में भी लक्षित होती है।

पाण्डुलेण में एक संगीत शाला भी थी, जो बाहर की ओर न होकर मण्डप के भीतरी ओर चूलों में अटकाई हुई धरनों पर टिकी थी। भीतर का स्तूप भी अधिष्ठान की ऊँचाई बढ़ने के कारण कुछ अधिक लम्बा हो गया है।

जुन्नार

पूना में ४८ मील उत्तर की ओर जुन्नार नाम की पुरानी बस्ती है। उसके आसपास पर्वत में उत्कीर्ण कई समूहों में विभक्त १५० गुफाएँ हैं। उनमें १० चैत्यगृह और शेष विहार हैं। आदिकाल की अन्य गुफाओं की भाँति इनमें भी मूर्तियाँ नहीं हैं। उनका निर्माण काल द्वितीय शती ई० पू० से प्रथम शती ईसवी तक था। हीनयान बौद्ध धर्म की प्रेरणा से जो गुफाओं का व्यापक आन्दोलन शुरू हुआ था, उसी के फलस्वरूप ये गुफाएँ भी काटी गईं। कुछ गुफा लेखों से ज्ञात होता है कि वे बौद्ध भिक्षुओं के लिए कुतरी गईं।

गणेशलेण थोक या समूह में नासिक जैसा चैत्यघर और एक विहार है, जो अपने वर्ग में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। जुन्नार गुफाओं में वास्तु की कई विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र नहीं पाई जातीं। जैसे ६ चैत्यगृह आयताकार हैं, उनकी छतें चपटी और मण्डप में कोई स्तम्भ नहीं है। तुलजा समूह में एक चैत्यगृह बिलकुल गोल आकृति का है, जो अपने ढंग का निराला है, क्योंकि उस जैसा दूसरा घर पूर्वी समुद्र तट के निकट गुण्टपल्ले में ही है।

यहाँ की गुफाएँ बहुत सीधी-सादी हैं। इनमें रक्षामानुष एवं स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ नहीं हैं जैसी कार्ले में हैं। इस बात के चिह्न हैं कि चैत्यघरों की भित्तियों पर भूमिबंधन करके चित्र लिखे गए थे। मानमोद थोक के चैत्यगृह के मुखमण्डप में अपूर्व ढंग की मूर्तियाँ हैं। उसके निचले गोल मुखपट्ट द्वार के ऊपर का बड़ा छिद्र विकसित कमल की आकृति का है, जिसकी बीच की पंखुड़ी पर देवी श्री लक्ष्मी की सुन्दर मूर्ति है। श्री लक्ष्मी के दोनों ओर उठते हुए खिले कमल हैं। उसका दाहिना हाथ अभयमुद्रा और बायाँ कट्यवलम्बित मुद्रा में है। कोनों में कमलों पर खड़े हुए हाथी देवी को अभिषेक करा रहे हैं। हाथियों के पार्श्व में अञ्जलिमुद्रा में दो दम्पती हैं। देवी गजलक्ष्मी का यह अंकन बड़े भव्य रूप में दिखाया गया है। यह द्वार के ऊपर प्रमुख स्थान में उत्कीर्ण होने से महत्त्वपूर्ण भी है। यद्यपि भरहुत, साँची, बोधगया, उदयगिरि आदि स्थानों में श्री लक्ष्मी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, किन्तु जुन्नार के समान न तो देवी का रूप इतना भव्य और सुन्दर है और न तो उसकी कल्पना ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान में की गई है। निःसन्देह यह मूर्ति किसी महान् शिल्पी की प्रतिभा का फल है। श्री लक्ष्मी की गणना प्राचीन लोकदेवताओं में थी। उसकी मान्यता लोक में बहुव्याप्त थी। वहीं से बौद्ध चैत्यगृहों और स्तूपों में उसे अपनाया गया क्योंकि उस देवी के बिना इन दोनों का स्वरूप-सम्पादन पूर्ण नहीं होता था। इस मुखपट्ट के किनारे के अर्धवृत्त पर एक छोटा लेख है जिसमें कहा है कि मुखपट्ट के ऊपर का आधा भाग चंद नामक एक यवन ने दान में दिया। इसमें यह सूचना मिलती है कि दानदाता वैष्णव या भागवत धर्म का अनुयायी था, जैसा भागवत यवन हेलियोदोर था, जिसने

बेसनगर में गरुड़ध्वज स्थापित किया। कीर्त्तिमुख के चोटिये के दोनों ओर मूर्तियाँ हैं—दाहिनी ओर सफण या फणाटोप युक्त नागराज है और बायीं ओर सपक्ष गरुड या सुपर्ण है। दोनों के पृष्ठ भाग में उभरी हुई उकेरी में एक-एक स्तूप दिखाया गया है। यह काद्रवेयों और सौपर्णेयों के वैदिक आख्यान या नाग-गरुड़ अभिप्राय का परम्परा प्राप्त अंकन है, जिसे लोकमान्य होने के कारण बौद्ध चैत्यघर में भी स्थान मिला। श्री लक्ष्मी और स्तूपों के साथ नाग-गरुड़ अलंकरण का पद इस प्रतिभायुक्त शिल्पी की कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। कीर्त्तिमुख के पार्श्व भागों में कुछ हटे हुए दो पार्श्व स्तम्भों के ऊपर एक सिरदल या उत्तरांग है। यह कीर्त्तिमुख के तीन ओर अत्यन्त श्रेष्ठ चौखटा बन गया है, जिसे स्वयं कीर्त्तिमुख अभिप्रायों और वेदिका के अलंकरणों से सज्जित किया गया है। इस मालाकार सजावट से कीर्त्तिमुख का सौन्दर्य और भी खिल उठा है। इस प्रकार इस शिल्पी ने मुखमण्डप के ऊपर और नीचे के भागों में शिल्प-सौन्दर्य का एक कूट ही रच दिया है। इस गुफा का भीतरी मण्डप प्रदक्षिणा-पथ के स्तम्भों के बीच में ३० फुट लम्बा और १२½ फुट चौड़ा है (चित्र २७८)।
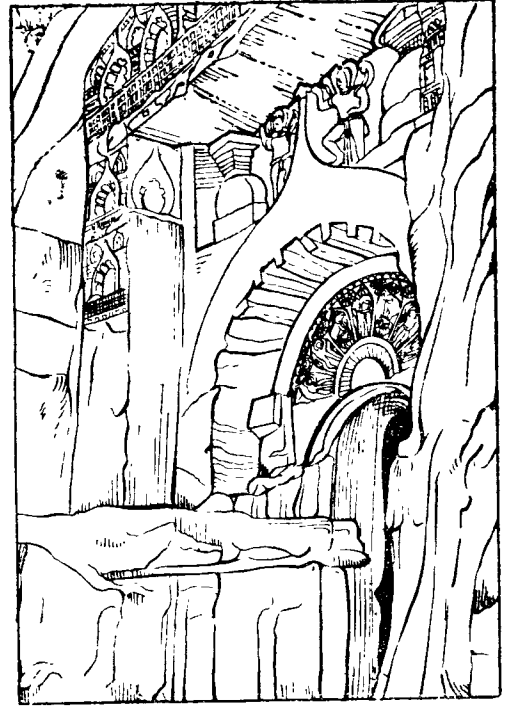
चित्र २७८

इसके पूर्व की ओर कुछ हटकर सुन्दर मुखपट्ट वाले चार अपवरक हैं। प्रत्येक कोठरी के प्रवेश द्वार के ऊपर चैत्यवातायान उत्कीर्ण है, जो पृष्ठभूमि से १५" निकला हुआ है और नीचे के भाग में वैसी ही सज्जा से युक्त है, जैसी नासिक चैत्य के प्रवेश द्वार के ऊपर है और जो उसकी प्राचीनता की सूचक है।

जुन्नार से दो मील पश्चिम तुलजा लेणों के समूह में बारह गुफाएँ हैं, जिनमें पाँच कोठरियों से युक्त एक विहार, एक भोजन शाला, और उन सब में महत्त्वपूर्ण एक गोल चैत्यघर है। अवशिष्ट मुखपट्ट पर एक कीर्त्तिमुख या सूर्यद्वार, वेदिकामय अलंकरण और स्तूप अंकित हैं। भीतरी गोल मण्डप का व्यास २५½ फुट है। इसकी गूमट के आकार की वृत्ताकार छत (१८ फुट) बारह सादे अठपहल खम्भों पर टिकी है। यह स्तम्भमाला बीच के स्तूप के चारों ओर है। वास्तु का यह विन्यास प्राचीन काल की पर्णशालाओं के काष्ठशिल्प की अनुकृति ज्ञात होता है। ऐसा ही एक गोल मण्डप भरहुत स्तूप की वेदिका पर भी अंकित मिला है जिसमें गोल मूर्तिघर स्तम्भों पर आश्रित मण्डप के समान है, जिसकी गोल छत कूटाकार है और उस पर स्तूपी बनी है। इस मण्डप के बीच में ऊँचा मण्ड है जिस पर छत्रयष्टि के नीचे बुद्ध का उष्णीश रखा हुआ है। मण्डप के चारों ओर तोरणयुक्त वेदिका का कटहरा था, जैसा भरहुत की उकेरी में दिखाया गया है। मण्ड के सामने पङ्क या

हाथ के थापों के अलंकरण हैं और उसके आगे पुष्पार्चन के लिए छोटी पुष्पग्रहणी वेदिका बनी है।

जुन्नार में और भी कई चैत्यगृह हैं, जिनके भीतर उकेरी की सज है। वे चतुरस्त्र और स्तम्भों से रहित हैं। उनकी छतें सपाट हैं। मण्डप में स्तूप उसी स्थान पर काटा गया है, जैसा गोल गर्भगृह वाले चैत्यों में होता था। कई चैत्यघरों में कम चौड़े प्रदक्षिणापथों के खम्भे ऊपर-नीचे पूर्णघट अलंकरण से सुशोभित हैं और उन पर वेदिका की सज भी पाई जाती है। यद्यपि सामने की ओर कीर्त्तिमुख भी है, किन्तु उसमें छिद्र नहीं काटा गया अतः मण्डप में प्रकाश केवल द्वार से ही प्रविष्ट होता है।

गणेशलेण के थोक में चार चैत्यघर है। उनमें से एक में नहपान के समय (प्रथम शती ई०) का लेख है। कला की दृष्टि से यह उस काल का सर्वोत्तम चैत्य मन्दिर है। इसके भिन्न भागों की नाप अनुपात सिद्ध है और सब अलंकरण और वास्तु के विन्यास सुविदित और सुविहित हैं। भीतरी मण्डप ४५ फुट लम्बा-चौड़ा है और उसके दोनों ओर ५-५ स्तम्भों की पंक्ति है। उनके शीर्षकों में आकर्षक प्रदर्शन हैं, जिनमें हाथी, बाघ और दूसरे पशुओं पर प्राणवंत आरोही दिखाए गए हैं। इस चैत्यगृह की समृद्ध सजावट और मझला आकार सूचित करता है कि बौद्ध कला के इस स्वरूप के सर्वोपरि विकास के युग में इसे बनाया गया। इसके पीछे वास्तु और स्थापत्य के दीर्घकालीन प्रयोगों की परम्परा थी।

कार्ले

कोंकण और सह्याद्रि के पूर्वी तटान्त को जोड़ने वाले प्राचीन मार्ग पर भोरघाट नामक पहाड़ी में बहुत सी पर्वत गुफाएँ हैं, जैसे कोण्डाने, भाजा, बेडसा और कार्ले में। इन सब में कार्ले की गुफाएँ सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त हैं।

कार्ले की गुफाएँ बम्बई-पूना मार्ग पर बम्बई से ७८$\frac{3}{4}$ मील दूर मलावली स्टेशन से ३ मील दक्षिण की ओर हैं। यहाँ एक विशाल भव्य चैत्यगृह और तीन सामान्य विहार हैं। यह चैत्य मन्दिर अपनी श्रेणी के सब चैत्यगृहों में श्रेष्ठ है और इससे सूचित होता है कि पश्चिम भारत में वास्तु-शिल्प का यह आन्दोलन कितनी ऊँचाई तक उठ चुका था। इस गुफा में वास्तु और शिल्प का अद्भुत समन्वय देखा जाता है जैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। स्पष्ट है कि यहाँ के शैलवर्धकी चिर अभ्यास से अपने कर्म में अत्यन्त प्रवीण हो चुके थे और वे तक्षण कला पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे। मुख मण्डप में उत्कीर्ण लेख के अनुसार यह उस युग में भी जम्बूद्वीप का सर्वोत्तम चैत्यगृह समझा गया था (जम्बुदिपंहि उत्तमम्)। अर्वाचीन सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से भी इस बात का समर्थन होता है।

चैत्यगृह में निम्नलिखित भाग हैं—

(१) दो ऊँचे चतुर्मुख दर्शन वाले स्तम्भ या लाट जिनके सिरे पर सिंह-शीर्षक हैं।

(२) मुख मण्डप जो स्तम्भों पर आश्रित है और जिसमें नीचे ऊपर दो भूमियाँ हैं।

(३) मुख मण्डप की अगली भित्ति के बिचले भाग से आगे की ओर निकली हुई संगीतशाला।

(४) मुख मण्डप की पिछली दीवार के ऊपरी तल्ले में महान् कीर्त्तिमुख या सूर्यद्वार बना है जिसका गोलम्बर काष्ठ शिल्प के पञ्जर से भरा हुआ है। निचले या भूमिगत तल्ले में तीन प्रवेश द्वार हैं, जो बीच के महामण्डप और दाएँ-बाएँ के प्रदक्षिणापथ में जाने के लिए हैं।

(५) बीच का आभ्यन्तर मण्डप।

(६) दो लम्बे प्रदक्षिणापथ।

(७) वृत्ताकार गर्भगृह या मण्डप का पिछला भाग।

(८) गर्भगृह के बीच में चैत्य या स्तूप।

(९) ३७ स्तम्भों की माला, जिनमें ७ स्तम्भ स्तूप को घेरे हुए हैं और १५-१५ मण्डप के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े हैं।

(१०) ढोलाकृति और गूमट के आकार की छत।

(११) छत के नीचे लगी हुई काष्ठशिल्प की भीमकाय घुमावदार धन्नियाँ जो चैत्यगृह के निर्माण के समय की हैं।

(१२) चैत्यगृह के भीतर और बाहर कई लेख उत्कीर्ण हैं।

संस्कृत भाषा की स्वशक्ति के अनुरूप इस प्रकार की महती गुफाएँ कीर्त्ति कहलाईं जिसका शब्दार्थ है उत्कीर्ण या चट्टान में काटी हुई गुफा। यह शब्द 'कृ' धातु से बना। यही धातु 'उत्कीर्ण' पद में भी है। इसी आधार पर सामने का स्तम्भ कीर्त्तिस्तम्भ कहलाया और इस प्रकार का स्तम्भ कीर्त्तिसंज्ञक गुफा का आवश्यक लक्षण माना जाने लगा। मूल में कन्हेरी गुफा की भाँति यहाँ भी दो ऊँचे मोटे कीर्त्ति स्तम्भ थे पर अब एक ही रह गया है। दाहिनी ओर का स्तम्भ एक नया शैव मन्दिर बनवाने के लिए हटा दिया गया। पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि ३००० ई० पूर्व ऊर नामक स्थान में चन्द्र मन्दिर के सामने ऐसे स्तम्भ थे। उनकी सम्मति है कि मिश्र देश के मन्दिरों के सामने भी ऐसी ही लाटें थीं और येरुशलम में सोलोमन के मन्दिर के सामने भी दो पीतल के स्तम्भ थे जिनका दूरंगम प्रभाव कार्ले के कीर्त्तिस्तम्भों पर पड़ा। हमारी सम्मति में यह समानता यदृच्छावश है। वस्तुतः ऐसे स्तम्भों की कल्पना के लिए भारतभूमि से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। हमने ऊपर उल्लेख किया है कि यज्ञीय भूमि में और श्मशानों में इस प्रकार के स्तम्भों को उच्छ्रित या स्थापित करने का रिवाज बहुत पुराने समय से चला आता था। ऋग्वेद में ही इसका उल्लेख है (ऋ० १०।१८।१३) और लौरियानन्दनगढ़ के मिट्टी के थूहों में तो ऐसे स्तम्भों के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। साँची के महाचैत्य में तोरण के सामने ऐसा ही स्तम्भ है।

दोनों स्तम्भ प्रदक्षिणापथ के पार्श्वद्वारों के सम्मुख थे जैसा बचे हुए बाईं ओर के स्तम्भ से सूचित होता है। वे मुखमण्डप के बाहरी ओटे से कुछ हटकर खड़े हैं जो इस बात का प्रमाण है कि वे चारों ओर से कोरकर या चतुर्मुख दर्शन के लिए बनाए गए थे जिससे उनकी स्वच्छन्द परिक्रमा सम्भव थी। बचा हुआ स्तम्भ ५० फुट ऊँचा है। उसकी यष्टि के सोलह पहल हैं। सिरे पर एक लहराती पत्तियों से युक्त औंधा ढँका हुआ पद्मकोष है, उसके ऊपर त्रिमेधि युक्त चौकी है, सबसे ऊपर की पीठिका पर चार महाकाय सिंह चार दिशाओं में मुँह किए हुए पीठ सटाकर बैठे हैं। त्रिमेधि और कमल के बीच में सोलह खारों से युक्त एक चौकोर पीठ है। इस स्तम्भ पर अशोककालीन सारनाथ स्तम्भ का प्रभाव स्फुट रूप में है पर दोनों के कलात्मक विधान में भारी अन्तर है।

दो स्तम्भों के पृष्ठ भाग में छोड़ा हुआ मुखमण्डप चैत्यगृह के लिए अन्तराल मण्डप का भी काम देता था। इस प्रवेशवीथि रूप मुखमण्डप के आगे-पीछे दो भित्तियाँ थीं। इस प्रवेश कक्ष्या के कारण अन्तराल मण्डप की शोभा बहुत बढ़ गई थी। दो तल्ले के मुखमण्डप का निचला भाग दो अठपहल दृढ़ स्तम्भों पर टिका हुआ है। ऊपरी तल चार स्तम्भों और दो पार्श्व-स्तम्भों पर ठहरा हुआ है। भीतरी मण्डप और दोनों ओर के प्रदक्षिणा पथों में प्रवेश करने के लिए इसी प्रथम कक्ष्या या प्राग्द्वार मण्डप में होकर जाना आवश्यक था। यह मुखमण्डप १७ फुट गहरा और ५२ फुट लम्बा है जो भीतरी मण्डप से ७ फुट अधिक है (चित्र २७९)। जैसे दूसरी गुफाओं में मुखमण्डप की पिछली भित्ति में मिथुनों की महाकाय मूर्तियाँ हैं वैसी ही कार्ले में भी हैं जो बहुत दबंग, बलधारी और प्रभविष्णु हैं। भारत भर में कार्ले गुफा की ये मूर्तियाँ सर्वश्रेष्ठ आँकी गई हैं। मुखमण्डप के दोनों पार्श्वभागों में सम्मुखदर्शन और निकली हुई दो गजराज मूर्तियाँ हैं, जो धौली के गजतम की भाँति महाकाय हैं। वे अधिष्ठानों पर खड़ी हुई हैं। उनके नीचे वेदिका अलंकरण की बेल है जिसके ऊपर गोटदार चौखटे से
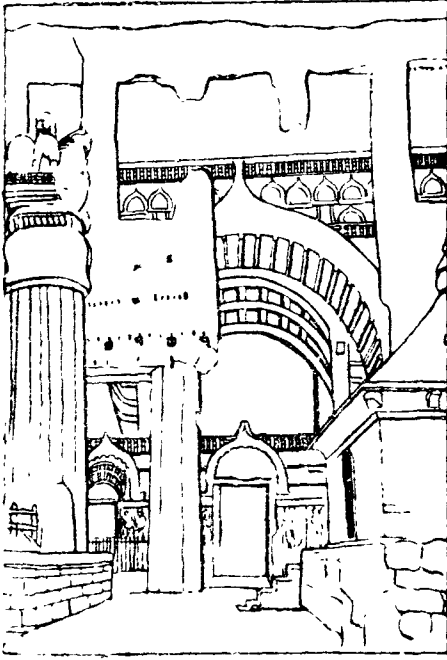
चित्र २७९

घिरी हुई एक शोभा पट्टी है, जो वेदिकामय अलंकरण से भरी है। पर गुप्त युग में उसे गढ़ छीलकर बुद्ध और उनके पार्श्वचरों की मूर्तियाँ बना दी गईं। उसके ऊपर एक चौथैय्या गोले की किनारी बीच में डाल कर पुनः वेदिका अलंकरण दिया गया है जो सामने की ओर बढ़ाकर विपुल कीर्तिमुख की देहली के साथ मिलाया गया है। मुखपट्ट या मुहार के दोनों भागों में कितने ही वेदिकामय अलंकरणों से बिलगाए हुए कीर्तिमुखों की सजावट की गई है। कुछ शिलापट्टों पर कुछ मूर्तियाँ हैं जो गुफा के साथ ही उकेरी गई थीं और कला की दृष्टि से अनुपम हैं। कीर्तिमुख के दोनों ओर के तिकोने कछौटे (Spandrel) भी गवाक्ष और वेदिकामय अलंकरणों से पूरित हैं।

मुखमण्डप के बीच में चट्टान में जो चूलें कटी हैं, उनसे सूचित होता है कि किसी समय यहाँ धन्नियों पर झूलती हुई काष्ठशिल्प की संगीतशाला थी। पर अब वह नहीं रही। संगीतशाला या नान्दी-मण्डप का यह प्रबन्ध एलोरा के कैलास मन्दिर के प्रवेशद्वार के ऊपरी तल में भी पाया जाता है। मध्ययुग में इस्लामी राजमहलों के द्वार के ऊपर भी ऐसे नौबतखाने बनाने का रिवाज जारी रहा।

मुखमण्डप के ऊपरी तल्ले में पीछे की ओर उत्कीर्ण विशाल कीर्तिमुख या प्रथमसिद्ध गवाक्ष है जो पहले तो गुफा को विरजस्क करने अर्थात् काटी हुई चट्टान और ढोके-गिट्टी को बाहर फेंकने के काम आता था और अन्त में वही मण्डप को सूर्य के प्रकाश और आकाशगत वायु से भरने का काम देता था। कीर्तिमुख की कल्पना उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों की दृष्टि से भारतीय कला में

अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह कीर्तिमुख अक्षरशः सूर्यद्वार ही था जिसमें होकर बाहरी सूर्य-रश्मियों का अविरल प्रवाह भीतरी मण्डप में प्रविष्ट होकर उसके प्रमुख और अवान्तर भागों को चार खूँटों में आलोकित करता रहता था जैसा प्रत्येक दर्शक के साक्षात् अनुभव में आता है। प्रकाश और आलोक की यह निपुण कविता कहीं भी अन्यत्र नहीं देखी जाती जैसी कार्ले के चैत्य मन्दिर में है। मण्डप के गर्भगृह और प्रदक्षिणापथों में भरा हुआ प्रकाश समूह अपूर्व दिव्य वातावरण उत्पन्न करता है और ऐसा जान पड़ता है मानों कोई स्वर्गीय ज्योति वहाँ विराजमान हो जिसके शान्त आतप में दर्शक ध्यान में लीन हो जाता है। पृथिवी का यह चैत्य मन्दिर स्वर्गीय सुधर्मा सभा का प्रतिरूप ही है। सूर्य-ज्योति के कोष दर्शक के भीतर प्रवेश करके उसकी आत्मा को आनन्द से भर देते हैं।

चैत्य मन्दिर के वास्तु विधान में आदि से अन्त तक कीर्तिमुख के समान दूसरी मौलिक कल्पना नहीं है। घुड़नाल या अर्धचन्द्राकृति जैसे कटाव के कीर्तिमुख के ऊपर एक निकला हुआ चोटिया (स्तूपिका) है। उसके विपुल मुख भाग या गोलम्बर में काष्ठ शिल्प का एक पंजर था जिसमें अर्धचन्द्राकृति कई कमांचे और उनके बीच में भरी हुई बौलियाँ थीं। ऊपरी कामांचा तो अभी तक बचा है पर उसके भीतर भरा हुआ पंजर गल चुका है। अशोककालीन लोमस ऋषि गुफा में इस पंजर की पाषाणघटित रचना अभी तक सुरक्षित है। वह भी अत्यधिक प्राचीन काष्ठ शिल्प की अनुकृति थी जिसके मूलरूप की परम्परा इन शैलगुफाओं में चालू रही।

मण्डप के भीतर वास्तु-शिल्प का प्रभावशाली रूप है। उसमें प्रमुख भाग के दोनों ओर अत्यन्त सुन्दर स्तम्भों की माला है जो पार्श्वगत प्रदक्षिणापथ को मण्डप से पृथक् करती है और कण्ठहार के समान स्तूप के पीछे तक चली गई है। ये स्तम्भ न केवल अत्यधिक परिमार्जित हैं, किन्तु उनके शीर्ष भाग कला की दृष्टि से अति श्रेष्ठ हैं। भीतरी मण्डप का परिमाण भी सर्वथा महान् मस्तिष्क की कृति है। वह सम्मुख द्वार से अन्तिम छोर तक १२४ फुट लम्बा है। उसकी चौड़ाई १० फुट चौड़े प्रदक्षिणापथों को लेकर ४५½ फुट है। वास्तु-विधान का यह विन्यास सुनिश्चित हो चुका था, और चैत्य मन्दिरों के निर्माण में सर्वत्र प्रामाणिक बन गया था। इसके अनुसार मध्य मण्डप के दोनों ओर दो प्रदक्षिणापथ, उनमें प्रवेश के लिए तीन द्वार, मध्यद्वार के सामने गहरे जाकर स्तूप या चैत्य, खरबुजिया घूमा हुआ गोल भाग और मुखमण्डप यही रचना विधि कुछ हेर-फेर से सब चैत्यघरों में पाई जाती है। इसे हम चैत्यगृहों के भीतर की प्रामाणिक वितान-विधि मान सकते हैं। निःसन्देह यह वास्तुविधि सर्वांश में भारत देश की उपज थी और यहीं से बाहर के ईसाई धर्म के पूजा-घरों में गृहीत हुई।

कार्ले की दो पार्श्वगत वीथियाँ या प्रदक्षिणापथ की कक्षाएँ और सब चैत्यगृहों से उत्तम हैं। वे १० फुट चौड़ी और दोनों ओर की खड़ी दीवारों से परिवेष्टित हैं, जिनके कारण उनमें छाया भरी रहती है मानों प्रकाश के किसी देवता ने एक ओर अपने नेत्र खोलकर दूसरी ओर मीच लिए हों। मण्डप में तैरता हुआ प्रकाश और प्रदक्षिणापथों में भरी हुई छाया परस्पर मिलकर एक दूसरे के लिए शोभा का कारण बनती हैं। छाया और आतप का ऐसा सम्मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है। पर्वत की कुक्षि में ऐसा दिव्य वातावरण प्राप्त करके दर्शक मुग्ध हो जाता है।

मण्डप से जुड़ा हुआ वृत्तभाग गोल छत के ठीक नीचे मध्य बिन्दु पर उत्कीर्ण स्तूप से अलंकृत है। स्तूप की चौकी दो भागों में है, जिनके ऊपरी अंश में वेदिकामय अलंकरण की गोट या मेखला

बँधी है, जो दोनों भागों को एक दूसरे से पृथक् करती है। चौकी के ऊपर सादा अण्डभाग है। उसके मथैले या मस्तक पर बड़ी हर्मिका है जो चौकोर वेदिका से परिवेष्टित है। उसके बीच में काष्ठ-शिल्प की यष्टि और ऊपर छत्र हैं जो चैत्यगृह के मौलिक अंश ज्ञात होते हैं। छत्र के नीचे का वितान जो यद्यपि अब लम्बे समय के कारण कुछ धूमिल हो गया है, कमल के सूरुजमुखी फुल्ले से उत्कीर्ण है, इस कारण इसे सच्चे अर्थों में पद्मातपत्र कहा जा सकता है।

भीतर मण्डप में जो ३७ स्तम्भों की पंक्ति है, जिसमें दोनों ओर ३० खम्भे और ७ पीछे के भाग में हैं और जो विराट कण्ठहार जैसी सुशोभित है, कला की दृष्टि से अपने सौष्ठव में अनुपम है। उसकी तुलना और किसी चैत्यगृह से नहीं की जा सकती। स्तम्भों के अधिष्ठान घटते हुए पीठों की चौकियों पर पधराए हुए पूर्ण कुम्भों में निविष्ट हैं। स्तम्भ की मध्य यष्टि अठपहल (अष्टांशिक) है, उसके ऊपरी सिरे पर भी वैसा ही औंधा ढँका हुआ पूर्ण घट है, जैसा नीचे के अधिष्ठान भाग में, किन्तु वह कमलों की लहराती हुई पंखुड़ियों से ढँका है। उसके ऊपर शीर्षभाग है, जिसके नीचे खारेदार चौकी है, और उसके ऊपर आरोहक दम्पती मूर्तियों से सुशोभित मण्डप की ओर गज-संघाट और प्रदक्षिणापथ की ओर हय-संघाट बने हैं। कुछ स्तम्भों पर दम्पती मूर्तियों के स्थान में केवल दो स्त्रियाँ अंकित की गई हैं। ये सब मूर्तियाँ रूपशिल्प की दृष्टि से इतनी उत्कृष्ट हैं कि इनके सदृश अन्य मण्डप मूर्तियों से उनकी तुलना नहीं है। दाहिनी पंक्ति का आठवाँ स्तम्भ सोलह पहल है और उस पर एक स्तूप एवं अन्य आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। बाईं पंक्ति के पाँचवें स्तम्भ में एक आले का कटाव है जिसमें किसी समय शूर्पारक के भिक्षु की शरीर धातु रक्खी गई थीं। स्तम्भ परस्पर निकट स्थित हैं जिसके कारण उनके शीर्षकों का सिंहावलोकन करते हुए जान पड़ता है कि स्त्री-पुरुषों और पशुओं की आकृतियाँ दो लम्बी शोभापट्टियों के रूप में मण्डप की शोभा बढ़ा रही हैं। स्तूप के साथ के ७ अठ-पहल स्तम्भ बिना चौकी और सिरे के सादा डंडियों के रूप में हैं।

खम्भों के ऊपर ढोलाकार छत है, जिसके निचले किनारे कुछ सलामी में हैं, अतः छत का छेवा ठीक-ठीक अर्धचन्द्राकार न होकर कुछ बढ़ा हुआ है। भूमितल से ऊपर तक छत की ऊँचाई ४५ फुट है। छत के नीचे चट्टान में चूलें काटकर काष्ठशिल्प की बड़ी बड़ी धन्नियाँ फँसाई गई थीं, जो अभी तक बची रह गईं। यह स्पष्ट है कि अपनी इस स्थिति में उनकी वास्तुगत उपयोगिता का सर्वथा अभाव था, केवल काष्ठनिर्मित चैत्यगृहों की पूरी अनुकृति के लिए उन्हें लगा दिया गया था। शिलावर्धकी अपने पूर्ववर्ती काष्ठवर्धकियों का पूरा अनुकरण कर रहे थे और उन पर पूर्वकाल से आती हुई परम्परा का तिल-तिल प्रभाव था। यह भी सम्भव है कि काष्ठनिर्मित चैत्यगृह भी ऐसे ही भीमकाय परिमाण में बनाए जाते थे।

इस गुफा में कई अभिलेख हैं, जिनसे इसका निर्माण काल सूचित होता है। एक लेख में नहपान और उसके जामाता उषवदात के नाम हैं, जिसमें कहा है कि उन्होंने इस चैत्यगृह के लिए एक ग्राम दान में दिया। एक अन्य लेख में वैजयन्ती (वर्तमान बनवासी) के सेठ भूतपाल का इस चैत्यगृह के दान-दाता के रूप में उल्लेख है।

इस समूह में तीन विहार गुफाएँ भी हैं। विहार गुफा संख्या दो त्रिभूमिक और तीन द्विभूमिक है। विहार गुफा ४ पारसीक देशवासी हरफान (सं० सर्वस्फाण) ने दान में दी जो सातवाहन सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णी के (प्रथम शती ई०) राज्यकाल में विद्यमान था।

कन्हेरी गुफाएँ

कन्हेरी का प्राचीन नाम कृष्णगिरि था। यह बम्बई से १६ मील उत्तर और बोरिविली स्टेशन (सं० विहारावलि) से ५ मील पर है। सुन्दर वनश्री और पर्वतों के बीच स्थित इस पहाड़ी चट्टान में सैकड़ों गुफाएँ बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए काटकर बनाई गई थीं। ये लेणियाँ सभी प्रकार की हैं, जैसे—द्विगर्भ, चतुर्गर्भ; जिनमें सोने के लिए आसन पीठिका भी हैं। कुछ लेण बड़े आकार के कोठे हैं (कोष्ठिका, कोढ़ि) जिनमें अधिकसंख्यक भिक्षु रहते थे। इन लेणों में पानी का अच्छा प्रबन्ध है। पहाड़ी के ऊपर की संवरणा में सलिलान्तर बनाकर लेणों के सामने द्रोणि या हौदियाँ बनाई गई हैं, जिन्हें उनके लेखों में पानीय भोजन, पोखरिनी या केवल पोढ़ि भी कहा गया है। इनमें भरा हुआ जल स्वच्छ और पर्याप्त है। इन सबके निरीक्षण के लिए पानियघरिक नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। हीनयान गुफाओं के आन्दोलन के लगभग अन्तिम काल में कन्हेरी गुफाओं का समूह अस्तित्व में आया। उसमें कार्ले एवं अन्य गुफा समूहों से पर्याप्त समानताएँ हैं। इस गुहामयी नगरी की कल्पना द्वितीय शती ई० के अन्तिम भाग में हुई जब सातवाहन सम्राटों की तूती बोलती थी। पर उसके बाद लगभग दो शती तक ये गुफाएँ अन्धकार में पड़ गईं। चौथी शती में महायान प्रभाव से इनका पुनः उद्धार हुआ और तब दसवीं शती तक इनका वैभव बना रहा। इस अवधि में यहाँ अनेक बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गईं जिनमें से कुछ महाकाय या बड़े परिमाण की हैं।

गुफाओं के इस थोक में सबसे विशिष्ट यहाँ का चैत्यगृह है, जो कार्ले के नमूने पर बनाया गया। यह लगभग उतना ही बड़ा है और वास्तु-विन्यास की दृष्टि से भी मिलता है, पर कलात्मकता की दृष्टि से कुछ उतरा हुआ है।

कन्हेरी में घरमुख के आगे एक बड़ा अजिर या प्रांगण है जो अन्य चैत्यगृहों में नहीं मिलता। इस प्रांगण के सिरे पर एक वेदिका है, जिसके खम्भों और सूचियों पर अनेक भाँति के अलंकरण बने हैं जो विशेष अध्ययन के पात्र हैं। नीचे की पट्टी में यक्षों की खड़ी हुई मूर्तियाँ और गोल फुल्ले हैं। इनमें से कुछ चतुर्भुजी हैं पर सबका एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है, जैसे वे ऊपर रखे हुए किसी बोझे को रोक रहे हों। अतः उनके लिए भारपुत्रक संज्ञा उपयुक्त है। साँची, भरहुत एवं अन्य स्थानों में जैसी गुह्यक, किंकर या कीचक मूर्तियाँ हैं उसी मुद्रा में ये हैं। दूसरी आड़ी पट्टी में चतुष्पद पंक्ति है, जिसमें हाथी, बैल, वराह और ऊँट आदि पशुरूप हैं। वेदिका की इन शोभापट्टियों की अनुकृति और विकास के रूप में मन्दिरों की जगती के थरों की कल्पना हुई, जैसे गजथर, अश्वथर, नरथर और सिंहथर। कुबेरके नरवाहन यक्षों को नर कहा गया है और वेदिका के यक्षों का अभिप्राय ही नरथर के रूप में विकसित हुआ। इन पट्टी या थरों के ऊपर वेदिका स्तम्भों की पंक्ति है जिनके बीच में तीन सूचियाँ पिरोई हुई हैं, जिन पर पूरे सूर्यमुखी फुल्ले और आधे चन्द्राकृति पुष्कर उत्कीर्ण हैं। इसे मथुरा स्तूप की पद्मवर वेदिका की प्रतिकृति कहा जा सकता है, जिसका वर्णन राय-

चित्र २८०
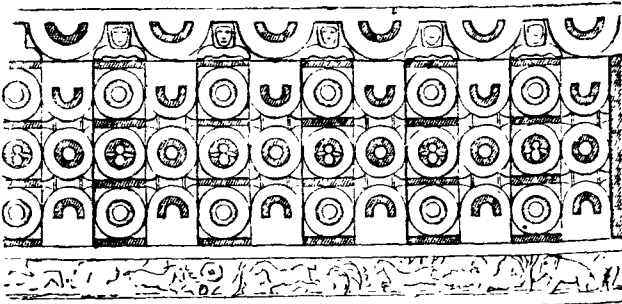
पसेणिय सुत्त में आया है। उनके ऊपर रक्खे हुए उष्णीष पर एक लहराती बेल है, जिसमें उतार-चढ़ाव के घुमाव भरहुत साँची की तरह फूल-पत्तियों से भरे हुए हैं। वेदिका स्तम्भों के बीच-बीच में कुछ चौड़े स्तम्भ हैं जिन पर उपासक पुरुषों की उभरी हुई मूर्तियाँ बनी हैं (चित्र २८०)।

सामने के अजिर के दोनों छोरों पर दो बड़े पार्श्व स्तम्भ हैं जो पीछे की ओर चट्टान से जुड़े हैं किन्तु वे ऊँचाई और आकार में वैसे ही हैं, जैसे कार्ले के कीर्ति स्तम्भ। इनके शीर्ष भाग में तीन यक्षों के मस्तक पर आश्रित अण्ड भाग या चौकी पर तीन सिंहों की भव्य मूर्तियाँ हैं। सम्भवतः सिंहों के मस्तक पर बड़ा धर्मचक्र बना हुआ था। बाईं ओर के स्तम्भ पर केवल यक्ष अवशिष्ट हैं सिंह नहीं।

सामने का बरामदा जिसे लेख में गर्भद्वार कहा गया है, अगली-पिछली दो भीतों से बना है और उसमें दो तल्ले हैं। दोनों तल्ले वास्तुविन्यास की दृष्टि से परस्परांग या मेल में हैं और चैत्यगृह के मुखमण्डप को विलक्षण शोभा प्रदान करते हैं। सामने के निचले भाग में पाँच स्तम्भ हैं जिनके बीच में तीन द्वार हैं। उसके भीतरी भाग में चूल या छेद कटे हुए हैं जिनमें किसी समय काष्ठशिल्प का संगीतमण्डप आधारित था। ऊपरी तल्ले में सामने की ओर पाँच वातायन जो अभी भी सुरक्षित रह गए हैं और पीछे की ओर बहुत विशाल अर्धवृत्ताकार कीर्तिमुख था पर वह आरम्भ में ही अधूरा रह गया था। नीचे के तल्ले में भीतरी मण्डप और प्रदक्षिणापथ में प्रवेश के लिए तीन द्वार हैं जैसे अन्यत्र मिलते हैं। मुखभाग में दानदाताओं की मूर्तियाँ विशाल और भव्य हैं, जिन्हें सर्वसम्मति से अपने सदृश अन्य मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिस चट्टान में वे कटी हैं, वह बहुत ठोस और सघन है। इस गुफा में शिल्पकला अति उत्कृष्ट है, किन्तु यह हीनयान युग का स्थापत्य था। महायान युग की मूर्तियों में कला का यह गुण नहीं है। दोनों ओर की दो दम्पती मूर्तियाँ दो सिंह स्तम्भों से और ऊपर-नीचे ग्रासपट्टियों से परिवेष्टित हैं। पुरुष बड़े उष्णीष, भारी कर्णकुण्डल, कण्ठे और हार, अंगद, कटक, मेखला और चुन्नटदार धोती पहने हुए हैं। उनके दाहिने हाथ में चँवर हैं। पुरुषों के दक्षिण भाग में उत्कीर्ण स्त्रियाँ भी वस्त्रालंकारों से सुशोभित और लम्बे कद की हैं।

चित्र २८१

इस अंतराल भाग को पार करके चैत्यघर के भीतरी मण्डप में, जो कार्ले से कुछ छोटा है, प्रवेश किया जाता है। यह ८६½ फुट लम्बा, ४० फुट चौड़ा और फर्श से छत तक ३८ फुट ऊँचा है। मण्डप के दोनों ओर और स्तूप के पीछे ३४ खम्भों की पंक्ति है। लगभग आधों पर ही पूर्णघट युक्त अधिष्ठान और शीर्षकों के अलंकरण हैं (चित्र २८१)। शीर्षकों के ऊपर मूर्तियाँ हैं पर वे कार्ले जैसी सुन्दर नहीं हैं। एक शीर्षपट्ट पर कमल पत्रों की पंक्ति है, उसके ऊपर बुलिका और मनकों की बेल है, उस पर बोधिवृक्ष के नीचे बोधिमण्डकी शोभा है। बोधिमण्ड पर पादुका चिह्न हैं, जिसकी पूजा दो पंचांग प्रणाम करते हुए पुरुष, और दो खड़ी स्त्रियाँ कर रही हैं। सबसे ऊपर घटाभिषेक कराते हुए दो हाथी हैं। कन्हेरी में उकेरे हुए पट्टों की यह त्रुटि है कि उन पर अधिकतम दृश्य उत्कीर्ण करने का प्रयत्न किया गया। शिल्पियों के मन में बहुत से विचार भरे थे और
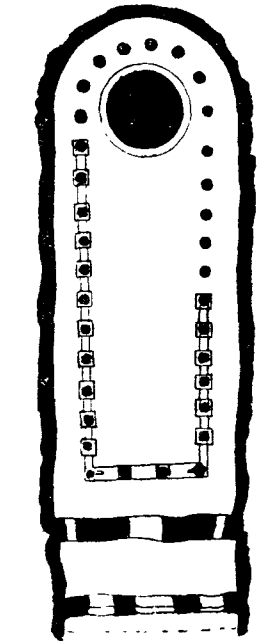
सभी कल्पनाओं को वे सीमित स्थान में उँड़ेल देना चाहते थे। ढोलाकार छत में बहुत सी चूलें या छेद कटे हैं जिनमें किसी समय गर्द्दने के आकार की भारी-भारी घन्नियाँ अटकाई गई थीं पर अब वे नहीं रहीं।

गर्भगृह के वृत्तभाग में गोलाकार स्तूप १६ फुट व्यास का और एकदम सादा है। उसका ऊपरी छत्र भी अब नहीं रहा। यद्यपि तिथिक्रम की दृष्टि से कन्हेरी की गुफा अन्तिम युग की है, किन्तु इसमें काष्ठशिल्प की मात्रा में कुछ वृद्धि ही हुई थी।

बाह्य स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख में लिखा है कि इस चैत्यगृह के उत्कीर्ण करने का कार्य गजसेन और गजमित्र नामक दो भाइयों ने कराया और यह निर्माण कार्य गौतमीपुत्र श्रीयज्ञ शातकर्णी के राज्यकाल में १८० ईसवी के लगभग सम्पन्न हुआ।

इस चैत्य गुहा में कला के ह्रास के कई कारण कहे जा सकते हैं—एक तो यहाँ की चट्टान उतनी ठोस नहीं थी, दूसरे यहाँ के शिल्पी भी कुछ नवकर्मिक या नौसिखिए थे, तीसरे यहाँ के कार्य का कर्मान्तिक या कमठान अध्यक्ष बोधिक नामक बौद्ध भिक्षु था जो इस कला में उतना प्रवीण न था।

तिथिक्रम—पर्वत गुफाएँ उत्कीर्ण कराने का आन्दोलन देश और काल में दूरव्यापी था। सौराष्ट्र से कलिंग तक और अजन्ता से बराबर पहाड़ी तक की गुफाओं के रूप में इसका प्रसार देखा जाता है। इस विशाल क्षेत्र में चट्टान काटकर गुफाओं के बनाने की एक जैसी क्रिया सर्वत्र प्राप्त हुई है। केवल शैली के स्थानीय भेद अवश्य हैं, जो उनके मुखपट्ट, अलंकरण, स्तम्भ, मूर्तियाँ, भीतरी मण्डप की आकृति और परिमाण, छत एवं गर्भशालाओं के क्रम में दिखाई पड़ते हैं। काल की दृष्टि से यह आन्दोलन लगभग एक सहस्र वर्षों तक जारी रहा। लगभग तीसरी शती ई० पू० में अशोक कालीन हीनयान युग से लेकर महायान युग की सातवीं शती तक पर्वत में गुफाओं का तक्षण होता रहा और इस दीर्घकाल में लगभग १२०० गुफाएँ रची गईं। भौगोलिक दृष्टि से इन गुफाओं के कई समूह हैं—जैसे, प्रवरगिरि या बराबर पहाड़ी का समूह, उदयगिरि-खण्डगिरि या कलिंग के कुमारी पर्वत का समूह या थोक, सह्याद्रि या भोरघाट का थोक और अजन्ता या अचिन्त्य पर्वतमाला का थोक या समूह। इनमें मुख्यतः हीनयान युग की गुफाएँ थीं, जिनका काल ३०० ई० पू० से २०० ईसवी तक था। इस सीमित अवधि में कई स्थानों पर कार्य एक साथ गतिशील रहा। उपर्युक्त भौगोलिक वितरण में तिथिक्रम भी परिलक्षित होता है। बराबर और नागार्जुनी पर्वतमाला से इस आन्दोलन का प्रारम्भ अशोक की उज्ज्वल मनःशक्ति और प्रेरणा से तृतीय शती ई० पू० के मध्यभाग में हुआ। फिर कुछ ही वर्षों बाद भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में वास्तु और शिल्प का यह आन्दोलन जा पहुँचा और वहाँ इसने कई तरह से नया विकास लिया। उसके पीछे मुख्य जैनधर्म और सम्राट खारवेल की प्रेरणा थी। पश्चिमी दिशा में काठियावाड़ की गुफाएँ जो अब जूनागढ़, तलाज और सान स्थानों में हैं, कलिंग के बाद उत्कीर्ण की गईं। तदनन्तर भोरघाट की वे गुफाएँ आती हैं जो भाजा, कोण्डाने, बेडसा, कार्ले आदि में खोदी गईं। इनके उत्तर में जुन्नार और नासिक की गुफाएँ हैं। इन्हीं के साथ कुछ अलग पड़े हुए पीतलखोरा और अजन्ता की गुफाओं के समूह हैं। सबसे अन्त में षष्टि द्वीप या सालसेट में स्थित कन्हेरी की गुफाएँ हैं।

इनमें कुछ वास्तुगत विशेषताएँ हैं जो इनके कालक्रम पर प्रकाश डालती हैं।

(१) मुखपट्ट के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण कीर्तिमुख में वक्रता और गोलाई के कारण उसकी विशेष आकृति—शैली के विकास के साथ कीर्तिमुख की वक्रता में कुछ परिवर्तन हुआ और इसके गरदने का जो फिकाव बाहर की ओर थी, वह भीतर की ओर सिकुड़ता गया, यहाँ तक कि इसकी आकृति पूर्णतः गोलाकार हो गई। इसकी कसौटी यही है कि आरम्भ कालीन कीर्ति मुखों में बाहर की ओर का झुकाव अधिक है। इसे हम आरम्भ कालीन प्रवृत्ति कह सकते हैं। लगभग एक शती बाद भाजा में कीर्तिमुख की आकृति घुड़नाल जैसी हो गई है अथवा दोनों ओर की बाहें बढ़ाए हुए अर्धचन्द्र जैसी है। भीतर के गर्भगृह का आकार भी लगभग ऐसा ही हो गया था जिसे द्व्यस्र या वेसर कहा जा सकता है।

कोण्डाने में कीर्तिमुख की गोलाई का और भी विकास हुआ जैसा पर्सी ब्राउन ने लिखा है। उस गोलाई में दोनों भुजाएँ एक दूसरे के प्रति और सिमट गई हैं और उनके पोटे अधिक पास आ गए हैं और उसकी रेखा में भी जमी हुई चुटकी की दृढ़ता दिखाई देती है। अजन्ता (गुफा ९) और कार्ले में कीर्तिमुख के बिल का यह घेरा पूर्णतम विकास को प्राप्त हो गया है और उसमें स्वाभाविक क्रम से प्राप्त तक्षण की परिपक्वता देखी जाती है। यह गोलाई हीनयान युग की शेष अवधि भर बनी रहती है। कालान्तर में महायान युग में पाँचवी शती से लेकर कीर्तिमुख का द्वार नीचे के भाग में अत्यधिक सिकुड़ता गया, जैसा अजन्ता की गुफा संख्या १९ में देखा जाता है। एलोरा के विश्वकर्मा चैत्यगृह (७ वीं शती ई०) में कीर्तिमुख का आकार घुड़नाल जैसा न होकर एकदम पूर्णवृत्त के आकार का हो गया है। अजन्ता में कीर्तिमुख के ऊपर स्तूपी का अलंकरण देखा जाता है जिससे दोनों पार्श्वों में पत्रलता की उकेरी है। उसकी एक विशेषता यह है कि वृत्त के दोनों पार्श्वों में दो उठे हुए सिंहकर्ण हैं। विश्वकर्मा गुफा में यह लक्षण और भी स्फुटता से दिखाया गया है और सिंहकर्ण की आकृति दोहरी रेखा से प्रदर्शित की गई है।
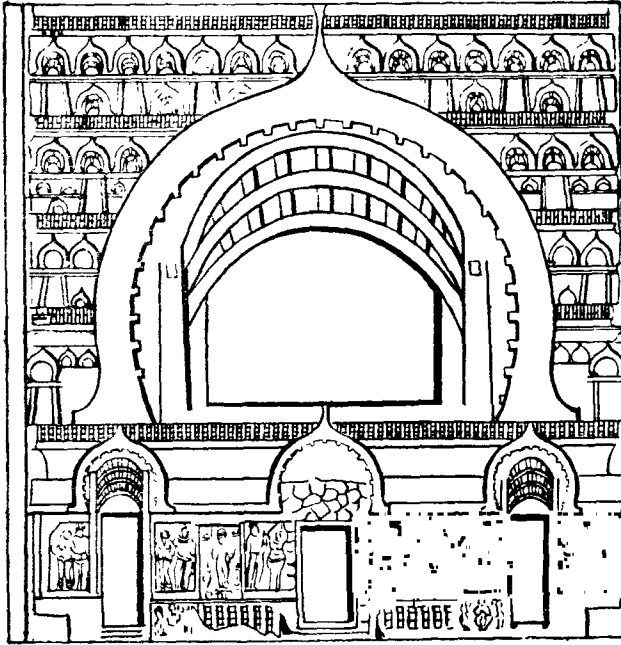
चित्र २८२ कार्ले चैत्यघर के मुहार का शिल्प-विवरण

२—भाजा की भाँति कन्हेरी में भी मुखमण्डप का बाहरी ओटा काष्ठ का था। किन्तु पाषाण शिल्प के विकास के परिणामस्वरूप यह भी चट्टान में से काटा गया।

३—सामने का मुहार या घरमुख पहले संयत ढंग से सोचा गया था जैसा भाजा में है। कालान्तर में कार्ले की भाँति कन्हेरी में भी दो कीर्तिस्तम्भ उत्कीर्ण कर दिए गए। कन्हेरी में विकास का एक और पैर आगे बढ़ा अर्थात् मुख-मण्डप के सामने वेदिका से घिरा हुआ एक आँगन और

जोड़ा गया। भाजा की भाँति आरम्भ में कन्हेरी के शिल्पियों ने चैत्यगृह और मुखमण्डप का विन्यास परस्पर-अन्वित इकाई के रूप में किया था। किंतु पीछे कार्ले की भाँति उसे स्वतन्त्र रूप से बड़ा बनाया गया और भीतरी प्रदक्षिणा पथों को भी चौड़ा कर के १५ फुट का बनाया गया।

४—चैत्यघर के मोहार पर वेदिकामय अलंकरण की अधिक या कम मात्रा उसके बढ़ते हुए तिथिक्रम की सूचक है। मुखमण्डप में पूरा वेदिका अलंकरण छोटी वेदिकाओं और गवाक्ष युक्त कीर्तिमुखों से भरा है। छोटी वेदिकाओं का अभिप्राय मात्रा में क्रमशः घटता गया और चौथी पाँचवीं शती के लगभग निःशेष हो गया। यज्ञवेदियों के चारों ओर बाँस और काष्ठशिल्प की वेदिकाएँ उन्हें दूसरी भूमि से अलग करती थीं अतः वेदिका धार्मिक भूमि का चिह्न बन गया था। उसी प्रेरणा से इन चैत्यघरों के मुहारों पर शुरू में वेदिका अलंकरण की मात्रा अधिक से अधिक रक्खी जाती थी। किंतु कालान्तर में क्रमशः मूर्तियों का रिवाज बढ़ा और वेदिका की सजावट कम हो गई।

५—काष्ठशिल्प के आसक्त उपाङ्ग—जैसा ऊपर कहा गया है शिलामय चैत्यगृहों का वास्तु विन्यास पूर्ववर्ती काष्ठकर्म से लिया गया है। ये महाकाय पर्णशालाएँ थीं जिनमें काष्ठ-तोरण और बड़े-बड़े काष्ठ पञ्जर और खम्भे लगाए जाते थे। काष्ठशिल्प की यह परंपरा इतनी बलवती थी कि शैलवर्धकि उससे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सके और चैत्यगृहों की रचना में कई प्रकार से काष्ठ निर्मित उपाङ्ग या पञ्जर बराबर लगाते गए। इसके पुष्ट प्रमाण इन चैत्य गुफाओं में प्राप्त हुए हैं। आरम्भ काल की हीनयान गुफाओं में ढोलाकार छत के नीचे बड़े-बड़े लकड़ी के गर्दने या करधनी जैसी भारी-भारी धन्नियाँ चट्टान में छेद काटकर लगाई गई थीं जैसी कार्ले गुफा में अब भी हैं। कीर्तिमुख या सूर्यद्वार के भीतर भरा काष्ठपञ्जर या जालीदार गोलम्बर भी उसी परंपरा में है। कई मुखमण्डपों के सामने काष्ठशिल्प की लम्बी-चौड़ी संगीत शालाएँ थी जो अब नहीं रहीं पर उनके लिए चट्टानों में काटे गए भारी छेद या चूलें अब भी हैं। पीतलखोरा में छत की घुमावदार धरन लकड़ी की न हो कर चट्टान में काटी गई थीं जो अब भी हैं। कार्ले की भाँति हर्मिका की छत्रावली भी दारु-शिल्प में बनाई जाती थी।

६—स्तम्भों का झुकाव—शुरू की गुफाओं में मण्डप के खम्भों का उठान अधिक झुकाव लिए था, जैसे भाजा के चैत्य घर में। पर धीरे-धीरे वह घटता गया। उतनी अधिक सलामी देखने में भी कुछ भली नहीं लगती थी। भीतरी मण्डप के खम्भों का यह झुकाव उनके क्रमिक काल का सूचक है। खंभे की सलामी जितनी अधिक होगी उतना ही उसे लकड़ी के खम्भों के निकट समझना चाहिये। लकड़ी की थूनियों में झुकाव आवश्यक था जिससे ऊपरी छत का भारी बोझ बाहर की और फेंकाव के विरुद्ध सहारा जा सके। पत्थर के खम्भों के लिए ऐसी कोई बात न थी पर कारीगर अपनी पुरानी आदत से लाचार थे। वह वास्तु की आवश्यकता न होकर पुराने रिवाज की नकल भर थी। उन पुराने शिल्पियों ने चाहे इसे आवश्यक समझा हो पर इस समय यह आपत्तिजनक दीखता है और मण्डप की शोभा में कुछ हेठी लाता है। मुख मण्डप के तीन प्रवेश द्वारों के पार्श्वस्तम्भों या बगलियों में ऐसा ही झुकाव है और वह भी शिल्पियों की पुरानी आदत के कारण हुआ जिसे अब के लोग अच्छा नहीं मानते। आगे चलकर इन द्वारों के पार्श्वस्तम्भ लगभग समानान्तर और सीधे रचे गए।

७—खम्भों की आकृति और कटाव भी वास्तु के विकास की साक्षी भरते हैं। अशोक कालीन बराबर की गुफाओं में भीतरी मण्डप में खम्भों का अभाव है। पश्चिमी समूह की गुफाओं में भीतरी मण्डप में खम्भे पाए जाते हैं, जैसे भाजा में; पर वे सादा हैं। उन पर उकेरी हुई सज का अभाव है। बेडसा चैत्यघर के खम्भों का भी वही हाल है। उनमें खम्भों की डंडियाँ अठपहल हैं पर नीचे चौकी और ऊपर सिरे नहीं है। मूर्तियाँ भी नहीं हैं केवल चक्र और त्रिरत्न, आदि चिह्न खुदे हैं। भीतरी स्तम्भ पङ्क्ति की सजावट के लिये दो बातें क्रमशः सामने आईं—एक खम्भे की पेंदी को संभालने के लिये पूर्ण घट और वैसे ही सिरे पर औंधा पूर्णघट, जैसे नासिक में हैं। कुछ काल बाद एक नई विशेषता जोड़ी गई अर्थात् स्त्री-पुरुष या दंपति मूर्तियों से युक्त पशु संघाट सहित खम्भों के शीर्षक। प्राचीन शब्दावली में इन पशु-युग्मों को गज संघाट, हय संघाट और वृषसंघाट कहते थे। संघाट का अर्थ ही जुड़ा हुआ रूप है। प्रायः इन्हें पीठ सटाकर जुड़वाँ बनाया जाता था। उदाहरण के लिये कार्ले चैत्यगृह में दोनों विशेषताएँ हैं—पशुसंघाट और आरोहक स्त्री-पुरुष। कन्हेरी में भी कुछ उतरे रूप में उन्हें दुहराया गया है।

८—शुरू में भीतरी मण्डप का परिमाण छोटा था पर पीछे वह बढ़ता गया। जैसे लोमश ऋषि गुफा का मण्डप बहुत संक्षिप्त है (४८'×२०'×१२' ऊँचा), भाजा (५५'×२६'×२९' ऊँचा), कार्ले (१२४'×४६½'×४५' ऊँचा)।

९—प्रदक्षिणापथों की चौड़ाई भी आरम्भ के चैत्यगृहों की अपेक्षा बाद में अधिक हो गई। उदाहरण के लिये भाजा (३½' चौड़ा) और कार्ले (१०' चौड़ा) में।

अध्याय १०

१०. मथुरा की शुंग और कुषाण कला

कलाके केन्द्र रूप में मथुरा—उत्तरी भारत में मथुरा कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। उसकी समृद्धि का मुख्य समय पहली शती ईसवी से तीसरी शती ईसवी तक था। किन्तु उसके बाद भी लगभग चार सौ वर्षों तक अर्थात् चौथी से सातवीं शती तक मथुरा के शिल्प वैभव का युग बना रहा। कुषाण युग में शिल्प-कर्म और प्रतिमा-निर्माण के लिए मथुरा की ख्याति दूर-दूर तक हो गई थी। मथुरा के शिल्पियों की कर्मशालाएँ जिस वेग से कार्य कर रही थीं वह आश्चर्यजनक है। उन्होंने सहस्रों मूर्तियों की रचना की जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं। परखम जैसी अति महाकाय प्रतिमाओं के निर्माण में मथुरा के शिल्पी मौर्य-शुंग युग में ही अभ्यस्त हो चुके थे। उसी परम्परा को कुषाण युग में बोधिसत्त्व, बुद्ध, नाग और यक्ष देवताओं की विशालकाय मूर्तियों के निर्माण द्वारा आगे बढ़ाया गया। बाह्यस्थानों में भी मथुरा से मूर्तियों का निर्यात होने लगा। साँची, सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पञ्जाब, राजस्थान का बैराट प्रदेश, बंगाल, अहिच्छत्रा एवं कोसम आदि स्थानों में मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर की मूर्त्तियाँ पाई गई हैं। मथुरा शिल्प में प्रयुक्त सुन्दर मजीठिया रंग का पत्थर रूपबास और सीकरी की खदानों से लाया जाता था। मथुरा बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों का केन्द्र था, अतएव तीनों कलाओं के अवशेष यहाँ मिले हैं। मथुरा तीनों धर्मों का तीर्थ स्थान था। बौद्धों के और जैनों के स्तूप और मन्दिर तथा ब्राह्मणों के देवस्थानों का निर्माण मथुरा में हुआ। उनके सम्बंध में अनेक प्रतिमाए, मूर्तियाँ, स्थापत्य और शिल्प के नमूने मथुरा में विरचित हुए। सौभाग्य से कला और शिल्प के लगभग पाँच सहस्र अवशेष मथुरा में मिले हैं। उनमें से अधिकांश कुषाण युग के है। मथुरा कला का स्वर्णयुग कुषाण सम्राट कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का राज्यकाल था जब यह कला परम उत्कर्ष को प्राप्त हुई। उस युग की श्रेष्ठता की तुलना में भारतीय कला के बहुत ही कम युग देखे जाते हैं। मथुरा के शिल्पियों ने भरहुत और साँची के आचार्यों की बारीक और अच्छा काम करने की चुटकी अपनाई किन्तु उसे और भी विकसित किया। वे नए रूप, नए विषय और नई शैली में कार्य करने लगे। सौन्दर्य की दृष्टि से मथुरा के कुशल शिल्पी और भी आगे बढ़े। बाह्य रूप निर्माण और भीतरी भावों में उन्होंने जो समन्वय स्थापित किया उसकी तुलना अन्यत्र नहीं है। उनके हाथों में शिल्प कला सचमुच ललित कला बन गई और उसकी शोभा का मानदण्ड बहुत ऊँचा उठ गया। वृक्ष-वनस्पति, कमलों के फुल्ले और लतर, पशु-पक्षी, इनके जो रूप शोभा के लिए पहले से चले आते थे उनको मथुरा के शिल्पियों ने अपनाया। पर उन्होंने कितने ही नवीन विषयों का अपनी कला में जोड़ा। मनुष्यों की प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का चित्रण और उद्यान क्रीड़ा एवं सलिल क्रीड़ाओं के दृश्य स्वच्छन्दता से वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण किए गए। मथुरा जैसे ललित वेदिका स्तम्भ अन्यत्र नहीं हैं। शोभनार्थ अलंकरणों की संख्या भी बढ़ी, इनमें से कुछ पूर्व-समागत थे और कुछ की नूतन कल्पना हुई।

मथुरा कला शैली और उसके विषय—कला शैली के विषय में मथुरा के कुशल शिल्पियों ने मूर्तियों के सम्मुख दर्शन का आग्रह त्याग दिया और वे पार्श्वगत, पृष्ठगत, आदि कई प्रकार के स्थान या मुद्राओं में पुरुष और स्त्रियों की मूर्तियों का चित्रण करने लगे। स्त्रियों की सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ने में उन्होंने विशेष रुचि दिखाई, जैसा वेदिका स्तम्भों से प्रकट है। उनके रूप और आकृतियों में बहुत लालित्य है और आभूषण एवं वस्त्रों का भी न्यूनतम प्रयोग किया गया है। वेदिका स्तम्भों की शालभंजिकाएँ, उद्यान क्रीड़ा और सलिल क्रीड़ा की विविध मुद्राओं में दिखाई गई हैं। इन दृश्यों में सामाजिक संस्कृति का स्फुट अंकन है। स्त्री मूर्तियाँ पृष्ठभूमि से ऊर्ध्व निर्गम के साथ खम्भों पर गढ़-गढ़ कर काढ़ी गई हैं।

यदि हम मथुरा शालभञ्जिकाओं की तुलना अपने से पूर्व भरहुत-साँची, या फिर गन्धार की शालभञ्जिकाओं से करें तो उनका टटका लावण्य प्रकट हो जाता है। कलाकारों ने अपने आपको रूढ़ियों के बन्धन से नितान्त मुक्त कर लिया था और वे धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृश्यों को पूरी स्वतंत्रता से अलंकृत कर रहे थे।

मथुरा शिल्प में अलंकृत विषयों को जब हम देखते हैं तो उनकी मौलिकता और विविधता की गहरी छाप मन पर पड़ती है और शिल्पियों की प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जाता। मथुरा के शिल्पियों ने आगे आने वाले युगों के लिए बहुत कुछ मौलिक रचना कर दिखाई। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय कला का इतना अधिक सृजनात्मक गुण अन्य किसी युग में नहीं देखा गया। मथुरा के शिल्पियों ने बुद्ध प्रतिमा के रूप में विश्व कला की सबसे बड़ी विशेषता प्रकट करके दिखाई। उन्होंने पहली बार बुद्ध को मानव रूप में प्रदर्शित किया। मथुरा से पूर्व केवल बोधिवृक्ष, भिक्षापात्र, उष्णीष, स्तूप आदि प्रतिकों से बुद्ध का चित्रण किया जाता था। बुद्ध की प्रतिमा मथुरा शिल्पियों की सबसे ऊँची मौलिक देन थी। भारत में और विदेशों में उसका स्वागत हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार में उससे बड़ी सहायता प्राप्त हुई। पुराने चैत्यगृह और उनके मुख मण्डप नई-नई बुद्ध-प्रतिमाओं से भर दिए गए। मथुरा कला में बुद्ध-बोधिसत्त्व मूतियों के तिथिक्रम और रूपों का विवेचन आगे किया जायगा।

मथुरा के शिल्पियों को ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियों के प्रथम निर्माण का श्रेय भी है। सम्भवतः बुद्ध मूतियों से भी पहले उन्होंने ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों की ओर ध्यान दिया। विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा, सप्तमातृकाएँ, कात्तिकेय आदि की सबसे प्राचीन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। भागवतधर्म के प्रभाव से उत्तरी भारत में ये मूर्तियाँ सबसे पहले बननी शुरू हुई। उनके भक्ति आन्दोलन का आरम्भ मथुरा से हुआ और क्रमशः वह सारे उत्तर भारत में भर गया। मथुरा शिल्प कला में हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के रूपों की पुष्कल सामग्री है। मथुरा की सामग्री का अध्ययन किए बिना ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देव मूर्तियों का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता।

जैन मूर्ति शिल्प के विषय में भी पूरा श्रेय मथुरा को है, क्योंकि सबसे प्राचीन जैन प्रतिमाएँ और स्तूप मथुरा में ही प्राप्त हुए हैं। मथुरा में दो जैन स्तूप थे, पहला शुंग काल में और दूसरा कुषाण युग में बनाया गया। सौभाग्य से कंकाली टीला नामक स्थान में इन स्तूपों के सहस्राधिक शिल्पावशेष प्राप्त हुए हैं। इसकी संज्ञा देव-निर्मित स्तूप थी, अर्थात् लोगों की मान्यता यह थी कि यह अत्यन्त

प्राचीन काल में देवों द्वारा निर्मित हुआ था। जैन स्तूप के वास्तुविन्यास का स्वरूप लगभग वही था, जो बौद्ध स्तूपों का था। उदाहरण के लिए जैन-स्तूप के मध्य में बुद्बुदाकार बड़ा और ऊँचा थूहा होता था और उसके चारों ओर वेदिका और चार दिशाओं में चार द्वार-तोरण होते थे। उसके ऊपर भी हर्मिका और छत्रावली का विधान रहता था। वह भी वेदिका सहित त्रिमेधियों पर बनाया जाता था। उसके चार पार्श्वों में तीर्थंकरों की मूर्तियाँ लगाई जाती थीं। स्तूप की रचना में अनेक भाँति की मूर्तियाँ और वेदिका के स्तम्भों पर शालभंजिका मूर्तियों की रचना की जाती थी। उनके बहुत से नमूने कंकाली टीले से मिले हैं और अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वेदिका का निर्माण वास्तु विन्यास का उत्कृष्ट कर्म था। उसमें ऊर्ध्व स्तम्भ, आड़ी सूचियाँ, उष्णीष, आलम्बन, तोरण, पार्श्व स्तम्भ, धार्मिक चिन्ह, स्तम्भ और आयागपट्ट संज्ञक उत्कीर्ण शिलापट्ट, तोरणद्वारों के मुखपट्ट, पुष्पाधानी या पुष्पग्रहणी वेदिकाएँ, सोपान, उतार-चढ़ाव की छोटी पार्श्वगत वेदिकाएँ और ध्वजस्तम्भ आदि नाना प्रकार की शिल्प सामग्री लगाई जाती थी। इन स्तूपों का रूप-सम्पादन बड़े उत्साह से किया जाता था। उनके शिल्पी शिल्प कौशल में निष्णात थे। जैन वेदिका स्तम्भों पर बनी हुई शालभंजिका मूर्तियाँ वैसी ही मुद्राओं में हैं जैसी बौद्ध स्तूपों में। वस्तुतः स्तूप के चतुर्दिक वेदिका स्तम्भों का जैसा सुन्दर विधान मथुरा की शिल्प कला में है, वह ऊँची प्रतिभा का द्योतक है। स्तूप के इस अवयव को मथुरा के शिल्पियों ने बहुत ही श्रेष्ठ और सुन्दर पद तक पहुँचा दिया। बौद्ध जातक कथाओं के और जैनधर्म के सीमित क्षेत्रों से बाहर निकल कर वेदिका स्तम्भों पर जनजीवन के वास्तविक दृश्य उत्कीर्ण किए गए। और, वह भी अभूतपूर्व सौन्दर्य और स्वच्छन्दता के साथ। कालिदास में इन शालभंजिका मूर्तियों को 'स्तम्भेषु योषित-प्रतियातना' संज्ञा दी है और यह भी लिखा है कि उनके केश और शरीरों को विविध रंगों से सजाया जाता था। अनुमान होता है कि मथुरा के शिल्प की वेदिका मूर्तियाँ ही कालिदास के समय तक सुरक्षित थीं और राजप्रासादों के मण्डपों में भी उनका प्रचलन हो गया था।

मथुरा के शिल्पियों ने जैन तीर्थंकरों की भी अनेक मूर्तियाँ बनाईं। उनके आरम्भिक रूपों का उन्होंने निर्णय किया और उसी आधार पर कालान्तर की तीर्थंकर प्रतिमाओं का विकास किया गया। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं, एक खड़ी हुई और दूसरी बैठी मुद्रा में। खड़ी मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और उनमें दिगम्बरता प्रत्यक्ष है। उनके हाथ लताहस्त मुद्रा में हैं। बैठी हुई मूर्तियाँ पद्मासन में हैं और उनके दोनों हाथ अंक के बीच में एक दूसरे के ऊपर रखे हुए हैं जिनकी उपमा प्रफुल्ल कमल से दी जाती थी। मस्तक, ग्रीवा, नेत्र और ऊर्ध्वकाय भाग ध्यानमुद्रा में हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के मस्तक पर उष्णीष नहीं है। उनकी छाती में श्रीवत्स का चिन्ह है और उनमें लांच्छनों का अभाव है जो सातवीं शती के बाद मिलने लगते हैं। अतः चौकी पर लिखे हुए लेख से तीर्थंकर की पहचान की जाती है। ऋषभदेव या आदिनाथ के कन्धों पर लटें और पार्श्वनाथ के मस्तक के पीछे सर्पफण का टोप दिखाया जाता है।

मथुरा धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध था, जहाँ नाना पाषण्डों और सम्प्रदायों ने अपने केन्द्र बनाए। वे पारस्परिक सम्प्रीति और समन्वयात्मक दृष्टि से मिलकर रहते थे। यक्षमह और नागमह आदि लोक धर्मों का भी मथुरा में प्रचार था। मथुरा कला में यक्ष-यक्षी, नाग-नागी, श्रीलक्ष्मी आदि की बहुसंख्यक मूर्तियाँ मिली हैं। प्राचीन मही माता या मातृदेवी की पूजा का केन्द्र भी मथुरा में था, जैसा वहाँ से प्राप्त अनेक मृण्मूर्तियों से सिद्ध होता है। मातृपूजा की परम्परा में ही कितनी ही देवियाँ मथुरा कला में पाई जाती हैं, जैसे—श्रीलक्ष्मी, गजलक्ष्मी, वसुधारा, अम्बिका, महिषासुर-मर्दिनी, भद्रा, हारीती, सप्तमातृकाएँ, आदि।

अपनी मौलिकता, सुन्दरता और रचनात्मक विविधता एवं बहुसंख्यक सृजन के कारण मथुरा कला का पद भारतीय कला में बहुत ऊँचा है और उसके ब्यौरेवार अध्ययन के बिना भारतीय कला का परिचय पूरा नहीं कहा जा सकता।

स्तूप स्थापत्य

भरहुत और साँची में स्तूप के वास्तु और शिल्प का बहुत विकास हुआ था। मथुरा के आचार्यों ने उसी परम्परा का अनुसरण किया किन्तु उनकी स्तूपनिर्माण कला का कोई नमूना सुरक्षित नहीं रहा। अनुमान होता है कि मथुरा के स्तूपों में भी मेधियाँ, अधिष्ठान, वेदिका, तोरण, अण्डभाग, हर्मिका, छत्रावली आदि सब अवयवों की व्यवस्था थी। पर कराल काल ने उनके कुछ खण्डों को ही हमारे युग तक पहुँचाया है। लेखों और मूर्तियों से ज्ञात होता है कि मथुरा में जैनों के दो स्तूप थे। एक शुंग काल का दूसरा कुषाण काल का। बौद्धों के भी दो स्तूपों का अनुमान होता है, एक हुविष्क का जो मथुरा की वर्तमान कचहरी के पास था और दूसरा भूतेश्वर टीले की भूमि पर बना हुआ। इन दोनों की बहुत सी सामग्री पाई गई है, यद्यपि स्तूपों को ढहा दिया गया। अवशेषों से विदित होता है कि मथुरा स्तूपों के द्वार-तोरण और वेदिका-स्तम्भ भरहुत-साँची की अपेक्षा नाप में घटकर छोटे हो गए थे। बड़ी वेदिका के ऊँचे स्तम्भों के केवल तीन-चार नमूने मिले हैं और शुंग कालीन दो बड़ी सूचियाँ भी प्राप्त हुई हैं। शेष वेदिका-स्तम्भ और सूचियों के नमूने मँझली नाप के हैं। इनमें से एक पर फुल्ले या पुष्कर में दो गजारोही अंकित हैं और दूसरे पर सुन्दर स्त्री मस्तक है (चित्र २८३) जो विशेष प्रकार के उष्णीष और केश विन्यास से युक्त है।

चित्र २८३

एक स्तम्भ पर एक भिक्षु छत्र लगाये खड़ा है। ऊपर के भाग में बन्दरों के लिए नेत्रों के अस्पताल का दृश्य है जिसमें मूँढे पर बैठे हुए चिकित्सक बन्दर बन्दरों की आँखों में सलाई से दवा लगा रहे हैं। यह स्तम्भ तुलना में भरहुत वेदिका की टक्कर का है।

आरम्भिक बौद्ध स्तूपों की वेदिका की खोज करते हुए हमारे सामने दो स्तम्भ आते हैं। एक (५८६) पर आगे-पीछे कमल के सुन्दर फुल्ले बने हैं और स्तम्भ को कोर कर अठपहल किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि वह लगभग प्रथम शती ई० पूर्व का था। इसी के एक ओर अर्धचन्द्र मण्डल में पर्णशाला के सामने एक मुनि बैठे हुए साँप, हिरन, कौए और कबूतर को उपदेश दे रहे हैं।

यह एक जातक का दृश्य है। इसमें कौए ने लोभ को, कबूतर ने काम को, हिरन ने भय को और साँप ने क्रोध को सबसे बड़ा दुःख बताया। तब मुनि ने कहा कि शरीर का होना ही सबसे बड़ा दुःख है। एक दूसरा स्तम्भ इससे भी पुराना (जे. २) लगभग द्वितीय शती ई० का है। उस पर नृत्य मुद्रा में शालभंजिका स्त्री खड़ी है। यह ठेठ भरहुत के वेदिका स्तम्भों की परम्परा में है किन्तु स्त्री मूर्ति का अंकन और भी अधिक सुसंस्कृत है। स्त्री के पैरों के नीचे एक स्थूल गुह्यक की मूर्ति है। मथुरा के शिल्पी वेदिका स्तम्भों पर नये-नये चित्र अंकन करने में कुशल थे जैसा कि कुषाण कालीन वेदिका के वर्णन से ज्ञात होगा।

युवाङ् च्वाङ् के जीवन-चरित में मथुरा के स्तूपों का कुछ उल्लेख है। जैसे—"मथुरा में शाक्य मुनि बुद्ध के शिष्यों की धातुमंजूषाओं से युक्त स्तूप हैं, जैसे सारिपुत्र मुद्गलायन, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, उपालि, आनन्द, राहुल और मञ्जुश्री। वार्षिक उत्सव के समय बहुसंख्यक जनता यहाँ एकत्र होती है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्तूपों का पूजन करती है। अभिधर्म के मानने वाले सारिपुत्र के स्तूप का; ध्यान के अनुयायी मुद्गलायन के स्तूप का; सूत्रों के अनुयायी पूर्ण मैत्रायणीपुत्र के स्तूप का; विनय का अध्ययन करने वाले उपालि के स्तूप का; धार्मिक स्त्रियाँ आनन्द के स्तूप का; जो अभी नव-शिक्षित हैं, वे राहुल के स्तूप का; एवं जो महायान के अनुयायी हैं वे सब बोधिसत्त्वों का पूजन करते हैं। नगर से सवा मील पूर्व की पहाड़ी पर उपगुप्त का विहार है। कहा जाता है कि उसके नख और केश वहाँ सुरक्षित हैं।"

राहुल के स्तूप को छोड़कर ऊपर के सात स्तूपों का उल्लेख चौथी शती में भारत आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने भी किया था। अंगुत्तर निकाय से ज्ञात होता है कि बुद्ध के ये सात प्रमुख शिष्य थे—प्रज्ञाशीलों में अग्रणी सारिपुत्र, ऋद्धियों में अग्रणी महा-मोग्गलायन, धम्मकथिकों में अग्रणी पूर्ण मैत्रायणीपुत्र, शिष्यों में अग्रणी राहुल, महापण्डितों में आनन्द, विनयधरों में उपालि। ये नाम युवाङ् च्वाङ् की सूची में हैं। धातुओं से गर्भित इनके स्तूप मथुरा में पुराकाल से विद्यमान थे। प्रश्न है कि बुद्ध के इन शिष्यों के स्तूपों के निर्माण का समय क्या था ? ज्ञात होता है कि अशोक के समय में मथुरा के इन स्तूपों का निर्माण हुआ क्योंकि वहीं से मथुरा का वैभव आरम्भ हुआ जब अशोक के गुरु उपगुप्त मथुरा में रहते थे। युवाङ् च्वाङ् ने मंजुश्री और महायान के अन्य बोधिसत्त्वों के स्तूपों का जो उल्लेख किया है उससे इस तिथिक्रम में कोई विक्षेप नहीं पड़ता क्योंकि इन स्तूपों की रचना बाद में हुई होगी। क्योंकि वह सातवीं शती में आया था, अतः उसने महायान युग के इन स्तूपों को भी देखा होगा। जैसे हीनयान और महायान युगों के चैत्यगृहों का पौर्वापर्य का भेद है वैसे ही इन स्तूपों में भी पूर्वयुग और अपर युग का तारतम्य जान पड़ता है। नए और पुराने दोनों स्तूपों की पूजा-मान्यता उनके अपने अनुयायिओं में थी।

पुराने स्तूपों में से एक भी नहीं बचा, किन्तु उनकी मूर्तियों के अवशेष उनका अस्तित्व सिद्ध करते हैं। स्तूप मिट्टी का ऊँचा थूहा होता था। उसे अण्डाकृति या बुद्बुदाकृति का कहा गया है। उसमें बुद्ध या उनके शिष्यों के शरीर-निधान (स्मृति चिह्न) गर्भित किये जाते थे। ये चिह्न सोने-चाँदी, ताम्बे, स्फटिक, सलेटी पत्थर या शिलामयी मंजूषाओं में बन्द करके स्तूप के गर्भगृह में रखे जाते थे। कालान्तर में स्तूपों को पक्वेष्टिका या पाषाणेष्टिका के कञ्चुक से आच्छादित किया जाने लगा। उस समय महेशाख्य स्तूपों का स्वरूप बहुत भव्य हो गया। लिखा है कि एक बड़े स्तूप के बनाने में दस करोड़ ईंटें लग जाती थीं। बड़े स्तूपों में तीन मेधियाँ और तीन वेदिकाएँ होती थीं। एक वेदिका

भूमि पर, दूसरी स्तूप के मध्य भाग में और तीसरी स्तूप के मस्तक पर जहाँ हर्मिका के रूप में देवों का स्थान माना जाता था। मथुरा के इन स्तूपों का चित्रण कई शिलापट्टों पर पाया जाता है, उनमें से तीन
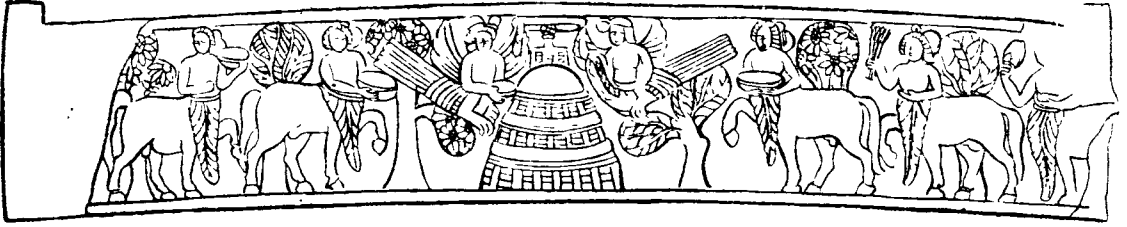
चित्र २८४

चित्र २८५

उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे पुराना स्तूप अर्ध चन्द्राकृति है, जो ऊपर की ओर माप में घटता जाता है। इस पर एक भूमिस्थ वेदिका है, दो वेदिकाएँ मध्य भाग में हैं, और सर्वोपरि हर्मिका है जो छोटी वेदिका एवं छत्रों से युक्त है। किन्नर और सुपर्ण स्तूप की पूजा कर रहे हैं। यही मथुरा का प्राचीनतम देवनिर्मित स्तूप ज्ञात होता है। इसका निर्माण काल द्वितीय शती ईसवी पूर्व के आरम्भ में रक्खा जा सकता है (चित्र २८४) क्योंकि तभी साँची जैसे घंटाकृति अण्ड के स्तूप की रचना हुई। इसके लगभग दो सौ वर्ष बाद वह स्तूप बना जो लोणशोभिका के आयाग पट्ट पर चित्रित है और जिसका अण्ड भाग बुद्‌बुद् के आकार का या लम्बोतरा है। इस स्तूप में प्रथम मेधि तक जाने के लिए महासोपान बना है, भूमिस्थ वेदिका और ऊँचा तोरण द्वार इसमें स्पष्ट दिखाए गए हैं। द्वार में तीन आड़े रक्खे हुए धरन, कोनों में शालभंजिकाएँ, छोटी पत्थर की बौलियों का पञ्जर बना है, प्रदक्षिणा पथ, लम्बा अण्डभाग जिस पर दोहरी वेदिका है, प्रदर्शित हैं (चित्र २८५)। पहले स्तूप की वेदिका के स्तम्भ कुछ ऊँचे थे और उन पर बहुसंख्यक कमल के फुल्ले बने हुए थे, जिनके कारण उसे पद्मवर वेदिका कहा जाता था। इनके मण्डलाकृति घेरों पर अनेक ईहामृग या कल्पनाप्रसूत पशुओं के चित्र हैं। दूसरे स्तूप की वेदिका में लगे हुए वे स्तम्भ थे जिन पर शालभंजिका स्त्रियों या उद्यान क्रीड़ा या सलिल क्रीड़ा में निरत रमणियों की बहुविध मूर्तियाँ हैं। इस उत्तर कालीन वेदिका को शालभंजिका वेदिका
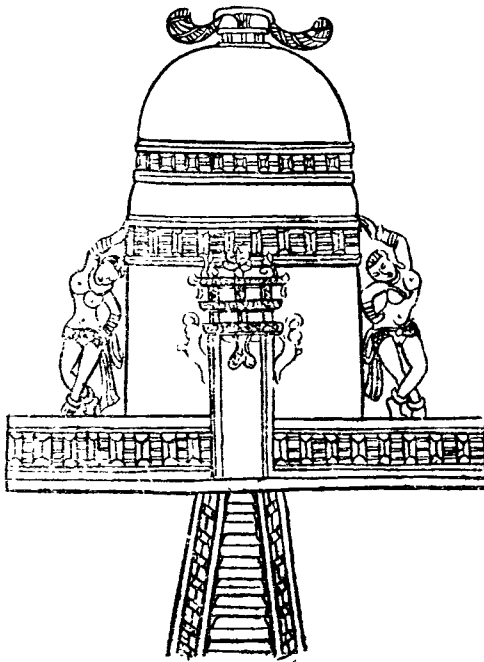
चित्र २८६

कह सकते हैं। इन दो जैन स्तूपों के अतिरिक्त एक तोरण पर बौद्ध स्तूप का भी अंकन मिला है। इस पर कई वेदिकाओं से संवेष्टित ऊँचे बुलबुले की आकृति का लम्बोतरा स्तूप है जिसमें कई भूमियाँ हैं। ऐसे स्तूप गन्धार में मिले हैं (चित्र २८६)।

वर्तमान स्थिति में हम वेदिका, तोरण और स्तूप के बिखरे हुए अंगों की ओर ही ध्यान दिला सकते हैं। मथुरा के शिल्पियों ने वेदिका स्तम्भों का रूप सँवारने पर सबसे अधिक ध्यान दिया। वेदिका के निर्माण द्वारा वे ऐसे कृतकृत्य हुए जैसे उनसे पूर्व और अवर युग के शिल्पी कभी नहीं हुए थे। शुंगकालीन द्वार के अवशेषों में पशुशीर्षक युक्त दो स्तम्भ और उन पर रक्खा हुआ एक सिरदल या धरन है जिस पर उपरिलिखित किन्नर और सुपर्णों द्वारा स्तूप पूजा का दृश्य अंकित है। सिरदल के दूसरी ओर घर-गृहस्थी वाले श्रावक सपरिवार रथों में बैठकर स्तूप का पूजन करने आ रहे हैं (जे ५३५ लखनऊ सं०)। द्वारतोरण के दोनों ओर दो शालभंजिका मूर्तियाँ भी लगाई जाती थीं जिन्हें अश्वघोष ने तोरण शालभंजिका कहा है (रचिता तोरणशालभंजिकेव,)। सबसे निचली धरन और स्तम्भ के बाहरी कोने को परस्पर बाँधने के लिए घुड़िया के रूप में दो शालभंजिका स्त्री मूर्तियों का प्रयोग किया गया है। उनके वस्त्र, अलंकरण और चपटे सम्मुख दर्शन से उनका शुंगकालीन होना स्पष्ट है। कई तोरणों के दोनों सिरों पर उस प्रकार का मकराकृति या शिंशुमार अलंकरण है जैसा भरहुत में प्राप्त होता है। जातक-दृश्य, अलंकरण की शैली, वेदिका के ऊर्ध्व स्तम्भों पर स्त्री मूर्तियों का चित्रण और कपिशीर्षक आदि के अलंकरणों से ज्ञात होता है कि मथुरा के शिल्पी भरहुत कला से प्रभावित होकर उसका अनुकरण कर रहे थे। नाना प्रकार के अलंकरणों का स्वागत करने के लिए मथुरा के आचार्यों ने अपना द्वार उन्मुक्त रक्खा।

पद्मवर वेदिका

मथुरा कला का सर्वोत्कृष्ट रूप स्तम्भ, सूची और उष्णीष से युक्त वेदिकाओं या स्तूपों की वेष्टिनी में है। इन पर जो अलंकरण बने हैं उनमें मौलिकता है और भरहुत की अपेक्षा वे अधिक समृद्ध हैं। मथुरा के शिल्पियों ने यहाँ की वेदिका पर कमल के फुल्लों या पुष्करों का पूर्वकालीन अलंकरण स्वीकार किया। इसी के साथ नए अभिप्राय भी बनाए, विशेषतः कल्पनाजन्य सामुद्रिक अभिप्राय, जैसे गजमच्छ (जलेभ), अश्वमच्छ, नरमच्छ, वृषभमच्छ आदि। इन पुच्छल पशुओं के रूप मथुरा कला की निजी विशेषता है।

मथुरा में दो प्रकार के वेदिका स्तम्भ स्पष्ट लक्षित हैं—(१) पूर्वकालीन, जिनकी विशेषताएँ हैं, (अ) पुष्करों में कमल के पुष्प या सूरजमुखी के फुल्ले, (आ) स्तम्भ के बीच में तीन पदुमक फुल्ले और ऊपर नीचे दो अद्धे, (इ) चौकोर भागों को कोरकर अठपहल बनाना, (ई) देवता या पुरुषों की मूर्तियों का स्तम्भों पर अभाव, (उ) फुल्लों के बीच में मानव मस्तकों का, जैसे भरहुत में हैं, अभाव, (ऊ) नीचा या विविक्त अलंकरण। ये लक्षण कंकाली टीले की पूवकालिक जैन वेदिका से सम्बन्धित हैं। रायपसेणिय सुत्त में इस प्रकार की वेदिका के लिए 'पद्मवर वदिका' यह उपयुक्त नाम आया है। "भगवन्! इस प्रकार की वेदिका को पद्मवर वेदिका क्यों कहा जाता है?"

"हे गौतम! इसकी पद्मवर वेदिका संज्ञा इसलिए है कि इसके विविध भागों में (देसे-देसे), कई जगह (तहिं-तहिं) वेदिका पर, वेदिका की बाहों पर, वेदिका फलकों पर, वेदिका पुडन्तरों पर, स्तम्भों पर, स्तम्भों की बाहों पर, स्तम्भशीर्षों पर, स्तम्भों के पुडन्तरों पर, सूचियों पर, सूची-मुखों पर,

सूचीफलकों पर, सुची पुटान्तरों पर, पक्षों (दीवार) पर, पक्ष-बाहों पर, पक्षों के पर्यन्त भाग पर, पक्षों के पुडन्तरों पर, बहुत प्रकार के उत्पल (नीलकमल), पद्म (रक्तकमल), कुमुद (कोका-बेली), नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक (श्वेतकमल), महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, सर्वरत्नमय, भले और सुन्दर छत्ते के समान बड़े कमल के फुल्ले बनाए जाते हैं। इसी कारण, हे गौतम ! इसका नाम पद्मवर वेदिका है।[1]

वेदिका के इन विभिन्न भागों पर उत्कीर्ण कमल के फुल्लों के वर्णन से ज्ञात होता है कि यह काष्ठशिल्पमयी वेदिका थी जो पीछे पाषाण शिल्प के रूप में विकसित हुई। मथुरा कला में प्राप्त वेदिका स्तम्भों और सूचियों पर उत्कीर्ण फुल्लों की संख्या में कुछ कमी आ गई है किन्तु स्तम्भ और सूचियों

चित्र २८७

चित्र २८८

चित्र २८९

पर उन्हें स्थान मिला है। मथुरा की इस वेदिका पर उत्कीर्ण पशुओं की आकृतियाँ सबसे अधिक रोचक हैं, जैसे हस्तिमच्छ या जलेभ, मगरमच्छ, सपक्ष व्याघ्रमच्छ, पुच्छल ईहामृग, श्येन मच्छ [चित्र २८७-९२]। इन सामुहिक अभिप्रायों के अतिरिक्त अंगविज्जा में नरमच्छ, गोमच्छ, और अश्वमच्छ

चित्र २९०

चित्र २९१
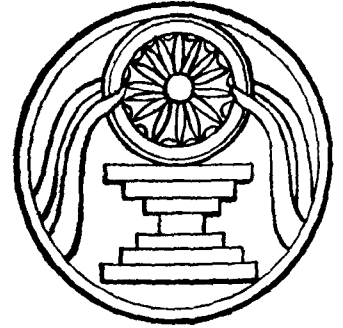
चित्र १९२

का भी नाम आया है। दूसरी विशेषता सपक्ष पशुओं की है, जो मथुरा में मुख्य रूप से देखी जाती है, जैसे—सपक्ष सिंह, सपक्ष हाथी, सपक्ष ईहामृग एवं सपक्ष अज, आदि। वेदिका की सूचियों पर भी अनेक फुल्ले हैं जिनमें बहुत से मांगलिक चिह्न दिखाए गए हैं, जैसे वेष्टिनी युक्त कल्पवृक्ष, सपक्ष-भद्रशंख जिसके उदर से आहत मुद्राओं की लड़ी झर रही है, स्तूप, मुचुकुन्द, मण्ड पर स्थित भिक्षापात्र,

---

१. रायपसेणीय सुत्त, वैद्य संस्क०, पृ० १७२-३।

हाथी, वृषभ, मृग, मानव मस्तक युक्त सिंह व्याल, ईहामृग और पञ्चदल, अष्टदल, दशदल, द्वादशदल और बहुसंख्यक पंखुड़ियों से युक्त कमल।
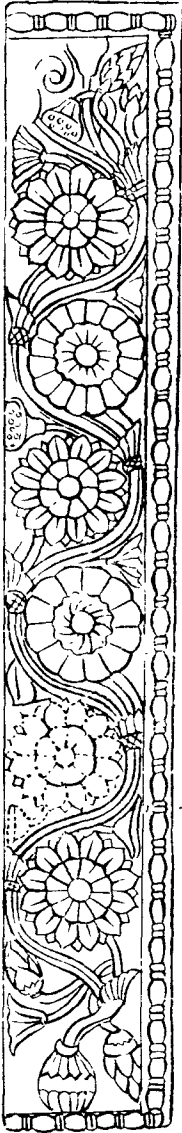
रायपसेणीय सुत्त के अनुसार सूर्याभदेव का विमान बहुत प्रकार की लतर या वेलों से सजा हुआ था जिनके ये प्रकार थे-पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, चूतलता, वासन्तीलता, कुन्दलता, अतिमुक्तलता और श्यामालता। इनमें से कई प्रकार की लताएँ वेदिका के उष्णीष भागों पर प्राप्त हैं, जैसे—पद्मलता, वनलता (चित्र २९३-४)।

इस वेदिका के उष्णीषों पर कई प्रकार की फूल-पत्तियों या वल्लरियों और पशुओं का अलंकरण पाया जाता है। ऊपर किंकिणी जाल या घण्टा-पंक्ति और नीचे पद्मलता का अलंकरण बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। पशुओं में श्येन, व्याल, गैंडा, लांगूलसिंह, व्याघ्र, वृषभ और वराह आदि हैं।

इससे विदित होता है कि पद्मवर वेदिका का निर्माण करने वाले शिल्पियों के पास अनेक प्रकार के वास्तविक और कल्पनाजनित अभिप्रायों की सामग्री थी, जिसका सटीक उपयोग उन्होंने किया और सहस्राब्दियों के लिए उन्हें अमर बना गए। इनका चुनाव धार्मिक अभिप्राय और कलात्मक अलंकरण इन दोनों दृष्टियों से किया गया पर इसमें सौन्दर्य रस की भावना प्रधान थी। वेदिका के कारण स्तूप का भव्य स्वरूप प्रकट होता था अतः शिल्पी वेदिका के प्रति सावधानी से अपने कर्तव्य का पालन करते थे और सुन्दर आकृतियों के सम्भार से उसे यथाशक्ति विभूषित करने का प्रयत्न करते थे। स्तूपों की पूजा के लिए जो सहस्र कमलों की मालाएँ (पुण्डरीक सहस्र स्रज) चढ़ाई जाती थीं, उन्हीं की अनुकृति वेदिकाओं पर प्राप्त होती है। स्तम्भों और तोरणों पर और भी कितने ही प्रकार के अलंकरण उत्कीर्ण किए जाते थे, जो मूलभूत काष्ठकर्म के अंग थे, जैसे—चन्दनकलश या पूर्णघट, नागदन्त पंक्ति (जिनमें हाथी दाँत की खूँटियों पर सोने की मालाएँ या रत्नों के कण्ठे लटकाए
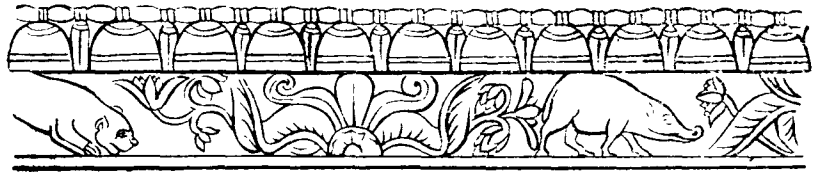
चित्र २९३

चित्र २९४

जाते थे, जिनकी संज्ञा हेममालिनी यष्टि प्रसिद्ध थी और जिनकी स्थापना राजप्रासादों के रत्नभण्डारों में की जाती थी), भृंगार या टोंटीदार झारी, आदर्श या दर्पण, मुक्तादाम, पट्टदाम और पुष्पदाम, धूपघटिका युक्त शिक्य, पुष्प चंगेरी, अंगराग घटिका, आभूषण चंगेरी, वस्त्र चंगेरी, आसन, छत्र, चामर, और दस प्रकार की शृङ्गार चंगेरियाँ, आदि। वाङ्मय में इन्हें वेदिका के अलंकरणों में गिनाया गया किन्तु वेदिका के उपलब्ध अवशेषों में इन सबकी सजावट का अभाव है। एक बात

विशेष ध्यान देने योग्य है और वह कमलों की बड़ी माला है जिससे वेदिका का स्वरूप सजाया गया है। इसकी प्रथा गुप्त युग तक रही और तब इसे 'किञ्जल्किनी माला' यह संज्ञा दी गई, जो एक सहस्र पुष्पों से गूँथी जाती थी। इसे ही 'सरसिजपरिल्कृप्ता कांचनी दिव्यमाला' (अहिर्बुध्न्य, २१।७१) अथवा पुण्डरीक सहस्र स्रज (मत्स्य० २४७।३०) कहा जाता था। कुछ छोटी होने पर इसकी संज्ञा शतपुष्कर होती थी (वाल्मीकि १२८।६९)। स्तूप के शरीर को सजाने के लिए यह विशेष साधन सामग्री मानी जाती थी। इसे बनाते हुए और भी अनेक प्रकार के पुष्प और पत्तियों को बीच-बीच में गूँथा जाता था। भरहुत और मथुरा की स्तूप-वेदिकाओं पर उत्कीर्ण इस प्रकार की सहस्र-पुष्कर-स्रज मालाओं को देखकर हमारा ध्यान उस प्राचीन युग की ओर जाता है जब लोक में देवाराधन के लिए इस प्रकार की वास्तविक पुष्पमालाओं की प्रथा थी। उसी की अनुकृति से पहले काष्ठ-शिल्प में और पीछे पाषाण शिल्प में इन्हें अपनाया गया।

मथुरा की पञ्चवर वेदिका की शैली से उसका आरम्भिक तिथिक्रम सूचित होता है। उसकी उकेरी विविक्त या नीची है, जो काष्ठशिल्प के निकट है। उसमें निकली हुई मानव मूर्तियों का अभाव है। एक आश्चर्यजनक बात यह है कि उत्तरकुरु के कल्पवृक्ष और कल्पलता, जिनसे आभूषणों और वस्त्रों का प्रसव होता है, और भरहुत-साँची में जिनकी बहुतायत है, मथुरा की पञ्चवर वेदिका में नहीं है। इससे इसकी धार्मिक पृष्ठभूमि का समय भरहुत से प्राग्कालीन ज्ञात होता है। देवनिर्मित स्तूप के विषय में जैन परम्परा से भी इसका समय पर्याप्त पूर्व युग का है और यह सम्भव है कि स्तूप और वेदिका का निर्माण तृतीय शती ईसवी पूर्व में हुआ।

स्तूप और वेदिका का विकास मथुरा में स्वतन्त्र रूप से हुआ और कुषाणकालीन स्तूप पर भी उसकी इस स्वतन्त्र धारा का प्रभाव पाया जाता है। जैसा कहा जा चुका है, मथुरा के स्तूप का अण्डभाग अधिक ऊँचा और लम्बोतरा हो गया और उसकी आकृति एक महाबुब्बुल के समान हो गई। किन्तु वेदिका में और भी अधिक परिवर्तन हुआ, जैसा निम्नलिखित लक्षणों से प्रकट है—स्तम्भों का छेवा चौकोर है, सामने की ओर वे तीन भागों में विभक्त हैं अर्थात् मध्य में स्त्री या पुरुष की एक कढ़ी हुई प्रतिमा, नीचे गुह्यक यक्ष, और ऊपर एक निकली हुई वेदिका जिसके पीछे कोई स्त्री या पुरुष है। बीच की मानवाकृति में भरहुत के यक्ष तथा यक्षी की परम्परा है अथवा वे देवकन्याएँ हैं जिनकी उपस्थिति स्तूप में आवश्यक थी। इनके अतिरिक्त नाट्यमुद्राओं में प्रसक्त स्त्री मूर्तियाँ हैं, और दानदाता, अँजलि मुद्रा में उपासक और देवमूर्तियाँ भी हैं। स्तम्भों के पृष्ठभाग पर कई जातकों के दृश्य हैं, यथा—शिविजातक, व्याघ्रीजातक, कच्छपजातक, उलूकजातक, बलहस्स (दिव्य पवित्र अश्व) जातक आदि।

जैन और बौद्ध स्तूपों के कुषाणकालीन शिल्पी वेदिका के अलंकरण पर सबसे अधिक ध्यान दे रहे थे। वेदिका स्तम्भों पर उत्कीर्ण स्त्रियों के सौन्दर्य ने प्राचीन काल में ही सहृदयों को आकृष्ट किया था। उन्होंने उन मूर्तियों की जिनसे वर्तमान युग के कला रसिक भी इतने प्रभावित हुए इस प्रकार आलोचना की—"स्तम्भों पर शालभञ्जिका स्त्री मूर्तियों की मुद्राएँ कई प्रकार की थीं। उन ललित मुद्रा में स्थित, सुप्रतिष्ठित, शालभञ्जिकाओं की १६–१६ मूर्तियाँ दोनों ओर थीं। वे सुलंकृत, नाना प्रकार के रंगीन वस्त्र पहने थीं, अनेक प्रकार की मालाओं से अलंकृत थीं, उनका कटि प्रदेश मुष्टिग्राह्य था, उनके भारी पयोधर हाथी के मस्तक के समान उभरे हुए थे, उनके नेत्रों के कोर लाल रंग के और

केश काले थे, उनके शरीर के लक्षण सब प्रकार सुकुमार थे, वे अशोक वृक्ष की डाल झुकाए उनके नीचे खड़ी थीं, वे आधे खुले हुए नेत्रों की चितवन से मन को चुरा रही थीं, वे अपने कटाक्षों से देवों का भी मन हर रही थीं, और अपने चञ्चल नेत्रों से क्षुब्ध कर रही थीं।"[1] बौद्ध और जैन दोनों के वेदिका स्तम्भों की स्त्रियों के विषय में यह वर्णन चरितार्थ होता है। ज्ञात होता है कि सुधर्मा सभा में नृत्य-गान करने वाली देव कुमारियों के लिए यह आदर्श वर्णन वेदिका स्त्रियों के लिए भी प्रयुक्त हो गया था। जैन वेदिका के स्तम्भों के पृष्ठभाग में जातकों के दृश्य नहीं हैं। रायपसेणिय सुत्त के अनुसार तोरण द्वारों के दोनों पार्श्वों में १६-१६ स्तम्भ होते थे। इस प्रकार कुल वेदिका के पूरे मण्डल में ६४ स्तम्भ हुए। भरहुत के वेदिका चक्रवाल में इतने ही स्तम्भ प्राप्त हुए हैं।

शालभञ्जिका—शालभंजिका का मूल में शब्दार्थ फूले हुए शालवृक्ष के नीचे स्त्रियों की उद्यान क्रीड़ा विशेष था। पाणिनि ने इसे 'प्राचां क्रीड़ा' कहा है (६।२।७४)। भारत के पूर्वी भागों में स्त्रियाँ बगीचों में जाकर फुल्लित शाल वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर एक दूसरे पर प्रहार करती हुई खेलती थीं। अवदान शतक में शालभंजिका क्रीड़ा का अच्छा वर्णन है और उसके पीछे अवश्य ही कोई पुरानी परम्परा थी। "एक बार भगवान बुद्ध अनाथपिण्डद के उद्यान में जेतवन में ठहरे हुए थे। उसी समय श्रावस्ती में शालभंजिका उत्सव मनाया जा रहा था। उस उत्सव में लाखों व्यक्ति एकत्र होकर हाथ में पुष्पित शाल वृक्ष की डालियाँ लिए खेलते हुए इधर-उधर विचर रहे थे।" निदान कथा में भी एक वर्णन लुम्बिनी उद्यान की शालभंजिका क्रीड़ा का है—"देवदह और लुम्बिनी नामक ग्रामों के बीच में एक मांगलिक शाल वृक्षों का उद्यान है, जिस पर दोनों ग्रामों के स्त्री-पुरुषों का अधिकार है। उसका नाम लुम्बिनी उद्यान है। उस समय जड़ से फुनगी तक पाँच रंगों की मक्खियाँ फूलों पर मँडरा रही थीं, और झुण्ड की झुण्ड चिड़ियाँ कूजती हुई वृक्षों पर उड़ रही थीं। लुम्बिनी उद्यान रंग-बिरंगी लताओं से आच्छादित था, जो किसी सम्राट के अलंकृत आहार मण्डप सा लगता था। मायादेवी ने जब उसे देखा तो उसके मन में शालवन में क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न हुई (शालवनकीलं कीलितु-कामता)। परिचारिकाएँ रानी को साथ लेकर शालवन में आईं। जब वह एक मांगलिक शाल वृक्ष के नीचे आई तो उसने उसकी एक फुल्लित शाखा को नीचे झुका लिया। शाखा आप से झुकाई हुई वेत्रलता की भाँति नीचे की ओर हो गई और उसने उसे हाथ से पकड़ लिया। उसी समय रानी को प्रसव पीड़ा होने लगी।"

झुकी हुई पुष्पित शाखा से किसी स्त्री द्वारा पुष्पों का प्रचय करने की पुष्पप्रचायिका मुद्रा भरहुत और साँची के तोरण स्तम्भों पर पाई जाती है। कुषाण काल में मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर तो यह मुद्रा अनेक भाँति से मिलती है। कुषाणकालीन गन्धार कला में भी थोड़े से स्तम्भों पर इस दृश्य का चित्रण है। किन्तु गन्धार में इसका अंकन बहुत फीका है और स्पष्ट है कि कहीं अन्यत्र से अर्थात् मध्यदेश से उसे लिया गया। काशिका में उदीच्य क्रीड़ा का भी नाम आया है जिसे 'जीवपुत्र प्रचायिका' कहते थे। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में इन्हें देश्य क्रीड़ा कहा है। ऐसी ही क्रीड़ाओं के अन्य नाम ये थे—सहकार भंजिका, अभ्यूषखादिका (होले भून कर खाना), उदक क्ष्वेडिका, बिसखादिका (कमल की जड़ निकाल कर खाना), अशोकोत्तंसिका, (अशोक पुष्प को कान या केशों में पहनना), पुष्पावचायिका, चूत लतिका, दमन भंजिका (दौने मरुवा के पुष्प चुनना), इक्षु भंजिका, आदि।

---

१. रायपसेणीय सुत्त, वैद्य सं०, पृ० १३४।

संस्कृत साहित्य में दो प्रकार की क्रीड़ाओं का उल्लेख आता है, (१) उद्यान क्रीड़ा, (२) सलिल क्रीड़ा, जो वास्तविक जीवन का अंग थीं। वसन्त के समय युवती कन्याएँ और स्त्रियाँ इन क्रीडाओं के उत्सव मनाती थीं। मातंग जातक में लिखा है कि वाराणसी के श्रेष्ठि की दिट्ठमंगलिका कन्या अपनी सखियों के साथ बाह्योद्यान में जाकर उद्यानक्रीड़ा का उत्सव करती थी। उद्दालक जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का पुरोहित अपनी प्रेयसी को नगर के बाह्योद्यान में उद्यानक्रीड़ा के लिए ले गया। अश्वघोष, कालिदास, माघ और भारवि ने इस प्रकार की उद्यान क्रीड़ाओं का पल्लवित वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह जीवन की सुन्दर परम्परा प्राचीन काल से चली आती थी और कालान्तर में साहित्य और कला में उसे बहुत विकसित किया गया।

मथुरा के शिल्पियों के सम्मुख यह समस्या थी कि वेदिका स्तम्भों पर नए-नए दृश्यों की अवतारणा किस प्रकार करें ? इस कार्य में उन्होंने मौलिकता और उदार दृष्टि का परिचय दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने स्त्रियों की क्रीड़ाओं से संबंधित अनेक मुद्राओं को अपनाया। इन क्रीडाओं की समुदित संज्ञा क्रीड़ाविहार थी। लोकमान्यता थी कि इन्द्र अपनी अप्सराओं के साथ इस प्रकार का क्रीड़ाविहार नन्दन वन में करता है। उसी आदर्श को पृथिवी लोक के मनुष्यों के लिए अपनाया गया। राजा अपने मनोविनोद के लिए इस प्रकार के क्रीड़ाविहार या आनन्दोत्सव मनाने लगे। उनके ये अङ्ग थे—

१—उद्यान क्रीड़ा (उद्यान विहार), २—उदक क्रीड़ा (जल विहार), ३—गात्रमण्डन, अर्थात् शरीर को वस्त्र आभूषण और विलेपन से सजाना। इसी के अन्तर्गत ललाट, गाल और ठोढी पर सूक्ष्म पत्र रचना या विशेषक रचना भी थी। ४—आपान गोष्ठी, ५—वंशी, वीणा, मृदंग के साथ संगीत का आयोजन, ६—नृत्य जिसमें स्त्री और पुरुष अनेक नृत्य मुद्राओं में दिखाए जाते थे। ७—विलास या गुहाविहार जिसे कालान्तर में कुञ्ज लीला कहा गया।

मथुरा के वेदिका स्तम्भों पर इन दृश्यों का समृद्ध अङ्कन है जिन्हें पाषाण की उकेरी द्वारा स्थायी कर दिया गया है। पर्याप्त स्तभों पर अशोक पुष्प प्रचायिका क्रीड़ा का अंकन है जिसमें अनेक "वृक्षका" स्त्रियाँ पुष्पसंभारों से अवनत वृक्षों के नीचे खड़ी हुई पुष्पावचय कर रही हैं। इनके रूपमें शालभंजिका और अशोक पुष्प प्रचायिका का ही चित्रण है (जैसे, जे ५५ स्तम्भ, २३५५, १९९, ४८३, बी ८०)।

इन स्त्री मूर्तियों को अवाङ्मुख गुह्यक, अर्थात् औंधा मुँह किये हुए स्थूल यक्ष-मूर्तियों की पीठ पर खड़ी हुई दिखाया गया है। ये गुह्यक मूर्तियाँ बहुत कुछ प्राचीन किंकर, कीचक या यक्ष मूर्तियों से मिलती हैं जिन्हें शिल्पियों ने पुरानी परंपरा से अपनाया। ऐसा करते हुए उनके मन में भावना थी कि स्तम्भों की स्त्रियाँ यक्षों की परम्परा से ली गई हैं। किन्हीं स्तम्भों पर स्त्रियाँ अपने साथी पुरुषों को पुष्प चंगेरी या माल्य चंगेरी अर्पित कर रही हैं। एक नया अभिप्राय अशोक-दोहद का है जिसमें कोई युवती अशोक वृक्ष के नीचे खड़ी है और बायें हाथ से उसकी शाखा को झुकाकर बायें पैर से आघात या उसका स्पर्श कर रही है (इसका अंकन स्तम्भ संख्या जे ५५, २३४५ पर है)। इस दृश्य में उस विश्वास का अङ्कन है कि किसी सुन्दरी स्त्री के बायें पैर का स्पर्श पाकर अशोक फूलता है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस प्रकार के दृश्य का वर्णन किया है। उसके अनुसार युवती नायिका ने अशोक के नीचे नृत्य किया और फिर उसका अपने बायें पैर से स्पर्श किया और उसके इस सौन्दर्य को राजा छिपकर देखता रहा।

अशोक वृक्ष नायक का प्रतीक था और अशोक दोहद का अर्थ यह था कि नायक तब तक अनुरक्त या प्रसन्न नहीं होता जब तक उसे युवती स्त्री के वाम पाद का आघात न मिले।

अशोक दोहद का ऐसा ही दृश्य कपिशा से मिले हुए दन्त फलक पर मिला है। इन तीनों दृश्यों में युवती का केशपाश विशेष प्रकार है जिनमें ऊँचे घेरदार जूड़े के ऊपर एक रेशमी उत्तरीय बाँधा गया है और उसके ऊपर एक लट बाहर निकलती हुई दिखाई गई है। इस विशेष प्रकार की केशरचना को अश्वघोष ने शुक्लांशुकाट्टालक केशपाश (सौन्दरनन्द ७।७) कहा है और चतुर्भाणी में इसे ही कोकिल केशपाश कहा गया है क्योंकि काली कोयल की भाँति एक लट सफेद रेशमी दुपट्टे के ऊपर इस प्रकार के केशविन्यास में दिखाई देती थी। अमरावती के स्तूप पर भी इस प्रकार की स्त्रियों के अङ्कन हैं।

केश विन्यास का दूसरा प्रकार पुष्प शेखर या (चित्र २९५) भारी माला द्वारा बालों को गूँथना था। अन्य दृश्यों में पुष्पोच्चय, पुष्पप्रथन, पुष्पाभरण आदि के लोकप्रिय उदाहरण हैं। उद्यान क्रीडाओं का उत्तरांग जलक्रीडाएँ या अम्भोविहार थे। साहित्यिक वर्णन में उनके इन अङ्गों का उल्लेख आता है—उदक ताडन (पानी के थपेड़े उछालना), केशाकुलमुखी (इस प्रकार से बालों को बिखेरना), जलार्द्रवसन (वस्त्रों का भींगकर अङ्ग से सट जाना, इसे गुप्त युग में भग्नांशुक कहते थे), जानुदेशभुग्ना (घुटनों तक गहरे जल में स्नान), पृष्ठकृतादित्या केशनिस्तोयकारिणी (बालों में से पानी निचोड़कर उन्हें सूर्य की ओर पीठ करके सुखाना), शिलातलगता (सरोवर के किनारे शिलातल पर बैठी हुई), दम्पती मूर्ति जो परस्पर आलिंगन मुद्रा में हैं और एक दूसरे पर पिचकारियों से रंगीन जल छिड़कती हुई, पद्म वन में तैरती हुई स्त्रियाँ जो जल में डुबकी लगाकर एक दूसरे को ढूँढ़ रही हैं, आदि।
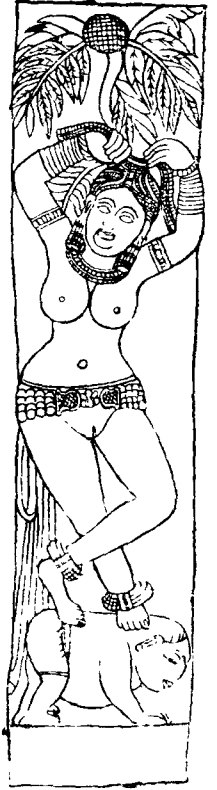
चित्र २९५

मथुरा के शिल्पियों ने सलिल क्रीड़ा का चित्रण करते हुए निपुणता का प्रदर्शन किया है, यथा—दो स्तम्भों पर गिरि निर्झर के नीचे स्नान करती हुई स्त्री का दृश्य (जो अब लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है)। जे २७८ स्तम्भ पर एक नग्न स्त्री पार्श्वगत मुद्रा में खड़ी है। इसके ऊर्ध्वभाग में एक पहाड़ी झरना (गिरि प्रस्रवण) उतर कर उसकी पीठ पर झर रहा है और उसका जल नीचे एक ताल में इकट्ठा हो रहा है।

एक अन्य अभिप्राय में एक स्त्री एक वृक्ष के स्कन्ध से पीठ मिलाए खड़ी है और अपने हाथ में एक सुन्दर सनाल कमल लिए है। इन क्रीडाओं के साथ कमल का विशेष सम्बन्ध था। कालिदास ने इस मुद्रा को हस्ते लीला कमल (मेघदूत, २।२) कहा है और स्त्रियाँ लीला कमल के द्वारा अनेक करणों का प्रदर्शन करती हुई नृत्य करती थीं। मध्यकालीन कला में ऐसी स्त्री को पद्मगन्धा संज्ञा दी गई अर्थात् कोई युवती स्त्री पद्म की गन्ध सूँघते हुए या हाथ में कमल लिए हुए चित्रित की जाती थी। पश्चिमी भारत के देवमन्दिरों में उसी की संज्ञा पद्मिनी या सुगन्धा हो गई।

एक वेदिका स्तम्भ पर युवती स्त्री स्नान के अनन्तर सूर्य की ओर पीठ करके अपने बालों में से जल की बूँदे निचोड़ रही है (केशनिस्तोयकारिणी)। उसके पैरों के पास बना हुआ हंस उन बूँदों

को पी रहा है। इस मुद्रा को मत्स्य पुराण में केशनिस्तोयकारिणी कहा है इसे ही भोजकृत शृङ्गारमञ्जरी में कबरीनिश्च्योतन कहा है। इसी के ऊपरी छज्जे पर आपानगोष्ठी का दृश्य है (चित्र २९६)।

स्नान या सलिलक्रीड़ा के अनन्तर स्त्रीपुरुष अपने शरीरों पर विलेपन लगाते थे और आभूषण पहनते थे। उसके कई दृश्य वेदिका स्तम्भों पर मिले हैं। एक स्तम्भ पर स्त्री दर्पण में मुख देखती हुई अपने दाहिने कान का कुण्डल ठीक कर रही है (जे ५)। उड़ीसा के मन्दिरों की कला में इस मुद्रा को दर्पणा कहा है। (चित्र २९७)
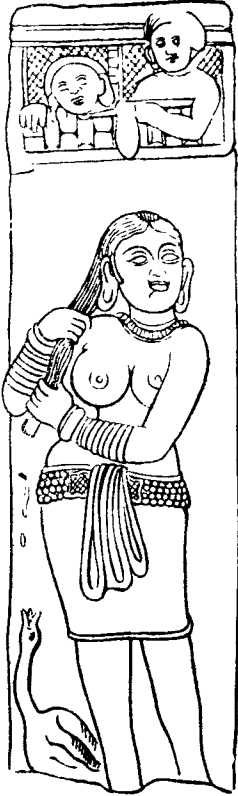
चित्र २९६
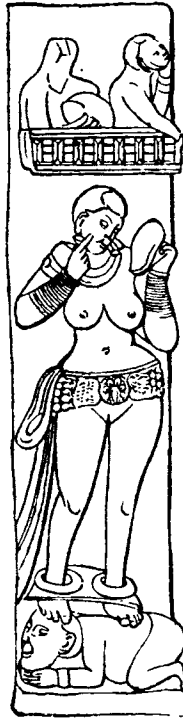
चित्र २९७
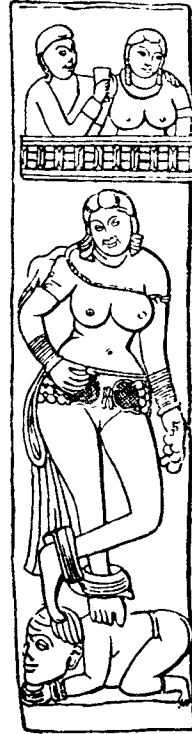
चित्र २९८

चित्र २९९

इन क्रीड़ाओं का दूसरा अङ्ग जिनमें रमणियों की बड़ी रुचि थी शुकसारिका क्रीड़ा था। घरों में और उद्यानों में शुकपञ्जरों की क्रीडा से मन बहलाव किया जाता था। स्तम्भ संख्या ९९ पर एक दम्पति मूर्ति है जिसमें स्त्री शुक पक्षी को बाएँ हाथ में फल लिए खिला रही है। एक खण्डित स्तम्भ पर स्त्री का पूर्व भाग है। उसके दाहिने कन्धे पर एक तोता बैठा है। स्पष्ट है कि वह अपने बायें हाथ से जो अब टूट गया है चुग्गा खिला रही थी।

एक गुह्यक की पीठ पर खड़ी हुई एक स्त्री अपने दाहिने कान के पास हाथ में फल लिए है और सुग्गे को लुभा रही है (स्तम्भ सं० २५८, स्तम्भ सं० १५९५ पर भी यही दृश्य है) (चित्र २९८)। कला की दृष्टि से सर्वोत्तम स्तम्भ भूतेश्वर के स्तूप की वेदिका से मिला था जिसमें एक नग्न स्त्री अपनी दाहिनी हस्त लता में पिंजड़ा लिए खड़ी है। उसके बायें कन्धे पर सुग्गा बैठा है (चित्र २९९)। कंकाली

टीले से प्राप्त एक स्तम्भ पर सुग्गा नृत्य में विभोर एक युवती की मेखला पर बैठा हुआ उसके पदक पर ठोंग मार रहा है।

चित्र ३०३
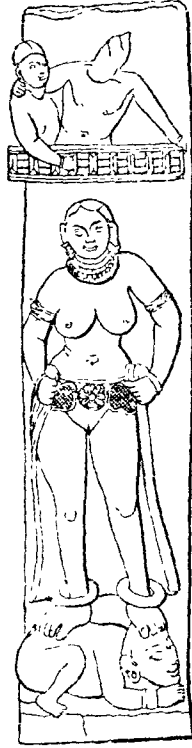
चित्र ३०० चित्र ३०१ चित्र ३०२

आभूषण पहनने के भी कुछ रोचक दृश्य हैं। स्तम्भ जे ५९ पर एक स्त्री प्रालम्ब या लम्बा हार पहन रही है। स्तम्भ जे ६४ पर एक स्त्री शालभंजिका मुद्रा में दर्पण में देख रही है। दूसरे स्तम्भ पर प्रसाधन के दो दृश्य हैं। ऊपर का दृश्य वेणी-प्रसाधन का है जिसमें स्त्री दर्पण में देख रही है और बायें हाथ से अपना केश संस्कार कर रही है। उसका पति पीछे खड़ा हुआ उसकी वेणी में मालादाम गूँथ रहा है (चित्र ३०३)। एक परिचारिका हाथ में माल्यचंगेरी लिए खड़ी है। नीचे के दृश्य में स्त्री अपना केश संस्कार समाप्त कर चुकी है और मुख मण्डन के लिए दर्पण देख रही है। स्तम्भ जे ६२ में एक स्त्री बाईं ओर को खड़ी है और अपनी पृष्ठ और दाहिना पैर वृक्ष से लगाए कोण या मेजराब से वीणा बजा रही है (चित्र ३०४)।

इन उद्यान क्रीड़ाओं में नृत्य का भी विशेष स्थान था। स्तम्भ संख्या ५६२ पर एक स्त्री सिर के ऊपर हाथों से उत्तरीय उठाए है। इसके ऊपर की वलभिका में शिल्पी ने गरुडनाग संघर्ष का दृश्य दिखाया है। लगभग आधे दर्जन स्तम्भों पर एक नवयुवती स्त्री को मेखला या कटिबन्धन अथवा वस्त्र शिथिल करते हुए दिखाया गया है। भरहुत में भी यह दृश्य मिलता है। इसमें उन नग्न नृत्यों की छाया थी जिनका प्रचार था। कालान्तर में इसी भाँति से महानग्नी या महानर्तकी का चित्रण किया

चित्र २०३ ख

चित्र २०३ क

चित्र २०३ ग

चित्र २०५

चित्र २०४

चित्र २०६
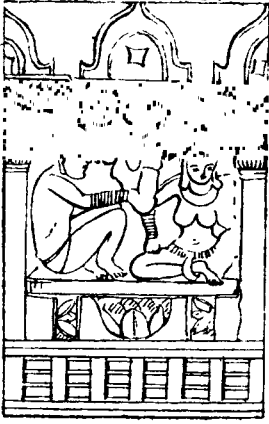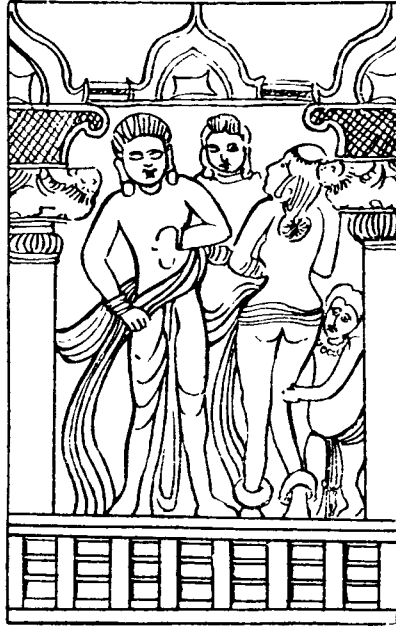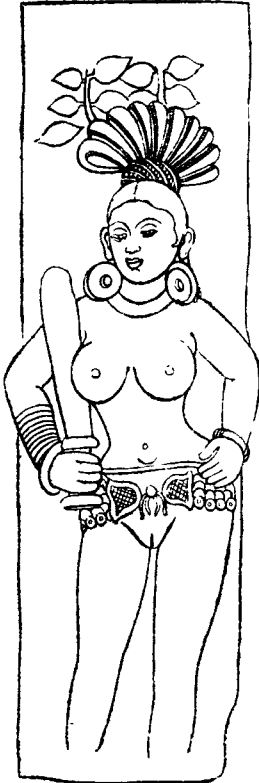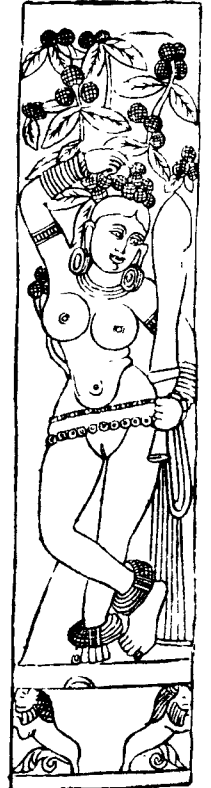
चित्र २०७

जाने लगा। यह भी सम्भव है कि स्तम्भों के मूलरूप में रंगों के आलेखन द्वारा नग्नता को तिरोहित कर दिया जाता था। कालिदास ने निश्चित उल्लेख किया है कि वेदिका स्तम्भों की स्त्रियों के शरीर पर रंगों का आलेखन[1] किया जाता था। कुछ अन्य स्तम्भों पर एक स्त्री खड्ग लिए हुए सैनिक मुद्रा में खड़ी है (जे० ६३ और २५७५, १५२, जे० २७५, बी० ७९, २७८) (चित्र ३०५-७)। सम्भवतः इनका उद्देश्य राजप्रासादों की रक्षक स्त्रियों का अंकन करना था।

कन्दुकक्रीडा करती हुई युवती कुमारी का अंकन भी बड़ा सुखकर है (जे० १६१) (चित्र ३०८)। कई स्तम्भों पर उपासक दम्पति अंजलि मुद्रा में खड़े हैं। उनके हाथ में कमल पुष्प के गुच्छे हैं। चैत्यगृहों में उत्कीर्ण दानदाताओं की परम्परा ही यहाँ देखी जाती है।

मथुरा में वह युग आ गया था जब वेदिका स्तम्भों में बौद्ध मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाने लगीं। जैसे एक स्तम्भ पर विशेष ढंग का सूर्पाकृति मुकुट पहने अंजलि मुद्रा में इन्द्र की मूर्ति है। एक अन्य स्तम्भ पर ऋष्यश्रृङ्ग जातक का दृश्य है। इसमें एक सुन्दर नवयुवक ब्रह्मचारी खड़ा है जिसके मस्तक पर हिरन
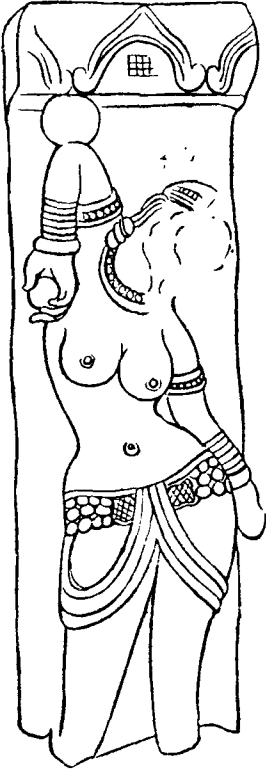
चित्र ३०८

चित्र ३०९
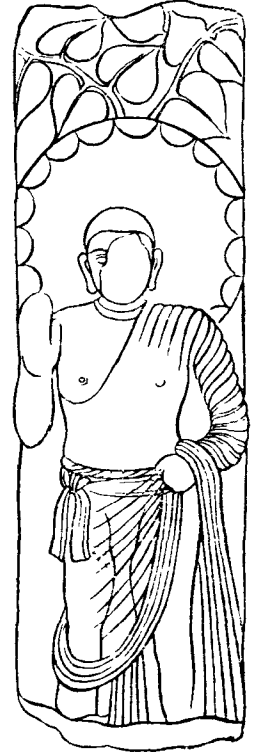
चित्र ३१०

का सींग है (चित्र ३०९)। एक स्तम्भ पर पीपल के नीचे खड़े हुए बोधिसत्त्व की मूर्ति है जिनके मस्तक के पीछे बँगड़ी में हस्तिनख गोट का तेजचक्र है (हस्तिनख प्रभा मंडल, जे० १८) (चित्र ३१०)। पीपल के नीचे अभय मुद्रा में बुद्ध खड़े हैं, उनके मस्तक के पीछे छाया मण्डल है (१९४)। प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए शिल्पियों ने इन वेदिका स्तम्भों पर बौद्ध के प्रतीक चिह्नों को भी स्थान दिया है। इनमें बोधिमण्ड और धर्मचक्र सम्मिलित हैं। इन पर विचार करते हुए हम यक्ष मूर्तियों

और विकट आकृतियों को भी नहीं भूल सकते, जिन्हें अब गौण स्थान दिया जाने लगा। प्रथम तो गुह्यक मूर्तियों को वेदिका स्तम्भों की स्त्रियों के वाहन रूप में दिखाया गया है। एक स्तम्भ पर गाजरपूँगी दाढ़ीवाला एक गुह्यक यक्ष बना है और दूसरे कोण स्तम्भ पर दो वामनाकृति मूर्तियाँ हैं।

कालान्तर के साहित्य में इन युवती स्त्रियों को अलसा या अलस कन्या भी कहा है जो अँगड़ाई लेती हुई मुद्रा में दिखाई गई हैं। आलस्यवश अंगों को तोड़ने के लिए ये अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर तोरण-सा बनाती हैं। यह यौवन मद से छकी हुई स्त्री की मुद्रा थी। दो-तीन स्तम्भों पर अँगड़ाई की यह मुद्रा भी मिली है (स्तम्भ सं० १९६ और ९७७)। एक स्तम्भ पर पुत्रवल्लभा स्त्री अर्थात् पुत्र को गोद में लिए माता की सुन्दर मूर्ति है। माँ बच्चे के लिए हाथ में झुनझुना लिये है।

मथुरा कला में देवी श्री लक्ष्मी की अत्यंत सुन्दर खड़ी हुई मूर्ति मिली है। देवी की दुग्धधारिणी मुद्रा बहुत ही आकर्षक है। वह अपने एक हाथ से दाहिने स्तन को दबाकर दूध की धारा बहा रही है। देवी कमलवन में पूर्णघट पर खड़ी है। उसके पृष्ठ भाग में सनाल कमल पत्र और कलिकाएँ ऊपर उठ रही हैं जिन पर हंसों के जोड़े बैठे हैं (चित्र ३११)। स्तम्भ संख्या २८६ पर भी यह दृश्य है (चित्र २१२)।
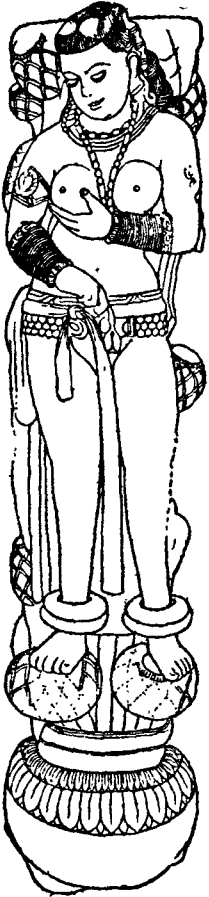
चित्र ३११

चित्र ३१२
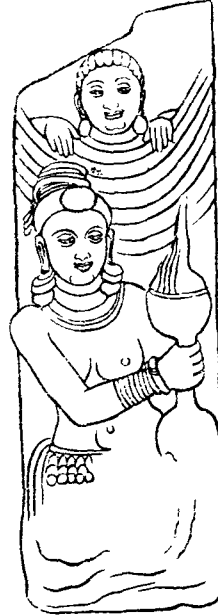
चित्र ३१३

चित्र ३१४

सौन्दरानन्द के अनुसार अगुरु और चन्दन से स्त्रियाँ अपने कपोलों पर विशेषक लिखती थीं जैसा उन स्तम्भों के दृश्यों में है। सलिल क्रीड़ाओं में आपान गोष्ठी का भी आयोजन रहता था। उसके कई दृश्य स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार स्तम्भों पर एक स्त्री दाहिने हाथ में मद्य का चषक लिए खड़ी है। अन्य स्तम्भ पर एक स्त्री सिर पर घट उठाये और घाघरा पहने है। वह गोपी जान पड़ती है। एक स्तम्भ पर स्त्री मणि दण्डिका युक्त धूपदानी लिए है (चित्र ३१३-४)

यह स्वाभाविक था कि कुषाणकालीन शिल्पी इन स्तम्भों पर उदीच्य वेशधारी पुरुष और स्त्रियों की मूर्तियाँ भी बनाते जैसा कि कितने ही स्तम्भों पर वस्तुतः उन्होंने किया है। उनके वेश में तिकोना टोप (तिग्रा खौदा), चोगा (वारबाण या चीनचोलक) और सलवार (सतुला) और मोटे खपूसा जूते शामिल हैं (जे ३७, जे ३८, जे ४३)।

इससे विदित होता है कि मथुरा के शिल्पियों ने वेदिका स्तम्भों को अनेक नवीन विषयों से सजाया और उसे जनता के बहुत निकट ले आये। बौद्ध धर्म से उसका सम्बन्ध इतना नहीं रहा था जितना जनता के सामाजिक जीवन से। कुषाण युग में वेदिका अपने पूर्णतम विकास को प्राप्त हो चुकी थी। उसके आगे का विकास गुप्त युग के शिल्पियों के हाथ में था जिसमें उन्होंने स्तूप के वेदिका स्तम्भों को मन्दिरों की ऊँची जगती और राजप्रासाद की चन्द्रशालिकाओं में खींच लिया और तदनुसार ही स्तम्भों के विषय भी बदलते गये।

मथुरा की जैन कला

मथुरा जैन धर्म का प्राचीन केन्द्र था। ब्राह्मणों और बौद्धों के समान जैनों ने यहाँ अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किये। ज्ञात होता है कि मथुरा के जैन बहुत सम्पन्न और वैभवशाली थे जैसा उनके बनवाये स्तूपों से प्रमाणित या सूचित होता है। मथुरा में जैनधर्मियों की परम्परा अभी तक चली आई है।

कंकाली टीले की खुदाई से कितनी ही मूर्तियाँ और वास्तु खण्ड प्राप्त हुए हैं, ये किसी समय मथुरा के दो स्तूपों में लगे हुए थे। देवनिर्मित स्तूप नामक एक बहुत पुराना स्तूप मथुरा में था जो सम्भव है मिट्टी के थूहे के रूप में मौर्य काल से भी पुराना रहा हो। पीछे उसे इष्टिका-चित किया गया या उस पर ईंटों का कंचुक पहनाया गया (इपिग्राफिया इण्डिका खण्ड ११, २०)। अर्हत् नंद्यावर्त की एक प्रतिमा इस स्तूप की खुदाई में मिली थी जो ८९ ई० में पधराई गई। जैसा ऊपर कहा गया है देव निर्मित शब्द स्तूप की प्राचीनता की ओर संकेत करता है जब मानवीय निर्माण की परम्परा से भी पीछे देव निर्माण की परम्परा में लोगों का विश्वास था। यह भी किंवदन्ती है कि मूलतः स्वर्ण और रत्नों का एक छोटा स्तूप था जिसे पीछे मिट्टी, ईंट और पत्थरों से आच्छादित कर दिया गया। रायपसेनीय सुत्त में सूर्याभदेव के विमान का वर्णन उसी स्तूप पर घटित होता है जिसमें पत्थर की वेदिका, स्तम्भ और द्वार-तोरण थे।

तारानाथ ने लिखा है कि मौर्यकालीन कला यक्षों द्वारा और उससे पूर्वकालीन देवों द्वारा निर्मित हुई। इस कहानी में पौराणिक कल्पना का अंश है किन्तु स्तूप की प्राचीनता का संकेत भी है। जिनप्रभ सूरि के अनुसार प्राचीन स्तूप का निर्माण कुबेरा यक्षी ने किया था (विविध तीर्थ)। भगवान सुपार्श्व के सम्मान में इसका निर्माण कराया गया था। कालान्तर में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के

समय में उन स्तूपों पर ईंटों का कंचुक या खोल चढ़ाया गया। महावीर के तेरह सौ वर्ष बाद बप्प भट्टि ने इस स्तूप का पूरा संस्कार कराया और यहाँ से प्राप्त गुप्तकालीन मूर्तियाँ उसी समय की ज्ञात होती हैं। सम्भवतः एक से अधिक बार स्तूप का संस्कार हुआ। मूल स्तूप मिट्टी का छोटा सा थूहा था जिसके भीतर स्वर्ण और रत्नों का और भी छोटा स्तूप गर्भित किया गया। वह मिट्टी का स्तूप ईंटों से और ईंटों का पत्थरों से आच्छादित किया गया। तीसरे संस्कार में स्तूप को शिलाघटित या शिलामय कंचुक ओढ़ाने के साथ ही द्वार-तोरण, वेदिका स्तम्भ, पुष्प चढ़ाने की वेदिका या मंचिका (पुष्पाधानी) आदि से सज्जित किया गया।

व्यवहार सूत्र भाष्य में एक रोचक कथा लिखी है कि बौद्ध लोग उसे अपना कह कर जैन स्तूप पर दखल करना चाहते थे। छह महीने तक विवाद चला तब राजा ने जैन संघ के पक्ष में निर्णय दिया। तथ्य यह ज्ञात होता है कि जैन स्तूप के निकट ही सड़क के उस पार बौद्धों ने भूतेश्वर टीले के स्थान पर अपना स्तूप बनाया। वहाँ बहुत से बौद्ध वेदिका स्तम्भ पाए गए हैं। क्योंकि प्राचीन जैन स्तूप के वेदिका स्तम्भों पर कोई मूर्ति नहीं मिली है जिससे बौद्ध धर्म के साथ उसका निश्चित सम्बन्ध बताया जा सके अतः पद्मवर वेदिका वाले स्तूप पर बौद्धों ने दावा किया—ऐसा ज्ञात होता है। किन्तु राजा के न्याय के कारण इसमें उन्हें विफल होना पड़ा। कुषाण काल में जो मूर्ति को प्रधान मानकर कला का नया स्वरूप विकसित हुआ उसके अनुसार जैनों ने एक नया स्तूप बनाने का निश्चय किया जिसमें तीर्थंकर की मूर्ति को प्रधानता दी गई। उस प्रकार की जैन मूर्तियों के अनेक उदाहरण दूसरे जैन स्तूप से मिले हैं।

दूसरे जैन स्तूप में अनेक लेख लिखवाए गए जिन पर कुषाण संवत् में तिथियाँ दी गई हैं। यह भी नए स्तूप की एक विशेषता थी। इन लेखों से उस समय के माथुर जैन संघ पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। गच्छ, पुर और शाखाओं के जो नाम लेखों में लिखे हैं वे ही भद्रबाहु के कल्पसूत्र में आए हैं। पुरातत्त्व और साहित्य का यह मेल बहुत ही श्लाघनीय है और दोनों की सत्यता प्रमाणित करता है। वेदिका स्तम्भों में जो कला की सामग्री है उसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हमारा ध्यान उन तीर्थंकर एवं अन्य मूर्तियों की ओर जाता है जो नए रूप में स्थापित की गईं जैसी उस युग की प्रथा थी। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण सभी अपने-अपने देव-स्थानों में उसका पालन कर रहे थे। कनिष्क और हुविष्क के राज्यकाल में विशेष रूप से ऐसा हुआ।

सर्वप्रथम आयाग पट्टों का स्थान है। ये आर्यक पट्ट पूजा-शिलाएँ थीं जिनकी परम्परा और भी पहले से चली आती थी। जैनों ने अपने नए स्तूप में इनकी बहुत सुन्दर रूप में स्थापना की और उनके रूप संपादन में बड़ी मौलिकता का परिचय दिया। ये पूजा शिलाएँ प्रतीकात्मक और तीर्थंकर प्रतिमा संयुक्त दोनों प्रकार की हैं। इनमें प्रतिमा पूजन और प्रतीक पूजन दोनों विधियों का बहुत ही अच्छा समन्वय किया गया है। प्रतीकों की दृष्टि से स्वस्तिक पट्ट, चक्र पट्ट और चैत्य पट्ट या स्तूप पट्ट बहुत महत्त्व के हैं।

लेखों का आयाग शब्द संस्कृत आर्यक से निकला है और भाषा भेद से वही है जिसे आन्ध्र स्तूपों में आयक कहा है और जो रूप आन्ध्र प्रदेश के नागार्जुनीकोण्ड स्तूप के आयकखम्भ शब्दों में मिलता है। स्तूप के चतुर्दिक इस प्रकार की पूजा शिलाएँ या आर्यक पट्ट स्थापित किए जाते थे। पहले तो इन्हीं की पूजा की जाती थी। कालान्तर में इन पर स्तूप पूजा के निमित्त पत्रपुष्प चढ़ाया जाने लगा। महावंश में इन्हें पुप्फाधान और सद्धर्मपुण्डरीक में इनके लिए पुष्पग्रहणी वेदिका शब्द

आया है। मध्यमिका के नारायण वाटक में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये इसी प्रकार की पूजा शिला शुङ्ग काल में ही स्थापित की गई जिससे इस परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। कालान्तर में इसी वेदिका या मञ्च को प्रतिमाओं के आसन रूप में कल्पित किया गया। कंकाली टीले से प्राप्त एक तोरण खण्ड पर इस प्रकार के आयागपट्टों का अंकन किया गया है जिन पर उपासक माला और फूल चढ़ा रहे हैं (क्र० सं० जे० ५५५, स्मिथ, जैन स्तूप, फलक २०)। इस चित्र से ज्ञात होता है कि स्तूप के चारों ओर चार दिशाओं में कुल सोलह आयागपट्ट या पूजाशिलाएँ लगाई जाती थीं। प्राचीन जैन आगमों में 'पुहुमी शिलापट्ट' का उल्लेख आता है (औपपातिक सूत्र ५)। इस शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं अर्थात् पृथिवी देवी की पूजा के लिये पधराया हुआ शिलापट्ट या मिट्टी का बना हुआ शिलापट्ट। शिलापट्ट को मिट्टी का बना मानना ठीक नहीं अतः पहला अर्थ ही ठीक होगा। अतः पृथिवी देवी की पूजा के लिये इस तरह के शिलापट्ट स्थापित करने की प्रथा मथुरा के स्तूपों से पाँच-सात सौ वर्ष पूर्व से चली आती थी। इसी कारण यह नाम रूढ़ हो गया था। कालान्तर में पृथिवी की जगह दूसरे देवों की पूजा शिलाओं द्वारा होने लगी।

जैन आयागपट्ट कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। उनके दर्शन से नेत्र और चित्त प्रसन्न होते हैं। जैन धर्म में प्रतीक पूजा की संततप्रवाही धारा इनसे सिद्ध होती है और किस प्रकार मूर्ति पूजन का समन्वय उस धारा के साथ हुआ यह भी विदित होता है। प्रतीक या धार्मिक चिह्नों के प्रभाव की जैसी स्फुट साक्षी आयागपट्टों में हैं वैसी अन्यत्र नहीं है। प्रतीक और मूर्ति का समन्वय इन रूपों में है और ये पट्ट संक्रान्ति काल के ज्ञात होते हैं।

प्रथम स्थान में वह आयागपट्ट है जिसका रूप सम्पादन केवल प्रतीकों से किया गया है (जे० २४८; स्मिथ फलक ८)। यह चक्रपट्ट है जिसके मध्य में १६ अरे हैं और जो तीन मण्डलों से घिरा हुआ है। पहले मण्डल में १६ त्रिरत्न चिह्न हैं, दूसरे में अष्टदिक्कुमारिकाएँ हैं जो आकाशगति से विचरण करती हुई पुष्प और माल्य अर्पण कर रही हैं। तीसरे घेरे में एक भारी माला या महापुण्डरीक स्रज सँजोई हुई है। ऐसी दिव्य माला के गूँथने में सहस्र पद्म पुष्प तक काम में लाए जाते थे। चौकोर पट्ट के बाहरी कोनों में चार महोरग मूर्तियाँ गुह्यक या किंकर मुद्रा में चक्र को उठाए हुए हैं। माला के चारों ओर जो चौखटा है उसमें श्रीवत्स, त्रिरत्न आदि धार्मिक चिह्न हैं। उनकी पूजा करते हुए स्त्री-पुरुषों के शरीर आधे सपक्ष सिंह जैसे हैं। (चित्र ३१५)
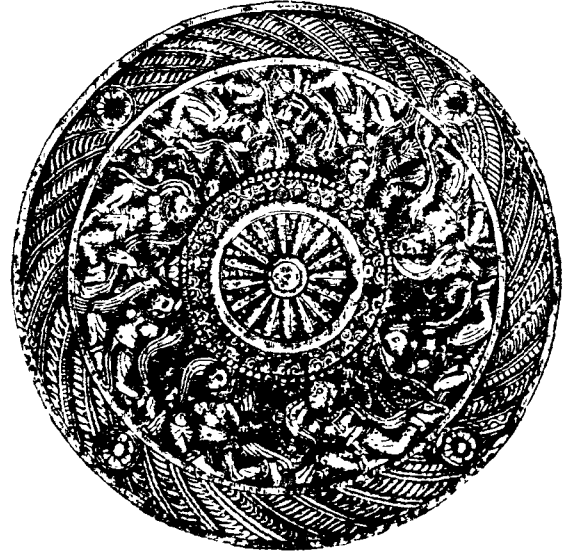
चित्र ३१५

इसके अनन्तर की स्थिति का सूचक वह आयाग पट्ट है जिस पर महा स्वस्तिक का चिह्न बना है अतएव जिसे स्वस्तिक पट्ट या सोत्थिय पट्ट की

संज्ञा दी जा सकती है। इसके बीच में छत्र के नीचे पद्मासन में तीर्थंकर मूर्ति हैं, उनके चारों ओर स्वस्तिक की चार भुजाएँ हैं। तीर्थंकर के मण्डल की चार दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाए गए हैं।

महा स्वस्तिक की लहराती चार भुजाओं के मोड़ों में भी चार धार्मिक चिह्न हैं, जैसे—मीन मिथुन, वैजयन्ती, स्वस्तिक एवं श्रीवत्स। स्वस्तिक के बाहर मण्डल में वेदिकान्तर्गत बोधिवृक्ष, स्तूप, एक अस्पष्ट वस्तु और १६ विद्याधर युगलों से पूजित तीर्थंकर मूर्ति, ये चार धार्मिक चिह्न हैं। बाहर के चार कोनों में गुह्यक मुद्रा में चार महोरग हैं। चौकोर चौखटे को एक ओर बढ़ा कर अष्ट मांगलिक चिह्नों की पंक्ति का अङ्कन किया गया है जिनमें स्वस्तिक, मीन मिथुन और श्रीवत्स सुरक्षित हैं (चित्र ३१६)। चक्रपट्ट और स्वस्तिक पट्ट बौद्ध कला में अमरावती स्तूप पर उत्कीर्ण हैं। चक्रपट्ट का उल्लेख एक स्तम्भ लेख में आया है (सं० १२५३, लूडर्स), और स्वस्तिक पट्ट अमरावती के लेख सं० १२८७ में उल्लिखित है। तीसरे प्रकार के आयागपट्ट की संज्ञा चैत्यपट्ट थी। उसके दो नमूने मथुरा में हैं। लखनऊ संग्रहालय सं० २५५ पर एक स्तूप सोपान, तोरण, वेदिका, दो पार्श्व स्तम्भ, शालभंजिका और बुब्बुलाकृति अंड वाला है जिसके कारण उसकी संज्ञा चैत्यपट्ट पड़ी थी। अमरावती में भी एक चैत्यपट्ट मिला है (लूडर्स सूची, सं० १२२५)। इसमें मथुरा की भाँति दो चैत्यपट्टों के दान का उल्लेख है।

चित्र ३१६

एक अन्य चैत्यपट्ट मथुरा संग्रहालय (क्यू २) में है जिसका निश्चित प्राप्ति स्थान अज्ञात है। दूसरा चैत्यपट्ट अर्हतों के देवकुल में स्थापित था। यह कंकाली टीले के जैन मन्दिर से सम्बन्धित था। इस पट्ट पर (ऊँचाई २′ ४″, चौड़ाई २′ ९¾″) एक स्तूप उत्कीर्ण है जिसके चारों ओर वेदिका है और सोपान युक्त द्वार-तोरण है। स्तूप के पार्श्वों में दो स्तम्भ हैं जिनमें एक चक्रध्वज और दूसरा सिंहध्वज है। स्तूप के दोनों कोनों में दो दिगम्बर मुनि, दो सुपर्ण और दो शालभंजिकाएँ हैं। सोपान के दोनों ओर तोरणों के नीचे दो स्त्री-पुरुष या दानदाता दंपति हैं। इससे ज्ञात होता है कि अमरावती के शिल्पियों ने अपने स्तूपपट्टों की अनुकृति मथुरा कला से की।

कला की दृष्टि से आयागपट्ट सं० जे० २४९ (लखनऊ संग्रहालय) का स्थान सर्वोपरि है। इसकी स्थापना सिंहनादिक ने अर्हत् पूजा के लिये की थी। तीर्थंकर की प्रतिमा से युक्त होने के कारण इसकी संज्ञा अर्हन् पट या तीर्थंकर पट हुई। उसके मध्य में पद्मासन में बैठी हुई तीर्थंकर मूर्ति है। उनके चारों ओर चार त्रिरत्न हैं। इस पट्ट के बाहरी चौखटे पर अष्ट मङ्गलों की पंक्ति है जो अब अष्ट मङ्गलक माला के रूप में रूढ़ हो गई थी, जैसे—मीन-मिथुन, देवगृह-विमान, श्रीवत्स, रत्नपात्र या शराव-संपुट ऊपर की पंक्ति में, और त्रिरत्न, पुष्प स्रक्, वैजयन्ती और पूर्णघट नीचे की पंक्ति में हैं। एक

ओर चक्रध्वज एवं दूसरी ओर हस्तिध्वज है। दोनों प्रतीकों के नीचे सिंह संघाट या पीठ सटाकर बैठे चार-चार सिंह हैं (चित्र ३१७)। अचला द्वारा प्रदत्त एक अन्य आयागपट्ट इसी प्रकार का है पर प्रतीकों में कुछ हेर-फेर है। चक्रध्वज दोनों में समान है किन्तु पहले में सिंहध्वज के स्थान पर हस्तिध्वज है। महावंश के अनुसार पूजा शिलाओं की संख्या १६ होती थी जिसमें से १२ कंकाली टीला के स्तूप के अवशेषों में मिल चुके हैं।

अन्य जैन मूर्तियों में कई मूर्तियाँ हैं १—आर्यावती प्रतिमा जिसके दोनों ओर दो चामर ग्राहिणी और छत्र धारिणी हैं जो षोडाश के राज्यकाल के ४२वें वर्ष में स्थापित हुई।
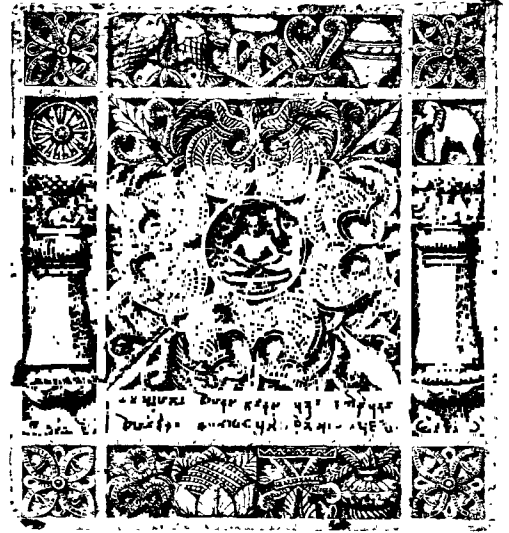
चित्र ३१७

चित्र ३१८

२—**नैगमेश शिलापट्ट**—यह बालजन्म का अधिष्ठाता देवता था। इसी की संज्ञा नैगमेश भी थी और यह कार्त्तिकेय के परिवार का अङ्ग था।

३—**सरस्वती मूर्ति**—इसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है और बाएँ हाथ में पुस्तक लिये है। इसकी स्थापना कुषाण सं० ५४ में हुई। ये तीनों प्रतिमा-शास्त्र की दृष्टि से जैन कला की मौलिक देन थीं।

तीर्थंकर मूर्तियाँ

कंकाली टीले के दूसरे स्तूप से प्राप्त तीर्थंकर मूर्तियों की संख्या अधिक है जिनकी चौकियों पर कुषाण सं० ५ से ९५ तक के लेख हैं। वे प्रतिमाएँ ४ प्रकार की हैं। १—खड़ी हुई या कायोत्सर्ग (काउस्सग्ग) मुद्रा में जिनमें दिगम्बरत्व लक्षण स्पष्ट है, २—पद्मासन में आसीन मूर्तियाँ, ३—प्रतिमा सर्वतोभद्रिका या खड़ी हुई मुद्रा में चौमुखी मूर्तियाँ। ये भी नग्न हैं। ४—सर्वतोभद्रिका प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा में। कुषाणकालीन मथुरा कला में तीर्थंकरों के लाञ्छन नहीं पाए जाते जिनसे कालान्तर में
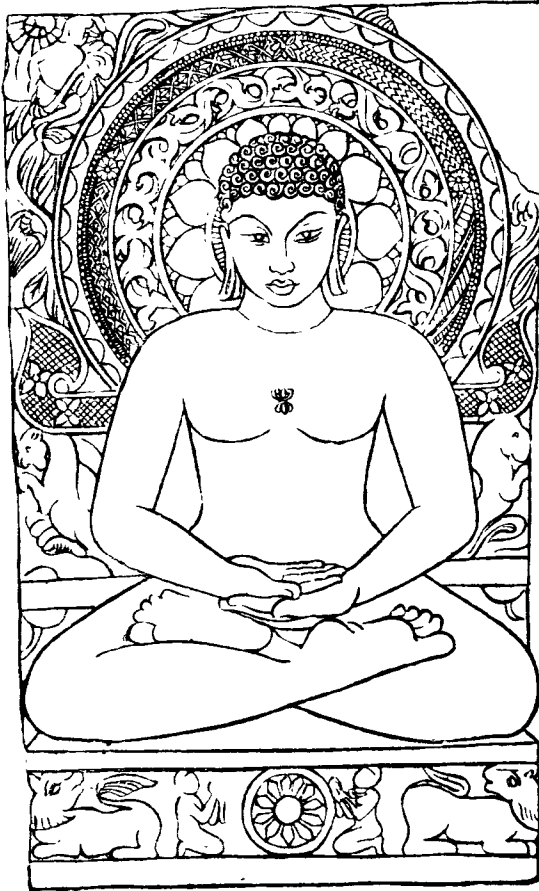
उनकी पहचान की जाती थी। केवल आदिनाथ या ऋषभनाथ के कन्धों पर खुले हुए केशों की लटें दिखाई गई हैं और सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प फणों का आटोप बनाया गया है। इन मूर्तियों की चौकी पर सामने सिंह और धर्म-चक्र अंकित हैं (चित्र ३१८)। इन पर श्रावक गृहपति भी बनाए गए हैं जो धर्म चक्र या तीर्थंकर की पूजा के लिये आए हैं। कला की दृष्टि से इन मूर्तियों की शैली कुछ स्तब्ध या स्थिर है जैसा उनकी तपोमुद्रा और समाधि से संगत था। फिर भी गुप्तकालीन कुछ मूर्तियों में सौन्दर्य और अंगों में गतिशीलता है और कुछ अलंकरण भी हैं। महावीर की एक मूर्ति में जो उत्थित पद्मासन में बैठी है (मथुरा संग्रहालय जी. १) मस्तक के पीछे पद्मातपत्र और ऊपर छल्लेदार केश हैं। इसमें अंगों का विन्यास ठस न होकर लोच भरा है और मुख पर दिव्य छवि है (चित्र ३१९)। यह उल्लेखनीय है कि वे ही शिल्पी जो स्थविष्ठ जिन प्रतिमा बनाते थे जब वेदिका स्तम्भों पर स्त्री और पुरुषों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण करने लगते तो अपनी बढ़ी-चढ़ी कला शक्ति का परिचय देते थे, जैसे उन्हें मानव मुखाकृति और अङ्ग यष्टि की विभिन्न भङ्गिमायुक्त मुद्राएँ बनाने का चिरकालीन अभ्यास हो। वेदिका के खम्भों पर विविध मूर्तियों का परिचय और उनकी कलात्मक शैली के विषय में पहले कहा जा चुका है। चौकी के संमुख भाग में उत्कीर्ण गृहस्थ स्त्री-पुरुष और बालवृद्ध, विशेषतः द्वार-तोरणों के कळौटों पर उनका अंकन माधुर्य से भरा है (सं० जे ५५५ लखनऊ संग्रहालय)। जे ५५५ तोरण पर कमाश्चों के संपुञ्जन में शोभा यात्रा का अंकन विशेष हृदयग्राही है। मथुरा से द्वार तोरणों के तीन आयागपट्ट मिले हैं जिनमें दोनों ओर उकेरी है। उनमें से कंकाली टीले से मिला हुआ पट्ट कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।
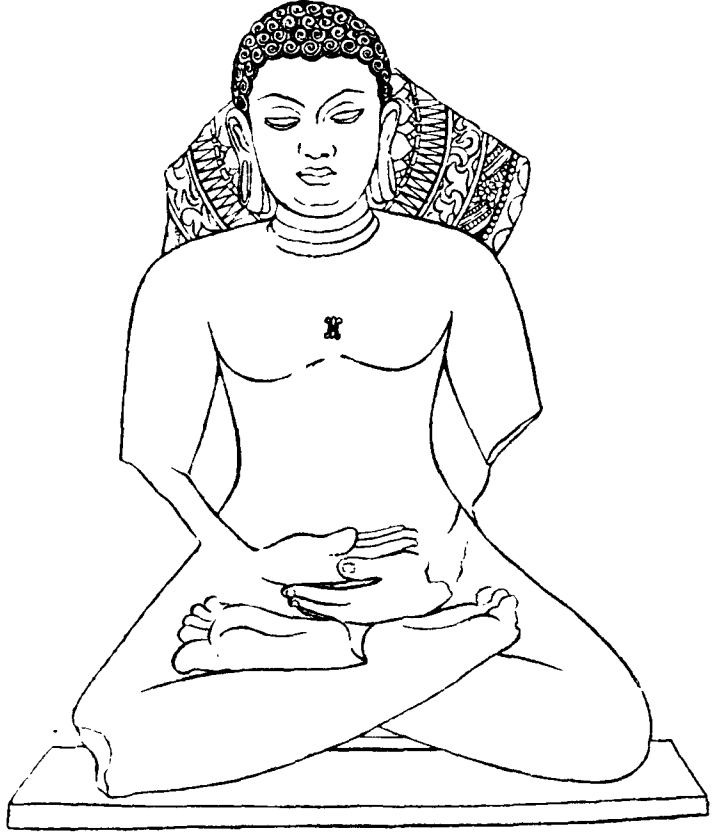
चित्र ३१९

तीर्थंकर मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स एवं मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभामण्डल पाया जाता है। फणाटोप वाली मूर्तियों में प्रभाचक्र नहीं रहता। चौकी पर केवल चक्र या चक्रध्वज या जिन मूर्ति या सिंह का अंकन किया गया है। किन्हीं मूर्तियों में तीर्थंकर का नाम भी मिलता है। जैसे, चौकी सं० ४९० पर इसे वर्धमान प्रतिमा कहा है जो कुषाण सं० ८४ में स्थापित की गई। श्रीवत्स चिह्न केवल जिन प्रतिमाओं पर मिलता है, बुद्ध की मूर्तियों पर कभी नहीं। जैनों ने आरम्भ में ही

श्रीवत्स चिह्न को अपना लिया था। खारवेल की हाथी गुम्फा में लेख के प्रारंभ में वह बना है। पद्मासन में स्थित मूर्तियों में केवल ध्यान मुद्रा मिलती है।

मथुरा के जैन धर्मावलम्बियों में भी तीथकरों की व्यूह पूजा प्रचलित थी जैसा कितनी ही सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की प्राप्ति से सूचित होता है (स्मिथ, वही, पृ० ४६-७ के लेख)। इसके लिए पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ, सातवें सफण सुपार्श्व, तेइसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें महावीर चुने गए।

बुद्ध मूर्ति का जन्म या प्रथम निर्माण

बुद्ध मूर्ति के जन्म का प्रश्न धर्म और कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। बुद्ध की मूर्ति के निर्माण से पूर्व भक्तिप्रधान धार्मिक आन्दोलन का दीर्घकालीन अस्तित्व था। मूर्ति का जन्म कोई आकस्मिक और असंबद्ध घटना न थी, उसके पीछे कई बद्धमूल कारण थे। बुद्ध मूर्ति का जन्म गन्धार में हुआ या मथुरा में इस विषय में मतभेद रहा है। इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से निष्पक्ष विचार होना चाहिये; एक तो धार्मिक पृष्ठभूमि की साक्षी से और दूसरे बुद्ध मूर्ति की रचना के विविध अङ्गों के इतिहास से। उनकी जो व्याख्या भारत के धार्मिक इतिहास और प्रतीकों की दृष्टि से संभव है उस पर समीक्षायुक्त विचार आवश्यक है।

पहले धार्मिक पृष्ठभूमि के इतिहास पर विचार करें। कोई मूर्ति तब तक नहीं बनाई जा सकती जब तक उसके लिए धार्मिक माँग न हो। मूर्ति की कल्पना धार्मिक भावना की तुष्टि के लिए होती है। मथुरा और उसके चारों ओर के प्रदेशों में प्राप्त शिला-लेखों की साक्षी इस विषय में महत्त्वपूर्ण है। प्रथम शती ईसवी पू० में भागवत धर्म का भक्ति आन्दोलन मथुरा में वेग से था जिसमें भगवान् वासुदेव और संकर्षण की पूजा मुख्य थी। यह बात प्रथम शती ई० पू० के महाक्षत्रप षोडाश के कई लेखों से ज्ञात होती है। उस भक्ति धर्म आन्दोलन से बौद्ध भी प्रभावित हुए। महाक्षत्रप षोडास के लेख से युक्त एक सिरदल पर संकर्षण और वासुदेव के एक महा स्थान का उल्लेख है। मोरा गाँव के कुएँ से प्राप्त षोडाश के लेख में पञ्चवृष्णि वीरों (वृष्णीनां पञ्चवीराणाम्) का उल्लेख आया है जो निश्चय ही भागवत धर्म के देवता थे। वायु पुराण के अनुसार पञ्चवृष्णि वीरों के नाम ये हैं—बलराम, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब। चित्तौड़ के समीप मझमिका (प्राचीन मध्यमिका, अर्वाचीन नगरी) के घोसुंडी वेदिका लेख में जिस नारायण वाटक का उल्लेख है उसमें भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा की जाती थी, जिन्हें सर्वेश्वर कहा गया है। लेख इस बात का सूचक है कि अन्य देवों में उनका स्थान सबसे ऊपर उभर आया था। बेसनगर में यवन राजदूत हेलियोदोर के लेख में भगवान् वासुदेव की पूजा का उल्लेख आया है और वहाँ उनका गरुड़ध्वज और विष्णु का एक मन्दिर भी पाया गया है जो भागवतों की पूजा-मान्यता का दृढ़ प्रमाण है। इन लेखों से ज्ञात होता है कि भागवत धर्म के महान् आन्दोलन का विस्तृत मण्डल मथुरा केन्द्र के चारों ओर २०० मील के घेरे में फैला हुआ था। स्वयं मथुरा में बलराम की कई मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे वहाँ संकर्षण पूजा का प्रमाण मिलता है। जुन्सुटी गाँव से प्राप्त बलराम की मूर्ति कुषाण काल से भी प्राचीन शुङ्गकाल की है जिससे मथुरा के भागवत

चित्र ३२०

धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। शैली की दृष्टि से यह मूर्ति दूसरी शती ई० पू० के उत्तर भाग में बनाई गई होगी (चित्र ३२०)। इसी प्रसङ्ग में पञ्चाल मुद्राओं पर अङ्कित ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवताओं की मूर्तियाँ भी उल्लेख्य हैं। इनके नाम ये हैं : इन्द्र, अग्नि, विष्णु, शिव, भूमि; प्रजापति और फल्गुनी जैसे नक्षत्र देवताओं का भी चित्रण किया गया है।

ऊपर लिखी साक्षी से सूचित होता है कि भक्ति धर्म, भागवत आन्दोलन, संकर्षण-वासुदेव की पूजा, उनके लिए देवगृह और मूर्तियों का निर्माण, इन सबका प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा जिसके कारण उन्हें भी बुद्ध मूर्ति के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से बुद्ध मूर्ति के निर्माण का समय सर्वथा परिपक्व हो गया था। बौद्धों के लिये यह संभव न था कि वे अधिक समय तक मूर्ति के धार्मिक पूजन के प्रति निरपेक्ष रहते। जब कि उनके मध्य में निरन्तर जैन और ब्राह्मणों की देव मूर्तियों की निरन्तर चर्चा हो रही थी बौद्धों की तृप्ति केवल प्रतीक पूजा से न हो सकी किन्तु बुद्ध को मानव रूप में मूर्त देखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसी भावना से बुद्ध मूर्ति का निर्माण हुआ।

बौद्ध धर्म में भी वस्तुतः मूर्त निर्माण से पर्याप्त समय पूर्व भक्ति आन्दोलन का आरम्भ हो गया था। किन्तु कुछ समय तक केवल प्रतीकों द्वारा बुद्ध का अङ्कन किया जाता था। जब प्रतीक पूजा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई तब मूर्ति के लिये पूरा अवसर उपस्थित हो गया। भरहुत, साँची और बोधगया में बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं है। वह शुङ्गकाल की स्थिति है किंतु मथुरा में प्रतीक और मूर्ति दोनों का सह-अस्तित्व पाया जाता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ प्रतीक और बुद्ध मूर्ति एक साथ अङ्कित हैं जिनसे संक्रान्तिकाल लक्षित होता है। यही मथुरा के धार्मिक और कलात्मक इतिहास की विशेषता थी जिसे इस प्रश्न की मीमांसा के लिए ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रतीक और मूर्ति के विषय में इस प्रकार की जाग्रत चेतना न गन्धार में है न कहीं अन्यत्र। इसका श्रेय मथुरा को ही है और उसके हेतु की पुरातत्त्वगत साक्षी भी उपलब्ध है जिसका निदर्शन ऊपर किया गया है। मथुरा कला में बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चूडा, भिक्षापात्र आदि प्रतीकों की पूजा का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। उसी के साथ बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियों की कल्पना बड़े विभ्राट् रूप में पाई जाती है। बौद्ध प्रतीकों की पूजा का विधान तो बौद्ध धर्म में पहले से था किंतु मूर्ति पूजा की अनुमति न थी। इस प्रतिबन्ध के लिए किसी बड़े निर्णय की आवश्यकता थी। मूर्ति के स्वरूप की कल्पना और उसकी वास्तविक रचना दोनों के लिए उच्च-सत्ता का निर्णय आवश्यक था। मथुरा या गन्धार के किसी स्थानीय शिल्पी के क्षणिक भावावेश का यह फल न था जो बुद्ध की मूर्ति के घड़ने का स्वयं निर्णय कर लेता। यह तो एक दीर्घकालीन प्रतिबन्ध को हटाने का प्रयत्न था जिसे पूरा समाज मान्यता दे सके।

इस प्रश्न को और स्पष्टता से समझने के लिये उन धर्मों को देखना चाहिये जिनमें मूर्ति पूजा की आवश्यकता नहीं है जैसे इस्लाम में और आर्यसमाज में। वहाँ आज तक एक भी देवमूर्ति नहीं बनी और न कोई उसकी पूजा ही करने वाला था। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में भी ऐसी ही स्थिति थी।

गन्धार और मथुरा से प्राप्त बहुसंख्यक बुद्ध की मूर्तियों में एक भी कनिष्क से पूर्वकाल की नहीं है। कई का मत है कि वेम कदफ, मोआ या एजेस के सिक्कों पर बुद्ध जैसी मूर्ति है। पर यह मत एकदम निराधार है क्योंकि इनमें से कोई भी मूर्ति बारीक जाँच से बुद्ध की नहीं ठहरती और न वह सिद्धप्रमाण की कोटि में आती है। अय या एजेस के सिक्के पर राजा पलौथी लगाए बैठा है। उसके बाएँ हाथ में बाहर की ओर निकलती हुई तलवार या गदा है जैसा ह्वाइटहेड ने स्पष्ट लिखा है (PMC. पृ० ११८, फलक ११)। यह मूर्ति किसी भी तरह बुद्ध की नहीं हो सकती (चित्र ३२१)।

इन तीनों सिक्कों की मूर्तियों का बुद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। अंतः इस दृढ़ साक्षी का आश्रय लेना आवश्यक है कि सबसे पहली बुद्ध मूर्तियाँ वे ही हैं जो कनिष्क के राज्यकाल में बनीं और जिन पर कुषाण संवत् में तिथियाँ दी गईं। कनिष्क ने ही सबसे पहले ऐसा सिक्का चलाया जिस पर बुद्ध की मूर्ति है और उसकी पहचान देते हुए बोड्डो यह नाम भी ग्रीक अक्षरों में लिखा है।

यह उनके हाथों की मुद्राओं से सूचित होता है कि वे बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं थी। मोआ के सिक्कों पर पैरों की पलौथी बुद्ध के पद्मासन से नहीं मिलती। राजा मोअस एजेस् से पहले हुआ। उसके सिक्के पर चौखटे में जो मूर्ति है उसकी पलौथी भी पद्मासन से भिन्न है और हाथों की मुद्रा भी ठीक-ठीक ध्यान मुद्रा नहीं है। उसके बाईं ओर भी एक ऊर्ध्वदण्ड या आकृति है। यह बुद्ध मूर्ति से भिन्न है (चित्र ३२२)।

चित्र ३२१

चित्र ३२२

चित्र ३२३

चित्र ३२४ सारनाथ

विम कद्फ के सिक्के की मूर्ति में भी पलौथी पद्मासन में नहीं है। दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ मस्तक को छू रहा है और खिला कमल लिये है जो बुद्ध मूर्तियों की मुद्रा नहीं थी। इस प्रकार तीनों सिक्कों की ये मूर्तियाँ बुद्ध मूर्ति नहीं जान पड़तीं (चित्र ३२३)।

उनमें से किसी के भी मस्तक के पीछे तेज चक्र नहीं है। सारनाथ की महाकाय बोधिसत्त्व मूर्ति की स्थापना कनिष्क के राज्य-काल के तीसरे वर्ष में हुई। यह मूर्ति परखम यक्ष जैसी कद्दावर, भारी भरकम और लगभग उसी कैंड़े की है। इसलिये यह कहना युक्ति-युक्त है कि जब बोधिसत्त्व की मूर्ति बनाने का प्रश्न आया तो शिल्पियों ने परखम यक्ष के रूप में तैयार नमूने को अपना लिया। सारनाथ की बोधिसत्त्व मूर्ति के (चित्र ३२४-२५) बाद एक दूसरी मूर्ति कौशाम्बी से मिली है जो कनिष्क के दूसरे वर्ष की है और मथुरा के लाल चकत्ते-दार पत्थर की उसी कैंड़े की है पर परिमाण में उससे कुछ छोटी है। इन दो मूर्तियों से ज्ञात होता है कि

चित्र ३२५ महोली

जैसे ही कनिष्क सिंहासन पर बैठे मथुरा के शिल्पी बोधिसत्त्व की महाप्रमाण मूर्तियाँ बनाने लगे। इन दो मूर्तियों के बाद कनिष्क के संवत्सर में बनी हुई और भी कई मूर्तियाँ क्रम से रक्खी जा सकती हैं। फिर वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव के चढ़ते हुए वर्षों की अनेक मूर्तियाँ हैं जिनके निर्माण का सिलसिला ही मथुरा की शिल्पशालाओं में जारी हो गया।

जब हम गन्धार कला में प्राप्त बुद्ध मूर्तियों की जाँच करते हैं तो भिन्न कहानी सामने आती है। न तो पेशावर या तक्षशिला के आस-पास धार्मिक भक्ति के किसी आन्दोलन का प्रमाण मिला है और न मूर्तियों पर प्राप्त केवल ३,४ तिथियों का ही ठीक ठिकाना है। गन्धार कला के विशेषज्ञ श्री मार्शल ने लिखा है 'गन्धार कला की सहस्रों मूर्तियों में एक पर भी कोई जाना-पहचाना संवत् नहीं है।'

बुद्ध को मूर्ति के रूप में प्रदर्शित करने का जो प्रतिषेध पहले से चला आता था उसका भी एक स्वाभाविक समाधान मिल गया। बौद्ध लोग भागवत भक्ति धर्म की भावनाओं से प्रेरित होकर यह चाहते ही थे कि मूर्ति बनाने का कोई अनुकूल अवसर मिले। वेम कदफ के राज्यकाल में यह सम्भव न था क्योंकि वह माहेश्वर था और ब्राह्मण धर्म में उसकी रुचि थी। अतः जैसे ही उसका उत्तराधिकारी कनिष्क सिंहासन पर बैठा वैसे ही बुद्ध मूर्ति के पक्ष में राजकीय निर्णय लेने का अनुकूल अवसर आ गया। जैसा कनिष्क के दूसरे और तीसरे संवत् की मूर्तियाँ सिद्ध करती हैं मूर्ति के लिए जैसा जोश मथुरा में था वैसा ही मथुरा से बाहर सारनाथ और कौशाम्बी में भी था। इस दिशा में बौद्धों का नेतृत्व महात्रिपिटक आचार्य भिक्षु बल कर रहे थे। मूर्ति निर्माण के पक्ष को जोरदार और अकाट्य बनाने के लिए एक तरकीब यह भी सोची गई कि जो नई मूर्तियाँ बनें उन्हें बोधिसत्त्व की मूर्ति कहा जाय, बुद्ध की नहीं, जैसा सारनाथ और कौशाम्बी की मूर्तियों पर लिखा है। स्वयं मथुरा में कटरा के प्रदेश से जो मूर्ति प्राप्त हुई है वह सुविदित लक्षणों के अनुसार बुद्ध की है, पर उसकी चौकी पर उसे बोधिसत्त्व ही कहा गया है। ज्ञात होता है कि शुरू में बोधिसत्त्व की मूर्तियों के लिए ही मार्ग निकाला गया और कुछ समय बाद मूर्ति के क्षेत्र में बोधिसत्त्व और बुद्ध का भेद निश्चित किया गया। पूर्वकाल से चली आई धार्मिक बाधा कुछ कम न थी और उसके अतिक्रमण का साहस किसी भिक्षु के लिए कठिन था। इसलिए उस प्रकार की अनुमति के लिए धर्म के संरक्षक सम्राट् के निर्णय की आवश्यकता थी। सब बातों को देखते हुए यही सम्भव ज्ञात होता है कि कनिष्क ने सिंहासन पर बैठने के वर्ष में ही बुद्ध की मानव मूर्ति के निर्माण के पक्ष में अनुमति दे दी। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि कनिष्क ने ईरानी, यूनानी और ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी तीस से अधिक देवताओं को अपने सिक्कों पर स्थान दिया। अतः वह बौद्ध धर्म की ओर से पराङ्मुख नहीं हो सकता था। उन्हीं देवों के परिवार में बुद्ध की मूर्ति भी सम्मिलित कर दी गई जैसा उसके बोड्डो या बुद्धांकित सिक्के से ज्ञात होता है और जैसा अब तक प्राप्त बोधिसत्त्व मूर्तियों से भी सूचित होता है। लोगों ने धार्मिक बुद्धि से यह भी समझा कि बोधिसत्त्व मूर्ति के निर्माण से किसी धार्मिक आदेश का उल्लंघन नहीं होता। अतः सब परिस्थितियों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि धर्म की जो पुरानी परिपाटी चल रही थी उसमें कनिष्क के द्वारा बड़ा परिवर्तन किया गया। यह परिवर्तन सर्वोच्च सत्ता के द्वारा ही सम्भव था। बौद्धों के लिए जो स्थान अशोक का था, वही कनिष्क का हुआ। जनता का मत, बौद्ध भिक्षु और आचार्यों का मत एवं सम्राट का मत जब सब एक साथ मिल गये तो मूर्ति के निर्माण के मार्ग में कोई बाधा न रही। महायान

धर्म की प्रभावना भी मूर्ति के पक्ष में थी। कनिष्क के राज्याधिकार सम्भालने का परिणाम न केवल बौद्ध धर्म के लिए, बल्कि उससे भी अधिक जरथुष्ट्र के ईरानी धर्म के लिए हुआ, जिसके इक्कीस यजत या देवता कनिष्क के सिक्कों के ऊपर अंकित हो घर-घर में फैल गये। सम्राट् कनिष्क का यह निजी निर्णय था जिसके लिए किसी पारसी धर्माचार्य को उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही बुद्ध की मूर्ति के विषय में भी उसका निजी निर्णय ही मुख्य था। जब कि वेमकदफ के सिक्कों पर केवल शिव और उनके नन्दी बैल की मूर्ति थी, कनिष्क ने ईरानी, यूनानी, ब्राह्मण और बौद्ध चार धर्मों के देवताओं के लिए द्वार खोल दिये। यह निर्णय भी उसे सिंहासन पर आते ही लेना पड़ा होगा जिससे टकसाल का काम नये ढर्रे पर चल सके। कनिष्क के निश्चय का एक अंग यह था कि उसकी मुद्राएँ ईरानी यजत या देवताओं के सम्मान में ढाली जायँ और उनकी मूर्तियाँ भी सिक्कों पर रहें। शक जाति का होने के कारण ऐसा निर्णय स्वाभाविक था, किन्तु उसके शासन की पूर्व परम्पराओं में शाकल के मद्रक यवन और पहलवों का भी आदर्श था जिसके कारण यूनानी देवताओं को भी सिक्कों के लिए स्वीकार किया गया। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी शिव और नन्दी का स्थान वेमा के समय से था। केवल बुद्ध के सम्बन्ध में कनिष्क ने नई रीति चलाई जिसकी उस समय चारों ओर से आवश्यकता थी। सम्राट् ने यह सब अपने अधिकार से किया (चित्र ३२६-७)। जैसे ईरानी देवों के लिए उसी का निर्णय मुख्य था, वैसे ही बुद्ध के लिए भी।

चित्र ३२६

चित्र ३२७

बुद्धमूर्ति के आविष्कार के समय से प्रतीकों की परम्परा क्रमशः पीछे छूटती गई और दूसरी शती के अन्त तक केवल मूर्ति ही प्रधान हो गई। यह उल्लेखनीय है कि कनिष्क से पूर्व जो बुद्धमूर्ति का निर्माण नहीं हुआ उसमें शिल्पियों की अयोग्यता हेतुभूत न थी। जैसा उपलब्ध अन्य मूर्तियों से विदित होता है, मथुरा के शिल्पी देवताओं और मानवों की मूर्तियाँ बनाने में सिद्धहस्त थे। बुद्धमूर्ति बनाने के मार्ग में उनके सामने कुछ और ही बाधा थी, जो कनिष्क के राज्यकाल में सहसा हट गई। तब उन्होंने अपना समस्त शिल्प-विज्ञान बुद्धमूर्ति के ऊपर उँड़ेल दिया जिसके फलस्वरूप एशिया में एक नई ज्योति का प्रकाश फैलने लगा। कला में जो पहले नहीं हुआ था, वह अब सामने आया। महापुरुष लक्षण से युक्त मूर्ति के रूप में मानों बुद्ध का पुनः अवतार हुआ। दिव्यावदान में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वयं मार ने मथुरा के आचार्य उपगुप्त की प्रार्थना पर बुद्ध के मानव रूप में उनका पुनः दर्शन कराया। वह दर्शन मूर्ति के रूप में ही ज्ञात होता है। अब छोटे-मोटे प्रतीकों से जनता की तृप्ति न होती थी, किन्तु द्वात्रिंशन्महापुरुष लक्षणों से युक्त भगवान बुद्ध के तेजस्वी दिव्य रूप के दर्शन से ही जनता को सन्तोष प्राप्त होता था। बुद्धमूर्ति के जन्म की इस पूर्व स्थिति पर ध्यान देना होगा। इस व्याख्या के मूल में धर्म, समाज, राजनीति और कला ये सब परिस्थितियाँ एक सूत्र में बँध जाती हैं और बुद्धमूर्ति के आरम्भ पर नया प्रकाश डालती हैं। गंधार के किसी शिल्पी ने किसी दिन बहक में आकर बुद्ध मूर्ति रच डाली हो, टार्न के साथ ऐसा मानना नितान्त अयुक्त है और असामंजस्य पूर्ण है। यह उल्लेखनीय है कि ऊपर के तीन कारणों में से गन्धार में एक भी विद्यमान न था। न वहाँ कोई भक्ति का आन्दोलन था जैसा मथुरा में था। दूसरे कनिष्क से पहले बुद्ध मूर्ति की कोई

परम्परा भी वहाँ न थी। तीसरे चक्रवर्ती और योगी के आदर्शों की कोई पूर्व परम्परा भी वहाँ की कला में न थी जिनको मिलाकर बुद्ध मूर्ति को मथुरा में जन्म दिया गया। जनता द्वारा स्वीकृत होने के लिये यह आवश्यक था कि बुद्ध मूर्ति का जो निर्माण हो वह उनकी धार्मिक भावनाओं की पूर्ति के लिये किया जाय। मथुरा में इस प्रकार की प्रशस्त पृष्ठभूमि तैयार थी। ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ, जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ और सिक्कों पर यूनानी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मथुरा के शिल्पियों के सामने थीं पर उनमें से कोई भी बुद्ध मूर्ति का पूरा आदर्श प्रस्तुत नहीं करती थी। यदि हम बुद्ध मूर्ति के विविध अङ्गों का विश्लेषण करें तो किसी एक बनी बनाई मूर्ति के नमूने पर निर्भर रहना नहीं पड़ेगा। किन्तु उन सभी मूर्तियों से जो पहले प्रथम शती ई० तक बन चुकी थीं उनके विविध अङ्गों को लेकर ही बुद्ध मूर्ति का समग्र रूप-सम्पादन किया गया। बुद्ध मूर्ति के समग्र सूत्र का विश्लेषण करते हुए उसके अङ्गों के स्रोत तक जाना होगा और तभी समस्या पर सन्तोषप्रद प्रकाश पड़ सकेगा।

बुद्ध मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं—एक खड़ी हुई और दूसरी बैठी हुई। कला की दृष्टि से खड़ी मूर्तियाँ यक्ष मूर्तियों एवं बैठी हुई मूर्तियाँ योगी मुनियों की मुद्रा से बनाई गई जिनकी पूर्व परंपरा कला में थी। ये दोनों प्रकार कला की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। किंतु प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से दोनों का प्रेरक सूत्र एक जैसा था अर्थात् योगी और चक्रवर्ती इन दोनों आदर्शों को मिलाकर मूर्ति का निर्माण हुआ। महापुरुष के रूप में बुद्ध के शरीर पर ३२ लक्षण माने जाते थे। इन लक्षणों से बुद्ध मूर्ति के निर्माण में सहायता ली गई।

मस्तक के ऊपर उष्णीष या प्रज्ञा का बुद्‌बुदाकार महादेवा; भ्रूमध्य में ऊर्णा या रोयों का आवर्त; प्रलम्बकर्णपाश या कानों की लम्बी पाली; घुटनों तक लम्बी भुजाएँ (आजानु बाहु); चौड़ी छाती (विशाल वक्ष); चक्राङ्कित हस्तपाद या हथेली और तलवों पर चक्र का चिह्न; जालाङ्गुलि कर, हाथ की उँगलियों के बीच में फैली हुई त्वचा जैसी बत्तखों के पञ्जों में होती है[१]—ये सब लक्षण बुद्ध मूर्ति में हैं और इनकी पूर्व परंपरा भारतीय धर्म में मिलती है। कुछ लक्षण योगी की आदर्श प्रतिमा से लिये गए हैं, जैसे नासाग्रदृष्टि जिसके कारण आँखे अधमुँदी बनाई गई; पद्मासन, ध्यान मुद्रा में दोनों हाथ उत्सङ्ग में रखे हुए, जिनकी उपमा खिले कमल से दी गई (उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशाद् राजीवमुत्कुल्यमिवाङ्क-मध्ये), कभी दाहिना हाथ अभय मुद्रा में था।

चक्रवर्ती के आदर्श से भी कुछ लक्षण अपनाए गए, जैसे-दो चामरग्राही पार्श्वचर, जिनका संबंध केवल राजाओं से था; छत्र भी राजाओं का चिह्न था जैसा कालिदास ने भी लिखा है (शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे)। भिक्षु बल के सारनाथ बोधिसत्त्व और महोली के बड़े बोधिसत्त्व के साथ महाप्रमाण छत्र पाए गए हैं (चित्र ३२४-५)। यह स्मरणीय है कि शुङ्गकालीन कला में बौद्ध प्रतीकों के ऊपर भी छत्र लगाए जाने लगे थे। मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभामण्डल आरम्भसे ही बुद्ध मूर्ति का लक्षण माना गया। इस लक्षण को ईरान के धार्मिक देवताओं से अपनाया गया जहाँ सिक्कों पर उन देवों की मूर्तियों में मस्तक के पीछे प्रभामण्डल पाया जाता है। ईरानी धर्म में इसे अदुरमज्दा का ह्वर्र या फर्र कहते थे जो उनके दिव्य ईश्वरी तेज का सूचक था। इससे यह सूचित होता है कि बुद्ध मूर्ति का निर्माण करने वाले शिल्पियों ने बड़ी सोच-समझ से काम लिया। बुद्ध मूर्ति के शिल्पी उन व्यक्तियों के घनिष्ठ संपर्क में थे जो कनिष्क के सिक्कों पर ईरानी देवों का अङ्कन कर रहे थे। ईरानी देवों की इस विशेषता का

---

१. चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धांगुलिपाणिपादम्।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श॥ बुद्धचरित, १।६५

भारतीय देवों के आदर्श रूप से ठीक मेल बैठता था। भरहुत-साँची की कला में तेजचक्र या छाया-मण्डल का कोई उदाहरण नहीं है अतः स्पष्ट है कि कुषाण कला में ही सर्वप्रथम इसकी कल्पना की गई। क्रमशः तेजचक्र को अधिकाधिक भारतीय रूप प्राप्त होता गया। पहले यह एक तेजचक्र था जिसके किनारे पर बँगड़ी के कटाव या निशान थे। इस प्रकार की चूड़ीदार प्रभा कुषाण काल में प्राप्त होती है पर धीरे-धीरे लोग उसके ईरानी स्वरूप से दूर हटते गए और गुप्त युग में पद्मातपत्र छायामण्डल का विकास हुआ अर्थात् यह मान्यता हुई कि खिले हुए कमल की आकृति का प्रभामण्डल उस छत्र की छाया है जो देवी लक्ष्मी राजा के सांनिध्य में रहकर उसके मस्तक पर लगाती है। कालिदास ने यह बात स्पष्ट कही है—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किलस्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥
रघु० ४।५

गुप्तकालीन मूर्तियों में इस प्रकार का पद्मातपत्र या प्रभामण्डल पाया जाता है और कभी-कभी तो इसका रूप बहुत सुन्दर होता है।

बौद्ध धर्म के धार्मिक इतिहास से भी इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है क्योंकि बौद्धों के विविध निकायों या संप्रदायों में मूर्ति के सम्बन्ध में नई भावना उत्पन्न हो गई थी। सर्वास्तिवादी आचार्यों का मथुरा और गन्धार दोनों जगह बोलबाला था। वे संसार के सर्वद्रव्यों के अस्तित्व में विश्वास रखने वाले दार्शनिक आचार्य थे और मनुष्य की महिमा, सेवा और दुःख-निवारण में विश्वास करते थे। इसका अर्थ यह था कि वे अर्हन् की अपेक्षा बोधिसत्त्व के आदर्श पर अधिक ध्यान देते थे। यहाँ तक कहना था कि भगवान् अवलोकितेश्वर मनुष्यों को सुख देने के लिये अवीचि नरक में भी यात्रा कर सकते हैं। यह महत्त्वपूर्ण संदेश था जिसने नए बोधिसत्त्व आदर्शों के प्रति जनता के मन को खींच लिया। ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु दो दलों में बँट गए; एक थेरवादिन् जो निर्वाण के आदर्श की प्राचीन परंपरा को मानते थे और दूसरी ओर सर्वास्तिवादी आचार्य थे जो संसार के संघर्ष से भागने वाले न थे। गृहस्थों के पवित्र मार्ग में उनकी आस्था थी और वे यह मानते थे कि संसार में रहते हुए ही मोक्ष मार्ग की साधना संभव है, करुणा धर्म को अपनाने से ऐसा किया जा सकता है। यही महायान धर्म का बोधिसत्त्व आदर्श था। बोधिसत्त्व आदर्श परम आकर्षण का कारण बन गया और इसने जनता के मन में धार्मिक भावना की नयी हलचल पैदा कर दी जिसमें मनुष्य सेवा और समाज सेवा और प्राणि-मात्र की सेवा का विशेष गुण था। इस प्रकार के आदर्श का सबसे अच्छा रूप बुद्ध मूर्ति की रचना में पाया जाता है। निर्वाणवादी धर्म के माननेवाले मूर्ति के विपक्ष में थे और प्रतीकों की पुरानी परंपरा को ही पकड़े रहे। दूसरी ओर सर्वास्तिवादी आचार्य जो बोधिसत्त्व आदर्श में विश्वास करते थे कहीं अधिक कर्मठ और प्रभावशाली सिद्ध हुए। वे अत्यधिक लोक संपर्क में आए और तक्ष-शिला से मथुरा तक फैल गए। उन्होंने मानवी मूर्ति के रूप में बुद्ध की पूजा के सिद्धान्त का प्रचार किया। उनकी दृष्टि में मूर्ति पूजा उतनी ही आवश्यक थी और सच्ची विधि थी जितना धर्म के सिद्धान्तों में विश्वास। इसीलिये प्रारम्भिक मूर्तियाँ बुद्ध की नहीं बल्कि बोधिसत्त्वों की हैं जो सर्वास्तिवादी मान्यता के अनुरूप हैं।

बोधिसत्त्व शब्द का अर्थ है वह सत्त्व या व्यक्ति जो बोधि प्राप्त करने का अधिकारी हो। ऐसा पुरुष बुद्धत्व प्राप्त करने के मार्ग में स्थित माना जाता था। स्वयं बुद्ध भी ३५ वर्ष की आयु तक बोधि-

सत्त्व थे जब बोधगया में उन्हें संबोधि प्राप्त हुई। संबोधि प्राप्त होने के पहले तक वे मार्गस्थ या बोधिसत्त्व थे। संबोधि के बाद ही उनकी संज्ञा बुद्ध हुई। उनके ३५ वर्ष के जीवन के भी दो भाग हैं—एक २९ वर्ष की आयु तक उनका कपिलवस्तु के प्रासाद में राजकीय जीवन जब वे युवराजोचित वस्त्र और अलंकार धारण करते थे। २९ वर्ष की आयु में संन्यास लेकर उन्होंने वस्त्रालंकार भी त्याग दिये और त्रिचीवर पहन लिया। मूर्ति का निर्माण करते समय भिक्षु और शिल्पी दोनों के सामने यह प्रश्न आया होगा कि बोधिसत्त्व के कौन से स्वरूप की अनुकृति मूर्ति में की जाय अर्थात् वस्त्रालंकार सहित या उनसे रहित। इस विषय में आरम्भिक प्रयत्नों की साक्षी मूल्यवान् है। मथुरा कला में निर्मित कई आरम्भिक मूर्तियाँ इस प्रश्न पर प्रकाश डालती हैं, चाहे वे भिक्षु बल के सारनाथ बोधिसत्त्व की भाँति महाकाय और हृष्ट-पुष्ट हों या कटरा या अन्योर बोधिसत्त्व की भाँति पद्मासन में बैठी हुई कृश शरीर की हों। इन दोनों पर कोई संवत् नहीं है फिर भी सब विद्वानों ने उन्हें आरम्भकालीन मूर्ति माना है। इन सब मूर्तियों से यही प्रमाणित होता है कि गौतम बुद्ध का यही स्वरूप आरम्भ में मूर्तियों के लिए आदर्श माना गया जिसमें वे राजकीय वस्त्र और अलंकारों का त्याग कर चुके थे। यह सहज कल्पना होती है कि बोधिसत्त्व मूर्ति के निर्माण के कुछ समय बाद स्वयं बुद्ध की मूर्ति बनवाने की उत्कट अभिलाषा जनता और शिल्पियों में हुई और शिल्पियों को उसकी कल्पना करनी पड़ी। तब यह आवश्यक हुआ कि मूर्तियों के स्वरूप की परिभाषा पर फिर विचार किया जाय और तब यह निश्चित किया गया कि सालंकार मूर्तियों को बोधिसत्त्व की और निरलंकृत मूर्तियों को बुद्ध की माना जाय। जब कलाकारों के सम्मुख बुद्ध मूर्ति का प्रश्न आया तो उनके सामने कुछ देवमूर्तियों के नमूने थे।

सबसे महत्त्वपूर्ण परखम यक्ष जैसी महाप्रमाण और बलशाली मांसल मूर्तियाँ थीं। परखम यक्ष को समस्त भारतीय मूर्तियों का परदादा कह सकते हैं। खड़ी बोधिसत्त्व मूर्तियाँ ठीक उसकी परम्परा में हैं। दोनों चारों ओर के दर्शन वाली हैं। दोनों महाकाय हैं; दोनों के शरीर मांसल हैं। दोनों की देहयष्टि घनत्व-संपन्न है। दोनों का देवता स्वरूप महाप्रमाण और महाबल या महाबलिप्रता से सूचित किया गया है। दोनों का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। दोनों में एक जैसा सादा वेश है अर्थात् अधोभाग में धोती, कटिबन्धन या मेखला और शरीर के पूर्वार्ध भाग में उत्तरीय है जो बाएँ कन्धे पर पड़ा हुआ (एकांसिक) है। कुमारस्वामी का मत है कि मथुरा की महाकाय बोधिसत्त्व मूर्तियों का विकास परखम यक्ष जैसी महाप्रमाण यक्ष मूर्तियों से हुआ। कला की दृष्टि से भी परखम यक्ष और सारनाथ बोधिसत्त्व की शैली में बहुत सादृश्य है। दोनों में मांसपेशियों का डौलियाना एक जैसा है।

बुद्ध मूर्तियों के विभिन्न अङ्गों की समीक्षा के प्रसङ्ग में कुछ मौर्य और शुङ्ग मूर्तियों की भी जाँच पड़ताल आवश्यक है। खड़े बोधिसत्त्वों का स्रोत तो बड़ी यक्ष मूर्तियों में मिल जाता है पर कटरा (चित्र २२८) और अन्योर (चित्र २२९) की बैठी मूर्तियों की जाँच आवश्यक है। इसके लिये अशोक के सारनाथ सिंह शीर्षक की रचना का विश्लेषण करना चाहिये। इसमें चार सिंहों के मस्तक के ऊपरी भाग पर एक महा धर्मचक्र स्थापित था। वस्तुतः यही तो बुद्ध मूर्ति का ठाट था। धर्मचक्र बुद्ध का प्रतीक है और चार सिंहों को मूर्तियों का सिंहासन माना गया। इसी से सिंहासन की चौकी पर बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति का पूरा रूप सामने आ गया। साँची की 'भगवतो पमाण लट्ठि' में भी बुद्ध को अंकित करने के लिये नीचे पादुका और ऊपर धर्मचक्र की कल्पना की गई। सिंहासन चक्रवर्ती का राज्यासन है जिसके ऊपर छत्र की भी व्यवस्था है। उस आसन पर स्वयं योगी बुद्ध बैठे हैं। जैसे सिंह शीर्षक के दो भागों में, वैसे ही बैठी हुई बुद्ध मूर्ति में भी चक्रवर्ती और योगी इन दोनों आदर्शों का मेल मिलाया गया।

धर्मानुयायी और शिल्पी दोनों को इससे सन्तोष हुआ। यदि सारनाथ के सिंहशीर्षक की कटरा बोधिसत्त्व से तुलना की जाय तो दोनों के मूल में अन्तर्हित एक ही सूत्र मिलता है। स्तम्भ के चार सिंहों की जगह चार सिंहों वाला बुद्ध का आसन है और धर्मचक्र की जगह स्वयं बुद्ध हैं। बुद्ध मूर्ति

चित्र ३२८ कटरा बुद्ध
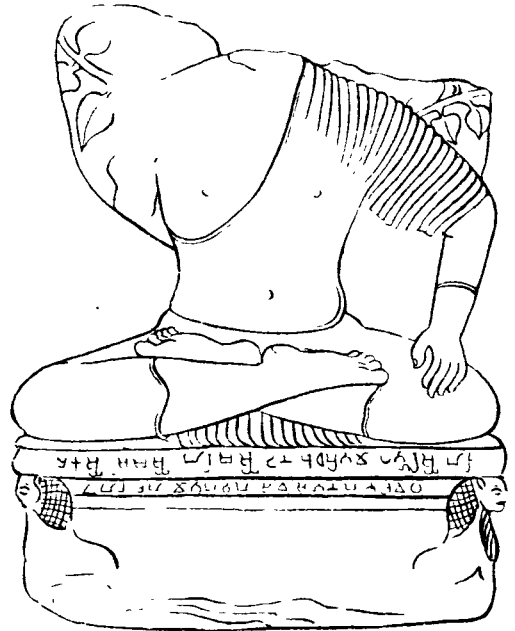
चित्र ३२९ अन्योर बुद्ध

के निर्माण-सूत्र की खोज में बौद्ध आचार्य और शिल्पियों को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा होगा और अन्त में उन्हें सफलता मिली जिससे सबको सन्तोष हुआ। मथुरा के समन्वयप्रधान वातावरण में जो धार्मिक सूत्र थे उनमें से कुछ चुने हुए सूत्रों को बट कर बुद्ध मूर्ति की रचना हुई।

कटरा बोधिसत्त्व मूर्ति के विश्लेषण से निम्नांकित प्रतिमा लक्षण प्राप्त होते हैं :

(१) बोधि वृक्ष के नीचे सिंहासन पर बैठे हुए बुद्ध, जैसे वे अपने वास्तविक जीवन में थे।

(२) पद्मासन मुद्रा में बैठी मूर्ति, दोनों पैरों को पर्यस्त आसन में लगाना यही योगियों का पद्मासन था। भारतीय धर्म और कला में यह मुद्रा पूर्वकाल से विदित थी।

(३) दाहिना हाथ अभय मुद्रा में और बायाँ बाएँ पैर पर रखा हुआ है। हाथों की यह मुद्रा यक्ष मूर्तियों में भी थी। अभय मुद्रा भी शुद्ध भारतीय कल्पना है। यूनानी कला में इसकी कुछ संगति नहीं।

(४) हथेली और तलवों पर धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिह्न हैं। उनकी महापुरुष लक्षणों में गिनती थी।

(५) मस्तक के ऊपर उष्णीष या प्रज्ञा का महादेवा जो केशों से ढका होने के कारण कपर्द भी कहा जाता था। कहा जाता है कि बुद्ध ने अपने केश देते समय देवों के अनुरोध से एक लट रहने दी थी। मथुरा की इन कपर्द मूर्तियों के केशों में वैसा कुञ्चितपन या बाँकापन नहीं है जैसा गन्धार की मूर्तियों में। इस भाँति के केश को मुण्डित मस्तक कहा जाता है जिसके केवल मध्य भाग में उष्णीष के ऊपर कुछ लटें छूटी हैं। भ्रू-मध्य में ऊर्णा चिह्न है जो रोयों की गोल चकरी के तुल्य है।

(६) मस्तक के पीछे एक सादा तेजचक्र है जिस पर बँगड़ियों के कटाव की गोट है।

(७) वस्त्रों में नीचे धोती है जो ऊपरी सिरे पर पटके से बँधी हुई है जैसी यक्ष मूर्तियों में मिलती है। ऊर्ध्व काय संघाटी से आच्छादित है जिसमें दाहिना कन्धा खुला है अतः जिसे एकांसिक कहते थे। बाएँ कन्धे और भुजा पर संघाटी की कुछ सिकुड़न दिखाई जाती है।

(८) बुद्ध के दोनों ओर दो चामरग्राही पुरुष खड़े हुए हैं। उनका वेश गृहपतियों जैसा है। आरम्भकालीन मूर्तियों में उन्हें ब्रह्मा और इन्द्र, या अवलोकितेश्वर एवं मैत्रेय, नहीं कहा जा सकता।

(९) ऊपर के दो कोनों में आकाशचारी देव हैं जो बुद्ध के ऊपर दिव्य पुष्प वृष्टि करते हुए दिखाए गए हैं (चित्र ३२८)।

ऊपर के इन लक्षणों में से केवल प्रभामण्डल को छोड़कर प्रत्येक की परंपरा भारतीय धार्मिक इतिहास के अन्तर्गत पाई जाती है। उनमें से कुछ का संबंध योगियों और कुछ का चक्रवर्तियों से था। बुद्ध मूर्ति की रचना के लिये दोनों धाराओं का संगम हुआ।

शुङ्ग कालीन मूर्तियों में बोधिमण्ड या प्रतीक के ऊपर केवल छत्र दिखाया जाता है। बाद में प्रतीक के स्थान पर खड़े हुए पुरुष की मूर्ति बनाई गई। शेष बातें अर्थात् चामरग्राही पार्श्वचर और पुष्पवर्षक देव वैसे ही रहे। भरहुत और भाजा की मूर्तियों में छत्र और चमर चक्रवर्ती के चिह्न माने गए हैं, जैसा मान्धाता, अशोक या अजातशत्रु के चित्रों में। बुद्ध की मूर्ति के रूप का संपादन करते हुए सिंहासन पर बैठे चक्रवर्ती और बोधिमण्ड पर ध्यान मुद्रा में बैठे योगी बुद्ध—इन दो सूत्रों को परस्पर मिलाया गया। बैठी हुई मूर्तियों में छत्र के स्थान पर तेजचक्र बनाया गया।

इन मूर्तियों के लिये बोधिमण्ड या ऊँचे आसन की कल्पना तो अवश्य ही स्वीकृति के योग्य थी क्योंकि संबोधि के समय वैसे ही आसन पर बुद्ध बैठे थे। पर वह आसन सिंहासन नहीं था। सिंहासन का सम्बन्ध तो केवल चक्रवर्ती से था। उसे ही बुद्ध प्रतिमा के लिये स्वीकार कर लिया गया। आरम्भ से ही बुद्ध को शाक्य सिंह कहते थे जिनके भाग्य में सिंहासन लिखा हुआ था। अतः सिंहासन के साथ उनका सम्बन्ध सर्वथा युक्तियुक्त माना गया। सिंहासन पर बैठे हुए बुद्ध का रूप कहीं बाहर से नहीं लिया गया और न कुषाण काल में ही इसकी कल्पना की गई। सिंहासन की स्फुट रचना सारनाथ के सिंहशीर्षक में तथा अन्य कितने ही चक्रध्वजों में विद्यमान है। धर्म चक्र बुद्ध के धर्मकाय का प्रतीक था। उसकी विधृति के लिये चार सिंहों वाला आसन उपयुक्त माना गया।

इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक भारतीय परम्पराओं की समष्टि और चुनाव से खड़ी और बैठी बोधिसत्त्व मूर्तियों का आदिम निर्माण मथुरा में हुआ। सर्वास्तिवादी और महासंघिक आचार्यों के मन में जो विचारों के झंझावातीय वेग थे उनके कारण कुषाणकालीन मूर्ति की कल्पना में कुछ भेद हुए। उन्हीं की प्रेरणा से तो बुद्ध मूर्ति सर्वप्रथम अस्तित्व में आई।

भिक्षु का वेष पहने हुए कटरा जैसी मूर्ति बैठी हुई बुद्ध मूर्तियों का आदर्श रखती है, पर चौकी के लेख में इसे भी बोधिसत्त्व प्रतिमा कहा गया। इनके अतिरिक्त भी और कई विशेष प्रकार की बुद्ध मूर्तियाँ मथुरा में बनाई गईं।

विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) बोधिसत्त्व मैत्रेय (भविष्य में अवतार लेने वाले बुद्ध) जिनकी कई मूर्तियाँ कुषाण कला में मिली हैं। यह मूर्ति खड़ी मुद्रा में बाएँ हाथ में अमृत कलश लिये हुए बनाई जाती थी, दाहिना हाथ अभयमुद्रा में रहता था। सब प्रकार से इसके लक्षण मुख्य खड़ी हुई बोधिसत्त्व मूर्तियों से मिलते हैं पर मूर्तियाँ आकार में छोटी हैं और न वे मांसल हैं। (चित्र ३३०)

(२) अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ मथुरा कला में बहुत कम हैं।
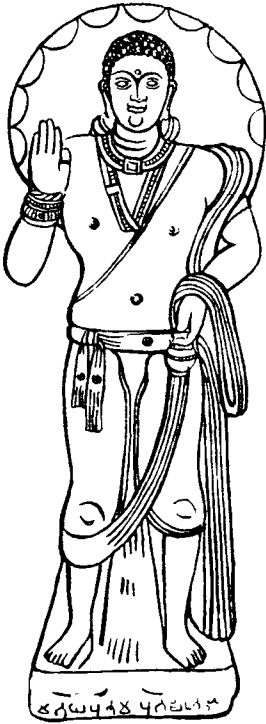
चित्र ३३० मैत्रेय

चित्र ३३१ काश्यप

(३) काश्यप बुद्ध की मूर्ति—यह भी मथुरा शिल्प में मिली है। वह सप्त मानुषी बुद्धों में एक था किन्तु सप्तमानुषी बुद्धों के अतिरिक्त भी उसकी मूर्ति बनाई गई जिसकी चौकी के लेख पर यह नाम खुदा है (चित्र ३३१)। अपने-अपने बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हुए सप्त मानुषी बुद्धों का चित्रण साँची के तोरण पर पाया गया है। वही परम्परा मथुरा की कुषाण कला में भी अपनायी गई।

मथुरा कला में अङ्कित बुद्ध के जीवन की घटनाएँ इस प्रकार हैं—

१—जाति या जन्म, २—प्रथम अभिषेक, जिसमें ठण्डे और गर्म पानी के दो सोते नन्द और उपनन्द दो नागों के रूप में चित्रित किये गए हैं। ३—महाभिनिष्क्रमण, ४—मारधर्षण; ५—संबोधि; ६—त्रयस्त्रिंश देवों के स्वर्ग से बुद्ध का अवरोहण—इसमें स्वर्ग से पृथ्वी तक ३ सीढ़ियाँ लगी हैं जिनमें

से बीच की सीढ़ी पर बुद्ध हैं और दाएँ-बाएँ ब्रह्मा और इन्द्र हैं। ७—इन्द्र द्वारा इन्द्रशैल गुफा में बुद्ध-दर्शन—इन्द्र का हाथी और वीणा लिए पञ्चशिख गन्धर्व भी अङ्कित हैं। यह दृश्य एक विशेष सिरदल पर भव्य रूप में अङ्कित पाया गया है। ८—प्रथम उपदेश या धर्मचक्र प्रवर्तन। ९—महापरिनिर्वाण—इसमें कुशीनगर के दो साल-वृक्षों के बीच बुद्ध लेटे हुए हैं। पैरों के पास भिक्षु और कुशीनारा के मल्ल खड़े हैं और पलँग के पास भूमि पर उनका शिष्य बैठा है।

मथुरा के कुशाग्र शिल्पियों को इस बात का श्रेय है कि वे बाहरी प्रभावों का खुले हृदय से स्वागत कर रहे थे। इसी उदार भावना से उन्होंने कितने ही यूनानी एवं ईरानी धर्म और कला के अभिप्रायों को अपना कर अपनी कला में सम्मानित स्थान दिया। उदाहरण के लिये ये अभिप्राय ध्यान देने योग्य हैं —

१—यूनानी देवता बाकस की आपानगोष्ठी के दृश्य।

२—नीमियाँ के सिंह से कुश्ती करता हुआ हेराक्लीज (चित्र ३३२)।
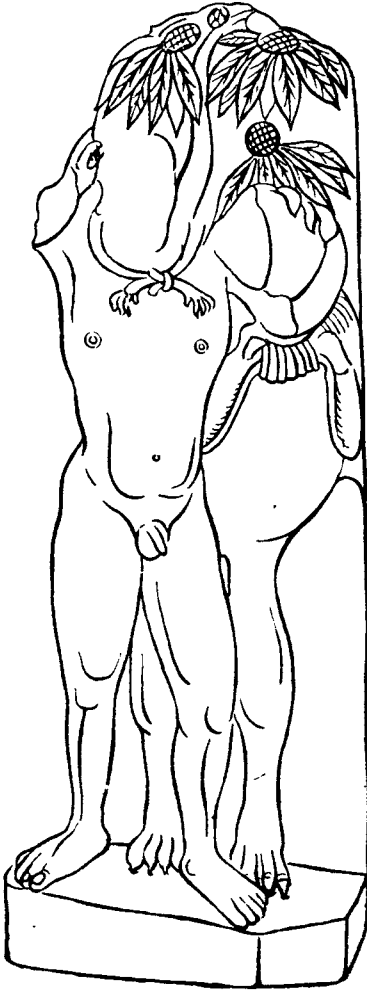
चित्र ३३३
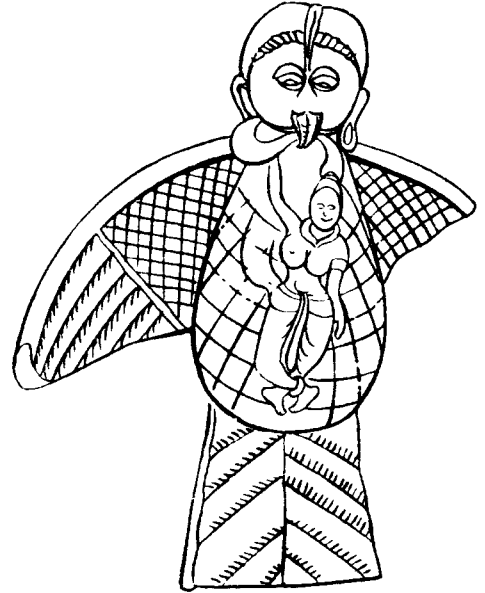
चित्र ३३२

३—जीयस के गरुड़ द्वारा गेनीमीडी का हरण या उठा ले जाना (चित्र ३३३)।

चित्र ३३४

४—मालाधारी देवों का अलंकरण जिसमें छोटे यक्ष (Erotes) मोटी माला को कन्धों पर टाँग कर उठाए हुए हैं (चित्र ३३४)।

चित्र ३३५

चित्र ३३६

५—अंगूर की बेल (द्राक्षावल्ली) (चित्र ३३५)।

६—स्तम्भ के ऊपर कोरिन्थ शैली का शीर्षक जिसमें भटकटैया की पत्तियों का अलंकरण है (चित्र ३३६)। और भी कुछ यूनानी अभिप्राय हैं जिन्हें मथुरा कला में लिया गया।

हमारा ध्यान उन बुद्ध मूर्तियों पर जाता है जो मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर पर बनी हैं पर जिनमें गन्धार शैली की बुद्ध मूर्तियों के कई लक्षण हैं, जैसे—

७—कुछ मूर्तियों के चेहरे पर मूछें हैं। छाती पर जनेऊ की तरह रक्षासूत्र या ताबीजी गण्डे हैं और जो बेंत के ऊँचे मूढ़े पर बैठी हैं। वे पावों में यूनानी ढङ्ग की चप्पल पहने हैं। भारतीय परंपरानुसार बुद्ध के चेहरे पर मूछें कभी नहीं दिखाई जातीं। यह लक्षण ईरान की मूर्तियों से लिया गया। ताबीजी माला भी ईरानी या पश्चिमी परंपरा से ली गई जहाँ वह देवी अतरगति का विशेष चिह्न थी। बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रभाव के आगमन से बुद्ध मूर्तियों के साथ भी ऐसे रक्षा-करण्डक या

ताबीजों की माला का सम्बन्ध आवश्यक माना जाने लगा। बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए जञ्जाल में तान्त्रिक धर्म ने प्रवेश किया और उसकी अपनी धारा चल निकली। जैसे, गणेसरा गाँव से मिली बुद्ध मूर्ति कटरा की बुद्ध मूर्ति से बहुत मिलती है पर गणेसरा की मूर्ति में छाती पर करण्डक माला है (चित्र ३३७)।
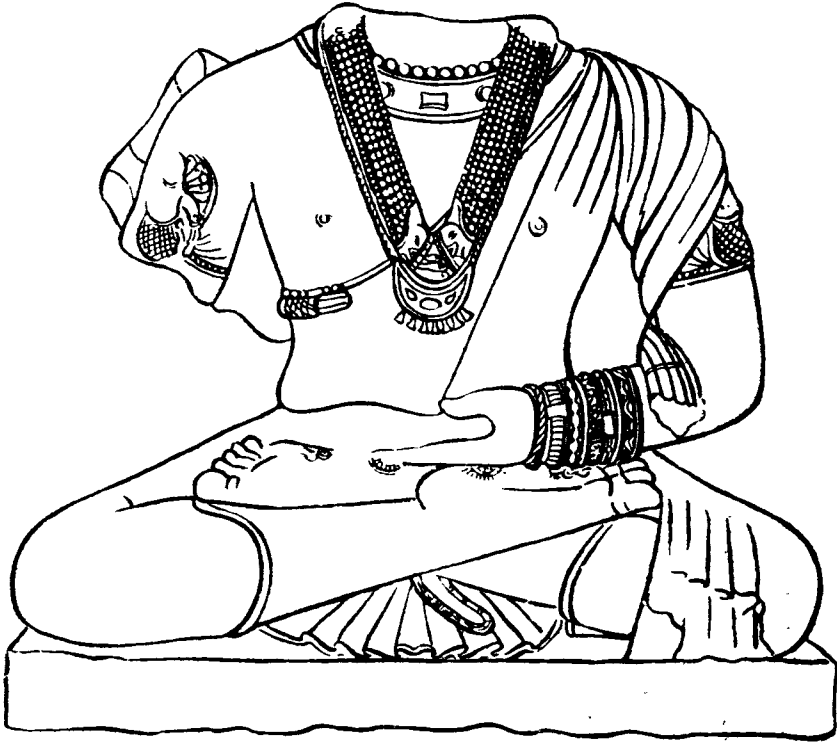
चित्र ३३७

८—**आपान गोष्ठी दृश्य**—इनमें यूनानी देवता बाकस का स्थान भारतीय देवता वैश्रवण कुबेर को दिया गया है। स्थूलकाय कुबेर कैलास पर बैठे हैं। वे घटोदर और धोती पहने हैं। किन्तु उनके पार्श्वचर यूनानी वेष में हैं।

यह स्मरणीय है कि मथुरा कला में यूनानी दृश्य संख्या में बहुत कम हैं। जहाँ मथुरा शिल्प की निजी मूर्तियाँ संख्या में पाँच सहस्र के लगभग हैं, वहीं यूनानी दृश्य एक दर्जन से अधिक नहीं हैं। अपनी ही शैली और परम्परा का विकास करते हुए मथुरा के शिल्पियों ने इस कला को ऊँचे शिखर पर पहुँचाया। उनकी नूतन मौलिकता अपरम्पार है।

शक-कुषाण काल में मथुरा में बहुत से बौद्ध स्तूप और विहार थे, जैसे—

(१) गुहा विहार, जिसका निर्माण क्षहरात-शक महाक्षत्रप षोडास के राज्य काल में यमुना तट पर हुआ (खरोष्ठी सिंह शीर्षक)।

(२) हुविष्क विहार।

गुफाओं में उत्कीर्ण किंकर मूर्तियों से मिलती हैं। थोड़े अन्तर से उसी मूर्ति को कुबेर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया जो उसी प्रकार घटोदर, सुखासन में बैठा हुआ, प्रसन्न वदन, सोने का भारी कण्ठा पहने,

चित्र ३३८ पालिखेरा
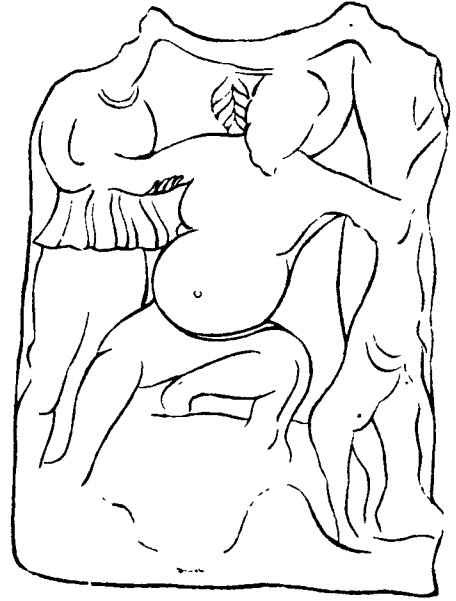
चित्र ३३९ स्टेसी द्वारा प्राप्त

एक हाथ में पानपात्र और दूसरे में थैली लिये हुए, किसी चिन्तारहित और हँसतामुखी धनिक श्रेष्ठी की आकृति वाला ज्ञात होता है। ऐसी कुबेर मूर्तियाँ मथुरा कला की अपनी निजी देन हैं। मध्य भारत और गंधार दोनों जगह उनके सदृश मूर्तियों का अभाव है। इस मूर्ति को श्रेष्ठी या महाजन शैली की कह सकते हैं, और वह सचमुच धनपति कुबेर की प्रतिकृति या प्रतिच्छवि बन पड़ी है। धनपति कुबेर का स्थान कैलास पर है जैसा कई आपानगोष्ठी मूर्तियों में दिखाया भी गया है। कैलास के समीप बसी हुई अलकापुरी कुबेर की राजधानी कही गई है।

मथुरा की इन ठेठ भारतीय शैली की मूर्तियों के अतिरिक्त वे मूर्तियाँ हैं जिनमें बाकस देवता की पान गोष्ठियों का दृश्य एक बड़े और मोटे शिलापट्ट के दोनों ओर दिखाया गया है। इन मूर्तियों की विशेषताएँ ये हैं—

१. बड़े पत्थर के ढोंके पर दोनों ओर मूर्तियाँ उकेरी गई हैं जिनमें पानगोष्ठी और मदोन्मत्त व्यक्तियों का चित्रण है।

२. इनमें प्रधानमूर्ति कैलास पर बैठे हुए कुबेर की है जो भारतीय ढंग की सकच्छ धोती पहने हैं। इस मूर्ति के लक्षण शुद्ध भारतीय हैं। उन पर न यूनानी बाकस का प्रभाव है और न सिलेनस का।

३. किन्तु शिल्पियों को यह बात अवश्य ज्ञात थी कि इस प्रकार की मूर्तियों का संबंध यूनानी परंपरा से था, क्योंकि पालिखेरा से प्राप्त मूर्ति में कुबेर के बाईं ओर खड़ी हुई स्त्री लम्बी आस्तीन की कुर्ती और नीचे पैरों तक का घाघरा एवं मोटे जूते पहने है जो स्पष्टतः यूनानी ढंग के हैं।

४. कुबेर के दाहिने हाथ में एक लम्बोतरा गोड़ेदार चषक है जिसमें हत्था या मुष्टि लगी है।

५. पालिखेरा की मूर्ति में एक व्यक्ति अँगूरों का गुच्छा लिये है जिसका संबंध उदीच्य देशों से था।

६. इन सब मूर्तियों के मस्तक पर एक कटोरा है। पालिखेरा की मूर्ति में इसका व्यास १६" है और गहराई ८ इंच है।

१. गोष्ठी-निरत वैश्रवण की पहली मूर्ति १८३६ में कर्नल स्टेसी को मिली थी और अब इण्डियन म्यूजियम कलकत्ते में सुरक्षित है। इसमें प्रधान मूर्ति कुबेर की है, जिसका पेट निकला हुआ और मदहोशी की दशा में पीछे को उलड़ रहा है। उसके मस्तक पर अंगूर की बेल का सेहरा है। उसकी वेशभूषा भारतीय है पर उसके पार्श्वचरों का वेश विदेशी है। (चित्र ३३९)

२. पालिखेरा ग्राम से प्राप्त आपानगोष्ठी युक्त वैश्रवण मूर्ति। इसके सामने की ओर कैलास पर बैठे हुए कुबेर की घटोदरमूर्ति भारतीय धोती पहने हुए है। पीछे की ओर भी वही व्यक्ति मदोन्मत असहाय दशा में अंकित है। (चित्र ३३८)

३. महोली गाँव से १९३८ से मिला हुआ मदोन्मत मुद्रा में पानगोष्ठी का दृश्य। इसमें पूरी तरह भारतीय शैली का विकास हो गया है। यह भी दोनों ओर उकेरी गई है और मथुरा की जो निजी

चित्र ३४० महोली चित्र ३४१

सर्वोत्तम रूपवती शैली थी उसकी पूर्णता इसमें चित्रित है। मूर्ति की माप ३ फुट ४ इंच×२ फुट ६ इंच×१ फुट २ इंच है। इसके ऊपर भी एक कटोरा रक्खा हुआ था जो अब खण्डित हो गया

(३) आपानक विहार (ले० संख्या १६१२)
(४) चेतिय विहार
(५) खण्ड विहार (सं० २८०१)
(६) क्रौष्टुकीय विहार (मूर्ति सं० २७४०)
(७) हारुष विहार (सं० ए २)
(८) मिहिर विहार
(९) सिरी विहार (सं० ४६१)
(१०) ककाटिका विहार
(११) प्रावारिक विहार
(१२) यशः विहार
(१३) सुवणगक (सुवर्णकर) विहार (सं० २६०)
(१४) च्युतक विहार (आम्र विहार सं० १३५०), इत्यादि।

इन विहारों में बौद्धों के चार सम्प्रदायों अर्थात् सर्वास्तिवादी, महासंघिक, सम्मितीय और धर्मगुप्तक निकायों के भिक्षु रहते थे जैसा उनके लेखों में लिखा है। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म में मथुरा का महत्त्व बहुत अधिक था। सबसे पहले मथुरा में अपना केन्द्र बनाने वाले सर्वास्तिवादी आचार्य थे। उनके कुछ ही बाद महासंघिक आचार्यों ने वहाँ अपना केन्द्र बनाया। ये दोनों संप्रदाय क्षहरात और क्षत्रपों के काल में ही मथुरा में जम गये थे और दोनों की प्रेरणा से मूर्तियाँ बनने लगीं पर सर्वास्तिवादियों की अपेक्षाकृत प्रतीक पूजा में अधिक रुचि थी। एक मूर्ति के लेख में उनका नाम है जो किसी क्षत्रप के राज्यकाल में बनी थी और शैली की दृष्टि से आरंभिक युग की थी। किन्तु मूर्ति निर्माण की प्रेरणा महासंघिक आचार्यों ने प्रदान की। वे महायान शाखा के अनुयायी थे और उन्होंने अनेक मूर्तियों की स्थापना कराई, जैसे—६५, १६१२, २७४०। महासंघिक कई दिशाओं में नेतृत्व कर रहे थे, वे अपने हृदय की उदारता से बौद्धधर्म के अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी सहिष्णु थे।

नाग और यक्ष मूर्तियाँ

मथुरा कला में नाग और यक्ष मूर्तियों का भी बड़ा समूह है। ये दोनों लोकधर्म यक्ष और नाग के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें मूर्तियों के नये-नये रूपों का संचार हुआ।

यक्ष मूर्तियों के निर्माण का बहुत बड़ा केन्द्र मथुरा में स्थापित हुआ था। उसके अन्तर्गत परखम यक्ष और बड़ोदा यक्ष जैसी पर्वतोपम मूर्तियाँ बनाई गईं। यक्ष पूजा की परम्परा कुबेर मूर्तियों के रूप में आगे बढ़ी और उसी में अनेक आपानगोष्ठी के दृश्यों का निर्माण हुआ।

बाकस और डायोनिसस की पूजा का जो हुड़दंग यूनानियों में मचता था उसका प्रभाव मथुरा के बौद्ध धर्म पर भी पड़ा। पर यहाँ भारतीय वातावरण में वह कुछ सौम्य बन गया। बाकस का स्थान कुबेर ने लिया। कुबेर की आपानगोष्ठी की उभयदर्शन वाली लगभग आधे दर्जन मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं।

मथुरा कला में वैश्रवण कुबेर की कई लम्बोदर मूर्तियाँ ऐसी मिली हैं जो किंकर या गुह्यक मुद्रा में हैं, अर्थात् दोनों हाथ भारवहन मुद्रा में ऊपर उठाये हैं। वे भरहुत, साँची और पश्चिमी भारत की

है। वह पृष्ठभूमि में उकेरे हुए एक वृक्ष के ऊपर रक्खा हुआ था। इसके अग्रभाग में चार मूर्तियाँ हैं। बीच की स्त्री मूर्ति मदोन्मत्त मुद्रा में कुछ नीचे को झुकी हुई दिखाई गई है। उसका बायाँ हाथ एक कुब्जिका के कन्धे पर टिका है जो चषक लिये है। स्त्री के पीछे खड़ा हुआ उसका पति उसकी दाहिना भुजा पकड़े उसे गिरने से सँभाल रहा है। पृष्ठभूमि में खड़ी हुई आश्चर्य मुद्रा में एक वर्षधर मूर्ति है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण हैं (चित्र ३४०)। दूसरी ओर चार स्त्री-पुरुष हर्षोल्लास से नृत्य कर रहे हैं (चित्र ३४१)।

इस मूर्ति के सदृश और घिसी-पिटी दूसरी मूर्ति महोली से आधा मील दक्षिण-पूर्व नरोली गाँव में १९२२-२३ में मिली थी जो अब कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम संग्रहालय में है। इसके पृष्ठ भाग के दृश्य की यथावत् अनुकृति एक पार्श्वस्तम्भ (मथुरा संग्रहालय ३७१) पर मिलती है जो कंकाली टीले से १९१४ में मिला था। वह स्थान भी महोली से लगभग २ मील मथुरा की तरफ है। इससे ज्ञात होता है कि पालिखेरा, नरोली और महोली—इन तीन गाँवों के निवासी जो एक दूसरे से केवल १ मील के घेरे में थे—वैश्रवण कुबेर की पानगोष्ठी वाली मूर्तियों के बड़े प्रेमी थे और उसकी पूजा भी करते थे। महोली का नाम ही मधुपल्ली था अर्थात् वह स्थान जहाँ मधुपान के देवता का केन्द्र हो। नरोली या नरपल्ली का 'नर' शब्द भी कुबेर के यक्षों का वाचक समझना चाहिए जिसके कारण कुबेर को नरवाहन कहा जाता है। महोली के शिल्पी कला के सौष्ठव में इन सबसे आगे थे। यह उल्लेखनीय है कि महोली में पानगोष्ठी का दृश्य स्वयं मुझे १९३८ में एक विशालकाय बोधिसत्त्व मूर्ति के बिलकुल निकट चबूतरे पर मिला था जिससे ज्ञात होता है कि कुबेर-वैश्रवण पूजा और बोधिसत्त्व पूजा में परस्पर मेल हो गया था। कुछ दूसरी मूर्तियों में इन दो धार्मिक मान्यताओं का समन्वय और भी स्फुट रूप से प्रकट किया गया है। उनमें एक ओर कुबेर की बैठी मूर्ति है और बायीं ओर हारीती की मूर्ति है जो एक हाथ में पानपात्र और दूसरे में थैली लिये हैं या दोनों के सामने मधु के दो बड़े कटोरे रखे हैं।

ज्ञात होता है कि बच्चों की अधिष्ठात्री देवी हारीती थी और धन के देवता कुबेर। इन दोनों की धार्मिक पूजा एक दूसरे के निकट आ गई थी। इस मान्यता की लोकप्रियता की सूचक वे मूर्तियाँ हैं जिनमें कुबेर और हारीती अलग अलग बने हैं। ज्ञात होता है कि विकसित होती हुई कुबेर की धार्मिक मान्यता ने कई और पूजा-विधियों को अपनी ओर खींच लिया। इनमें से एक सम्प्रदाय बाकस देवता का था, जिसमें पानगोष्ठियों का मुख्य स्थान था। मद्रक-यवनों में इन गोष्ठियों का अधिक प्रचार था जैसा महाभारत के द्रोण पर्व में आया है। वे लोग रात में भोजन के समय हलका मद्पान करते और फिर स्त्रियाँ वहाँ से हट जातीं तो पुरुष भाँति-भाँति की घोषिका गाथाओं का गान करते और अत्यन्त छककर पीते थे। रईसों के घरों में या हैतेरा नामक गणिकाओं के स्थान पर इस प्रकार की पानगोष्ठियाँ प्रायः होती रहती थीं। उनमें नृत्य और गीत का बहुत प्रचार था। इस प्रकार की पूजा मान्यता के साथ बौद्ध देवी हारीती और ब्राह्मण देवी भद्रा की धार्मिक परम्परा भी जुड़ गई और इन दोनों को कुबेर की पत्नी मान लिया गया।

मथुरा शिल्पकला में नाग मूर्तियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी परम्परा भरहुत और साँची से चली आती थी। मथुरा में पूर्व काल से संकर्षण या बलराम की पूजा प्रचलित थी और उन्हीं के साथ नाग देवताओं की मान्यता भी मिल गई। बलराम के एक हाथ में गदा और दूसरे में पानपात्र

दिखाया जाता था। बलराम की किन्हीं मूर्तियों में वनमाला भी रहती है (चित्र ३४३) और कुछ नागराज मूर्तियों में भी घुटने तक लटकती हुई माला दिखाई जाती है, जैसे छड़गाँव से प्राप्त महाकाय

चित्र ३४२ छड़गाँव नाग मथुरा चित्र ३४३ कुकरगाँव बलराम

नागमूर्ति (चित्र ३४२)। उसके दोनों पार्श्व में कुण्डल हैं और कटि प्रदेश में पतली करधनी है। यह मूर्ति बलशाली और बड़े दम-खम की है। नागदेवताओं में एक छोटी मूर्ति दधिकर्ण नाग की है।

मथुरा की रचनात्मक प्रवृत्ति कुषाण सम्राटों के समय में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। मथुरा की राजनीति, धर्म और संस्कृति में कुषाण सम्राटों का जो प्रभाव था उसका अनुमान मथुरा जिले में शहर से ९ मील उत्तर के माट गाँव में प्राप्त देवकुल से किया जा सकता है। उस टीले का नाम टेकरी टीला अर्थात् तुषार नामक शकों का स्थान था जहाँ सम्राटों की मूर्तियाँ रखने का एक भवन था, जिसे प्राचीन परिभाषा में देवकुल कहते थे। वहाँ के शिलालेख में देवकुल शब्द आया है। उस देवकुल में सम्राट वेम तक्षम, कनिष्क और चष्टन की मूर्तियाँ मिली हैं पर इनके अतिरिक्त और भी कई राजाओं की मूर्तियाँ थीं जो अब खंडित हो गई हैं।

कला की दृष्टि से ये प्रतिकृति या सादृश्य मूर्तियाँ बहुत ही भव्य और वास्तविकता लिए हुए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सम्राटों की हूबहू छवि पत्थर की इन मूर्तियों में उतार ली गई हो। वास्तविक मूर्तियों का जो ठाठ है वही वेम और कनिष्क के सिक्कों पर अंकित मूर्तियों में है। दोनों सम्राटों को देव पुत्र महाराजाधिराज लिखा गया है।

भारत में शक-शासन के दो युग हैं—पहले युग में तक्षशिला में लियक और पटिक नामक क्षहरात महाक्षत्रपों ने, मथुरा में रंजुवल और शोडास ने और उज्जयिनी में नहपान और उषवदात ने प्रथम शती

के पूर्व में राज्य किया। शक-शासन के उत्तर युग में कुजुल कद्फ (लगभग १ ईसवी से ४०) और वेम कद्फ (लगभग ४० से ७२ ई०) और कनिष्क वासिष्क, हुविष्क एवं वासुदेव (लगभग ७८–१७६ ई० तक) राजा थे। इनकी राजधानी तक्षशिला और मथुरा दोनों जगह थी और उज्जैनी में चष्टन का राज्य था जो कनिष्क का समसामयिक ज्ञात होता है और जिसकी युवक रूप की प्रतिमा माट के देवकुल से मिली है।

भास के प्रतिमा नाटक में देवकुल का ऐसा वर्णन किया गया है, जिससे उसके वास्तविक अस्तित्व में सन्देह नहीं रहता। उसमें भूतपूर्व राजाओं की मूर्तियाँ रक्खी जाती थीं। कुषाणों ने देवकुल के विन्यास को पूरी तरह अपनाया और इसका कारण यह जान पड़ता है कि वे मध्य एशिया में ही इसकी प्रथा से परिचित थे, जैसा किरगिज़तान के तोपरक्काला नामक ग्राम में प्राप्त सम्राटों की मूर्तियों के कोष्ठ से ज्ञात होता है। वेमतक्ष्म मूर्ति की चौकी के लेख में लिखा है कि देवकुल के अतिरिक्त वहाँ आराम, पुष्करिणी और उदपान भी थे। कुछ समय बाद जब यह देवकुल खण्ड-खण्ड हो स्फुटित दशा को प्राप्त हो गया तो हुविष्क के राज्य काल में उसके एक उच्च अधिकारी ने इसकी मरम्मत कराई।

चित्र ३४४ वेम

वेम तक्ष्म की विशाल मूर्ति (ऊँ० ६′ १०″, चौकोर आसन ३′ ३″) सिंहासन पर बैठी हुई है। वह दाहिने हाथ में तलवार और बाएँ में घुटनों पर रक्खे हुए म्यान लिए है। सम्राट् कामदानी के वस्त्र का बड़ा चोगा पहने है, जिसमें तीन चौड़ी कढ़ाई की गोट हैं जो छाती पर, घुटनों पर और सिंहों के मस्तक पर दिखाई गई हैं। चोगे की जमीन पर छोटी चौफुलियाँ भरी हुई हैं। उसके नीचे एक छोटा कोट या वारबाण है जिसका एक सिरा ग्रीवा के पास दिखाया गया है। टाँगों पर ढीली सलवार और पैरों में मोटे जूते पहने है। यह उदीच्य वेष था जिसे शक लोग धारण करते थे। मथुरा तथा शुंग काल में भरहुत-साँची के शिल्पगत अंकनों में अनेक बार यह वस्त्र-भूषा मिलती है। मूर्ति के पादपीठ के ऊपर उत्कीर्ण लेख में उसे महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाणपुत्र शाहि वेम तक्ष्म कहा गया है। इसमें वेम तो राजा का नाम है और तक्ष्म उसकी उपाधि ज्ञात होती है जिसका प्राचीन ईरानी में अर्थ बलवान या वीर्यवान था। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा उच्चकोटि की कृति है जिसमें श्रेष्ठ प्रतिकृति की सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। साथ ही इसमें असाधारण गौरव और याथातथ्य शैली पूरी तरह झलकती है। (चित्र ३४४)

चित्र ३४९ कनिष्क
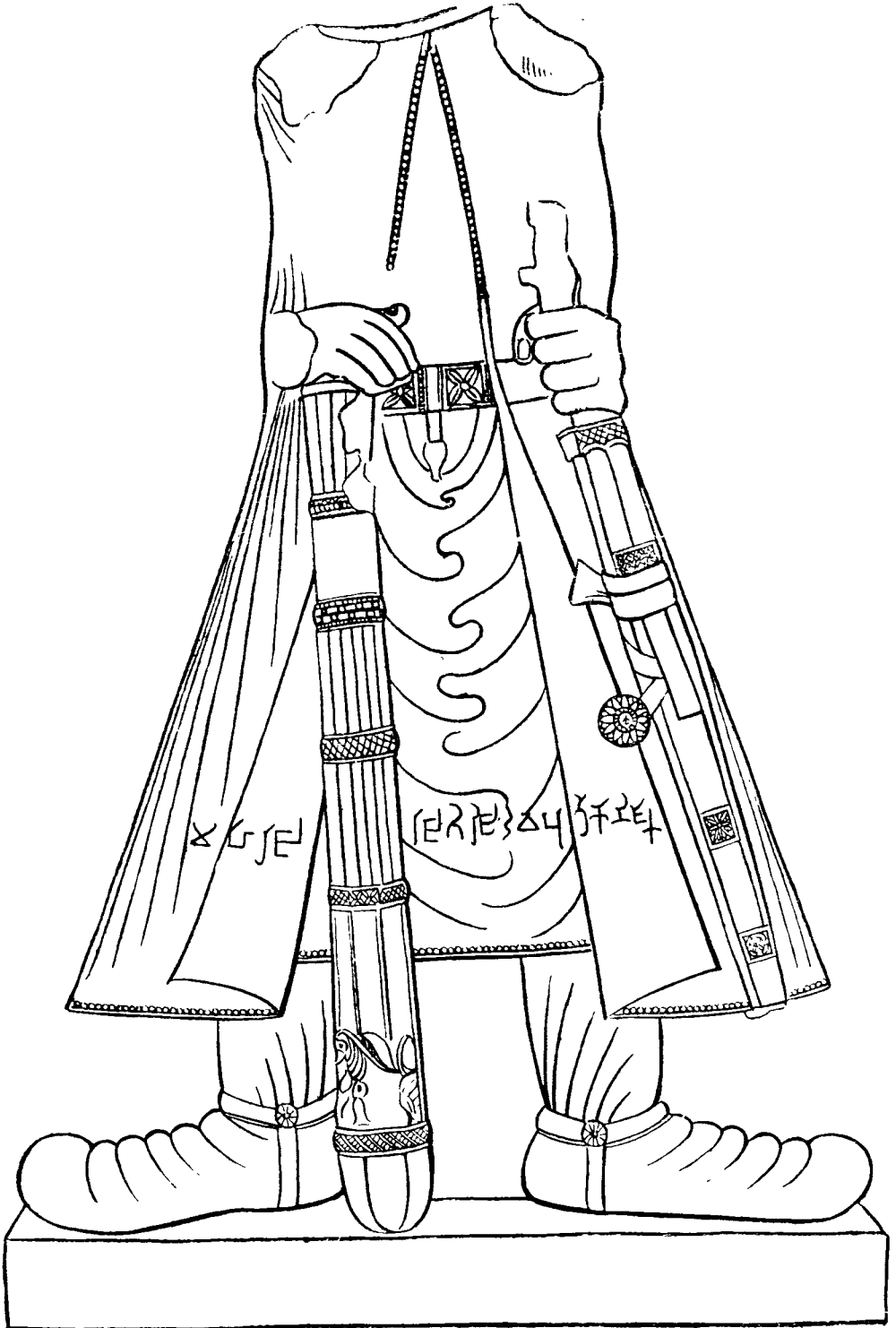
कनिष्क की मूर्ति—ऊपर वेम की मूर्ति के विषय में जो कहा गया है वह अधिकांश कनिष्क की मूर्ति के बारे में भी घटित होता है। यह मूर्ति १९११ में रायबहादुर राधाकृष्ण को माट ग्राम के देवकुल में मिली थी। कनिष्क की यह मस्तकविहीन खड़ी हुई मूर्ति ५' ७½" ऊँची है (चौकी समेत; जिसके नीचे अलग १४" का मूसला है)। उस पर सामने की ओर यह लेख है—महाराजा राजातिराजा देवपुत्रो कानिष्को। राजा घुटनों तक का कोट पहने हुए है जो पटके से कमर पर कसा है जिसके आगे के दो टिकरे दिखाई पड़ते हैं। चष्टन के धड़ पर भी ऐसे ही पटके में अधिक टिकरे दिखाई देते हैं। वैसे ही इस मूर्ति में रहे होंगे। नीचे का कंचुक लम्बे चीन-चोलक से ढका हुआ है जो घुटनों से नीचे तक लम्बा है। ये दोनों वस्त्र सादा हैं, केवल गोट पर जरी का काम है। वस्त्रों की सलवटें खचित रेखाओं द्वारा दिखाई गई हैं। पैरों में भारी जूते हैं जिन्हें खपुसा कहा जाता था और जो टखनों पर बद्धियों से कसे हैं। ऐसे जूते अभी तक तुर्किस्तान में पहने जाते हैं। इस सादा वेष की तुलना में आयुधों पर दिखावे का काम है। तलवार की मूठ के ऊपर हंस की आकृति बनी है। म्यान पर तीन पदक या टिकरे हैं जैसे पटके पर हैं। म्यान की नोक टूट गई है। यह विचित्र है कि म्यान को पटके के साथ न बाँध कर ऊपर के लम्बे कोट के साथ दो बद्धियों से कस दिया गया है। दूसरा आयुध ३' ५" लम्बी गदा या राजदंड है। उस पर पाँच सुनहले कड़े हैं जो मूर्ति पर स्पष्टतः दिखाए गए हैं। नीचे के कड़े पर ग्राहमुखी अलंकरण है। (चित्र ३४५)

चित्र ३४६ चष्टन

मूर्तिकार को सम्राट् की पाषाण प्रतिमा बनाने में अद्भुत सफलता मिली है और वह कोई प्रतिभाशाली शिल्पी था जो यूनानी कला के प्रभाव से सर्वथा मुक्त ज्ञात होता है। शरीरयष्टि की दृढ़ता और यथार्थता इस मूर्ति की विशेषता है। मुद्रा उसी प्रकार की है। यद्यपि मूर्ति चारों ओर से दिखाई गई है तथापि वह सम्मुखदर्शन की शैली पर ही निर्मित की गई थी।

माट के देवकुल से मिली हुई तीसरी मूर्ति शस्तन (= चष्टन) का धड़ है जिसके पैर और मस्तक जाते रहे। मूर्ति पर शस्तन नाम खुदा है जो टालेमी के तियेस्तानिस के निकट है। वह नवयुवक राजकुमार के रूप में दिखाया गया है। वह टाँगों में सलवार और ऊपर लम्बा कोट पहने है जिस पर सुन्दर टिकरों से निर्मित पटका बँधा है। टिकरों पर उदीच्य घुड़सवार और महोरग मूर्तियाँ हैं (चित्र ३४६)। कुषाणों के देवकुल में इस मूर्ति की प्राप्ति इस बात की सूचक है कि उज्जयिनी का शासक चष्टन मथुरा के कुषाण सम्राटों का समकालीन था और संभव है वह कनिष्क का कोई सम्बन्धी भी रहा हो। इस मूर्ति की भी विशेषता उसके मूल के साथ सादृश्य या हूबहू प्रतिकृति होने में है।

ये प्रतिमाएँ सिद्ध करती हैं कि मथुरा कला के प्रतिकृति-निर्माता शिल्पियों ने इस कला में कितनी उन्नति की थी। देवकुल में कुछ और भी खंडित प्रतिकृति मूर्तियाँ मिली थीं जो राजकुमार या राजाओं की जान पड़ती हैं।
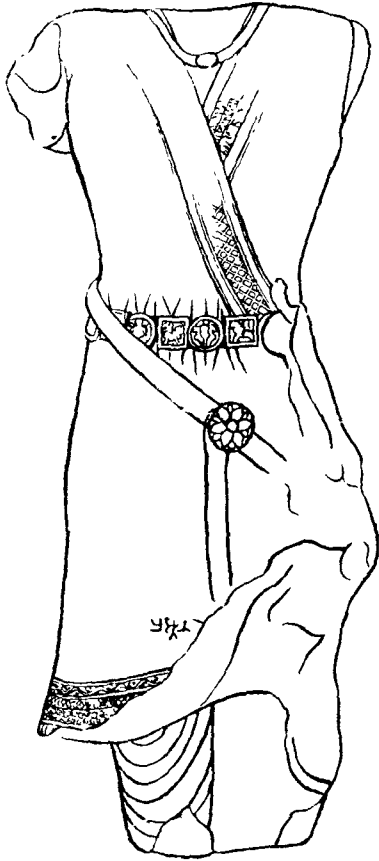
मथुरा से आवे दर्जन मस्तक मिले हैं जिन पर तिग्रा खौदा शकों का नुकीला टोप या चपटे सिरे वाली कुलफीनुमा टोपी है जिसके बाहरी ओर ऊन के झुग्गे हैं। दो मस्तक नायस तथा लवण नामांकित हैं। इसी वर्ग का एक मस्तक बुदापेस्ट संग्रहालय में पहुँच गया है जो ऊनी झब्बों से अलंकृत चपटी टोपी पहने है और देखने में बड़ा शानदार लगता है (चित्र ३५२)। यह कुल्पक नाम की ऊनी टोपी पहने था, जिसमें सामने एक कमलाकृति फुल्ला टँका है, जो मस्तक की शोभा को और बढ़ाता है।

तीन अन्य कुषाण मस्तक अपनी शिरोभूषा के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन पर दो मुड़े हुए सींगों से सज्जित टोप है चित्र ३४७-४८)। यह लक्षण ईरानी सम्राटों की तापशालिनी मुद्रा का
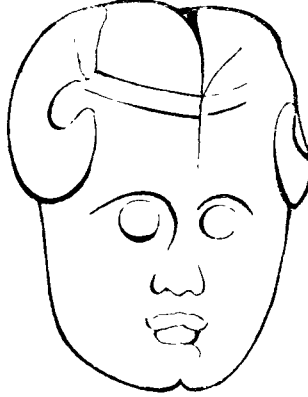
चित्र ३४७ चित्र ३४८ चित्र ३४९

सूचक था (चित्र ३५०-१)। सिंगैला टोप कुजुल कदफ के तथाकथित यवन-सैनिक सिक्के पर भी

चित्र ३५० चित्र ३५१

चित्र ३५२

मिलता है और अनुमान होता है कि ये मस्तक उसी के समय में बने। चौबारा टीले से प्राप्त ईरानी

शैली के शीर्षक पर भी इस तरह के शृंगवान् मस्तक पाये गये हैं (चित्र ३४९)। उस पर चार पशु मस्तक मानव चेहरा और दो भेड़ के सींग युक्त बने हैं। महाभारत में इन्हें शृंगिणो नराः कहा गया है।

मथुरा कला में ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवों की मूर्तियाँ

ई० पू० की कई शतियों में मथुरा भक्ति धर्म का केन्द्र बन गया। भक्ति धर्म के प्रमुख देवता भगवान् वासुदेव कृष्ण थे। उन्हें मनुष्य रूप में ईश्वर का अवतार माना जाता था। कृष्ण महानारायण विष्णु के अवतार माने जाते थे। ऋग्वेद में विष्णु पूजा के कई उल्लेख हैं। उन्हें वहाँ गोपा अर्थात् गौवों की रक्षा करने वाला, सखिवान् अनेक सखाओं से संयुक्त कहा गया है। इन विशेषणों में उनके उत्तरकालीन चरित्र का बीज पाया जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव और उनके साथी अर्जुन की भक्ति का उल्लेख है, जिनके भक्त वासुदेवक और आर्जुनक कहलाते थे। इस साक्षी से सुविदित है कि भगवान् कृष्ण की पूजा पाणिनि के समय लगभग ५वीं शती ई० पू० में प्रचलित थी। महाभारत के नारायणीय पर्व में जो १००० श्लोकों का लम्बा प्रकरण है, नारायण विष्णु की पूजा का वर्णन है और उसके मानने वालों को सात्वत और एकान्तिन् कहा गया है। इस पृष्ठभूमि में यह समझा जा सकता है कि मथुरा की शिल्प कला में ब्राह्मण धर्मसम्बन्धी देवों की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण किस कारण से हुआ।

इस सम्बन्ध में निम्नांकित शिलालेखों की सामग्री पर ध्यान देना आवश्यक है—

१—नगरी का घोसुण्डी वेदिका लेख जिसमें भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा और उनके धार्मिक स्थान नारायण वाटक का उल्लेख है। उसके चारों ओर एक प्राकार या महावेदिका और बीच में ऊँचे चबूतरे पर पूजाशिला रक्खी गई थी।

२—भिलसा लेख—जो एक अठपहल गरुड़ स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसकी स्थापना भागवत राजा ने अपने १२वें वर्ष में की थी (गोतमी पुतेन भागवतेन भगवतो प्रासादोत्तमे गरुड़ध्वज कारितो)।

३—यूनानी राजदूत हेलियोदोर का बेसनगर में प्राप्त गरुड़ध्वज स्तम्भ का लेख जिसमें उसने अपने आपको भागवत कहा है।

४—मथुरा से प्राप्त सिरदल पर राजा वसु का लेख जिसमें उसने भगवान् वासुदेव के महास्थान, वेदिका, तोरण और चतुःशाल का उल्लेख किया है। राजा वसु का नामोल्लेख नारायणीय पर्व में भी आया है जहाँ उसे सात्वत धर्म का संरक्षक कहा गया है। शिलालेख के अनुसार वह महाक्षत्रप षोडाश के राज्यकाल में था।

५—मोरा गाँव से प्राप्त शिलापट्ट लेख जिसमें एक शैलदेवगृह और उसमें स्थापित पंच वृष्णि वीरों की अर्चा या मूर्तियों का उल्लेख है।

ऊपर के इन ५ अभिलेखों से ये बातें ज्ञात होती हैं—

१—भक्ति धर्म के संरक्षक राजा अपने को भागवत कहने में गर्व का अनुभव करते थे।

२—इस नए धर्म का आकर्षण सब प्रकार के लोगों के लिए था जिनमें यूनानी राजदूत हेलियोदोर जैसे व्यक्ति भी थे। इससे ज्ञात होता है कि भागवत धर्म का द्वार सबके लिये बिना भेदभाव के खोल दिया गया था।

३—विष्णु की पूजा वासुदेव के रूप में या संकर्षण के साथ की जाती थी अर्थात् कृष्ण और बलराम के सहचारी रूप में अथवा पंच वृष्णिवीरों के रूप में, जिनमें चतुर्व्यूह के चार देवता भी सम्मिलित हैं।

४—संकर्षण और वासुदेव को अन्य देवों में सर्वोपरि 'सर्वेश्वर' माना जाता था जिससे अन्य सब धर्मों में भागवत धर्म की श्रेष्ठता या सबसे ऊँचा पद स्वीकृत होता है।

५—भगवान् वासुदेव के स्थान को मथुरा सिरदल के लेख में महास्थान और भिलसा के लेख में प्रासादोत्तम कहा गया है जिससे यह स्पष्ट है कि अन्य देवों के स्थान या प्रासादों की अपेक्षा भगवान्
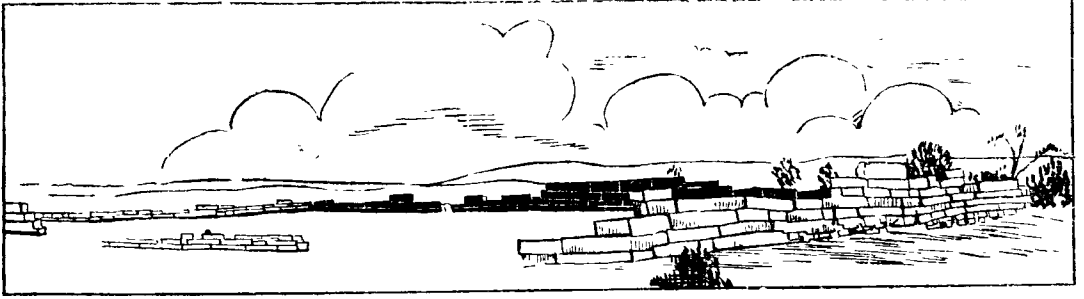
चित्र ३५३

वासुदेव के प्रासाद या स्थान को ऊँचा समझा जाता था। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि भागवतों ने अपने मन्दिर या देवायतनों का निर्माण आरम्भ कर दिया था, जिन्हें स्थान, प्रासाद या देवगृह कहते थे। मोरा के लेख में शैलदेवगृह शब्द महत्त्वपूर्ण है। पतंजलि ने भी राम और केशव के प्रासाद का उल्लेख किया है (प्रासादे धनपतिराम-केशवानाम्)। इन प्रासादों का स्वरूप घोसुण्डी के नारायण वाटक से पता चलता है, जिसमें बीच की पूजा-

चित्र ३५४
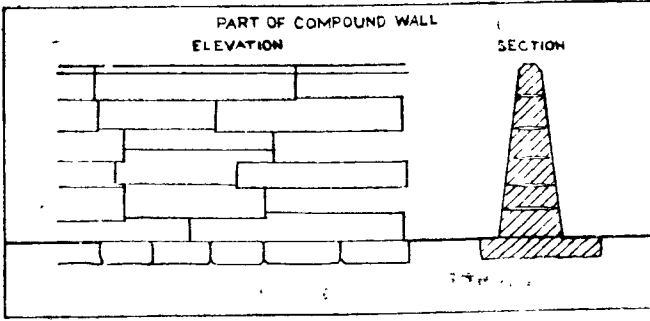
शिला के चारों ओर पत्थर की महाप्रमाण वेदिका बनाई गई थी (चित्र ३५३-४)। अतएव वह शिखर युक्त मन्दिर न होकर एक घिरा हुआ बाड़ा था जैसा उसके नारायण वाटक नाम से भी प्रकट है। कालान्तर में वेदिका में ४ द्वार भी बनाये जाने लगे जैसा मथुरा के चतुःशालतोरण-वेदिका शब्द से सूचित होता है। यह भी निश्चित है कि कालान्तर के प्रासादों में वासुदेव और उनके साथी बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि वृष्णिवीरों की मूर्तियाँ भी स्थापित की जाने लगीं। मोरा के देवशैलगृह की खुदाई में वृष्णि वीरों की मूर्तियाँ मिली हैं (वृष्णीनां पंचवीराणामर्चाः)। वायु पुराण के अनुसार पंच वृष्णिवीरों की गिनती में बलराम, कृष्ण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, साम्ब हैं। मूर्तियों की शैली आरम्भिक काल की यक्ष मूर्तियों से ली गई है। वे चतुर्मुख दर्शन में कोर कर बनाई गई हैं और धोती, उत्तरीय और गहने पहने हैं। उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है और शरीर की गठन मांसल है। यक्षमूर्तियाँ महाकाय हैं, पर वृष्णिमूर्तियाँ

स्वाभाविक कायप्रमाण की हैं (चित्र ३५५-५६)। ज्ञात होता है कि कायप्रमाण मूर्तियाँ वैष्णव और बौद्ध दोनों धर्मों की सहज प्रवृत्ति हो गई। मोरा से प्राप्त वृष्णि मूर्तियाँ बुद्ध और बोधिसत्त्व
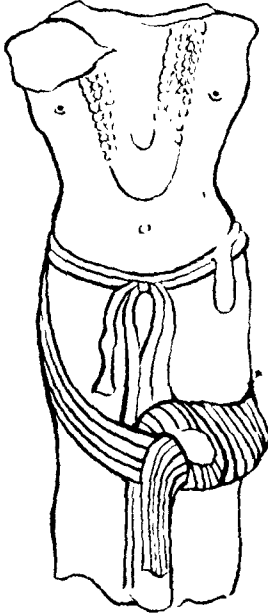
चित्र ३५५
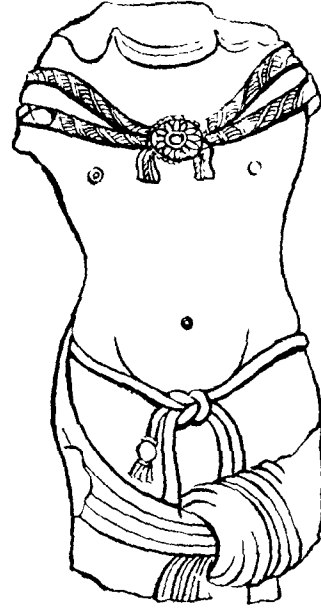
चित्र ३५६

की मूर्तियों से पहले बनाई गई थीं। प्राचीन काल में जो मूर्ति पूजा का विकास हुआ उसमें मोरा की वृष्णि मूर्तियों का विशेष महत्त्व है क्योंकि एक बार इन वैष्णव मूर्तियों के बन जाने पर सभी इस आन्दोलन से प्रभावित हुए एवं जैन-बौद्धों पर भी उसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। प्रथम शती ई० पू० अर्थात् महाक्षत्रप षोडाश के समय से सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल तक जो लगभग ५० वर्षों का समय था उसमें ही ऐसा निश्चय हो गया कि बौद्ध धर्म में भी मूर्तियों का निर्माण होने लगा।

कुषाण काल के आरम्भ में ब्राह्मण धर्म के देवताओं की अनेक मूर्तियाँ मथुरा शिल्प में बनाई जाने लगीं। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ी और गुप्त काल में अपने पूरे विकास पर पहुँच गई। मथुरा शिल्प कला में प्राप्त देवी-देवताओं की सूची इस प्रकार है—

१—शुंगकाल

१—बलराम २—पंचवृष्णि वीर

२—कुषाण काल १—ब्रह्मा

२—शिव :

अ—लिंग विग्रह आ—पुरुष विग्रह

इ—अर्धनारीश्वर विग्रह ई—शिव-पार्वती विग्रह

३—कार्त्तिकेय ४—गणपति

५—विष्णु ६—सूर्य

७—इन्द्र　　८—कामदेव
९—बलराम　　१०—सरस्वती
११—लक्ष्मी　　१२—दुर्गा : अ-महिषमर्दिनी और आ-सिंहवाहिनी,
१३—सप्तमातरः (सप्तमातृका)　　१४—कुबेर
१५—कुबेर एवं हारीती

ऊपर के सब देवी-देवता एवं निम्नांकित देवों की मूर्तियाँ गुप्त युग की कला में बनाई जाने लगीं-
१—शिव और विष्णु का संयुक्त रूप (हरिहर मूर्ति)
२—त्रिविक्रम अवतार में विष्णु
३—सूर्य का अनुचर पिंगल
४—सूर्य का अनुचर दण्ड
५—नवग्रह
६—कृष्ण की बाल-लीलाएँ, जैसे-शकट लीला, केशीवध लीला,
७—गंगा एवं जमुना
८—विविध आयुध पुरुष जिनका भगवान के अनुचर रूप में अंकन किया गया, जैसे शंख, चक्र, गदा, पद्म का इन आयुधों के साथ मानवी रूप।

इसमें से केवल शिव, सूर्य और गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ शुंग काल में बनाई गई थीं और कुषाण काल से पूर्व की हैं। इनमें से चार घोड़ों के रथ पर बैठे हुए सूर्य बोधगया की वेदिका पर और शिव दक्षिण भारत में गुड़िमल्लम् लिंग और उत्तर में भीटा शिवलिंग के रूप में प्राप्त हैं। गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ भरहुत, साँची, बोधगया, उदयगिरि-खण्डगिरि और पश्चिम भारत की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं।

मथुरा की देवमूर्तियाँ इस प्रकार हैं—

१—ब्रह्मा-पंचाल देश के राजा प्रजापति मित्र के सिक्कों पर प्रजापति या ब्रह्मा की मूर्ति पाई जाती है जिसकी एक मस्तक और संभवतः चार भुजाओं वाली आकृति है। मथुरा में ब्रह्मा के चार मस्तक और कभी-कभी संमुख दर्शन में केवल तीन दिखाए गए हैं। उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। उनके चार हाथ, सिर पर जटाजूट, चेहरे पर दाढ़ी और पेट बाहर निकला हुआ है। घटोदर, जटाजूट और दाढ़ी प्रायः उन देवों के लक्षण माने जाने लगे जो ब्राह्मण वर्ण के थे, जैसे ब्रह्मा और अग्नि। इनमें सबसे प्राचीन मूर्ति वह है जिसमें ब्रह्मा के तीन मुख नीचे (३८२) और उनके ऊपर छायामण्डल युक्त चौथा पूर्वकाय का भाग है (चित्र ३५७)। पृष्ठभाग में अशोक वृक्ष और उसके पल्लव

चित्र ३५७
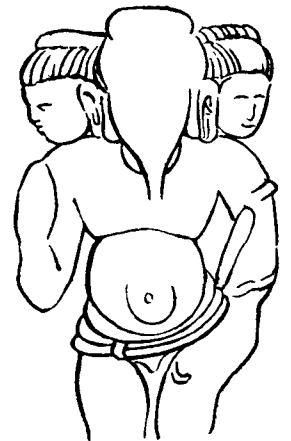
चित्र ३५८

अंकित हैं जैसा नागराज और इन्द्र की मूर्ति (३९२) में भी है। दोनों ही मूर्तियाँ कुषाण काल की हैं। ऊपर निकली मूर्ति का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है और उसमें बाएँ कन्धे पर उत्तरीय है। ब्रह्मा की पूजा गुप्त युग में भी जारी रही और उस समय की भी कई मूर्तियाँ सुरक्षित हैं (चित्र ३५८)। मध्यकाल में सरस्वती के साथ ब्रह्मा की मूर्तियाँ देश के कई भागों में पाई गई हैं पर मध्यकालोत्तर समय में ब्रह्मा की पूजा क्रमशः घट गई और लोगों की यह धारणा हो गई कि असत्य भाषण के कारण ब्रह्मा का पद पूजा में से हटा दिया गया। पर इसका सच्चा कारण तो शिव और विष्णु की पूजा की प्रधानता थी, जिनके अनुयायी अपने-अपने देवता को ही मुख्य मानते थे। इस कारण ब्रह्मा शिल्प कला में भी पीछे पड़ गए। किन्तु एक समय उनकी पूजा-मान्यता हिमालय से दक्षिण तक थी जहाँ उनकी मूर्तियाँ पाई गयी हैं। ब्रह्मा का एक मन्दिर कुम्भकोणम् में है। वर्तमान काल में ब्रह्मा का एक जीता-जागता मन्दिर अजमेर के समीप पुष्कर तीर्थ में है।

विष्णु—जैसा ऊपर कहा गया है मथुरा में भागवत धर्म के प्रधान देवता वासुदेव विष्णु की पूजा ५वीं शती ई० पू० से मिलने लगती है। जब शक वंश के रंजुवल और क्षहरात षोडाश का राज्य मथुरा में हुआ तब से कुषाण कला में विष्णु की मूर्तियाँ नियमित रूप से बनती रहीं। ऐसी कई मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें विष्णु सिर पर मुकुट, शरीर पर आभूषण और नीचे धोती पहने हैं। उनकी ४ भुजाओं का अंकन भी व्यवस्थित हो गया है, अर्थात्–दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बायाँ हाथ कट्यवलम्बित मुद्रा में जो अमृतघट लिए हुए हैं। दो अतिरिक्त हाथों में गदा और चक्र हैं। यदि इन दो अतिरिक्त भुजाओं को मूर्ति में से हटा दिया जाय तो विष्णु की मूर्ति मैत्रेय जैसी हो जाती है। दोनों का निर्माण प्रतिमा शास्त्र के एक ही सूत्र से किया जान पड़ता है (चित्र ३५९)।

चित्र ३५९ विष्णु

विष्णु की एक अन्य मूर्ति अष्टभुजी है, जो विभिन्न आयुध लिये है। कुछ मूर्तियों में खड़े हुए चतुर्भुजी विष्णु के बाईं ओर लक्ष्मी हैं और दोनों के बीच में छोटी गरुड़ मूर्ति है। पंचरात्र भागवत धर्म की वृद्धि और विकास के फलस्वरूप विष्णु की प्रतिमाओं में भी परिवर्तन हुआ। गुप्त युग में विष्णु की तीन प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा में बनने लगीं—

१—विष्णु की खड़ी हुई (स्थानक) स्वतन्त्र मूर्ति जो चार भुजाओं में चार आयुध लिये है।

२—नरसिंह-वराह विष्णु—जिसमें बीच का मुख मनुष्य जैसा और दाएँ-बाएँ कन्धों से निकलते हुए नरसिंह और वराह के मुख हैं (१७१)। इस मूर्ति को पुराणों में महाविष्णु या विश्वरूप विष्णु कहा गया है और वहाँ इसका प्रायः वर्णन आता है। गुप्तकालीन मथुरा कला में इस प्रकार की कई मूर्तियाँ मिली हैं।

३—कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ हैं जिनमें नरसिंह और वराह मस्तक के अतिरिक्त विष्णु के बड़े छाया-मण्डल पर वसु और रुद्र आदि की मूर्तियाँ हैं। ये विराट् रूपधारी विष्णु मूर्तियाँ हैं। (चित्र ३६०)

४—विष्णु की चौथे प्रकार की मूर्तियाँ शेषशायी रूप में है जिसमें सृष्टि विद्या सम्बन्धी भागवत सिद्धान्त को प्रतीक रूप में अंकित किया गया है। शेष ब्रह्म के अनन्त स्वरूप का प्रतीक है और विष्णु सीमित ब्रह्माण्ड या विश्व का जिसमें वे स्वयं व्याप्त हैं। इसका तात्पर्य है कि सान्त विष्णु की विधृति अनन्त शेष है।

चित्र ३६०

विष्णु का शब्दार्थ है विश्व में व्याप्त (वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः) और शेष का तात्पर्य है व्याप्ति की सीमा से अतीत ब्रह्म। अतः विष्णु और अनन्त शेष यह सार्थक प्रतीक भागवतों को अत्यन्त प्रिय हुआ और गुप्त युग से इसकी मूर्तियाँ बनने लगीं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जब विजय करते हुए विदिशा पहुँचे तो निकट की उदयगिरि पहाड़ी में शेषशायी विष्णु का गुफा मन्दिर बनाया गया।

गुप्त युग में कृष्ण के जीवन की लीलाओं का भी मूर्त रूप में प्रदर्शन होने लगा। जैसे, गोवर्धन लीला और कालिय-मर्दन लीला का अंकन मथुरा कला में, शकट लीला और सुदामा लीला का अंकन देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में, धेनुकासुर लीला और राधा-कृष्ण की प्रणय लीला के दृश्य पहाड़पुर के स्तूप में (जो कुछ काल बाद का है)। बीकानेर में सूरतगढ़ से प्राप्त मृण्मय फलकों पर भी कृष्ण लीला के कुछ दृश्य मिले हैं। मथुरा से एक खण्डित शिला पट्ट पर कृष्ण का मथुरा से गोकुल ले जाये जाने का दृश्य है जिसमें वसुदेव नवजात बालक को सिर पर टोकरी में रक्खे हुए यमुना पार कर रहे हैं (१३४४, दे० मथुरा संग्रहालय का सूचीपत्र)। इसकी शैली कुषाण काल की है। अतः सिद्ध होता है कि आरम्भिक कुषाण काल में ही कृष्ण की लीलाओं के अंकन में जनता की रुचि हो गई थी। (और भी दे०, डी २६)

बलराम—भागवत धर्म के आरम्भिक युग में बलराम या संकर्षण की पूजा वासुदेव के साथ की जाती थी। अष्टाध्यायी में संकर्षण-वासुदेव को देवताद्वन्द्व का उदाहरण माना गया है। बलराम की शुंग-कालीन (२ शती ई० पू०) मूर्ति मथुरा के जुनसुटी गाँव में मिली थी, जो अब लखनऊ संग्रहालय में है। खड़े हुए बलराम के मस्तक पर साँपों का फण है और पीठ पीछे सर्प-कुण्डली अंकित है। उनके दाहिने हाथ में मुसल और बाएँ में हल है। इससे यह सिद्ध है कि बलराम के प्रतिमा लक्षण शुङ्ग युग में ही निश्चित हो गए थे। बलराम का वेश यक्ष मूर्तियों के समान है, अर्थात् सिर पर भारी पगड़ी, कानों में कुण्डल, कन्धों पर उत्तरीय और नीचे अधोवस्त्र है जिसकी तिकोनी पट्टी टाँगों के बीच में लटकती हुई दिखाई गई है। मूर्ति का सम्मुख दर्शन चपटा है (दे० चित्र ३२०, पी० पृ० २८५)।

बलराम की मूर्तियाँ न केवल सर्प फणों से बल्कि बायें हाथ में गृहीत चषक से भी सूचित होती हैं। गुप्त मूर्तियों में उनके चतुर्भुजी शरीर पर वैजयन्ती माला है।

शिव—साहित्य में शिव का वर्णन वैदिक युग में ही पाया जाता है। उनके पशुपति रूप का अंकन भी मोहनजोदड़ो की मुद्रा पर हुआ है। ज्ञात होता है कि शिव की पूजा-मान्यता देश के विभिन्न भागों में प्रचलित थी। गन्धार, कपिशा और वंक्षु नदी के क्षेत्र में और शकों की मातृभूमि या मध्य एशिया में भी शिव पूजा का प्रचार था जैसा महाभारत में अर्जुन-दिग्विजय के प्रसंग में आया है (शाको नाम महाराज तस्य द्वीपस्य मध्यगः। तत्र पुण्याः जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ॥ भीष्मपर्व, १२।२६)। इसी कारण वेम कद्फ ने अपने मुद्रालेख में अपने आपको माहेश्वर कहा है।

यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में व्रात, व्रातपति, गण, गणपति आदि शब्दों से सूचित होता है कि सिन्धुनद के कबायली इलाकों में जहाँ ग्रामणी संविधान था शिवपूजा का बहुत प्रचार था। श्रीफूशे ने भी सिद्ध किया है कि कुषाण सम्राटों ने भारत प्रवेश से पूर्व ही उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शिवपूजा को स्वीकार कर लिया था। वेम कद्फ के सभी सिक्कों पर शिव या उनके बैल नन्दी का अंकन है। कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के सिक्कों पर भी शिव की मूर्ति का अंकन जारी रहा। कुषाण युग में मथुरा शैवों के पाशुपत धर्म का बड़ा केन्द्र बन गया था। पाशुपत लोगों में लिंगार्चन का बहुत महत्त्व था। इसीलिए मथुरा में अनेक शिवलिंगों की स्थापना हुई। शिव के ईश्वरान्त नामों की कल्पना भी तभी से होने लगी। आगरा के पास जटेश्वर शिवलिंग की मूर्ति मिली है, जिसपर कुषाण कालीन लेख है। गुप्त युग में लिंगार्चन की पूजा-पद्धति का मथुरा में और भी विकास हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक बड़े लेख से (३८१ ई०) ज्ञात होता है कि दो पाशुपति आचार्यों ने उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक शिव लिंगों की स्थापना की।

शैव धर्म की लोकप्रियता मथुरा की अन्य मूर्तियों से भी सूचित होती है। शिवमूर्तियों के कई रूप मिलते हैं, यथा—

१—लिंग विग्रह जो बिल्कुल सादा है (चित्र ३६१)।

२—एकमुखी शिवलिंग जिसमें मूर्ति के एक ओर मानव मुख है (चित्र ३६२)।

३—पंचमुखी शिव लिंग जिसमें चार मुख चार दिशाओं में हैं और एक सब से ऊपर है (चित्र ३६३)। यह उस समय की स्थिति थी, जब पाशुपत आचार्यों ने पंचब्रह्म सिद्धान्त का विकास किया। शिव के इन पाँच मुखों के नाम ये थे—

१—सद्योजात—इसका सम्बन्ध पृथिवी तत्त्व से था।

२—वामदेव—इसका सम्बन्ध जल तत्त्व से था।

कालान्तर में इसका अंकन सुन्दर स्त्री के मुखरूप में किया जाने लगा, जैसा एलिफेण्टा की पंच-ब्रह्म या महेश मूर्ति में है।

३—अघोर—जिसका सम्बन्ध अग्नितत्त्व से है। कालान्तर में इसका चित्रण भयानक मुख या मेष रूप में किया जाने लगा, जैसा एलिफेण्टा की मूर्ति के दाहिने मुख में है।

४—तत्पुरुष—इसका सम्बन्ध वायु तत्त्व से है। वायु साक्षात् प्राण का रूप है और उपनिषदों में इसे प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है।

५—ईशान--इसका सम्बन्ध आकाश तत्त्व से है, जो सर्व व्यापक और सबसे सूक्ष्म है और जिसे वेदान्त ब्रह्मसूत्रों में उसका ही स्वरूप माना है। शिव के पंचमुखों के रूपों में इन पाँच तत्त्वों का
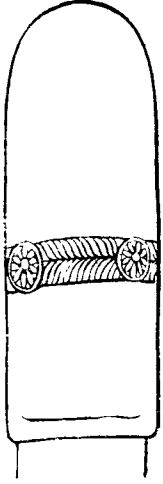
चित्र ३६१ चित्र ३६२ चित्र ३६३

ही अंकन किया गया ऐसा लिंग पुराण में स्पष्ट पंचब्रह्म सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पाशुपत आचार्यों ने इसे अपने दर्शन का आधार बनाया और ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय, ५ तन्मात्रा और ५ ध्येयों का विकास शिव के इन्हीं ५ मुखों से माना। अर्थात्, सांख्यों के जिस दर्शन को उन्होंने अपनाया था उसका मूल आधार शिव के पंचमुखी स्वरूप में कहा गया। स्वयं शिवलिंग सृष्टि का प्रतीक है और उसके पंचमुख व्यक्त पंच भौतिक विश्व के प्रतीक हैं (अव्यक्तं लिंगमुच्यते-लिंग पु० ३।१)
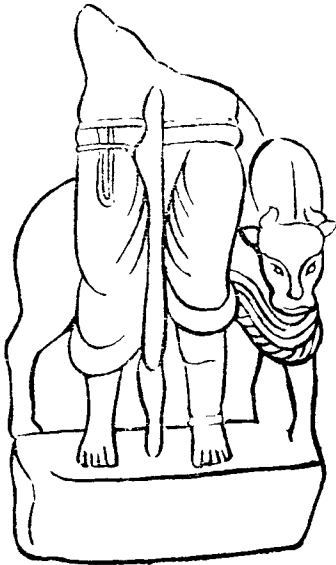
चित्र ३६४

४--नन्दी वृषभ के आश्रय से खड़े हुए शिव नन्दिकेश्वर। नन्दी वृषकाय का प्रतीक था जो विश्व के सब पदार्थों में सर्वोपरि आनन्द को देने वाला है। (चित्र ३६४)

५--शिव पार्वती रूप-जिसमें पार्वती शिव के वामांग में खड़ी हैं। इस विग्रह में शिव ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी के रूप में हैं। (चित्र ३६५)

६--अर्धनारीश्वर-यह शिव का नरनारीमय शरीर है, जिसमें दक्षिणार्ध भाग पुरुष का और

वामार्ध भाग स्त्री का है (चित्र ३६६)। अर्धनारीश्वर मूर्ति में एक ओर पुरुष व्यंजन और दूसरी ओर स्त्री व्यंजन दिखाए जाते हैं, जैसे दाहिनी ओर जटाजूट, ऊर्ध्वमेढ़ और बाघाम्बर और बायीं ओर अलकावली, कर्ण कुण्डल, एक स्तन, मेखला और साड़ी।
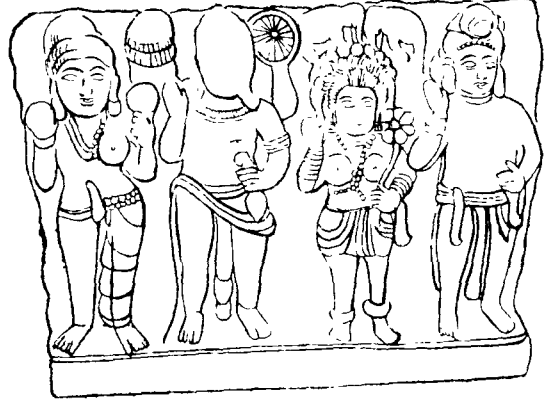
अर्धनारीश्वर

चित्र ३६५ ५ चित्र ३६६

सूर्य--सूर्य की शुंगकालीन मूर्ति (लगभग प्रथम शती ई० पू०) बोधगया के वेदिका स्तम्भ पर मिली है। भाजा की मूर्ति तो अब राजा मान्धाता सिद्ध हुई है। बोधगया के सूर्य ४ घोड़ों के रथ पर बैठे हैं और धोती और उत्तरीय पहने हैं। इससे भिन्न सूर्य मूर्ति आरम्भिक कुषाण कला में पाई जाती है, जिसमें उदीच्य वेष पहने हुए सूर्य दो घोड़ों के रथ पर बैठे हैं। वे कुर्सी पर बैठने की मुद्रा में पैर लटकाए हैं जिसे पर्यंक-ललित आसन कहा जाता था। उनके बाएँ हाथ में तलवार है और दाहिने में कमल के फूलों की पोंछी है। सूर्य का उदीच्य वेष शक प्रभाव से हुआ। उसमें लम्बा कोट, सलवार और जूते शकों के वेष से लिए गए। ईरान में मिथ्र या मिहिर की पूजा का अत्यधिक प्रचार था। वहीं से यह शब्द कुषाण लोग अपने साथ लाए। मिहिर और माह अर्थात् सूर्य और चन्द्र इन दो देवताओं की मान्यता पह्लव जाति या पार्थियन लोगों में भी थी। कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों पर भी ये चित्रित हैं। कुषाण युग की सूर्य मूर्तियों के लक्षण इस प्रकार हैं--

१—कुषाण सम्राट् की भाँति सूर्य भी सिरपर पगड़ी, शरीर पर कोट, कमर में पटका, टाँगों में सलवार और पैरों में मोटे जूते पहने हैं। केवल सूर्य की ही मूर्तियों में जूते दिखाए जाते हैं। (चित्र ३६७)

२—वे पर्यंकलीलासन में (योरोपीय मुद्रा की भाँति) पैर लटकाए हुए बैठे हैं।

३—वे दाहिने हाथ में फूलों का गुच्छा और बाएँ में चौड़े फल की ऊना कटारी लिए हैं।

४—वे आरम्भिक मूर्तियों में २ घोड़ों के रथ में बैठे हैं। घोड़ों की संख्या बाद में ४ और फिर ७ हो गई।

सूर्य की कुछ खड़ी हुई मूर्तियाँ भी हैं, जिनका वेश और हाथों के आयुध इसी प्रकार के हैं। कालान्तर में छुरी की जगह भी कमल चित्रित किया जाने लगा और गुप्त काल के बाद दो कमलों से युक्त शिवमूर्ति भी सर्वमान्य हो गई।

चित्र ३६७ सूर्य

५—गुप्तयुग की सूर्य मूर्तियों में उनके दो पार्श्वचर दण्ड और पिंगल भी दिखाए जाने लगे। दण्ड के हाथ में एक लम्बा दण्ड और पिंगलके हाथ में कलम-दावात बनाई जाती है। दण्ड और पिंगल की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके वेश में कुलह टोपी, शरीर पर भारी कोट, सलवार और जूते सूर्य जैसे ही हैं। इनका चोगा विशेष प्रकार के किमखाब के कपड़े का बना हुआ है, जिसे उस युग में स्तवरक कहते थे और जो ईरान से भारत में लाया जाता था। सूर्य के परिवार में ऊषा और प्रत्यूषा का भी अंकन पाया जाता है जो भारतीय परम्परा से ली गई थीं। उनके अतिरिक्त राज्ञी और निक्षुभा नामक देवियाँ भी सासानी परम्परा से लेकर अंकित की गईं।[1]

कार्त्तिकेय—कार्त्तिकेय की कई अच्छी मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं। कुषाण युग में कार्त्तिकेय की पूजा अत्यन्त लोकप्रिय थी। कार्त्तिकेय के अतिरिक्त, स्कन्द कुमार और विशाख की पूजा भी प्रचलित थी। काश्यप संहिता में (पृ० ६७) इन चारों को देवी षष्ठी का भाई कहा गया है और नन्दिकेश्वर को ५वां भाई बताया है। नन्दिकेश्वर का तात्पर्य नंदी वृषभ के सहारे खड़े हुए शिव की मूर्ति है। कुषाण सिक्कों पर इन चारों भाइयों का नामोल्लेख और नन्दिकेश्वर का चित्र मिलता है। मूर्तियों में कार्त्तिकेय को द्विभुजी दिखाया गया है। उसका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है और बायाँ शक्ति लिए है। उसकी संज्ञा इसी से शक्तिधर भी हुई। स्कन्द के वाहन रूप में कभी कुक्कुट और कभी मयूर दिखाया गया है। मथुरा में कार्त्तिकेय की एक खड़ी हुई मूर्ति मिली है, जो बिल्कुल बोधिसत्त्व

---

१. भविष्य पु०, ब्राह्म पर्व ७७।१२;७९।४।

जैसी है (चित्र ३६८) किन्तु उसके दाहिने हाथ में लम्बी शक्ति है और चौकी पर के लेख में कार्त्तिकेय नाम दिया है। शनैः शनैः कार्त्तिकेय की महिमा बढ़ती गई और गुप्त युग में वह राष्ट्रीय देवता बन गया। कालिदास कृत कुमारसम्भव में कुमार या स्कन्द की महिमा का परम उत्कर्ष पाया जाता है। गुप्तकालीन एक मूर्ति में कुमार या मयूर वाहन के साथ स्कन्द का रूप पाया जाता है। उसके दाहिनी ओर चतुर्भुज ब्रह्मा और बाईं ओर शिव देवसेना के पति रूप में स्कन्द का अभिषेक कर रहे हैं। यह भव्य मूर्ति थी जो अब कुछ खिया गई है। एक अन्य मूर्ति मिट्टी की है, जो जमुना से मिली थी, उसमें कुमार कार्त्तिकेय बालरूप में मयूर वाहन पर दिखाए गए हैं। वह मथुरा की पार्थिव कला का अत्यन्त सुन्दर नमूना है। सप्त मातृकाओं में कुमारी का अंकन कुषाण काल से ही होने लगा था और गुप्त काल में तो उसके विशेष लक्षण शक्ति और मयूर वाहन भी दिखाए जाने लगे।

चित्र ३६८ कार्त्तिकेय

गणेश—कुषाण काल से गणेश मूर्ति अभी तक नहीं मिली है। आरम्भ में गणेश यक्ष श्रेणी के देवता थे। उस रूप में उनका अंकन मथुरा और अमरावती की कला में हुआ है। शनैः शनैः हाथी के मस्तक वाला यक्ष देवता देव मूर्ति के रूप में परिवर्तित हो गया। गुप्तकाल में इसके दो रूप थे—१- पुरुषाकृति शुंडधारी गणपति और २ नृत्य गणपति।

इन्द्र—बौद्ध प्रतिमाओं में इन्द्र और ब्रह्मा को बुद्ध के पार्श्वचर रूप में अंकित किया गया है। राजगृह की इन्द्रशैल गुफा में बुद्ध की पूजा करते हुए इन्द्र को अकेले भी दिखाया गया है, जैसे मथुरा के तोरण सं० एम० ३ (मथुरा संग्रहालय) पर इस दृश्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। एक विशेष मूर्ति में इन्द्र को बहुशीर्षक दिखाया गया है। उसके बीच में इन्द्र की और कंधों से निकलती हुई पाँच अन्य मूर्तियाँ हैं (चित्र ३६९)। इन्द्र के मस्तक पर शूर्पाकृति मुकुट है, जो मथुरा कला में उसका विशेष लक्षण है। इस मूर्ति की पहचान इन्द्र के पंचेन्द्र स्वरूप से की जा सकती है जिसका उल्लेख महाभारत और मार्कण्डेय पुराण में आया है। इन्द्र का अंकन वज्रपाणि यक्ष (चित्र ३७०) के रूप में भी हुआ है जो हाथ में वज्र लिये है, किन्तु उस रूप में वह बुद्ध का अनुचर है। इन्द्र प्रतिमाओं में ऊपर की ओर उठा हुआ आयताकार मुकुट उसका विशेष लक्षण है। कभी-कभी माथे पर तीसरा नेत्र भी दिखाया गया है।

अग्नि—पंचाल के राजा अग्निमित्र के सिक्कों पर अग्नि का चित्र है, जो ज्वालमाला से घिरा है। कुषाण सिक्कों पर उसे ईरानी नाम अथसो (=आतिश) के साथ चित्रित किया गया है। अग्नि की कुषाण कालीन मूर्ति अब तक नहीं मिली पर गुप्तकालीन कई मूर्तियाँ हैं जिनमें उसे

यज्ञोपवीतधारी, जटाजूट सहित, घटोदर रूप में दिखाया गया है। उसके दाहिने हाथ में अमृत घट है और शरीर के चारों ओर ज्वालाएँ दिखाई गई हैं।

चित्र ३६९ पंचेन्द्र चित्र ३७० वज्रपाणिइन्द्र

लक्ष्मी—गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ शुंग काल से ही मिलने लगती हैं। मथुरा से प्राप्त कुछ छोटी मूरतें भी उसी प्रकार की और सम्भवतः उसी समय की हैं। उनमें एक स्त्री मूर्ति हाथों में कमल लिए हुए कमल के आसन पर कमलों के वन में खड़ी है और दो हाथी अपनी सूँड़ों में आवर्जित घट उठाये हुए उसका अभिषेक कर रहे हैं। लक्ष्मी की यह मूर्ति अत्यन्त लोकप्रिय हुई। फलतः देवी की बड़ी और चतुर्दिक दर्शन वाली मूर्तियाँ भी बनने लगीं। मथुरा से एक ऐसी मूर्ति मिली है जो भारतीय कला में अनुपम है। इसमें देवी श्रीलक्ष्मी कमलों से भरे पूर्ण घट पर खड़ी है। वह अपने बायें हाथ से दुग्धधारिणी मुद्रा में दूध की धार छोड़ती हुई दिखाई गई है। उसके पीछे सनाल कमलों का सुन्दर चित्रण हुआ है जिसमें पत्तियाँ, नीलोत्पल की कलियाँ और रक्तोत्पल के फुल्ले दिखाये गये हैं। कमल की उठती हुई बेल पर मोर-मोरनी का जोड़ा है। यह किसी प्रतिभाशाली कुषाण शिल्पी की उत्तम कृति है (दे० चित्र ३११, पृ० २७८)। मध्य एशिया के दन्दान उइलिक स्थान के चित्रों में भी एक ऐसी मूर्ति मिली है जिसकी पहचान श्रीलक्ष्मी से ही सम्भव है। उसमें नीचे एक बालक भी दिखाया गया है।

देवी श्रीलक्ष्मी स्वर्ग के नन्दन वन की देवता थी। श्रीसूक्त में उसका विस्तार से वर्णन है। लोक और वेद दोनों में उसकी मान्यता थी और उसकी धार्मिक पूजा यजुर्वेद के समय से आज तक चली आती है। श्रीलक्ष्मी देवों की और माया असुरों की देवी थी। मथुरा की कला में कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनके केशविन्यास में अंकुश, परशु, कटारी, दर्पण आदि चिह्न हैं। ये सम्भवतः

माया देवी की हैं। अश्वघोष के एक उल्लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि माया देवी श्रीलक्ष्मी से भी प्राचीन थी। पर एक समय ऐसा आया जब श्रीलक्ष्मी का स्थान सर्वोपरि हो गया। कुषाणकालीन कई मूर्तियों में हारीती और लक्ष्मी को कुबेर की पत्नी के रूप में साथ-साथ दिखाया गया है (चित्र ३७१)। बाद में लक्ष्मी गणेश की पत्नी के रूप में अंकित की गई। विष्णु के साथ लक्ष्मी का सम्बन्ध सुविदित है। आरम्भिक कुषाण कला में भी लक्ष्मी को विष्णु पत्नी के रूप में चित्रित किया गया। गुप्तकाल में विष्णु और लक्ष्मी की प्रतिमाओं का सम्बन्ध निश्चित हो गया और शेषशायी विष्णु की मूर्तियों में लक्ष्मी विष्णु का चरण संवाहन करती हुई दिखाई जाने लगी।
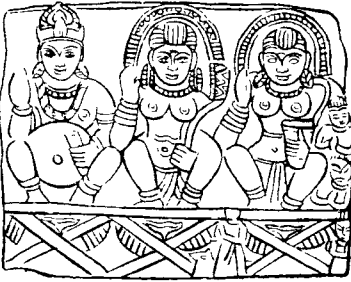
चित्र ३७१
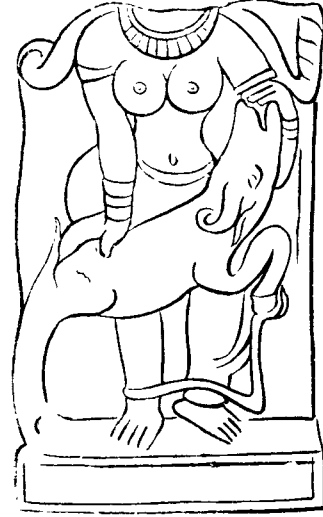
चित्र ३७२

दुर्गा—सिंहवाहिनी चतुर्भुजी दुर्गा की मूर्ति कुषाण काल में बनने लगी थी, पर उस युग में सबसे अधिक लोकप्रिय महिषासुरमर्दिनी या कात्यायनी देवी की मूर्ति थी। (चित्र ३७२)। उसकी चतुर्भुजी और षट्भुजी रूप में कितनी ही मूर्तियाँ कुषाण और गुप्तकला में पाई गई हैं। मार्कण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा के कर्म और गुणों का दिव्य वर्णन है। उसमें कहा गया है कि महिषासुर के कटे हुए कण्ठ से उसका असुर रूप प्रकट हुआ जो गुप्तकालीन मूर्तियों का लक्षण है। शनैः शनैः महिषासुर देवी की पूजा मान्यता उत्तर से दक्षिण तक फैल गई, जैसा महाबलिपुरम् में उत्कीर्ण पल्लवकालीन महिषमण्डप की कात्यायनी मूर्ति से प्रकट होता है जिसमें महिषासुर भी अपनी समस्त शक्ति से देवी के साथ युद्ध करता हुआ दिखाया गया है।

सप्तमातृका—कुषाण युग में सप्तमातृका पूजा के रूप में देवी के विविध अवतारों की भी मान्यता हुई। वस्तुतः सप्तमातृकाओं की कल्पना वैदिक थी, किन्तु कुषाण युग के धार्मिक आचार्यों ने उसकी नई व्याख्या की और उस युग के सात देवताओं को लेकर सप्तमातृका कल्पना की गई। जैसे—ब्रह्मा की ब्रह्माणी, विष्णु की वैष्णवी, शिव की माहेश्वरी, इन्द्र की इन्द्राणी, कुमार की कौमारी, वराह की वाराही, नृसिंह की नारसिंही और यम की चामुण्डा। आरम्भिक कुषाण कला में ये सातों देवियाँ सीधे-सादे वेश में घाघरा पहने हुए आयुध और लांछन के बिना दिखाई गई हैं। इस

प्रकार का एक स्फुट मातृका पट्ट कुषाण युग से प्राप्त हुआ है (चित्र ३७३)। उसके बाद के मातृका-पट्टों में देवियों के आयुध और वाहन भी दिखाये जाने लगे। कई मूर्तियों में देवियाँ गोद में बालक
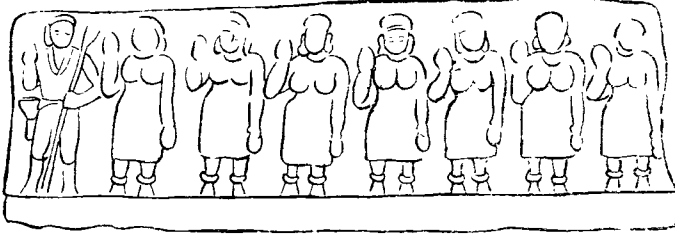
चित्र ३७३

भी लिये हैं। एक पट्ट पर केवल तीन देवियाँ उत्कीर्ण हैं। उनमें कोई लांछन नहीं है। पर सम्भवतः वे ब्रह्माणी, वैष्णवी और माहेश्वरी की मूर्तियाँ हैं। कुषाण काल के बाद मातृकाओं की संख्या में विशेष वृद्धि हुई और सात प्रधान मातृकाओं के अतिरिक्त १०,१२,१६ मातृकाएँ मानी जाने लगीं। चौंसठ योगिनी भी मातृकाओं के ही रूप थे। देवियों की एक सूची में तो यहाँ तक कहा गया है कि लोक में मातृकाओं की संख्या का अन्त नहीं है। काश्यप संहिता के रेवती कल्प में जातहारिणी या हारीती को भी माता मानकर उसके अनन्त भेद बताये गये हैं। बाहर से आने वाली शक, कुषाण, हूण आदि जातियाँ भी अपने-अपने साथ अपनी-अपनी मातृदेवी की पूजा-मान्यता लेती आईं। इसी प्रकार धोबी, तेली, कुम्हार आदि सैकड़ों जातियों और पेशेवरों की भी अपनी-अपनी मातृदेवियाँ थीं। उन सबका अन्तर्भाव जातहारिणी देवी में किया गया और जिसकी बच्चों और गृहस्थों के मंगल की एक बड़ी देवी के रूप में प्रतिष्ठा भी हुई और उसमें अनेक छोटी मातृकाओं का अन्तर्भाव हो गया।

अध्याय ११

११. गन्धार कला

गन्धार, यह भौगोलिक नाम ऋग्वेद में आता है। वहाँ गन्धारि का अर्थ है—गन्धार के निवासी और विशेषतः गन्धार की मोटे ऊन वाली भेड़ का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में भी नाम का यही रूप दोहराया गया है किन्तु ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में 'गान्धार' नाम है, जो शिल्पाचारियों की सूची में गन्धार के नग्नजित् के लिए है। छान्दोग्य उपनिषद् में गन्धार देश को पश्चिम में कहा है और लिखा है कि एक जाना-पहचाना मार्ग गन्धार को मध्यदेश से मिलता था। पाणिनि ने गान्धारि रूप दिया है (४.१.१६९)। यह महा जनपद था जिसके बीच में से बहता हुआ सिन्धु नद उसे दो भागों में बाँटता था—एक पूर्व गन्धार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, और दूसरा अपर गन्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी। कनिंघम के अनुसार गन्धार की सीमाएँ इस प्रकार थीं—पश्चिम में लम्पाक (आधुनिक लघमान) और नगरहार (आधुनिक जलालाबाद), उत्तर में सुवास्तु (स्वात) की पर्वतमाला, पूर्व में सिंधुनद और दक्षिण में कालाबाग की पहाड़ी। ग्रन्थों में गन्धार को उद्यान भी कहा गया है। पर वस्तुतः इसका नाम उड्डीयान स्वात देश था (जातक ४.३५२)। इस प्रकार स्वात, काबुल और सिंधु, इन तीन नदियों की द्रोणियों में घिरा हुआ प्रदेश गन्धार था। इस महा जनपद का महत्त्व बड़े मार्ग के कारण था जो तक्षशिला, साकल, मथुरा, कौशाम्बी, प्रयाग को आपस मिलाता था। यह मार्ग सारे एशिया के व्यापार की धमनी थी। सिंधु को पार करने वाले इस मार्ग का एक टुकड़ा ओहिन्द (प्राचीन उद्भाण्ड), शाहबाजगढ़ी, होती मर्दान और चारसद्दा (पुष्कलावती) को मिलाता था। कनिष्क के राज्यकाल में एक नया पथ पेशावर से सिंधु को मिलता हुआ निकाला गया। किन्तु ये सब पुराने प्रदेश गन्धार का ही अंग माने जाते रहे। नवीन स्थान पेशावर और प्राचीन पुष्कलावती से नगरहार या जलालाबाद होकर मार्ग पहले की भाँति कपिशा और बामियाँ की घाटी में होता हुआ और फोन्दुकिस्तान से आगे बढ़कर बाह्लीक तक चला जाता है। इसलिए इन सातों स्थानों पर कला के मूल्यवान अवशेष पाये गये हैं। यह महान द्रोणी गन्धार कला की धात्री भूमि थी। इसके सात केन्द्र इस प्रकार थे—१. तक्षशिला। २. पुष्कलावती, ३. नगरहार। ४. स्वात घाटी या उड्डीयान। ५. कापिशी। ६. बामियाँ ७. बाह्लीक या बैक्ट्रिया। तक्षशिला का नाम भद्रशिला भी है, यह सिंधु के पूर्व गन्धार की राजधानी, कला का प्रधान केन्द्र और व्यापार की बड़ी मण्डी थी। गन्धार देश की महती शिल्पकला का केन्द्र यहीं था, जहाँ हजारों मूर्तियाँ सिलेटी रंग के परतदार पत्थर की बनाई गई हैं। तक्षशिला में कला के तीन स्थान मिले हैं जो कालक्रम से अस्तित्व में आये हुए तीन नगर थे—भीर, सिरकप और सिरसुख। तक्षशिला का केन्द्र भीर का टीला था जो मौर्यकालीन था, सिरकप यवन-पह्लव और अपने अंतिम छोर में कुषाणों की भी पुरी थी, तीसरा सिरसुख केवल कुषाण युगीन है। हखामनि वंश के कुरुष, दारयवहु और चरक्सीज राजाओं के राज्य में तक्षशिला की गिनती की जाती थी। यवन राज्य सिकन्दर का भी अधिकार यहाँ था और अंत में उसके सेनापति सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से पराजित होकर यह नगर उसे प्रदान किया। मौर्य युग के अनन्तर बाह्लीक-यवन,

शक-पह्लव और कुषाण सम्राटों का तक्षशिला पर अधिकार हुआ। मार्शल ने भीर टीले का काल सातवीं शती और सिकन्दर (३२६ ई० पूर्व) के बीच माना है। यह स्थान यूनानियों से पूर्व-काल में भी अस्तित्व में था और यहाँ से आहत मुद्राओं के दो निधान मिले हैं जिनमें एक सिकन्दर का सिक्का और दूसरा फिलिप एरिडीयस का सिक्का था जो लगभग नयी हालत में है। सिकन्दर के सिक्के पर एक ओर सिंहमुखी पगड़ी समेत उसका मस्तक और दूसरी ओर आसन पर बैठा हुआ जीउस दिखाया गया है। भीर टीले से बहुत तरह के मिट्टी के बरतन प्राप्त हुए हैं। उकेरे हुए छोटे टुकड़े, ठप्पेदार गोल फुल्ले और मिट्टी के खिलौने, पत्थर की तश्तरी, हाथीदाँत और अस्थि की बनी हुई प्रसाधन सामग्री, ताँबे का सामान, सोने और काँसे के गहने, लोहे के औजार और घरेलू बरतन, मनके और नग, सिक्के और अन्य विविध वस्तुएँ।

तक्षशिला में दूसरा स्थान सिरकप था जो दूसरी शती ई० पूर्व में स्थापित हुआ और बाह्लीक-यवन, शक-पह्लव एवं कुषाण सम्राट् वेमकद्फ के समय तक जारी रहा।

इसके बाद कनिष्क काल से राजधानी सिरसुख में आ गई। खुदाई से एक ईरानी मन्दिर और दो यूनानी स्तम्भ प्राप्त हुए हैं। यह मन्दिर पह्लवों के शासन में बना।

सिरकप के बाद तक्षशिला में सिरसुख कला का उदय हुआ जिसका समय ७८ ई० से २०० ई० तक माना जा सकता है। सिरसुख में एक दुर्ग बनाया गया जिसका प्राकार पत्थर के ढोकों का है और उसके बीच-बीच में अर्ध गोलाकार अट्टालक या बुर्ज हैं। उनके पीछे किले के भीतर की ओर एक चौड़ी सड़क थी। सिरसुख किले के भीतर एक राजप्रासाद के अवशेष भी मिले हैं। पास ही बादलपुर में कुषाणकालीन स्तूप भी मिले हैं और लालचक में एक दूसरा स्तूप मिला था जिसमें हूणों के सिक्के पाये गये थे।

सिरसुख में एक स्तूप शिरोदान स्तूप है। इसकी कहानी दिव्यावदान में दी गई है। वहाँ कहा गया है कि चन्द्रप्रभ राजा ने दानवीरता से प्रेरित होकर अपने मस्तक का दान कर दिया। दूसरा स्तूप कुणाल के नाम से संबंधित है और उसके विषय में कहा जाता है कि राजा अशोक ने अपने पुत्र कुणाल के चक्षुदान की स्मृति में उस स्तूप का निर्माण कराया। वह स्तूप त्रिमेधि के आकार का है और उसकी भूमिगत ऊँची मेधि तक पहुँचने के लिए सोपान बने हैं (१०५ फुट लम्बी, ६३ फुट ९ इंच चौड़ी मेधि)। इस स्तूप का अलंकरण कोरिन्थ शैली के छोटे स्तम्भों से किया गया है जो निकलते हुए गोले-गलते पर बैठाये गये हैं और किसी समय उनके ऊपर दंदानेदार नासिका और उष्णीश की शोभा एवं नासिका और शीर्षकों के बीच में कोणक स्थानों को भरने के लिए घुड़िया भी थीं।

तक्षशिला के पड़ोस में मोहरा मोराड़ु, पिप्पल और जौलियाँ के अवशेष भी मिले हैं। जौलियाँ के अवशेष सबसे सुरक्षित और प्रभावशाली हैं। मोहरा मोराड़ु में एक विहार और कई स्तूप हैं जिनपर सुन्दर गचकारी का काम है। विहार की नींव में वासुदेव के अनेक सिक्के पाये गये हैं। जौलियाँ में भी मोहरा मोराड़ु से मिलता हुआ एक विहार और स्तूप प्राप्त हुए हैं जो कुषाण युग में बने थे। जौलियाँ के स्तूपों पर गचकारी के उभरे हुए काम में बुद्ध, बोधिसत्त्व, उपासक, विकट यक्ष जो पंक्तियों में भारपुत्रक या भारवाही देवों की मुद्रा में हैं, दिखाये गये हैं। बच्चों के साथ स्त्रियाँ और पार्श्वचर मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं।

पिप्पल में दो विहार और एक स्तूप मिला है जिस पर यूनान की आयोनियन शैली के स्तम्भ और भारतीय कमल के फुल्ले बने हैं।

चित्र ३७४ धर्मराजिका
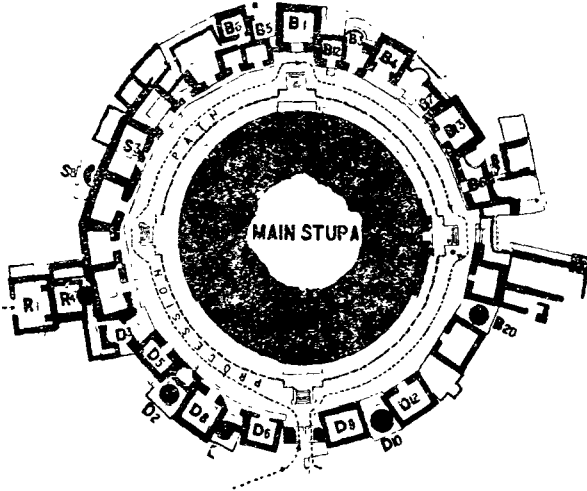
तक्षशिला में सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष धर्म राजिका या चीर स्तूप है (चित्र ३७४), जिसका यह नाम उसकी चोटी पर पड़ी एक बड़ी दरार से है। यह स्तूप आकृति में गोल है और एक ऊँची मेधि पर बना है जिसमें चार दिशाओं में चार सोपान हैं। स्तूप के भीतरी गाभे की ओर कत्तल और अनगढ़ ढोकों की चिनाई है और उससे बाहर निकलती हुई ३′–५′ तक की मोटी दीवारें हैं जो कुषाण काल में बढ़ाई गई थीं। स्तूप का बाहरी कंचुक अश्म शिलाओं से बना है जिसके बीच-बीच में गढ़े हुआ खंजड़ पत्थर के टुकड़े गोले-गलते से और गचकारी के लिए लगे हुए हैं। किसी समय ऊपर से नीचे तक स्तूप के बाहरी भाग में चूने या गचकारी का काम था। स्तूप के अधिष्ठान भाग से ऊपर पत्थर की प्रभावशाली उकेरी में बहुत से अलंकरण और रथिकाएँ या आले बनाये गये थे जिसके बीच बीच में कोरिंथ शैली के झुके हुए स्तम्भों सहित तोरण या द्वार दिखाए गए थे। इन आलों में बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ रक्खी गई थीं। मूल धर्मराजिका स्तूप की रचना अल्पेशाख्य या छोटे रूप में अशोक के राज्यकाल में हुई। फिर इसे कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में महेशाख्य रूप दिया गया। इसका अन्तिम संस्कार लगभग ५वीं शती में हुआ जब खञ्जड़ पत्थर की गोले-गलतों वाली सजावट की गई। स्तूप के पादमूल में बनी हुई ऊँची मेधि प्रदक्षिणापथ का काम देती थी। इस मेधि में तीन चेजे पाए गए हैं। पहला चेजा पत्थर के गहरे भूरे रंग के चौकों से बना हुआ था। दूसरा चेजा जो ठीक पहले के नीचे था काँच के चौकों का बना था जिसके नीचे चूने का कूटा हुआ फर्श था। उसके नीचे बालू और चूने को मिलाकर एक तह दी गई थी। उस पर शंख की चूड़ियों को जोड़कर और चूने में वैठाकर कई प्रकार के ज्यामितिक अलंकरण बनाए गये थे। शंख की चूड़ियाँ कुछ पूरी गोल थीं और कुछ आधी और कुछ चौथाई।

स्तूप के पूर्व की ओर सोपान की बाईं तरफ एक खम्भे का निचला हिस्सा पाया गया जिस पर किसी समय सिंह शीर्षक था जैसा सिरकप के खम्भों पर बना था।

तक्षशिला के पठार पर बने इस स्तूप के चारों ओर बहुत से छोटे स्तूप थे जो प्रथम शती ई० में मोटे काम की चिनाई के गर्भ से बनाए गए थे। जब ये खण्डित हो गए तो इनकी जगह बहुत से बौद्ध मन्दिर या छोटी गन्धकुटियाँ निर्मित हुईं। इनका मुख महास्तूप की ओर था और उनकी दीवारों के चेजे गढ़े हुए पत्थर की ईंटों के थे। इन मन्दिरों के ऊपर बाद में गढ़ी हुई बड़ी शिलेष्टिकाओं के बीच-बीच अनगढ़ ढोकों और कत्तलों की खड़ी धारियाँ डालकर 'सम्मिलित' नई चिनाई की गई। तीसरी, चौथी और पाँचवी शती में इसी प्रकार की चिनाई का रिवाज हो गया था।

इस प्रकार प्रधान स्तूप के पास ३ प्रकार की चिनाई वाले छोटे मन्दिर बनाए गए—पहली (क्षहरात-शक काल प्रथम शती ई० पू०) पत्थरों की कतलों से, दूसरी (प्रथम शती ई०) गढ़ी हुई ईंटों से, और तीसरी (२-३-४-शती) दोनों के सम्मिलित रूप से। उत्तर-पश्चिम के धर्मराजिका स्तूप तथा अन्य स्तूपों में इन कई प्रकार के चेजों के भेद से उनके तिथिक्रम की ठीक पहचान की जा सकती है। इन मन्दिरों से प्राप्त चूने और मिट्टी की छोटी मूर्तियाँ बाद के समय की हैं।

तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप के समीप एक बड़ा विहार भी था उसमें चौड़े आँगन के चारों ओर कोठरियाँ बनी हुई थीं। उसी के साथ रसोईघर और भोजन शाला भी थी। इस प्रकार के गोल स्तूप और चौकोर विहार से युक्त भवन युवाङ्-च्वाङ् के समय तक बनते रहे। तक्षशिला के आस-पास का पूरा पहाड़ी इलाका इस प्रकार के अवशेषों से भरा है।

इसी पुराने मार्ग पर शहबाजगढ़ी, होती मर्दान और पुष्कलावती (आधुनिक चारसद्दा) नामक स्थान थे। कालिदास ने तक्षशिला और पुष्कलावती को गंधर्व देश या गन्धार की दो राजधानियाँ कहा है जो सिन्धु नदी के पूर्व और पश्चिम में थीं। यहाँ के निवासी गुप्त युग में गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध थे। इस स्थान को हस्टनगर भी कहते हैं जहाँ हारीती का एक बड़ा मन्दिर पाया गया है। समीप में ही बालाहिसार स्थान में कुणाल स्तूप मिला है जहाँ अशोक के पुत्र कुणाल ने चक्षुर्दान दिया था; फूशे ने उसकी यह पहचान की थी। वहाँ से कनिष्क के कुछ सिक्के और स्लेटी पत्थर की मूर्ति मिली थी। मीरजिआरत से मेनेन्द्र, हर्मियस, एजेस के सिक्के और कनिष्क की एक बुद्ध मुद्रा मिली थी। पल्टू ढेरी से हस्ट नगर की बुद्ध मूर्ति और अन्य अनेक शिलापट्ट पाए गए जिन पर दीपङ्कर जातक, अभिनिष्क्रमण और बुद्ध-बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ थीं। दीपंकर जातक उत्तर-पश्चिम में अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसमें सुमेघ नामक एक युवक ने अपने केश बिछाकर और पाँच कमल के पुष्प अर्पित करके बुद्ध का स्वागतकिया था। चारसद्दा के उत्तर बहुत से अवशेषों का समूह पाया गया है, जैसे स्कारा ढेरी जहाँ हारीती
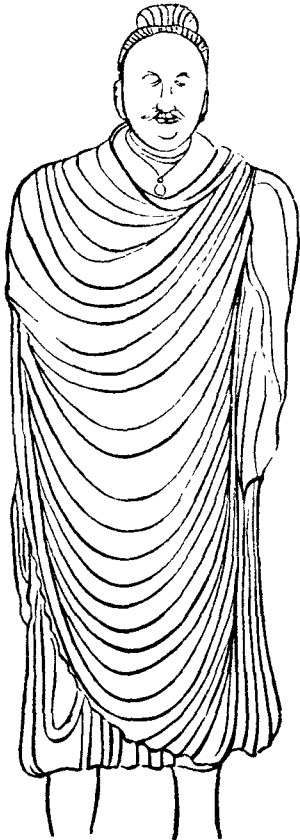
चित्र ३७५ बुद्ध

चित्र ३७७ परिनिर्वाण

के स्तूप से २९९ वर्ष में अङ्कित एक प्रतिमा पाई गई (चित्र ३७५)। हारीती स्तूप से कुछ पूर्व सहरी

बहलोल में एक स्तूप पाया जिसमें गचकारी की अनेक बुद्ध-बोधिसत्त्व मूर्तियाँ कोरिंथ शैली के लघु स्तम्भों के चौकठे में बनी हुई थीं। इस स्थान में बुद्ध मूर्तियों का एक भण्डार ही मिला है, जैसे बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्ध के जीवन के दृश्य, यथा—जन्म, संबोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन, परिनिर्वाण (चित्र ३७७), असित द्वारा भविष्य कथन, दीपङ्कर जातक, काश्यप का धर्म परिवर्तन (चित्र ३७८), नलगिरि हस्ती पर विजय, कुबेर और हारीती और बोधिसत्त्व मूर्तियाँ अपने मूलभूत स्थान पर ही पाई गई थीं (चित्र ३७६)।

वे उस समय की हैं जब गन्धार शैली की कला पूरे उत्थान पर थी। उनमें से कुछ मूर्तियों में ह्रास के लक्षण भी आ गए हैं। इनमें पत्थर की मूर्तियाँ चूने या गचकारी की मूर्तियों से अधिक पुरानी हैं। इनमें फूशे ने बुद्ध के श्रावस्ती प्रातिहार्य, एलापत्र नाग का वशीकरण, दीपङ्कर एवं वेस्सन्तर जातक, ऋषिश्रृङ्ग जातक एवं दो हाथियों द्वारा उठाए हुए सिंहासन पर पद्मासन में बैठी बुद्ध मूर्ति (चित्र ३७९) की पहचान की थी।

चित्र ३७८ काश्यपधर्म-परिवर्तन

चित्र ३७९ बुद्ध

चित्र ३७६ हारीती

सहरी बहलोल के उत्तर तख्त-ए-बाही में (प्राचीन नाम अज्ञात) स्तूप और विहार मिले हैं जिनमें बुद्ध और बोधिसत्त्व की महाकाय मूर्तियाँ, उनके जीवन दृश्य और कुबेर-हारीती के

शिलापट्ट भी पाए गए हैं। चारसद्दा के दक्षिण काबुल नदी के इस पार शाह-जी-की-ढेरी नामक स्थान में जो नए मार्ग पर था कनिष्क द्वारा निर्मित महास्तूप के अवशेष प्राप्त हुए है। उसके धातुगर्भ में

चित्र ३८० धातु मंजूषा

सोने का पानी चढ़ाई हुई एक ताम्र मंजूषा (ऊँचाई ७¾″) मिली है जो कई दृष्टियों में महत्त्वपूर्ण है। उसके ढक्कन के ऊपर अञ्जलि मुद्रा में खड़े हुए दाहिनी ओर इन्द्र और बायीं ओर ब्रह्मा के बीच में पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध की छाया-मण्डल से युक्त मूर्ति है और ढक्कन की जमीन एक बड़े कमल की खिली हुई पंखड़ियों से भरी है। बुद्ध के दोनों कन्धों पर संघाटी है। ढक्कन के खड़े कगार पर उड़ते हुए हंसों की पंक्ति है। मंजूषा के कगार पर मालाधारी देव या कन्धों पर माला उठाए हुए छोटे यक्षों का अलंकरण है जिसकी लचक के बीच में बैठे हुए बुद्ध एक हाथ अभयमुद्रा में उठाए हैं और उनके दाहिनी ओर सूर्य और बाईं ओर चन्द्र देवता अङ्कित हैं। सूर्य के बराबर कनिष्क की मूर्ति है। मंजूषा पर एक लेख है जिसमें कनिष्क और अगिशल नामक (यूनानी) नवकार्मिक का उल्लेख है (चित्र ३८०)।

पेशावर से पश्चिम उत्तरपथ नामक प्रधान मार्ग पर नगरहार नामका स्थान था (वर्तमान जलालाबाद) जहाँ बीमरान स्तूप के भीतर एक सोने की मंजूषा मिली थी। वह सेलखरी के एक पात्र में रक्खी हुई थी जो प्रथम शती ईसवी का है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान हड्डा था जहाँ गन्धार कला की पत्थर और गचकारी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनपर यूनानी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ पत्थर या ईंटों के प्राचीन स्तूप थे जिनपर पीछे से गचकारी का कञ्चुक या खोल चढ़ाया गया था। श्री बर्थो ने उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—पहला नीचे के चौकोर भागपर गोलाकार अण्डभाग वाला स्तूप है। सं० २ वह स्तूप जो दो या तीन भागों से बना है और नीचे से ऊपर बुद्बुदाकार है। उसके तीन या दो अठपहल भाग हैं जो बीच में लम्बोतरे भाग से जुड़े हैं। स्तूप, शिला पट्ट और पत्थरों पर कमल के अलंकरण का बहुत उपयोग हुआ है। स्तूपों के निर्माण में सलेटी पत्थर काम में लाया गया। इसी के साथ ईंटों का भी उपयोग हुआ। ये दोनों ही प्राचीन परंपराएँ थीं। ईंटों के स्तूप एक ऊँची मेधि पर हैं और पत्थर के साथ ईंटों के चेजे देकर बनाए गए हैं। वे घण्टाकृति हैं। ऐसे स्तूप भी मिले हैं जो भीतर से कत्तल की चिनाई के हैं और जिनपर गचकारी का खोल है और वे लम्बोतरे या बुलबुले की शकल के हैं। सलेटी पत्थर के स्तूप आरम्भ में साँची स्तूप की आकृति के थे। क्रमशः वे यूनानी प्रभाव को ग्रहण करते हुए बुलबुले की आकृति के हो गए। बर्थो ने इस के विषय में कई बातें लिखी हैं—

(१) ऊपर को पीछे हटते हुए काम में एकदाँत्र की सरलता।
(२) अलंकरण में संयम।
(३) कुछ ईरानी लक्षणों के अवशेष की स्मृति।
(४) यूनानी शैली का अधिक प्रभाव जिसमें कोरिन्थ शैली की अधिकता थी।

(५) निर्माण की तेजी।

(६) शनैः शनैः काल्पनिक अभिप्रायों का अधिकाधिक प्रयोग जो 'विकट' रूप धारण कर लेते थे। शैली के तिथिक्रम के विषय में मतभेद है पर ऐसी संभावना है कि वह दूसरी से पाँचवीं शती तक जीती-जागती अवस्था में थी। इन इमारतों को श्वेत हूणों ने नष्ट किया होगा।

उत्तरपथ पर दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कापिशी था जो गन्धार और बाह्लीक के पहाड़ी दर्रों की रक्षा करता था। पाणिनि ने पाँचवीं शती ईसवी पूर्व उसका उल्लेख किया है और कौटिल्य ने भी वहाँ के कापिशायन मधु का वर्णन किया है। इस स्थान पर (अर्वाचीन बेग्राम) बहुत से दन्त फलक मिले हैं जो किसी समय शृङ्गार पेटियों या रत्न मञ्जूषाओं के अंग थे। उनकी कला पर एक ओर भारतीय और दूसरी ओर यूनानी शैली का प्रभाव स्पष्ट है।
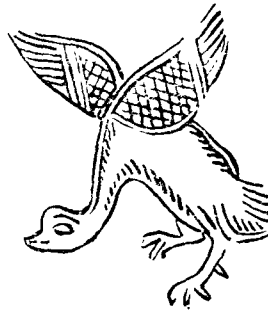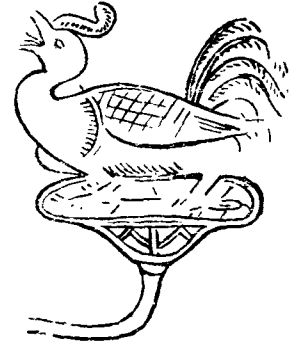
चित्र ३८१ चित्र ३८२ चित्र ३८३

शुद्ध भारतीय कला के रूपों में अशोक दोहद के दृश्य हैं जिनमें वाम पाद से अशोक पर प्रहार करती हुई स्त्रियों के सिर पर शुक्लांशुक-अट्टाल नामक केशभूषा है। इसमें बालों के जूड़े को कई घेरों में एक-दूसरे के ऊपर उठाकर ऊपर निकलती हुई लट के साथ दिखाया गया है, जैसा मथुरा और अमरावती की कई मूर्तियों में पाया जाता है। प्रसाधिका जो हाथों में महाहार लिए हैं (करतलस्थित-स्थूलहारयष्टिः, कादम्बरी ८०) (चित्र ३८१), नृत्य दृश्य, पान गोष्ठी, उड़ते हुए हंस (चित्र ३८२-३), शलाका वातायन जो पद्मवर वेदिका से वेष्टित है, पूर्णघट, हंसक्रीडा (पद्मपुष्प या लीलाकमल से हंस क्रीड़ा करती हुई स्त्री) (चित्र ३८४-७)। १९३९-४० के दूसरे उत्खनन में भी अनेक अन्य मूर्तियाँ मिलीं, जैसे तोरण द्वार जिनपर तीन कमाञ्चे हैं जैसे मथुरा के तोरणपट्टों पर हैं, दर्पण और झारी लिए हुए प्रसाधिका स्त्रियाँ, पशु शीर्षक और अवाङ्मुख पूर्णघट युक्त शीर्षक वाले स्तम्भ, लोमश ऋषि गुहा के मुखपट्ट की भाँति चलते हुए हाथियों की पंक्ति (चित्र ३८८) और वे नृत्य, गीत और घरेलू क्रीडाओं के दृश्य जिनपर भारतीय शैली का प्रभाव अत्यधिक है और जैसे मथुरा वेदिका के स्तम्भों पर हैं (चित्र

चित्र २८४ शुकक्रीडा

चित्र २८५ प्रसाधिका

चित्र २८६ हंसक्रीडा
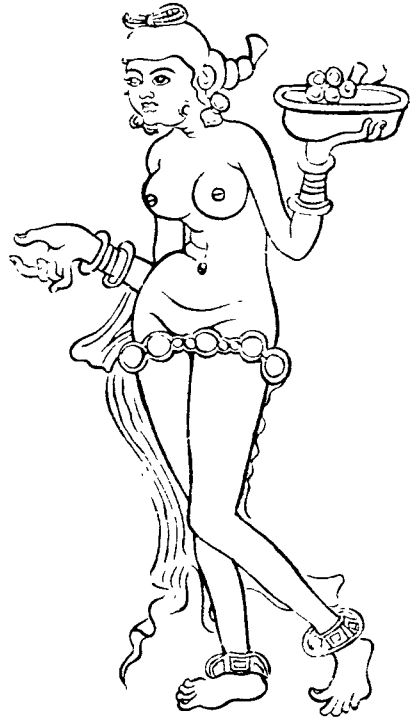
चित्र २८७ प्रसाधन

३८९-९०)। श्री हाकिन् की पुस्तक के ४६ और ४९ संख्यक फलकों के अग्र भाग और पृष्ठ भाग पर अंकित चार दृश्य उल्लेखनीय हैं जिनमें से एक पर एक स्त्री लम्बे केशों से पानी निचोड़ रही है

चित्र ३८८

(केशनिस्तोयकारिणी मुद्रा), जैसा ठीक मथुरा वेदिका स्तम्भ (एम० एम० १५०१) पर है। कई फलकों पर पान-गोष्ठी के दृश्य हैं। मदोन्मत्त स्त्री को भूमि पर गिरने से उसका पति सहारा दे रहा है। यह महोली के पान-गोष्ठी दृश्य की स्मृति दिलाता है। वंशी बजाती हुई स्त्री (चित्र ३८९) या अशोक-दोहद में प्रसक्त स्त्री, एक रक्षक पुरुष जो लम्बा भाला लिए है। व्यालतोरण, सपक्ष सिंहव्याल पर आरोहक स्त्रियाँ, सिंह-

चित्र ३८९

चित्र ३९०

संघाट युक्त शीर्षक जिनपर स्त्री-पुरुष मूर्तियाँ अंकित हैं। इन हाथी-दाँत के फलकों पर न केवल भारतीय विषयों का अंकन है किन्तु इनके मांसल शरीरों में वैसी ही कामुक अनुभूति है जैसी मथुरा के वेदिका

चित्र ३९१

स्तम्भों पर पाई जाती है। यह बहुत सम्भव है कि कपिशा के दन्त फलक मूल में मथुरा के कलाकारों द्वारा उत्कीर्ण किए गए हों क्योंकि शैली और विषय की दृष्टि से मथुरा कला से उनका अधिक साम्य

पाया जाता है। संभव है विदिशा के दन्तकारों का उत्तराधिकार मथुरा के कलाविदों ने लिया हो और वहाँ के उकेरे हुए दन्तफलक कपिशा में पहुँचे हों।

कापिशी में पूर्व और पश्चिम के कलाप्रभावों से अत्यधिक सुन्दर शैली का जन्म हुआ। यहाँ शीशे के बने हुए बहुत से रंगीन पानपात्र भी मिले हैं जो रोम देश से लाए गए थे। एक पान-भाजन पर एकली और हेरा के द्वन्द्व का दृश्य है (भाग २, चित्र २६१)। छोटी-बड़ी सुराहियाँ या मधुपात्र (वही, चित्र २५०-५१), सुराही, त्रिकोना प्याला जिसपर जियस का गरुड़ गैनीमेडी को तथा
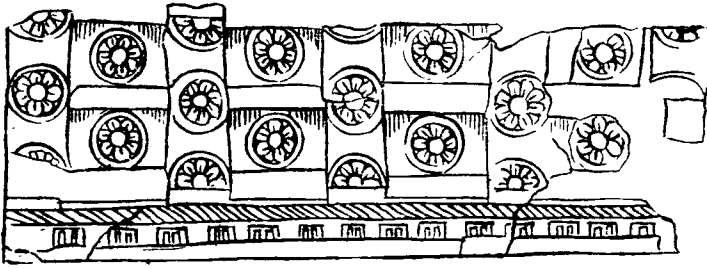
चित्र ३९२

चित्र ३९३

एक वृषभ यूरोपा को उठा लिए जाता है, अंकित शीशियाँ, मछली के आकार का पात्र, प्यालियाँ और तश्तरियाँ जो सब उत्तम काँच की बनी हैं, अनेक गोल गचकारी टिकरे जिनपर रोम देश के स्त्री-पुरुषों के सुन्दर मस्तक हैं और आपान गोष्ठियों के दृश्य हैं। (वही, चित्र २७४-२७८)। कांसे के टिकरे, फलक, तश्तरियाँ, चेहरा (वही, चित्र ३२९), मञ्जूषाएँ और मूरतें और एक विशेष रवाले पत्थर (पौरफ्रे), लोहे और मिट्टी की वस्तुएँ। इनके रूप में मानों रोम देश की कर्मशालाओं की कला संपत्ति का हमारे सामने ढेर आ जाता है जिन्हें व्यापारी कापिशायन मधु के व्यापार के संबंध में कापिशी से बाहर ले जाते थे। लगभग ५००-६०० वर्षों तक मौर्य युग से कुषाण युग तक कापिशी की प्रसिद्धि इन उत्तम कला वस्तुओं के लिए बनी रही। एक ओर मथुरा और दूसरी ओर रोम इन दो धाराओं ने कपिशा को प्रभावित किया। ग्लोब्यू का निश्चित मत था कि कापिशी के दन्तफलक अधिकांश मथुरा की देन थे। कापिशी के पेटे में दो स्थान और थे, एक पैतावा जहाँ १९२५ में बुद्ध की मूर्ति मिली थी, दूसरा काबुल से १२ मील उत्तर खैरखाना जहाँ १९३६ में, सूर्य के मन्दिर में श्वेत संगमर्मर की बनी सूर्य की मूर्ति मिली थी। सूर्य ललितासन में दोनों पैर लटकाए दण्ड और पिंगल के बीच में दो घोड़ों से योजित रथ पर बैठा हुआ है, उसकी टांगों के बीच में सारथी अरुण बिना पैरों के दिखाया गया है और वह घोड़ों की रास पकड़े हुए है। सूर्य चौथी शती के सासानी राजाओं के वेश पहने हैं। यह सूर्य पूजा का महान् युग था जिसका उल्लेख पुराणों में मिलता है और उसी समय के अनेक सूर्य मन्दिर भी मिले हैं। हाकिन् का कहना है कि खैरखाना के सूर्य मन्दिर में वास्तु और मूर्ति शिल्प के बहुत से लक्षण पाए गए हैं जिनकी तुलना भूमरा के गुप्तकालीन शैव मन्दिर से की जा सकती है।

उत्तरपथ पर और पश्चिम की ओर पर बढ़ते हुए बामियाँ घाटी और फोन्दुकिस्तान के प्राचीन अवशेष मिलते हैं। बामियाँ में पहाड़ी को काटकर दो बावनगजा बुद्ध मूर्तियाँ बनाई गई थीं जिनमें

से एक ११४ फुट (३५ मीटर), और दूसरी लगभग १७३ फुट (५३ मीटर) ऊँची हैं। इनके पृष्ठ भाग में और दोनों ओर अनेक गुफाएँ हैं जिनमें अजन्ता जैसे भित्ति चित्र बने हुए हैं। इन चित्रों पर सासानी ईरान और मध्य एशिया की चित्रकला का प्रभाव है। विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम इन पर भारतीय अजन्ता शैली का प्रभाव पड़ा था और क्रमशः इन अन्य देशों का। सुप्रसिद्ध धार्मिक आचार्य मानी ने चित्रकला की शिक्षा बामियाँ में प्राप्त की थी। बामियाँ की पर्वत घाटी उस युग में भारत का देहली-द्वार था। चीन, मध्य एशिया, ईरान और रोम से आनेवाले धर्म यात्रियों को भारत के दिव्य स्वरूप का दर्शन कराने के लिए इन विशाल बावनगजा बुद्ध मूर्तियों और भव्य गुफा चित्रों का निर्माण वस्तुतः यहाँ किया गया था।

बामियाँ से उत्तरपथ का बड़ा मार्ग उत्तर की ओर मुड़कर बाह्लीक होता हुआ वंक्षुनदी के तटपर तेरमेज में समाप्त होता था। गन्धारकला का सिंहावलोकन करते हुए तेरमेज से तक्षशिला होते हुए जानेवाले इस पथ का अवलोकन करना आवश्यक है। कुछ पूरब की ओर हटकर हैबक में चट्टान में से काटा हुआ एकाश्मक स्तूप उसी शैली में बना है जैसी एलोरा के कैलास मन्दिर में है। संभव है कि इस प्रकार के शिलाघटित एकाश्मक धार्मिक अवशेष रचने की प्रेरणा भारत के गुहा मन्दिरों से वहाँ गई हो। यहाँ चट्टान में काट कर बनाया गया एक स्तूप, एक संघाराम या बड़ा विहार है जिसमें भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ, भोजन शाला और आहार मण्डप हैं। पश्चिमी भारत के चैत्य गृहों में ये सब अंग विद्यमान थे। जलालाबाद के समीप दरौताबाद में भी इसी प्रकार के शिलाघटित अवशेष हैं।

अफगानिस्तान और तुर्किस्तान के मध्य बिन्दु पर वंक्षु का तटवर्त्ती महानगर बाह्लीक था जो व्यापार, धर्म और संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था। यह उस प्रदेश का सार्वभौम नगर था जहाँ भारत, ईरान, शक और चीन के चार बड़े मार्ग आकर मिलते थे। बाह्लायन प्रदेश में जो पुरातत्त्व की खुदाई हुई है उससे ज्ञात होता है कि यह कला और संस्कृति का महापात्र था। यहाँ के कुछ विशिष्ट स्थान ये हैं--बल्ख या मजारे शरीफ, कुन्दुज, खुल्म, अन्धखुइ, और वंक्षु तट पर तेरमेज (विनयसूत्र टीका में तरमित और युवाङ् च्वाङ् ने इसे तमि लिखा है)। बाह्लीक में अब तक भारतीय कला शैली के अवशेषों का अभाव रहा है। वैसे वहाँ नवविहार नामक एक अवशेष मिला है जो निःसन्देह बौद्ध है और कुषाण शासक वासुदेव के समय का है। कुन्दुज यूनानी बौद्धकला का मुख्य केन्द्र था जहाँ जाँडियल के मंदिर से मिलता-जुलता मन्दिर पाया गया है। इसी कारण फूशे ने अनुमान किया कि कुन्दुज से तक्षशिला तक का प्रदेश गन्धार कला की धात्री भूमि थी। इसके दो रूप थे, एक में यूनानी और दूसरे में भारतीय लक्षणों के अभिप्राय प्रधान थे।

कुन्दुज की स्थिति वंक्षु की एक छोटी शाखा नदी पर है। यहाँ फ्रांसीसी, अंग्रेज और रूसी पुरातत्त्ववत्ताओं ने काम किया। यहाँ बाह्लीक-यवन और कुषाण राजाओं के सिक्के मिले हैं। यहाँ यवन बौद्धकला की मूर्तियाँ मिली हैं जिन पर यूनानी छाप स्फुट है। कुन्दुज से प्राप्त गचकारी की मूर्तियाँ हड्डा जैसी, बढ़े हुए यूनानी प्रभाव की हैं। यहाँ वंक्षु नदी की तह में एक सोने-चाँदी के गहनों का बड़ा निधान मिला था जिसके आभूषणों पर ईरान और दक्षिणी रूस के शक प्रदेश का गहरा प्रभाव था, विशेषतः शक जाति की कुञ्चित शरीर वाली पशु मूर्तियों का। इस निधान में बाह्लीक और सुग्ध की मृगाकृतियाँ और वंक्षु तट के व्याघ्र और सिंहों की आकृतियाँ मिली हैं जो दूर तक फैली हुई थीं। इन कृतियों में उस यूनानी कला का प्रभाव देखा जाता है जो लघु एशिया के यूनानी उपनिवेशों

में और दक्षिणी रूस के शक प्रदेशों में व्याप्त थी। यूनानी कला ने चीन और मंगोलिया की ओर जो प्रसार पाया उसका मध्यवर्त्ती केन्द्र कुन्दुज में था। इन प्रभावों का मुख्य प्रसार शक जाति के द्वारा हुआ। शकों ने ही इन व्यालरूपी पशु आकृतियों को कपिशा और मथुरा की कला में उड़ेल दिया जहाँ उनके अनेक नमूने मिले हैं। इन्हें वे अपने घोड़ों की पलानों पर काढ़ते या टाँकते थे, अपने कुण्डों पर बनाते थे और लगामों की कड़ियों में इनके रूपों को पिरोते थे। पहली से चौथी शती ई० के बीच भारतीय कला के प्रभाव कुन्दुज में पहुँचे, जैसे कमल के फुल्लों की गोट या किनारी। एक दृश्य में शश जातक का और दूसरे में संभवतः शिव का अंकन मिला है।

वंक्षु के उत्तर तट पर तेरमेज यूनानी बौद्ध कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था जहाँ फ्रांसीसी और रूसी पुरातत्त्ववेत्ताओं को बहुत सी मूल्यवान् सामग्री प्राप्त हुई। उसके आधार पर पहली दो शतियों की गन्धार कला पर नया प्रकाश पड़ता है। यहाँ एक बौद्ध मन्दिर मिला है जिसे प्रथम शती का माना गया है और यह गन्धार के स्तूपों से मिलता-जुलता है। तेरमेज के आस-पास के स्थानों में बोधिसत्त्वों की प्रतिमाएँ, उदीच्य वेशधारी अश्वारोही, एक स्तम्भ के नीचे का अति उत्तम कुम्भ-भाग, बर्तन-भाँडों के टुकड़े और काच का पोत चढ़े हुए मृत्पात्र आदि मिले हैं।

एइरतन में एक बड़ी शोभापट्टी के आठ खण्ड मिले हैं जो किसी भवन या संभवतः बौद्ध मन्दिर के बाहरी भाग में लगे थे। इस पट्टी पर युवक-युवतियों की पूर्वकाय मूर्तियाँ, गान-वाद्य की मण्डली, मालाधारी पुरुषों के अलंकरण बने हैं। इन मूर्तियों पर यूनानी और भारतीय दोनों प्रभाव हैं और स्थानीय विशेषताएँ भी हैं जिससे सूचित होता है कि वहाँ भी कला का अपना केन्द्र था।

तेरमेज के पास एक बौद्ध विहार पाया गया है जिसमें ईसा से पूर्व की और बाद की गुफाएँ हैं। स्वयं तेरमेज में उत्खनन से एक बड़ा राजप्रासाद प्रकाश में आया है।

शोभार्थ बने शिलापट्टों पर कुछ भारतीय अभिप्राय छिपे या बने हैं, अर्थात् एक लतर जिसके उतार-चढ़ाव में काम-देव के परिवार के नर-नारी या मिथुन अंकित किए गए हैं। यह अलंकरण गुप्तकालीन मन्दिरों के द्वार-स्तम्भ पर पाया जाता है किन्तु इसका आरम्भ और पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ था जब उत्तरकुरु के दृश्यों में कल्पवृक्ष और कल्पलताओं से जन्म लेते हुए और नृत्य-गान में निरत मिथुनों का अंकन किया गया है, जैसा भाजा और साँची में पाया जाता है। उसमें भारी सजावट संयुक्त सोपान, सुशोभित फुल्ले, और पार्श्ववर्ती मण्डपों में सुहावनी गचकारी की सज पाई गई है। ये सब प्राच्य कला की चमत्कारी कृतियाँ हैं। इस सामग्री का अधिक परिचय अपेक्षित है।

इस नयी सामग्री से मन पर यह प्रभाव पड़ता कि कनिष्क शासन का एक पैर तेरमेज में और दूसरा पैर मथुरा में स्थापित था। इसी क्षेत्र के बीच में कुषाण कला का प्रसार था।

ख्वारिज़्म के काराकल्पकिया गणराज्य के स्वाधीन संघ के तोपरककाला नामक स्थान में अत्यन्त प्रभावशाली अवशेष मिले हैं। वहाँ एक राज प्रासाद में सम्राटों की मूर्तियों का मण्डप या देव-कुल पाया गया है। उसमें बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं, कुछ अति सुरक्षित दशा में हैं। तोलस्तोव के अनुसार वे ख्वारिज़्म के प्राचीन राजाओं और उनकी रानियों और पार्षदों की मूर्तियाँ हैं। मूर्तियाँ अधपकी मिट्टी की हैं और उन पर सुन्दर वर्ण या रंगोंके पोत चढाए गये हैं। मूर्तियों के चेहरे वास्तविक हैं और ज्ञात होता है कि वे प्रतिकृति या शबीह हैं जैसी कनिष्क और वेम की मूर्तियाँ रही होंगी। देवकुल के एक कक्ष में दो पुरुषों की मूर्तियाँ ऊँचे आसन पर बैठी हुई पाई गईं जो औरों से

परिमाण में दुगुनी हैं। उसके पृष्ठ भाग में मध्य में एक संगमरमर जैसे श्वेत प्रासाद का मण्डप है और उसी के आस-पास महोत्सव या नृत्यगान के दो मण्डप हैं। मध्य मण्डप की भीतों पर सुन्दर अलंकरण और उत्कीर्ण मूर्तियों की सजावट है। इसी के समीप एक 'विजय मण्डप' मिला है जिसके भित्ति भागों पर सम्राटों की बैठी हुई मूर्तियाँ, देवी विजय-लक्ष्मी की और आयुध लिए हुए कितने कवचधारी वीरों की मूर्तियाँ मिली हैं। अतिश्रेष्ठ मूर्ति-शिल्प के अतिरिक्त विपुल भित्ति चित्र भी हैं। अनेक प्रकार के अलंकरण, द्राक्षाराम में अंगूर चुनती हुई स्त्रियाँ, गायक-वादक, व्याघ्र, अश्व, विहग आदि के विलक्षण चित्र बनाए गए है। नवनीत मृत्तिका के भूमि बन्धन पर ये चित्र खनिज रंगों से लिखे गए हैं। ख्वारिज्म का यह प्रदेश प्रथम शती में कनिष्क के शासन में था। यहाँ अनेक दुर्ग बनाए गए जिनके अधिपति साम्राज्य की उत्तरी सीमा की रक्षा करते थे। गोरे काला में प्राप्त ऐसे दुर्ग की भित्तियों पर चित्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक भित्ति के मध्य में स्तम्भों के बीच में रथिका या कोष्ठ हैं। इन स्तम्भों की पेंदी में लगे हुए कुम्भ मथुरा के हुविष्क विहार से प्राप्त कुम्भों का स्मरण दिलाते हैं जो अब मथुरा संग्रहालय में (पी० २१ से० ५३ पी०) सुरक्षित हैं। इसी मण्डप के समीप एक ऐसी मूर्ति मिली है जो ख्वारिज्म और मथुरा के बीच के कला सम्बन्धों को और पुष्ट करती है। यह मिट्टी का बना हुआ पुरुष मस्तक है जो तिग्रा-खौदा या तिकोना टोप पहने है और कला की दृष्टि से ख्वारिज्म की सब मूर्तियों में उत्तम हैं। यह कला शक-तुषार जाति की है जो पहले वंक्षु के उत्तरी प्रदेशों में बसे थे और दूसरी शती ई० पू० में बाह्लीक के यूनानी राजाओं को हटाकर वहाँ अधिकृत हुए। वहाँ शक-तुषार जाति ने जो राज्य स्थापित किया उसके आधार पर बाह्लीक प्रदेश तोखारिस्तान कहा जाने लगा।

ख्वारिज्म का यह देवकुल मथुरा के माट देवकुल से कहीं बड़ा और भव्य था। ज्ञात होता है कि पाँचवीं शती में श्वेत हूणों के हमले के समय यह ध्वस्त किया गया।

वास्तु और शिल्प के ये रूप कई प्रभावों के परिणाम थे, यथा भारतीय, शक, ईरानी एवं मध्य एशिया, चीन और रोम के।

भारतीय कला के इतिहास में गन्धार कला के तिथिक्रम, विषय और शैली का बहुत महत्त्व है। इस कला में केवल चार मूर्तियों पर वर्ष दिया हुआ है पर उनका संवत्सर अनिश्चित है। हां, १२९ ई० पू० को गणना का आधार मानकर जो किसी प्राचीन शक संवत्सर का आरंभ था, हमें ये तिथियाँ मिलती हैं—हष्टनगर की ३८४ वर्ष की मूर्ति = २५५ ई०; लौरियाँ तंगइ की बुद्धमूर्ति वर्ष ३१८ = २५९ ई०; स्कारा ढेरी से प्राप्त हारीती की मूर्ति वर्ष ३९९ = २७० ई०; ममानीढेरी की बुद्धमूर्ति वर्ष ८९ की है जो यदि नव शक सं० में हो तो = १६७ ई०। इससे सूचित होता है कि गन्धार कला की ये मूर्तियाँ दूसरी-तीसरी शती में बनाई गईं। वेम, कनिष्क आदि राजाओं के राज्यकाल में गन्धार और मथुरा दोनों कलाओं का अभ्युदय हुआ जान पड़ता है।

यह सच्ची बात है कि मथुरा के शिल्पियों ने सैकड़ों लेख मूर्तियों की चौकियों पर उत्कीर्ण किये। पर गन्धार के शिल्पी जिनसे ऐतिहासिक भावना की अधिक अपेक्षा थी, इस विषय में एकदम उदासीन बन गए। यह सब होते हुए भी गन्धार कला की अवधि अनुमानतः प्रमाणित है, अर्थात् अधिकांश पाषाण शिल्प पहली से तीसरी शती तक और गचकारी का काम चौथी-पाँचवी शती में हुआ।

सिक्कों से भी जो स्तूप या अवशेषों की नींव में या ऊपरी सतह पर पाए गये हैं इस अवधि या काल की पुष्टि होती हैं। कन्दहार के समीप प्राप्त अशोक के लेख से जो दो लिपियों

और भाषाओं में है गन्धार के इतिहास में एक पक्की तिथि प्राप्त होती है। अशोक के समय से २५० ई० तक जब सासानी राजाओं ने इस गन्धार प्रदेश को जीता तब तक इस कला का पहला चरण माना जा सकता है। इसी बीच में बाह्लीक-मद्रक-यवन, शक, पार्थव और कुषाण जातियों के राज्य में कला भी विकसित होती रही। जब बाह्लीक प्रदेश से केदार कुषाण चौथी शती में गन्धार में आए तब गचकारी की कला का युग आया। भारत में यह गुप्तयुग का समय था जब यहाँ एक श्रेष्ठ कला शैली का प्रसार था।

मद्र देश की राजधानी साकल में ई० पू० द्वितीय शती के मध्य भाग से मद्रक-यवनों का राज्य हुआ। उनके साथ यवन संस्कृति और कला भी आई, जो बाद में एकदम निःशेष नहीं हुई किन्तु भारतीय जनता के जीवन क्रम के साथ घुलमिल गई।

गन्धार कला के तिथिक्रम का निर्णय करने के लिए कनिष्क के राज्य संवत्सर का निश्चय करना अत्यावश्यक है। हमने यहाँ ७८ ई० को उसके राज्यकाल का पहला वर्ष माना है और इससे सम्बन्धित विवाद के पचड़े में हम यहाँ नहीं पड़े।

गन्धार शैली से संबंधित दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न बुद्ध मूर्ति के प्रथम जन्म का है। कई पश्चिमी विद्वान् बुद्ध मूर्ति के प्रथम निर्माण का श्रेय गन्धार कला को देते रहे हैं। किन्तु इसके पक्ष में कोई भी पुष्ट प्रमाण अबतक नहीं मिला जैसा हमने पहले दिखाया है। हमने मथुरा कला के अध्ययन में सिद्ध किया है कि बुद्ध मूर्ति की रचना सर्वप्रथम वहीं हुई, जहाँ चक्रवर्त्ती और योगी इन दो आदर्शों का मेल बुद्ध में हुआ और इनकी प्रतिमाओं के लक्षण बुद्ध मूर्ति में अपनाए गए—पद्मासन, ध्यानमुद्रा, नासाग्र-दृष्टि, सिंहासन, चामरग्राही, दिव्य पुष्पवृष्टि, ऊर्णा, उष्णीश आदि। इन लक्षणों की कोई सार्थकता यूनानी और ईरानी धर्म में न थी। गन्धार में बुद्धमूर्ति का जन्म सर्वथा असंभाव्य था और इस पक्ष की सब युक्तियाँ आधाररहित हैं। मथुरा कला का यक्ष-बोधिसत्त्व सूत्र स्वयंसिद्ध है जिसकी तुलना में गन्धार कला के अस्तव्यस्त तिथिक्रम में अन्य कुछ नहीं है। अवश्य ही एक विशेष प्रकार की बुद्ध मूर्ति जिसके मुँह में मूँछे हैं और पैरों में चप्पल हैं, गन्धार में बनीं; न तो उसमें धर्म का कोई भाव है न योगी की अध्यात्म भावना, वह इतनी घटिया है कि कोई भी कला शैली उसे बनाने में श्रेय स्वीकार न करेगी।

प्रतिमा शास्त्र की दृष्टि से गन्धार कला की ये विशेषताएँ हैं—बुद्ध के जीवन की घटनाएँ, बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ, जातक कथाएँ, यूनानी देव-देवी और गाथाओं के दृश्य, भारतीय देवता और देवियाँ, वास्तु संबंधी विदेशी विन्यास, भारतीय अलंकरण, एवं यूनानी, ईरानी, और भारतीय अभिप्राय एवं अलंकरण। गन्धार कला में बुद्ध की जीवन घटनाओं के शिलापट्ट अत्यधिक हैं। इनकी शैली भारतीय कला के कई केन्द्रों में उकेरे हुए दृश्यों से अधिक सजीव है। इन बहुमुखी दृश्यों की विविधता नीचे की सूची से प्रकट होती है:—मायादेवी का स्वप्न, उसकी व्याख्या या फलकथन, मायादेवी का गर्भधारण, माया का कपिलवस्तु से लुम्बिनी उद्यान में जाना, बुद्ध का जन्म, छन्दक सारथि और कन्थक अश्व का जन्म, जन्म के बाद बुद्ध की सप्तपदी, प्रथम स्नान, लुम्बिनी से कपिलवस्तु लौटना और असित द्वारा कुण्डली का फलकथन, सिद्धार्थ का बोद्धिसत्त्व रूप, बोधिसत्त्व की पाठशाला में शिक्षा, लिपि विज्ञान में सिद्धार्थ की परीक्षा, सिद्धार्थ की मल्ल और बाण विद्या में परीक्षा, विवाह यात्रा, बोधिसत्त्व और यशोधरा का विवाह, संसार त्याग के लिए देवों की सिद्धार्थ से प्रार्थना, राज-प्रासाद में बुद्ध के जीवन दृश्य, शयन कक्ष्या में निद्रामग्न परिचारिकाएँ, अभिनिष्क्रमण, कन्थक से

बिदाई, उष्णीश और आभूषण ग्रहण करता हुआ छन्दक सारथि, बिम्बिसार का बुद्ध के दर्शन के लिए आगमन, बुद्ध का व्याध से वेश-परिवर्तन, चूड़ामह, प्रथम ध्यान, तपश्चर्या, कालिक नाग द्वारा पूजा, घास-मुष्टि प्रदान, उपवास करते हुए बोधिसत्त्व, सम्बोधि के समीप बुद्ध का आगमन, मारधर्षण और मार कन्याओं द्वारा प्रलोभन, संबोधि, त्रपुष और भल्लुक का बुद्ध को भोजन प्रदान, लोकपालों द्वारा चार भिक्षापात्रों का प्रदान, देवताओं द्वारा बुद्ध से धर्मोपदेश की प्रार्थना, इन्द्र और ब्रह्मा का बुद्ध से धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना, धर्मचक्र प्रवर्तन, उरुविल्व स्थान में काश्यप के समक्ष अग्नि प्रातिहार्य, उरुविल्व की अग्नि शाला में कृष्ण सर्प पर विजय, बुद्ध द्वारा काश्यप को नागराज समर्पण, बुद्ध का कपिलवस्तु में आगमन और राहुल को भिक्षु की दीक्षा देना, नन्द और सुन्दरी का कथानक, बुद्ध पर देवदत्त द्वारा कराए हुए घातक प्रहार, श्रावस्ती में अनाथपिण्डद श्रेष्ठी द्वारा बुद्ध को जेतवन आराम का दान, नलगिरि हस्ती को वश में लाना, ज्योतिष्क की अग्नि ज्वालाओं से रक्षा, आटविक यक्ष का धर्म परिवर्त्तन, त्रयस्त्रिंश देवस्वर्ग से बुद्ध का अवतरण, श्रीगुप्त और ग्रहदत्त का बुद्ध को निमन्त्रण, पांशु प्रदान या मुट्ठी भर धूल का बुद्ध को समर्पण, बानरों द्वारा मधु प्रदान, श्वेत श्वा का बुद्ध के प्रति रोष या भोंकना, अंगुलिमाल का स्वभाव परिवर्त्तन, नागराज अपलाल द्वारा समर्पण, मर्त्य स्त्री के मृत शिशु की घटना, आनन्द को सान्त्वना, इन्द्र और पञ्चशिख गन्धर्व द्वारा बुद्ध दर्शन, अम्बपाली द्वारा बुद्ध को आम्रवन प्रदान, श्रावस्ती का महाप्रातिहार्य, कुशीनगर में महापरिनिर्वाण, बुद्ध के मृत शरीर की शविका, बुद्ध के शव का अग्नि कर्म, बुद्ध की धातुओं का बँटवारा और धातु कलश का हाथी की पीठ पर ले जाया जाना, धातु पूजा, त्रिरत्न पूजा। ऊपर की सूची में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित ६१ दृश्य हैं। इनसे सूचित होता है कि गन्धार के शिल्पी इस दिशा में सबको पीछे छोड़ गए थे। उन्हें बुद्ध जीवन की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं में रुचि थी और वे मानवी गौतम के इहलौकिक स्वरूप में रुचि प्रदर्शित कर रहे थे। साथ ही बुद्ध के लोकोत्तर जीवन की ओर से भी वे निरपेक्ष न थे। यदि इन घटनाओं के साथ बुद्ध की जातक लीलाओं को मिला दिया जाय तो गन्धार कला का महान् चित्र सामने आ जाता है।

इस सब सामग्री से स्पष्ट है कि गन्धार शैली कितनी मौलिक और बहुफलवती थी। इन दृश्यों के उकेरने में मानवीय भावों को प्रधानता दी गई। उनमें भाग लेने वाले स्त्री-पुरुष भावोद्रेक प्रकट करते हैं, वे भावनाओं से शून्य नहीं हैं किन्तु मानवीय व्यवहार की सजीव प्रतिमूर्तियाँ हैं। कन्थक को विदा देने वाले दृश्य में बुद्ध का यह आत्मीय पशु विचित्र विह्वल मुद्रा में उन्हें प्रणाम करता हुआ दिखलाया गया है। वह परवश है किन्तु अपनी भक्ति प्रकट करने के अधिकार को वह छोड़ना नहीं चाहता। तपस्या करते हुए बुद्ध की उपवासग्रस्त कंकाल मूर्ति न केवल शारीरिक शास्त्र की दृष्टि से तथ्यात्मक है किन्तु तपस्या के आदर्श को भी चरितार्थ करती है। ध्यान मुद्रा और पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध की उभयांसिक संघाटी युक्त मूर्ति जिनकी दृष्टि बाहर की ओर है, गन्धार कला की अपनी विशेषता है। वे खड़ी हुई बुद्ध मूर्तियाँ भी आकर्षक हैं जो दोनों कन्धों पर प्रावार या चोगे के ढंग की मोटी संघाटी पहने हुए हैं। धर्मोपदेश करते हुए रूप में संघाटी केवल बाँए तरफ या एकांसिक है, दाहिना कंधा बिना वस्त्र के उघड़ा हुआ है। बुद्ध के मुख पर प्रहसित भाव है और वे दृश्यों से अभिन्न जान पड़ते हैं। सहरी बहलोल से प्राप्त मूर्ति जिसमें बुद्ध काश्यप को नागराज का समर्पण कर रहे हैं, इस कला की स्वाभाविकता का ऊँचा उदाहरण है (पेशावर संग्रहालय, सं० १३७३)। बोधिसत्त्वों में मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ अधिक हैं। बोधिसत्त्व की दशा में स्वयं गौतम निष्क्रमण के पूर्व राजप्रासाद में राजकीय गहने और वस्त्र पहनते हैं और अभिनिष्क्रमण के बाद वस्त्राभूषण का त्याग कर

देते हैं। खड़ी हुई बुद्ध मूर्तियों में कुछ बहुत अच्छी हैं जो ऊँचाई में ४ फुट से ८ फुट तक हैं। इनमें से अधिकांश मूर्तियाँ पेशावर और लाहौर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वे मूर्तियाँ अपने प्रमाण और मांसल शरीर से प्रभावशाली हैं जो सहरी बहलोल, तख्तेबाही और अन्य स्थानों से मिली हैं। सहरी बहलोल से प्राप्त एक बड़ी मूर्ति (८ फीट ८ इञ्च ऊँची) उत्तम रूप से सुरक्षित और श्रेष्ठ कला शैली का नमूना है .(चित्र ३९४)। इस मूर्ति पर सोने की पन्नी चढ़ी थी। यह अपने महाप्रमाण, सौम्य दर्शन, और करुणामयी दृष्टि से दर्शक और उपासकों के मन पर गहरा प्रभाव डालती है। ललाट में ऊर्णा के स्थान पर छोटे गढ्ढे में किसी समय चमकीला नग जड़ा हुआ था। हाथों में जालांगुलि लक्षण हैं, अर्थात् अंगुलियों को मिलाने वाली त्वचा दिखाई देती है; यह महापुरुष के लक्षणों में एक था। केशों की कुञ्चित भँवरियाँ एक सीध में और समानान्तर हैं। उनके ऊपर बीच में उष्णीश का उठा हुआ महादेवा है। मस्तक के पीछे बड़ा छायामण्डल मथुरा शैली के प्रभाव को सूचित करता है जहाँ सारनाथ और महोली जैसे विशाल मूर्तियों का निर्माण हो रहा था।

चित्र ३९४ बुद्ध

बुद्ध की जीवन लीला और जातक कथाओं का अंकन मध्यदेश की कला से ग्रहण करने के साथ-साथ गन्धार के शिल्पियों ने ईरानी और यूनानी कला के अनेक प्रभाव और अलंकरण स्वीकार किये। स्वभावतः गन्धार कला में भारत, ईरान एवं यूनान-रोम की कलाओं के प्रभावों का सम्मिलन हुआ। ईरानी प्रभाव में जाँडियल का अग्नि मन्दिर या अगियारी है। इसके अतिरिक्त हिंगुलाज की देवी नानी और अनाहिता देवी की बहुत सी मिट्टी की मूर्तियाँ हैं जिनके मस्तक पर ताराङ्कित मुकुट है, कपिशीर्षक या पञ्चपट्टिक कंगूरे, सपक्ष सिंह, सपक्ष या बिना पक्ष के वृष संघाट या सिंह संघाट युक्त शीर्षक एवं काल्पनिक नरमस्तक वाले पशु—ये भी ईरानी कला की देन थे। यूनान और रोम देश की कला से ये अभिप्राय लिए गए, जैसे कोरिन्थ (चित्र ३९५), आयोनिय और डोरिक शैली के स्तम्भ, कामपुत्रक यक्ष, मालाओं के सन्तानक, किंकर या गुह्यक यक्ष, महोरग, जल के देवता, निधिशृंग लिए हुए देवी दिमित्रा-हारीती, मालाधारी यक्ष (चित्र ३९६), देवी एथिना-रोमा, हारपोक्रेत, किन्नर, सिलेनस (वैश्रवण कुबेर), सेटीर नामक यूनानी-रोमन
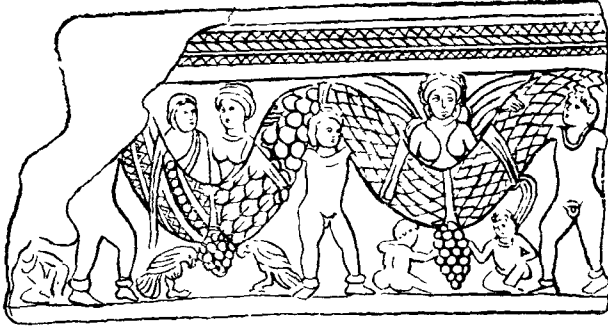
चित्र ३९५

चित्र ३९६ मालधारी

चित्र ३९७

देवता जो नराकृति में वृष जैसे जंगली पशु के शरीरवाला है और पौरुष का प्रतीक समझा जाता था, गरुड़ और गैनीमीडी (चित्र ३९७), हेरेक्लीज और नीमियाँ सिंह, आदि। गन्धार शिल्पियों ने अपने कला-कौशल का उत्तम रूप पञ्चिक और हारीती की पृथक् अथवा संयुक्त मूर्तियों में प्राप्त किया है (चित्र ३९८-९)। जिसे मध्यदेश में कुबेर अथवा वैश्रवण कहते थे वही

चित्र ३९८ पंचिक
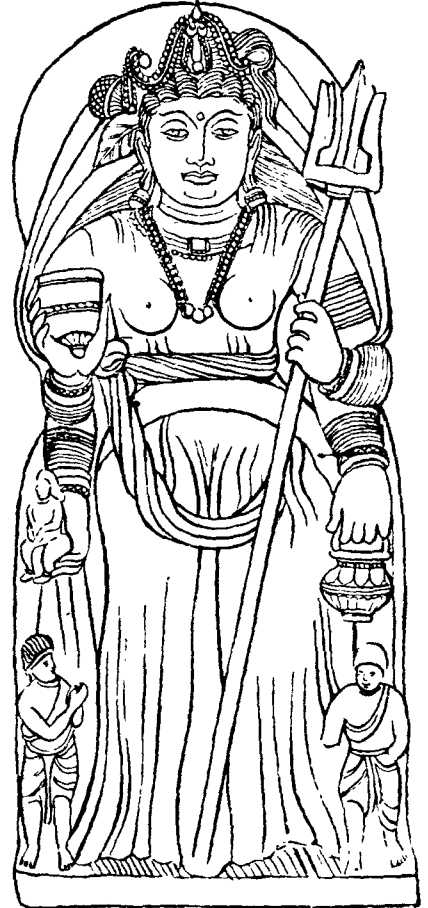
चित्र ३९९ हारीती

देवता गन्धार में पञ्चिक नाम से विख्यात था। यह दिव्य शक्ति और धन का भद्र देवता था। पञ्चिक की मूर्तियों में वह आभूषण पहने हुए ललितासन मुद्रा में पैर लटकाए हुए बैठा दिखाया गया है, उसके बायें हाथ में लम्बा कुन्त या बर्छा है। गन्धार कला में हारीती सौभाग्य, पुत्र-पौत्र, और धन-धान्य की अधिष्ठात्री देवी थी। उसकी गोद में और कन्धों पर बालक बैठाए गए हैं। वह गन्धार कला में मातृदेवी के रूप में पूजी जाती थी। हारीती की कुछ चतुर्भुजी मूर्तियाँ मिली हैं जो एक हाथ में कमण्डलु और दूसरे हाथ में त्रिभुज लिए हैं। इनसे सूचित होता है कि दुर्गा और हारीती इन दो देवियों का परस्पर समन्वय किया गया। काश्यप संहिता के रेवती कल्प में वर्णित जातहारिणी देवी का बौद्धरूप हारीती था। हारीती की पूजा-मान्यता मथुरा में भी लोकप्रिय थी। यक्षराज वैश्रवण के अवतार पाञ्चालिक और पञ्चिक यक्ष एक ही जान पड़ते हैं। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में पाञ्चालिक की पूजा की प्रधानता थी। गन्धार देश में गृहस्थों की सब कल्याण-कामनाओं की पूर्ति करने वाले पञ्चिक और हारीती थे। गन्धार से भी उत्तर मध्य एशिया तक पञ्चिक और हारीती की पूजा का प्रचार हो गया। कुछ मूर्तियों में पञ्चिक के हाथ में थैली और हारीती के हाथ में ऋद्धिशृङ्ग है।

गन्धार कला में शालभञ्जिका मुद्रा में खड़ी वृक्षका स्त्रियों का भी अंकन किया गया (चित्र ४००)। किन्तु इस अभिप्राय की आंशिक शोभा भी उनमें नहीं आई और यह प्रयोग भी असफल रहा। दूसरी ओर यूनानी कला के नग्न मालाधारी पुरुषों का अलंकरण गन्धार कला में बहुत अच्छा बन पड़ा है। गुह्यक या किंकर पुरुषों की भारोत्थापक मूर्तियाँ भी गन्धार में सफल हुईं। सीकरी से प्राप्त एक मूर्ति बड़ी प्रभावोत्पादक है (लाहौर संग्रहालय, सं० २१८) (चित्र ४०१)। शिलापट्टों के कछौटे या तिकोने पार्श्व भाग को भरने के लिए किन्नर मच्छ (आधा शरीर किन्नर और अर्ध भाग मच्छ जैसा), और अश्वनर (अर्ध शरीर मनुष्य और अर्ध शरीर तुरग जैसा), इनके अलंकरण निपुणता से प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे ही गोमच्छ, अश्वमच्छ, महोरग—ये अभिप्राय भी मथुरा कला के अलंकरणों के समकक्ष हैं। गन्धार के शिल्पियों को जब शुद्ध यूनानी विषय बनाने का अवसर मिला तो उन्होंने पूरी सफलता दिखाई, जैसे लाहौर संग्रहालय में सुरक्षित एथिना या रोमा देवी की मूर्ति में जो सिर पर टोप पहने और हाथ में बर्छा लिए है। उसके शरीर पर छोटा कंचुक और मुख पर दिव्य तेज है जो नगर देवता के सम्मान्य पद का सूचक है (चित्र ४०२)। ऐसी ही देवता मूर्ति हुविष्क की मुद्रा पर मिली है जिस पर रोमा नाम लिखा है (चित्र ४०३)। यह लम्बा प्रावार या चोगा और सिर पर टोप पहने बैठी है और हाथ में बर्छा लिए हुए है। रोमन सम्राट् अगस्टस के समय में रोमा देवी का पहला मन्दिर बना और कालान्तर में साम्राज्य भर में इसकी पूजा फैल गई। अतः लगभग दूसरी-तीसरी शती में भारत में भी उनकी मूर्तियाँ बनी होंगी।

चित्र ४००

चित्र ४०१

हमारी दृष्टि में रोमा देवी की मूर्ति गन्धार कला की सर्वोत्तम मूर्तियों में है। इसके भीतर से प्रभविष्णुता और तेज फूटा पड़ रहा है। मानव जिसे अपने संन्निकट मानते थे ऐसे देवता की मूर्ति किस प्रकार की हो, यह इससे सूचित होता है। एक मूरत शक देवी नानी या ननाइया की है जिसके ढीले पटके में म्यान कसी हुई है। सम्भवतः यह दूसरी शती की है। गन्धार कला में सलेटी रंग के पत्थर या घिया पत्थर या सेलखरी की बहुत सी तस्तरियाँ मिली हैं। उन पर ये दृश्य हैं—एपोलो और दफनी (इंगहोल्ट, चित्र ४७९), दियोस्कूरी अर्थात् कैस्टर और पोलस जो भारतीय अश्विनीकुमारों के समतुल्य थे (वही, चित्र सं० ४८०), मिथुन या ललित मुद्रा में दम्पति (वही, चित्र सं० ४८३), सामुद्रिक यान पर आरोहक स्त्री (वही, चित्र सं० ४८४), चषक लिए हुए आपान गोष्ठी निरत दम्पति (वही, चित्र ४८५–४८६) आदि।

चित्र ४०३

चित्र ४०२ रोमा

गन्धार कला में गचकारी के मस्तक और बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियाँ बहुत प्रशंसित हुई हैं। उनमें से कुछ उतनी ही श्रेष्ठ हैं जितनी बुद्ध कला की सर्वोत्तम मूर्तियाँ। यह गन्धार शैली का एक स्वरूप था, जिसका उत्थान चौथी-पाँचवी शती में हुआ। इसी कला का उत्तराधिकार मृण्मूर्तियों में देखा जाता है जो सिन्ध के मीरपुर खास स्तूप से मिली हैं और जो बम्बई संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वैसे सुन्दर पार्थिव मस्तक कश्मीर के हरवान (प्राचीन षड्वन) में मिले हैं जिनके कुछ नमूने कराँची संग्रहालय और राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित हैं। मार्शल का विचार था कि गन्धार की पाषाण कला लगभग चौथी शती के आरम्भ में ह्रास को प्राप्त हुई और लगभग उसी समय से एक अतिश्रेष्ठ गचकारी और मृण्मय कला ने उसका स्थान ले लिया जिसने मध्य एशिया तक इस प्रदेश को मूर्तियों से भर दिया।

उत्तर-पश्चिम भारत में तक्षशिला से लेकर मध्य एशिया तक कितनी ही चाँदी-सोने की तस्तरियाँ मिली हैं। उन पर आपान-गोष्ठी, नृत्य-गीत, वाद्य-संगीत, खान-पान और विलास लीलाओं के अनेक ऐसे चित्र हैं जो उस प्रदेश में बसे हुए मद्रक-यवनों के जीवन का अनुकरण करते हैं। रूस के हर्मिताज़ संग्रहालय में इस प्रकार के पात्रों का अच्छा संग्रह है। इनकी कला में सासानी, यूनानी, रोमदेशीय एवं भारतीय शैलियों का प्रभाव पाया जाता है। विशेषतः केश, वेश-भूषा एवं छरहरी देहयष्टि के अंकन में गुप्त कला का प्रभाव स्पष्ट है। इस शैली का आरम्भ उससे पहले कुषाण युग में ही हो गया था जैसा लघु एशिया के लम्प्सकस स्थान से प्राप्त चाँदी की तस्तरी पर बनी हुई भारत-लक्ष्मी

की मूर्ति से ज्ञात होता होता है। और भी विशुद्ध यूनानी मूर्तियाँ गन्धार कला में प्राप्त हुई हैं, जैसे हारपोक्रेटिस की कांसे की मूर्ति, चाँदी में ढलाई के काम की डियोनिसस की तश्तरी।

उपसंहार—(१) बहुसंख्यक निर्माण, देशगत विस्तार, देश काल में विस्तृत व्याप्ति या व्यापकता, संस्कृतियों के परस्पर सम्मिलन, शैलियों के समन्वय और मानवीय सहृदयता के कारण गन्धार कला की गणना विश्व की महती कलाओं में होनी चाहिए। एशिया की भूमि पर अनेक गुणों से भरा हुआ यह एक महान् पात्र ही बन गया था। यह सौभाग्य की बात थी कि भारत के साथ भी इस कला का घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार गन्धार, कापिशी, बाल्हीक और कम्बोज ये महाजनपद भारतीय भूगोल के अंग थे वैसे ही गन्धार कला भी अपनी सब विभिन्नताओं को लिए हुए भारतीय कला का ही अंग है। भारत के उत्तरपथ के उपरले छोर पर इस प्रकार की बहुमुखी कला और संस्कृति का जन्म होना ही चाहिए था। गन्धार कला ने उसकी सफल पूर्ति की। वह भारत की कला-लक्ष्मी की पार्श्ववर्त्तिनी थी जो बुद्ध के महान् जीवन की प्रेरणा लेकर आगे बढ़ी, जैसे स्वयं मध्यदेश की कला भी थी।

(२) गन्धार प्रदेश की सांस्कृतिक आत्मा बौद्ध धर्म में बद्धमूल थी। इस धर्म के सिक्के को लेकर वह मध्य एशिया और चीन तक अपने प्रभावों के साथ फैल गई, जैसा चीन की पश्चिमी सीमा तुङ् ह्वांङ् नामक स्थान में सहस्र बुद्ध गुफाओं (सेन-फो-तुङ्) की मूर्तियों और चित्रों से विदित होता है। उस समय सहस्रों चीनी और तुर्किस्तान के भिक्षु और गृहस्थ गन्धार और भारत देश की यात्रा के लिए आते थे और यहाँ के बौद्ध धर्म से स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर स्वदेश लौटते थे। इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सूत्र बुने जाते थे।

(३) गन्धार के शिल्पियों ने मथुरा और मध्य देश की कला से कुछ अभिप्राय लेने का प्रयत्न किया, जैसे शालभञ्जिका मूर्तियाँ, पर इस में वे सफल नहीं हुए। भारतीय शैली के स्तम्भ भी उतने अच्छे नहीं बन पड़े और पूर्णघट आदि अलंकरणों में भी वह शोभा न आ सकी जो मध्य देश की कला में है।

(४) इसमें यूनानी अभिप्राय और विषयों के अंकन बहुत ही सफलतापूर्वक किए गए हैं।

(५) बुद्ध के जीवन से संबन्धित अनेक दृश्यों का अंकन बड़े उत्साह से सजीव शैली में किया गया है और यह उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की उत्कट भावना के अनुरूप है। किन्तु यह स्वीकार करना आवश्यक है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के मुख अध्यात्म भावना से शून्य हैं और उनमें योगीश्वर बुद्ध की उस छवि का अभाव है जो मथुरा की अन्तर्मुखी बुद्ध मूर्तियों में पाई जाती है।

अध्याय १२

१२. आन्ध्र-सातवाहन युग के स्तूप

बौद्ध कला में निर्मित स्तूपों के संबन्ध में सबसे बड़ा आन्दोलन और नवीन शैलियों का प्रयोग आन्ध्र देश में हुआ। इसका काल द्वितीय शती ई० पू० से तीसरी शती तक था। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में आन्ध्र-सातवाहन (२०० ई० पू०—२२५ ई०) और उत्तरकाल में इक्ष्वाकुवंशीय (२३० ई०—२७५ ई०) सम्राटों के वैभव और शक्ति का पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है। स्थल और समुद्र मार्गों से व्यापार करने वाले धनिक वर्ग की संपत्ति और बौद्ध धर्म के प्रति धार्मिक भक्ति का परिचय इन स्तूपों से प्राप्त होता है।

आन्ध्र कला के भौगोलिक स्थानों से किसी सुसमीक्षित योजना का परिचय मिलता है। कृष्णा और गोदावरी के बीच में वेंगिप्रदेश पूर्व में स्थित सागर महोदधि के व्यापार और नौसंचार को नियमित करता था। वेंगि के पृष्ठभाग में हाथ के पंजे की ५ अंगुलियों की भाँति ५ महापथ फैले हुए थे। इन्हीं पथों पर बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ जैसा फ्रेंच विद्वान् दुब्राई ने दिखाया है, यथा—

१—कलिंगमार्ग—इसी पर पीठापुरम् और संकाराम (संघाराम) के अवशेष हैं।
२—द्रविडमार्ग—इस पर घण्टशाल (प्राचीन कण्टकशैल) और भट्टिप्रोलु के स्तूप हैं।
३—कर्णाटमार्ग—इस पर अमरावती, गोली और नागार्जुनीकोंण्ड स्तूप हैं।
४—महाराष्ट्रमार्ग—इस पर अल्लूरु और जग्गय्यपेट के स्तूप हैं।

५—दक्षिणकोशलमार्ग—इस पर गुण्टपल्ले स्थान में प्राप्त लगभग ३० अवशेष हैं जो तिथिक्रम की दृष्टि में सबसे प्राचीन थे। यही मार्ग आगे बढ़कर एक ओर साँची-मथुरा और दूसरी ओर भरहुत और श्रावस्ती या उत्तरकोशल की ओर चला जाता था।

इस प्रकार इन दिशाओं से समृद्ध व्यापार द्वारा उपार्जित धन-संपत्ति की धाराएँ आन्ध्र देश की ओर बह रही थीं। उन्हीं का मूर्तरूप इन बौद्ध अवशेषों में प्राप्त होता है।

आन्ध्र की धार्मिक चेतना के स्रोत का अन्वेषण करते हुए हमें सम्राट् अशोक तक जाना होगा। अशोक विलक्षण सम्राट् थे। उन्होंने एशिया का मानचित्र अपनी मानसभूमि पर फैला कर देखा और अफगानिस्तान, पश्चिमी एशिया और मिश्र तक एवं नेपाल से बर्मा और सिंहल तक के देशों का सहानुभूति से अवलोकन और चिन्तन किया। कलिंग के साथ तो उनका सीधा संबन्ध कलिंग युद्ध के रूप में हुआ और जब युद्ध के बाद शान्ति की स्थापना हुई तो कलिंग पूरी तरह उनकी धर्मविजय के प्रभाव में आ गया। अशोक के प्रभाव का मूर्तरूप वह कला एवं संस्कृति थी, जिसका उन्होंने निर्माण किया। उसका स्फुट प्रमाण गया से कुछ मील दक्षिण बराबर और नागार्जुनी पहाड़ी में उत्कीर्ण गुफाएँ हैं। इन गुफाओं का वर्णन मौर्यकालीन कला के अन्तर्गत किया जा चुका है। ज्ञात होता है कि आरम्भिक युग के सातवाहन सम्राट् बौद्ध और जैन भिक्षुओं के

प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखते थे जिसके फलस्वरूप जैन संघ के आचार्य उदयगिरि और खण्डगिरि तक और बौद्ध भिक्षु आन्ध्र की प्राचीन राजधानी धान्यकटक (वर्तमान अमरावती) की ओर धार्मिक प्रचार करते हुए बढ़ आये। अशोक बौद्ध और उसका पौत्र संप्रति जैन था। अवश्य ही बौद्ध और जैन संघ ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। कृष्णा नदी के काँठे में सर्वप्रथम बड़े स्तूपों की स्थापना अमरावती में २०० ई० पू० के लगभग हुई और फिर तो यह परंपरा सातवाहनों के राज्य काल में २२५ ई० तक एवं इक्ष्वाकुवंशीय राजा और रानियों के युग में ३०० ई० तक जारी रही। सह्याद्रि और अपरान्त की ओर सातवाहनों ने शकों से राजनैतिक शक्ति अधिगत कर ली और फिर लगभग दो शतियों तक उनके संघर्षों के उतार-चढ़ाव में आँख-मिचौनी जैसा खेल होता रहा। आन्ध्र में ४०० वर्षों तक (२०० ई० पू०--२०० ई०) शक्ति पूरी तरह सातवाहनों के अधिकार में रही और उनके बाद वह इक्ष्वाकुराजाओं को प्राप्त हुई, जिन्होंने नागार्जुनीकोंण्ड जैसे महास्तूपों का निर्माण कराया।

आन्ध्र देश में बौद्ध धर्म का प्रवेश द्वितीय शती ई० पू० से सुप्रमाणित है। बाद में जैसा लेखों से विदित होता है बौद्ध धर्म के कई निकाय या संप्रदाय विशेष आन्ध्रदेश में आगए, जिन्होंने स्तूप निर्माण की प्रेरणा दी, यथा अमरावती में चैत्यक निकाय; पूर्व शैलीय निकाय अल्लूरु और नागार्जुनीकोंण्ड में; नागार्जुनीकोंण्ड, पेड्डवेगी और घण्टसाल में अपरशैलीय निकाय। इनके अतिरिक्त राजगिरि और सिद्धार्थक नामक दो निकाय और थे।

अशोक ने जो वास्तु और स्थापत्य शिल्प के महान् प्रयोग किये वे एक आन्दोलन के रूप में कलिंग की ओर प्रचारित हुए। कलिंग मार्ग पर उन्हीं की प्रेरणा से संकाराम के स्तूप एवं विहार और दक्षिणकोशल के मार्ग पर गुण्टपल्ले के स्तूप और अन्य अवशेषों का निर्माण हुआ। सम्भव है गुण्टपल्ले तक उन प्रभावों की पहुँच पहले हुई हो क्योंकि शोण और ज्योतिरथा की द्रोणियों द्वारा मगध और दक्षिण कोसल का मार्ग पहले से ही खुल चुका था। गुण्टपल्ले और संकाराम दोनों जगह मुख्य शैली पर्वत गुफाओं की है। गुण्टपल्ले में कार्यारम्भ तीसरी शती ईसवी पूर्व के मध्य में और संकाराम में २०० ई० पू० के हुआ। गुण्टपल्ले में अवशेष बहुत ही सुरक्षित दशा में मिले हैं, वहाँ आरम्भ में दो पर्वतीय विहार, एक गोल शैलघटित चैत्यगृह और कई एकाश्मक स्तूप बनाए गए जो स्थानीय शैली के सूचक हैं। हीनयान युग में ही वृत्तायत चैत्यघर २०० ई० पू० के लगभग बनाया गया था और अन्ततोगत्वा दूसरी शती ई० में एक दूसरा वृत्तायात चैत्य बना जिसमें महायान धर्म की प्रेरणा से स्तूप के स्थान पर बुद्धमूर्ति स्थापित की गई।

दोनों विहारों में से बड़ा स्फुटित दशा में है पर छोटे में अभी तक चट्टान में काटी हुई अपवरक कोठरियाँ हैं। विहार के साथ पाषाणघटित मुख मण्डप है जिससे उसके मुखभाग की रक्षा हो सके। मुख भाग के बीच में प्रवेश द्वार और पार्श्व में छह खिड़कियाँ थीं। प्रवेश द्वार के पीछे बड़ा मण्डप था, दोनों मण्डपों का आकार पृथक् है। तीनों दीवारों में छोटी-बड़ी बहुत सी कोठरियाँ खोदी गई हैं जो भिक्षुओं के निवास के लिए गर्भशालाएँ थीं। ये कोठरियाँ छोटी-बड़ी और आगे-पीछे हैं जो एक बेल में नहीं बनाई गई हैं। यह विहार और यहाँ के अन्य अवशेष आरम्भिक शैली के हैं। भीतरी मण्डप शिल्पियों ने मनमाने ढंग से निकाले हैं। मुख मण्डप में द्वार और वातायनों के ऊपरी भाग में बहुत सी घुड़नाल की शकल की डॉट या गोलम्बर हैं जिनके मत्थे पर स्तूपी के आकार की चोटी है। डाट के भीतर कीर्तिमुख, वातायन और उसका पञ्जर उत्कीर्ण किया गया है

जिसमें काष्ठशिल्प की अनुकृति है। यहाँ के वास्तु में भीतरी मण्डप, उनके गर्भ या अपवरक, प्रवेश द्वार और उनके गोलम्बर—सब नितान्त सादे हैं और यह सूचित करते हैं कि उनकी रचना पश्चिमी भारत के चैत्यगृह और गुफा विहारों से पूर्व हुई होगी।

शैलघटित चैत्यगृह—वास्तु की दृष्टि से यह गुण्टपल्ले का मुख्य अवशेष है। तिथिक्रम में इसका स्थान औरों से पूर्व में आता है। इसका भीतरी मण्डप मगध की लोमश ऋषि और सुदामा गुफाओं से एवं सौराष्ट्र के जुन्नार और कोन्डीविटे के चैत्यों के मिलता है। यह आकृति में गोल है, इसके बीच में गोल स्तूप या चैत्य है। स्तूप के चारों ओर सँकरा प्रदक्षिणा पथ और ऊपर गोल खरबुजिया छत है जिसमें बीच के कन्द से निकलती हुई तीलियाँ काटी गई हैं जो पूर्वगत दारुकर्म के अनुसार निर्मित पर्णशाला से ली गई हैं। यह चैत्यघर (व्यास १८ फुट और ऊँचाई १४$\frac{3}{4}$ फुट) पूर्वाभिमुख है। एकाश्मक स्तूप प्रमाण में गोल चैत्यघर से आधा है उसके चारों ओर की परिक्रमा केवल तीन फुट है। ऐसा करने से चट्टान की कटाई में कमी आई होगी। स्तूप के चौकी-भाग की ऊँचाई ३ फुट ९ इञ्च, व्यास ११ फुट ३ इञ्च, स्तूप के अण्डभाग की ऊँचाई ४ फुट ९ इञ्च और व्यास ९ फुट २ इञ्च, कुल ऊँचाई साढ़े आठ फुट है। चैत्य के मथेले भाग में हर्मिका थी। चैत्यघर की छत गोल छत्राकार थी जिसके लिए पीछे खरबुजिया शब्द प्रचलित हुआ। इसमें शिलाघटित १६ तीलियाँ या कमानियाँ हैं जो ऊपर के नाभिकन्द से जुड़ी हैं। वे आपस में भी चट्टान में काटे हुए डण्डों या बरङ्गों से जुड़ी हैं जिससे सूचित है कि शिलाकर्म या दारुकर्म की पूर्णरूपेण अनुकृति थी (चित्र ४०४)। चैत्य के रूप में मानों बांस-बल्लियों से बनाई हुई पर्णशाला का दर्शन होता है।
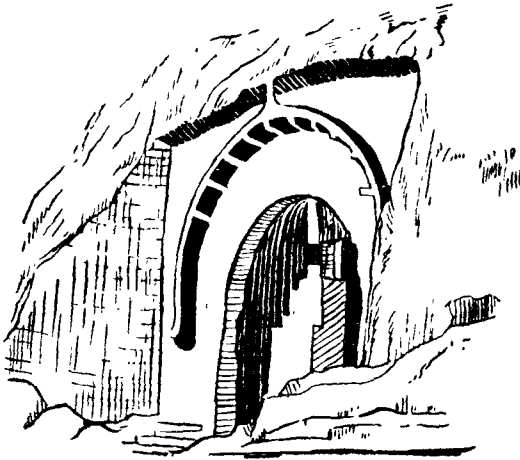
चित्र ४०४

गोल चैत्यघर के पूर्वी भाग में एक गोलम्बरयुक्त प्रवेश द्वार है जिसमें से चैत्य का कुछ भाग बाहर से ही दिखाई पड़ता है। यह लोमश ऋषि गुफा से कुछ-कुछ मिलता है और इसके ऊपर भी वैसा ही कीर्तिमुख पञ्जर है। इसकी छत में जो बड़ी धरन लगी हुई थीं, उनके सिरे प्रवेश द्वार के ऊपर गोलाई में दिखाई पड़ते हैं; जैसा लोमश ऋषि गुफा में है। यों गुण्टपल्ले में गुहा निर्मित चैत्यघर बौद्ध वास्तु शिल्प का आरम्भिक नमूना है। आगे चलकर जब इस प्रकार के गोल मण्डप को बढ़ाकर दोनों पार्श्वों में प्रदक्षिणापथ की योजना की गई तब चैत्यघर के भीतरी रुख का पूरा विकास हुआ। इसका प्रभाव कृष्णा काँठे में तो नहीं सह्यात्रि के केन्द्रों में परिलक्षित होता है। संभव है सातवाहन युग की संस्कृति का पश्चिम भाग में प्रचार होने से ऐसा हुआ हो। आन्ध्र में भी जो अवशेष पर्वतों से अतिरिक्त शिलेष्टिकाओं से रचे गए उनमें गुण्टपल्ले की शिल्प कला का प्रभाव द्रष्टव्य है।

गुण्टपल्ले में भी शिलानिर्मित एक वृत्तायत चैत्यघर मिला है जो दूसरी शती ई० के मध्य भाग का है। यह महायान युग की रचना है। यह ५३$\frac{1}{2}$ फुट लम्बा, १४$\frac{1}{2}$ फुट चौड़ा और दोनों ओर

भीतें ४½ फुट मोटी और चौड़ी बुनियाद पर खड़ी हैं। इसका गोल गर्भगृह दीवाल के सहारे बुद्ध की मूर्तियाँ रखने की जगह है पर बीच में स्थापित पूजा की पवित्र वस्तु प्राप्त नहीं हुई। यह चैत्यगृह आकार में बड़ा था, इसकी ढोलनाकार छत के ऊपर पकाई मिट्टी की स्तूपिकाएँ थीं, और अलंकृत मुख-पट्ट पर बुद्ध मूर्तियाँ बनी हुई थीं।

गुण्टपल्ले का दूसरा स्तूप साँची के समान अश्मशिलाओं के कंचुक से आच्छादित है जिसमें पत्थर की ईंटों को जोड़ने के लिए चूने का प्रयोग नहीं हुआ है। इस अर्ध गोलाकार स्तूप के अण्डभाग का व्यास १६ फुट, ऊँचाई ८½ फुट, इसकी लम्बोतरी चौकी का व्यास ११½ फुट, ऊँचाई ५ फुट है। इसके ऊपर की हर्मिका और छत्रावलि अब नहीं हैं। शिलाकंचुक की इष्टिकाएँ सुघटित हैं और उनकी टक्करें सावधानी से मिलाई गई हैं। उनके द्वारा स्तूप की बाहरी गोलाई का उठान सावधानी के साथ निकाला गया है।

संकाराम—कलिंग मार्ग पर विशाखापत्तन के समीप संकाराम प्राचीन संघाराम नामक स्थान है जहाँ कई समय में वास्तु रचना हुई। इनमें से सबसे प्राचीन अवशेष वे हैं जो अशोक कालीन गुहाओं की पदछाया में बनाये गए—एक विशाल शिलाघटित बौद्ध विहार, कई एकाश्मक स्तूप, कुछ अपवरक और तीन वृत्तायत चैत्यघर जो द्वितीय शती ई० पू० के आरम्भ के हैं। यहाँ के एकाश्मक स्तूप बहुत बड़े आकार के हैं। विहार के संमुख बृहदाकार स्तूप का व्यास पादमूल में ६५ फुट है। तिथिक्रम में दूसरे प्रकार के स्तूप वे हैं जो शिलामयी इष्टिकाओं से बने हैं। तीसरी श्रेणी में मिट्टी की ईंटों से चिने गए स्तूप हैं जो द्वितीय शती में बनाए गए। यहाँ निर्माणकार्य पल्लव युग तक होता रहा।

गोली स्तूप—गुण्टूर जिले के पालनाड तालुके में कृष्णा की शाखा कोलारु नदी के तट पर गोली नामक स्थान में एक स्तूप मिला है जो नागार्जुनीकोंड से १८ मील नीचे की ओर है। संगमर्मर जैसे श्वेत पाषाण की बनी हुई सुन्दर मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुई हैं जो अमरावती और नागार्जुनीकोंड की श्रेष्ठतम कला के समकक्ष हैं। कृष्णा नदी के काँठे में शिल्प कला किस ऊँचाई तक उठी थी, इसका प्रमाण गोली की मूर्तियों और शिलापट्टों से होता है जिनकी उकेरी अत्यन्त प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही है। उनमें एक स्तूप पट्ट है (ऊँचाई ५ फुट १½ इञ्च, चौड़ाई ३ फुट १ इञ्च)। इस पट्ट पर एक महा स्तूप अंकित है या उत्कीर्ण है जो तीन मेधियों के अधिष्ठान या कुर्सी पर बना है, ये चौकियाँ प्रमाण में कम होती हुई पीठों के आकार की हैं। स्तूप के अधोभाग में एक महाप्रमाण शोभापट्टी थी जिसमें बड़े आकार के उत्कीर्ण शिलापट्टों की पंक्ति लगी हुई थी। इसकी प्रत्येक दिशा में पाँच आयक खम्भ थे। इसमें नीचे का अण्डभाग और उसके ऊपर ऊँचा लम्बोतरा अण्ड है जिसके मस्तक पर सुन्दर वेदिका युक्त हर्मिका है, उसमें से दो ध्वजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं और उनका सम्बन्ध स्तूप की हर्मिका के दक्षिण और वाम भाग में बनी हुई दो छत्रावलियों से है जिनमें से प्रत्येक में पाँच छत्र हैं। (चित्र ४०५)। यह उस महा स्तूप की प्रतिकृति है जो इस स्थान पर द्वितीय शती
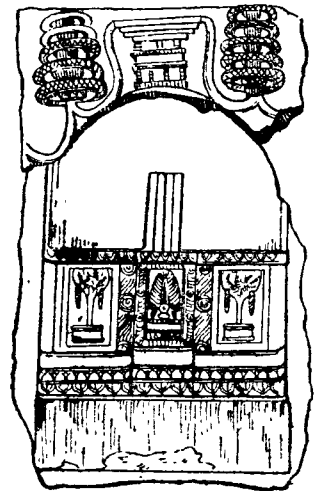
चित्र ४०५

ई० में बनाया गया और जिसमें आन्ध्र देश के महा स्तूपों के सब लक्षण और अंग पूरी तरह विद्यमान थे। गोली के अन्य शिला पट्टों में एक नागपट्ट है जिस पर नागराज देवता की भव्य मूर्ति है। बुद्ध, बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ और अन्य मूर्तियों में ये हैं—जातक कथाएँ जैसे वेसन्तर जातक, छदन्त जातक, सस जातक, मातिपोसक जातक, और बुद्ध के जीवन के कई एक चित्र जैसे मारधर्षण, सुजाता द्वारा पायस समर्पण, प्रथम धर्मोपदेश, बुद्ध का यशोधरा के समीप पुनः लौटना, नलगिरि हस्ती को वश में करना, आदि। महावंश में महाचेतिय का वर्णन करते हुए विशेष रूप से लिखा है कि स्तूप के अलंकरण में वेसन्तर जातक के दृश्य बनाए जाते थे। वह बात गोली स्तूप में सत्य घटित होती है क्योंकि इस स्तूप की शोभापट्टी की कई शिलाओं पर वेसन्तर जातक का विस्तार से अंकन हुआ है। शैली के आधार पर इन मूर्तियों का समय दूसरी-तीसरी शती आँका गया है।

द्रविड़ मार्ग पर निर्मित भट्टिप्रोलु का महास्तूप १२२ फुट ऊँचा और नीचे १४८ फुट व्यास का था, इसकी रचना बड़े आकार के ईंटों से लगभग तीसरी-दूसरी शती ई० पूर्व हुई। इसका ऊपरी अण्ड भाग साँची स्तूप के सदृश घंटाकृति था। यहाँ से एक लेखयुक्त धातु मंजूषा और कुछ मूर्तियाँ भी मिलीं। धातु मंजूषा में मुक्ताफल, रत्न, सुवर्ण पुष्प, मनके, त्रिशूल, चौबीस छोटे सिक्के मिले हैं, जिन पर त्रिशूल और नाग मूर्तियों से घिरे पदचिह्न बने हैं। अभी तक यहाँ किसी विहार के चिह्न नहीं मिले, पर उपलब्ध लेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ के बौद्ध भिक्षु दो संघों में विभक्त थे।

घण्टशाल (कण्टकशैल) का महास्तूप इसी दक्षिणापथ के द्रविड़ मार्ग पर था और उसका वास्तुविन्यास भी भट्टिप्रोलु स्तूप के समान था। उसका व्यास १२२ फुट और ऊँचाई १११ फुट थी। कलियों की तरह चारों ओर निकलती हुई दीवारों के गर्भ में एक १० फु० चौकोर ठोस बुर्ज या स्तम्भ है जो भूमितल से स्तूप की चोटी तक ऊँचा था। यह गर्भ-स्तम्भ २२ फुट व्यास के एक दूसरे इष्टिका स्तम्भ से परिवेष्टित था। इन दोनों के बीच में वृत्त की ज्या के समान आड़ी दीवारें थीं, जिनके बीच में कुटी हुई मिट्टी और कत्तलों का भराव था। बाहरी स्तम्भ के चारों ओर एक बड़ी गोल दीवार थी जिसका व्यास ५६ फुट और बड़े चौकोर स्तम्भ की आड़ी भित्तियाँ उस गोल दीवार तक बढ़ाई गई थीं। इस गोल दीवार के बाहर ११½ फुट की दूरी पर एक और भारी निर्माण वाली दीवार थी। इन दो गोल वेष्टनी की भीतों के बीच का स्थान भी आड़ी दीवारों से भरा गया था और उनके बीच के खण्डों में मिट्टी और मलबे की भराई थी। इस युक्ति से स्तूप में लगनेवाली ईंटों की संख्या में बड़ी कमी की गई और उसकी दृढ़ता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया गया। महावंश में लिखा है कि महाचेतिय के निर्माण में दस करोड़ ईंटें लगती थीं और उन्हें पाथने और पकाने के लिए बड़ा संभार करना पड़ता था। ऊपर की युक्ति से ईंटों की संख्या में बड़ी मितव्ययिता बरती गई। यह किसी विशेषज्ञ स्तूप रचयिता की कल्पना थी। उसमें दो भीतरी गोल और परस्पर सटी हुई दीवारों की नींव पर स्तूप के भारी अण्डभाग का और परिक्रमा की मेधि का क्रमशः निर्माण किया गया। स्तूप के गर्भ में दो चौकोर स्तम्भ और उन्हें घेरनेवाली दो गोल भित्तियों के वास्तु-विन्यास में ३२ कोठे बनाये गये जो इस प्रकार थे—१६ दो गोल दीवारों के बीच में, १२ बड़े चौकोर खम्भे और भीतरी गोल दीवार के बीच में और ४ मध्यवर्ती ठोस खम्भे और उसे घेरनेवाले दूसरे चौकोर खम्भे के बीच में। ये सब रिक्तस्थान जो चारों ओर ईंटों की दीवारों से घिरे थे, मिट्टी और रोड़े के मलबे से भर दिये गये। इस प्रकार आदि से अन्त तब उसके निर्माताओं ने स्तूप के विविध अंगों को परस्पर जोड़कर दृढ़ता, मितव्ययिता और वास्तु-रचना का मौलिक परिचय दिया, उन्हें अपने वास्तु कौशल पर विश्वास था। पेड्डगंजम के महा-

स्तूप में भी ठीक ऐसी ही गर्भित रचना मिली है, जिससे सूचित होता है कि इस प्रकार का वास्तु आन्दोलन ही प्रवृत्त हो गया था। घण्टसाल से बहुत से श्वेत पाषाण के उत्कीर्ण खंडित शिलापट्ट और मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यहाँ की शिल्पकला बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

पल्लेरु नदी के तट पर स्थित जग्गय्यपेट्ट का महास्तूप—महाराष्ट्र मार्ग पर जग्गय्यपेट्ट का महास्तूप अमरावती से ३० मील उत्तर-पश्चिम दिशा में था। इस समूह में बहुत से स्तूप, विहार और स्तम्भों पर आश्रित एक मण्डप था जो सम्भवतः चैत्यगृह का अंग था। ये अवशेष इष्टिकाओं और शुद्ध श्वेत पाषाण से बने हैं। संगमरमर के समान इस कड़े पाषाण पर बारीक उकेरी का काम किया जाना सम्भव है। जग्गय्यपेट्ट में लगभग ७०० वर्षों तक निर्माण कार्य होता रहा—प्रथम तो द्वितीय शती ई० पूर्व से तीसरी शती इक्ष्वाकु राजाओं के युग तक और पुनः पाँचवीं शती पल्लव राजाओं के काल तक। इसकी साक्षी यहाँ के शिलालेख हैं। यहाँ के स्तूप का व्यास ३१½ फुट था, उसके चारों ओर १०½ फुट का प्रदक्षिणा पथ और ३ फुट ९ इंच चौड़ा एक छोटा मार्ग जो शिलाओं से ढका है और भूमितल से ऊँचा उठा है। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ को घेरती हुई एक अमरावती जैसी महावेदिका थी। स्तूप के बाहरी कंचुक में निचले अधिष्ठान पर पाषाण के शिलापट्टों की पंक्ति या शोभापट्टी थी और ऊपर के भाग में ईंटों का आच्छादन था, जिस पर सुन्दर गचकारी का काम था। इसके बीच में पाँच आर्यक खम्भ युक्त निकले हुए चार मंच और ऊपरी मस्तक पर हर्मिका रही होगी। आर्यक खम्भों तक पहुँचने
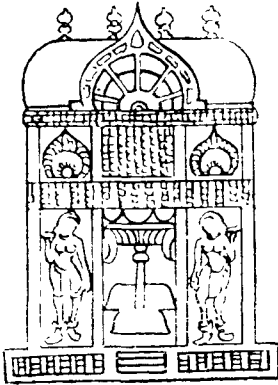
चित्र ४०६ पुण्यशाला

चित्र ४०७ चक्रवर्ती मांधाता

के लिए दोनों ओर के सोपान थे और बीच में कटिबंध या कमरपेटे की भाँति प्रदक्षिणा पथ और उसकी वेदिका थी। स्तूप का गर्भ भाग कुछ मौलिक सूझ-बूझ से रचा गया। उसमें दो फुट मोटी कटी हुई मिट्टी की तह और उसके ऊपर ईंटों की तह क्रमशः जमाई गई थी। इस प्रकार कच्चे और पक्के कुट्टिमों की परत एक दूसरे के साथ बाँधकर स्तूप के गर्भ भाग का निर्माण किया गया, और उसके सम्पूर्ण गाभे को ईंटों के कंचुक या खोल से मढ़ दिया गया। जग्गय्यपेट्ट की विशेषता उन शिलापट्टों के कारण है जो

संख्या में अधिक और शैली में अत्यन्त सुन्दर और परिमाण में बड़े हैं। अधिष्ठान के शिलापट्टों पर उकेरी का अभाव है, किन्तु उनकी रेखा से ऊपर के स्तम्भों पर उकेरी की सज अति उत्तम है। उनकी शैली आरम्भिक अमरावती कला से मिलती है और उकेरी भी विविक्त या नीची और कम उभरी है। मूर्तियों के मस्तक पर उष्णीष और कानों के कुण्डल भारी हैं जैसे आरम्भिक अजन्ता शैली में है। अमरावती और नागार्जुनीकोंड की अपेक्षा यहाँ की शैली, मुद्राएँ और अंगन्यास अधिक संयत हैं। यहाँ के शिलापट्टों में उत्कीर्ण दृश्य विविध प्रकार के हैं और उस युग के सांस्कृतिक जीवन की सामग्री से भरे हुए हैं। यहाँ के एक शिलापट्ट पर (जो इस समय मद्रास संग्रहालय में है) पुण्यशाला का अंकन है (चित्र ४०६)। उसमें सामने चार स्तम्भ और पार्श्वों में दो सोपान हैं। उसके भीतर एक पादुकापट्ट है जिसके दो ओर स्त्रियाँ हैं। एक के हाथ में पुष्पपिधानयुक्त पूर्णघट है। यह द्विभूमिक घर था जिसकी ढोलनाकार छत के अग्रभाग और पृष्ठ भाग में कीर्तमुख जैसे गवाक्ष एवं ऊपर स्तूपिका-पंक्ति थी। कृष्णा काँठे के स्तूपों में वास्तु और शिल्प (दे० चित्र ४०७) की दृष्टि से जग्गय्यपेट्ट का अपना स्थान और मौलिक देन है।

अमरावती स्तूप

अमरावती स्तूप के आविर्भाव की कथा अतिरोचक है। द्वितीय-तृतीय शती में यह अपने जिस पूर्ण स्वरूप में था विश्व की महान् कलाकृतियों में स्थान पाने योग्य है। किन्तु अब उसका वह रूप समाप्त हो गया है और मूल स्थान पर प्रायः कुछ नहीं बचा है। उसके जो अवशेष मद्रास, कलकत्ता और लन्दन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। उन्हें देखकर केवल अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसके पुरातन वैभव का अनुमान किया जा सकता है।

अमरेश्वर शिव के नाम पर अमरावती छोटा सा नया ग्राम है। कृष्णासागरसंगम से साठ मील ऊपर नदी के दाहिने तट पर गुण्टुर से १८ मील पर बस्ती से दक्षिण की ओर अमरावती बौद्ध महास्तूप है। आधे मील पश्चिम की ओर धरणिकोट नामक स्थान है जो किसी समय सातवाहनों की धान्यकटक नाम की राजधानी थी।

कर्नल मकेंजी ने १७९७ ई० में सबसे पहले इस स्तूप का पता लगाया। इससे कई वर्ष स्थानीय राजा ने स्तूप के अनेक शिलापट्ट अपने महल और नगर के निर्माण के लिए हटा दिए थे। ऐसा करने में बहुत सी मूर्तियाँ नष्ट हो गईं किन्तु बचा-खुचा जो मेकेंजी को मिला, उसने उसकी सूचना एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को दी।

वे १८१६ में सर्वेक्षण विभाग के अध्यक्ष होकर वे पुनः यहाँ आए और अगले दो वर्षों में अवशेषों और मूर्तियों का सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्होंने परिश्रमपूर्वक इन अवशेषों के और उस क्षेत्र के चित्र और मानचित्र तैयार किये। फर्गूसन का कथन है कि मैकेन्जी ने शिलापट्टों और मूर्तियों के जो रेखाचित्र तैयार किये वे बहुत उत्तम और श्रेष्ठ हैं, और भारत में वैसे अन्यत्र नहीं बने। चित्रों की तीन प्रतियाँ तैयार की गई थीं जिनमें से एक कामनवेल्थ कार्यालय में सुरक्षित है। मैकेन्ज़ी ने ऊपर के तीन संग्रहालयों में मूर्तियों का बँटवारा किया जहाँ वे अभी तक हैं। इसके बाद यह क्षेत्र विस्मृत रहा। फिर १८४० में गुण्टुर के कमिश्नर वाल्टर इलियट ने स्तूप के कुछ खुले हुए भाग का उत्खनन कराया और अन्य मूर्तियाँ प्राप्त कीं। १८५६ तक वे वहीं धूप और मेह में पड़ी रहीं; तब लन्दन भेज दी गईं जहाँ उन्हें एक गोदाम में डाल दिया गया। कितने ही वर्षों बाद उन पर फर्गूसन का ध्यान

गया और उसने उन्हें ब्रिटिश म्यूजियम में रखवा दिया जहाँ वे सोपान के पार्श्व भाग में अभी तक प्रदर्शित हैं।

किन्तु धान्यकटक की महान् शिल्प-निधि निःशेष नहीं हुई। १८३० में रौबर्टसन ने अमरावती की ३३ मूर्तियाँ मद्रास भेजीं और वहाँ से १८५५ में वे लन्दन भेज दी गईं। १८७६ से सिवेल ने अनपढ़ मजदूरों से खुदाई कराते हुए बहुत से शिलापट्ट प्राप्त किए। १८७९-८० में मद्रास के राज्यपाल बकिंघम के ड्यूक ने उस स्थान की पूरी सफाई का आदेश दिया जिससे स्तूप का नामशेष हो गया। १८८१ में बर्गेस को पूर्व उत्खनन से प्राप्त ३०० मूर्तियाँ मिलीं और उसने स्वयं १८८१ में ७९ शिलापट्ट प्राप्त करके जोड़े। इनमें ३६१ शिलापट्ट ३ बार में मद्रास संग्रहालय में भेजे गए (१७० शिलापट्ट १८८३ में, ११ शिलापट्ट १८९१ में, १२८ और ५२ शिलापट्ट १८९१ में)। १९०५-६, १९०८-९ में एलेक्ज़ेडर री ने फिर खुदाई करायी और जो नयी सामग्री मिली उसे मद्रास संग्रहालय में भेज दिया।

ऊपर के वर्णन से ऐसा जान पड़ता है मानों अमरावती के रूप में इन्द्र की सुधर्मा सभा के दिव्य अवशेषों की लूट की गई है। पर सन्तोष इतना ही है कि अमरावती के अधिकांश शिलापट्ट नष्ट होने से बचा लिए गए और अब उनके आधार पर मूल स्तूप का ब्योरेवार अध्ययन संभव है। यह महा-चेतिय किसी देवविमान के सदृश विशाल अंगों से समन्वित और श्रेष्ठ कला के अंगोपाङ्गों संयुक्त एवं बहुअर्थगामिनी सामग्री से सुशोभित था। बौद्ध धर्म और सातवाहन नगरियों के सांस्कृतिक जीवन के अपरिमित दृश्य शिलापट्टों पर उत्कीर्ण किये गए, यदि मनुष्य के अन्दर कल्पना का बल हो तो आज भी उसके गौरव का चित्र खींचा जा सकता है।

शिला लेख

अमरावती के शिलापट्टों पर भरहुत और साँची की भाँति अनेक दान-सूचक लेख हैं। श्री शिवराम मूर्ति ने १२६ लेखों की सूची दी है। उनसे कई रोचक तथ्य ज्ञात होते हैं। स्तूप का नाम महाचेतिय था। बौद्धों के चैत्यक नामक निकाय के द्वारा इसके निर्माण की प्रेरणा की गई। स्तूप का निर्माण धान्यकटक नामक स्थान में हुआ। लेखों में इसे धनकडक, धान्यघटक कहा गया है जिससे स्तूप का नाम धनमहाचेतिय और कटमहाचेतिय प्रसिद्ध था। स्तूप के निर्माण में जनता के सहयोग का प्रमुख भाग था, जैसे दानदाताओं की सूची में इस प्रकार के लोग थे—पाटलिपुत्र, राजगृह, तमिल देश (दमिल), घण्टशाल (कण्टकसेलक), विजयपुर के गृहपति, उपासक, वाणिज, सार्थवाह, हेरणिक (सोने-चाँदी या सराफे का काम कराने वाले महाजन=हैरण्यिक), पणियघरिक (=पानी घर के अधिकारी), सरकारी कर्मचारी और राजलेखक आदि। धान्यकटक में श्रेष्ठी या महाजनों का एक निगम या व्यापारी-मण्डल था जिसने स्तूप के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। उसके सदस्य नैगम कहे जाते थे। भद्रनिगम के श्रेष्ठी प्रमुख या अध्यक्ष ने स्तूप के निर्माण में बड़ी सहायता दी। इससे ज्ञात होता है कि निगम के व्यक्तिगत सदस्य श्रेष्ठी और उनका नेता श्रेष्ठीप्रमुख कहा जाता था। वे वणिक् जो बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गए थे गहपति या गृहपति कहलाने लगे थे। उपासक लोग अपने दान का पुण्य माता-पिता, भाई-बन्धु, बहिन, पुत्र, पुत्री, स्त्री, नाती आदि को समर्पित करते थे। दान पुण्य में भाग देने की यही भावना भरहुत, साँची और मथुरा के स्तूपों में पाई जाती है। इसी के साथ सब लोगों के हितसुख की भावना भी जुड़ गई (सवस च लोकस हितसुखथतय)।

स्थानीय बौद्ध संग सुगठित था। इस संघ की संज्ञा चैत्यक महाचेतिय थी महाचेति ये चेतिकेयानं और इसमें भिक्षु, भिक्षुणी, प्रव्राजिका, थेर, महाथेर, महाधम्म कथिक, विनयधर, उवझाय (उपाध्याय), उवझयिनी (उपाध्यायानी), अन्तेवासिक, अन्तेवासिकिनी, सम्मिलित थे जो गृहपति और उपासकों को धर्मोपदेश द्वारा भगवान् के महाचैत्य को दान देने की प्रेरणा देते थे।

स्तूप वास्तुविन्यास के संबंध में भी लेखों में कुछ संकेत हैं। जैसे, भूमितल पर एक महावेदिका थी जिसमें उष्णीष (उनिस, उन्हिस), परिचक्रा या फुल्लों से उत्कीर्ण सूचियाँ या आड़े तकिये (परिचका सूची) थे, जिनका उल्लेख कई बार आया है। महावेदिका में चार द्वारतोरण थे; उनमें से एक दक्षिण पार्श्व द्वार था, प्रत्येक द्वार के पीछे आयक संज्ञक मञ्च था जो स्तूप से बाहर की ओर निकलता था जिसपर पाँच आयक खम्भ खड़े किये जाते थे। इनमें से उत्तरायाक और दक्षिणायाक (दखिनायाके चैत्यखम्भ) वस्तुतः पाए गए हैं। जैसा अन्य स्तूपों से ज्ञात होता है कि चारों दिशाओं के ये पाँच आयक खम्भ आन्ध्र देश के स्तूपों का विशेष लक्षण था। स्तूप की रचना में सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बाह्य शिलाकञ्चुक था जिसे लेखों में ऊर्ध्व पट्ट (उधंपट) या केवल पट्ट (पट) कहा गया है। किन्तु इन पट्टों के विशेष नाम उन पर उत्कीर्ण अभिप्रायों और मूर्तियों के आधार पर रक्खे जाते थे, जैसे पुण्णघटकपट, कलसपट, स्वस्तिकपट (सोथिक पट), चक्रपट्ट (चक्कपट), बुधपट (बुद्धपट)। मथुरा कला में भी इस प्रकार के स्वस्तिकपट्ट, चक्रपट्ट, तीर्थंकर पट्ट आदि आयागपट्ट मिले हैं। स्तूप के चारों ओर एक अब्जमाला या कमल के फुल्लों की माला उत्कीर्ण थी (अब्दमाला या अबातमाला=अब्जमाला)। इसे ही साहित्य में पुष्करस्रज, पुण्डरीकसहस्रस्रज (मत्स्य पु० २४१।३०), किंजल्किनी (देवी मा० ५।४९), कहा गया है। उसी की शिलाघटित अनुकृति स्तूपों की वेदिका और कञ्चुक पर की गई जो बहुव्ययसाध्य थी और जिसके शिल्पियों को अपनी प्रतिभा से नाना भाँति के पुष्करों या सूरजमुखी के शतपत्र, सहस्रपत्र फुल्लों की सजावट का अवसर मिला। स्तूप के ऊपर छत्रयुक्त हर्मिका थी (चेदियस छत)। बीच के परिक्रमा पथ की वेदिका के स्तम्भों के बीच में जो बड़े पत्थर लगाए गए थे, उनकी संज्ञा संभवतः पेण्डक थी। इस शब्द का सुनिश्चित अर्थ अज्ञात है। लेखों में एक दीप स्तम्भ (दित्र स्तम्भ) और प्रधान मण्डप (पधान मण्डप) का भी वर्णन है। वास्तविक तक्षण का कार्य पाषाणिक (पसनिक) शिल्पियों द्वारा किया गया, उनका निरीक्षण करने वाले नवकर्मिक अधिकारी थे और उन सबके ऊपर महानवकर्मिक नियुक्त थे। महा स्तूप की रचना के लिए इस प्रकार की कार्यक्षम व्यवस्था की गई थी।

लेखों से महाचेतिय के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। दो लेख मौर्यशुंग कालीन (लगभग २०० ई० पू०) लिपि में हैं। उनमें अमरावती के प्राचीन नाम धनकटक का उल्लेख है। बाद के लेखों में सातवाहन राजा वासिष्ठी पुत्र पुलमावि, यज्ञ श्री सातकर्णि (यदन्य सिरि सदकनि), और श्री शिवमक सातकर्णि (सिरि शिवमक सदस) के नाम हैं। कुछ लेख इक्ष्वाकु राजाओं के काल के हैं (तीसरी शती ई०)। एक लेख में वाकाटक नाम आया है (पाँचवीं शती ई०)। इसके बाद लम्बे कालक्षेप के अनन्तर ११८२ और १२३४ ई० के दो लेख हैं जो अमरेश्वर मन्दिर के स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं जिनमें बुद्ध के धान्यकटक के महास्तूप, उसके सुन्दर शिलापट्टों तथा बुद्ध मूर्ति की रक्षा के लिए दान का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि महास्तूप तेरहवीं शती तक सुरक्षा की दशा में था।

अमरावती स्तूप का स्वरूप

लेखों में आये हुए पारिभाषिक शब्दों में स्तूप के वास्तु-विन्यास पर प्रकाश पड़ता है किन्तु उसका और भी स्पष्ट विवरण शिलापट्टों से प्राप्त करना सम्भव है।

उसका पहला महत्त्वपूर्ण अंग भूमिगत महावेदिका या महास्तूप की वेष्टनी थी। स्तम्भों की पेंदी के लिए ईंटों की चौकी बनी हुई थी। स्तम्भों के ऊपरी सिरे पर चूलों में उष्णीष के पत्थर बैठाये हुए थे। दो स्तम्भों के बीच में तीन-तीन सूचियाँ थीं।

स्तूप के वास्तु और आकार को जानने के लिए तीन साधन हैं। प्रथम तो बचे हुए अवशेष, दूसरे मेकेंजी, बर्जेस और सिवेल के रेखाचित्र और तीसरे स्तूप-पट्टों पर अंकित स्तूप की आकृति।

इस सामग्री से ज्ञात होता है कि अमरावती की महावेदिका अन्य सब वेदिकाओं से अलंकरण में विशिष्ट थी और सौभाग्य से उसका अधिकांश भाग प्राप्त हो गया है जो स्तूप के अन्य किसी अंग से अपेक्षाकृत अधिक है। गणना के अनुसार महावेदिका का व्यास १९२ फुट था जो भरहुत से दुगुना है। इस प्रकार उसका गोल घेरा लगभग ६०० फुट था। प्रत्येक अर्ध स्तम्भ ९ फुट ऊँचा और २ फुट १० इंच चौड़ा था। दो स्तम्भों के बीच में ३ सूचियाँ थीं। इनके ऊपर चित्रित फुलों की चौड़ाई २ फुट ९ इंच थी जिसके कारण इन्हें परिचक्रा सूची कहा गया है। सूचियों के सिरे पुडन्तर अर्थात् स्तम्भों के खाँचों में पिरोये हुये हैं। स्तम्भों के मस्तक पर उष्णीषपट्ट बैठाये गये हैं। उनकी ऊँचाई २ फुट ८ इंच, चौड़ाई १ फुट और ऊपर की मुंडेर गोल है। वे चूल की युक्ति से स्तम्भों से जुड़े हैं। वेदिका की प्रत्येक दिशा में २६ फुट चौड़ा द्वारतोरण था। जैसा आन्ध्र के अन्य स्तूपों में है, वैसे ही यहाँ भी तोरण के पंजर और बँड़ेरियों का अभाव था। वेदिका का तुरीयांश अपने अंतिम स्तम्भ तक पहुँच कर १६ फु० बाहर की ओर निकला हुआ था और फिर ६½ फु० समकोण बनाकर भीतर की ओर ८ फु० मुड़ जाता था। परदे की यह युक्ति साँची में भी प्राप्त है। इस प्रकार पूरी वेष्टनी के उष्णीष ८०० फु० लम्बे थे और महावेदिका में १३६ स्तम्भ और ३४८ सूचियाँ थीं। (चित्र ४०८)
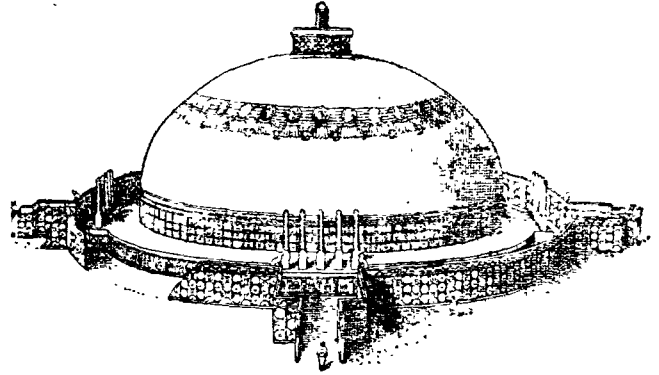
चित्र ४०८

उष्णीष खण्डों की लम्बाई भिन्न-भिन्न थी, जिनमें सबसे बड़ा ११ फुट लम्बा था। इसका मुखभाग और पृष्ठभाग दोनों अलंकृत हैं। अग्रभाग में मालाधारी देवों का अंकन है। इस लतर की मोड़-मुड़क में बोधिवृक्ष, स्तूप, धर्मचक्र आदि चिह्न अंकित हैं। यह ज्ञातव्य है कि अमरावती स्तूप की महास्तक्

को उठाये हुए विशुद्ध मानव आकृतियाँ हैं, यक्ष आदि देवता नहीं (चित्र ४०९)। यह महती किंजल्किनी माला न केवल उष्णीष पट्टों पर, किन्तु स्तूप के कंचुक में लगे हुए शिलापट्टों पर भी अंकित थी। कुछ नमूनों में यह माला वामनाकृति मूर्तियों या गजाकृति यक्षों से धारण की गई है अथवा माला का एक
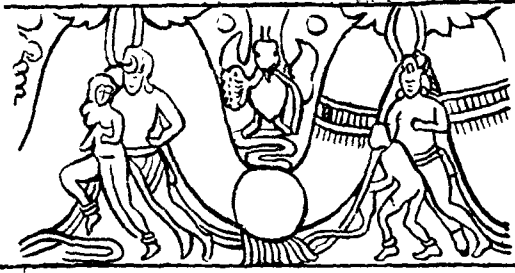
चित्र ४०९

चित्र ४१०

सिरा मकरमुख से निकलता हुआ दिखाया गया है जिसके सामने एक यक्षी बैठी है (चित्र ४१०)। इस प्रकार प्राचीन अभिप्रायों की सहायता से माला को सजाया गया है। उष्णीषों के पृष्ठ भाग पर बुद्ध के जीवन की घटनाएँ और जातकों के दृश्य ऐसी बारीकी से उकेरे गये हैं, मानों हाथीदाँत का काम हो। सब मिलाकर इनमें बौद्धधर्म का एक अभूतपूर्व चित्रपट दिखाई पड़ता जैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। वेदिका के स्तम्भों पर भी शिल्पियों ने अपनी कला का सर्वोत्तम प्रदर्शन किया है। स्तूप के निर्माण में कला का ऐसा सौष्ठव दुर्लभ है। स्तम्भ के बीच में एक फुल्ला और ऊपर-नीचे दो अधखिले फुल्ले हैं। फुल्लों के बीच की जगह में तीन आड़े खारे हैं। ऊपर की पट्टी में दम्पती मूर्तियाँ किसी धार्मिक स्तूप, धर्मचक्र और पादुका आदि की पूजा कर रही हैं। बीच के फुल्ले के नीचे का स्थान नृत्य करते हुए वामनाकृति यक्षों से भरा है जो सदामत्तक देवों के रूप हैं। स्तम्भों के पृष्ठभाग में भी एक पूरा खिला हुआ और दो अधखिले फुल्ले हैं। कहीं-कहीं इन भागों में भी बुद्ध के जीवन दृश्य और जातकों का अंकन किया गया है। उत्तर-पश्चिम के तुरीयांश में कुछ छोटे स्तम्भ और उन्हीं के समकक्ष उष्णीष पाये गये हैं। उनके अग्रभाग में उकेरी का अभाव है और ज्ञात होता है कि वेदिका के प्रतिसंस्कार की किसी अवस्था में ये लगाये गये।

सूचियों के दोनों ओर परिचक्र या फुल्ले हैं, किन्तु भीतर की ओर के बीच के फुल्ले में पुष्कर या कमल के फूल की जगह बौद्ध कथानक हैं।

सादा खुले हुए प्रवेश मार्ग में भरहुत और साँची की भाँति तोरणों की बडेरियाँ और पंजर नहीं हैं। प्रवेशद्वारों के घूघस या मुड़े हुए भाग उनकी बुनियादों के आधार पर बनाये गये हैं। द्वार की वेदिका भाग पर चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं, भीतरी दो आमने-सामने मुख किये हैं और बाहरी स्तम्भों के दो सिंह सामने की ओर मुँह किये हैं।

वेदिका के बाहरी मार्ग की अपेक्षा भीतर का प्रदक्षिणापथ ५ फुट ऊँचा था, वहाँ तक पहुँचने के लिए एक छोटा सोपान बनाया गया था, जिसके अंत में पद्मांकित चन्द्रशिला थी, जैसा एक स्तूप पट्ट में भी दिखाया गया है। उसी शिला पट्ट पर वेदिका के मुख भाग पर चतुष्पद पंक्ति का अंकन है।

किसी समय ऐसा समझा जाता था कि स्तूप और महावेदिका के बीच में एक छोटी भूमिगत वेदिका थी। किन्तु वास्तु-विन्यास की दृष्टि से यह कल्पना असंगत है। तथ्य यह ज्ञात होता है कि ईंटों के गोल चबूतरे पर कुछ स्तम्भ और पट्ट सजा दिये गये थे जो वस्तुतः शिलाकंचुक के अंग थे।

आंध्र स्तूपों का एक लक्षण यह था कि प्रत्येक द्वारतोरण के पृष्ठभाग में स्तूप से निकलता हुआ एक आर्यक मंच बनाया जाता था। लेखों में उत्तरायक और दक्षिणायक का नाम आया है। आयाक की उत्पत्ति सं० आर्यक से है, मथुरा में इन्हें आयागपट कहा गया है। इसका शब्दार्थ था—पूजनीय। मेकेंजी के रेखाचित्रों के अनुसार प्रत्येक आयक मंच ३२ फुट लम्बा, ६ फुट चौड़ा था। वे स्तूप के अधिष्ठान से २० फुट की ऊँचाई पर बनाये गये थे जैसे नागार्जुनीकोंड के स्तूप में यथास्थान पाये गये हैं। शिल्पियों ने जान-बूझकर आयकों कर विकास किया था। मानों द्वारतोरणों की बँडेरियों के पंजर को नये रूप में स्तूप के साथ मिला दिया हो। आरंभ में आयाक मंचों का अभाव था, किन्तु बाद के स्तूप पट्टों पर उनका अंकन पाया जाता है (चित्र ४११-२)। प्रवेश द्वारों के मस्तकस्थानीय पट्टों को इसलिए भी हटाना आवश्यक हुआ कि आयक मंच और खंभों का दर्शन निर्बाध किया जा सके।
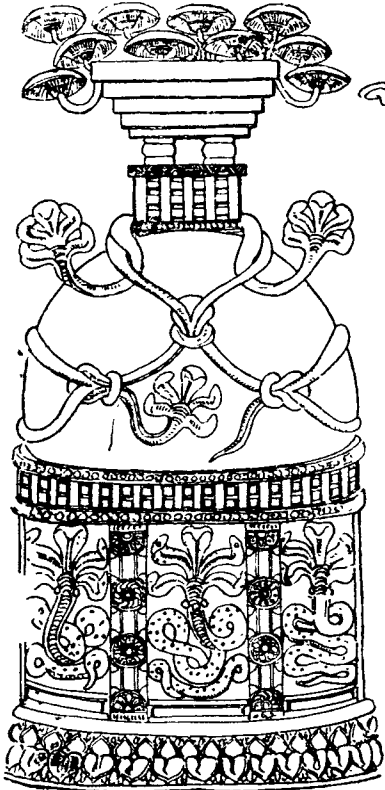
चित्र ४११
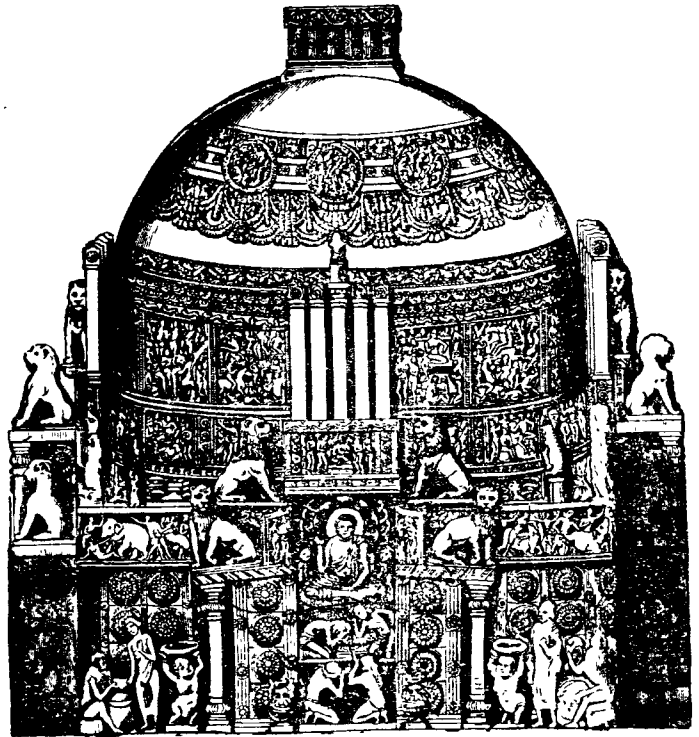
चित्र ४१२

प्रत्येक आयक मंच में मुखपट्ट की भाँति एक शिलापट्ट लगाया जाता था जिस पर बुद्ध या नागराज की मूर्ति अंकित की जाती थी। प्रत्येक आयक के पार्श्व भागों में दो सोपान ऊपर के प्रदक्षिणा पथ तक पहुचने के लिए बनाये जाते थे। प्रत्येक आयक के सामने के किनारे पर पाँच अठपहल खम्भे लगाये जाते थे। इनकी ऊँचाई १० से १५ फुट होती थी। स्तूप पट्टों पर अंकित आयक खंभों के शीर्ष भाग में गवाक्ष वातायन या कीर्तिमुख बने हैं। बीच के खंभे पर सर्वत्र एक छोटे स्तूप का अलंकरण बना हुआ है। खंभों के अधिष्ठान भाग में बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, धर्मचक्र, तथा बोधिवृक्ष के, अथवा पंचस्तूपों या पंचबुद्धों के अभिप्राय हैं।

स्तूप के बीच में जो कमरपेटी की वेदिका थी, वह आयक मञ्चों के द्वारा चार भागों में बट जाती थी। बीच की वेदिका स्तूप के अण्डभाग से ५ फुट निकली हुई थी और उसके स्तम्भ ८ फुट ऊँचे थे। दो खम्भों के बीच में सूचियों के स्थान पर एक बड़ा शिलापट्ट लगाया गया था जो दोनों तरफ से उत्कीर्ण था। सम्भवतः लेखों में इसे ही पेण्डक कहा गया है।

चैत्य शिलापट्टों से ज्ञात होता है कि स्तूप का कञ्चुक ऊर्ध्वपट्टों से आच्छादित था। इस प्रकार के उत्कीर्ण शिलापट्टों की पंक्तियाँ ऊपर-नीचे लगी हुई थीं। पट्टों की एक श्रेणी अण्ड के चारों ओर लगी थी। उसकी ऊँचाई १० फुट थी और उसपर बुद्ध की जीवन घटनाएँ अंकित थीं। एक पट्ट पर चक्रवर्ती सम्राट और उसके सात रत्न अंकित हैं और ऊपर नीचे वेदिका उत्कीर्ण है। आयक मञ्च की ऊँचाई पर शिलापट्टों की दूसरी पंक्ति लगी हुइ थी जो लगभग ११ फुट थी। इन पट्टों के नाम इस प्रकार हैं—चक्र पट्ट, स्तूप पट्ट, बुद्ध पट्ट, बोधि पट्ट, पूर्णघट पट्ट, स्वस्तिक पट्ट, इत्यादि; कुछ नाम लेखों में भी आए हैं। इस पट्ट पंक्ति के ऊपर अण्ड के ढलुवाँ भाग का उठान शुरू होता था और उस पर भी कई शोभा पट्टियाँ थी जिनमें चतुष्पदपंक्ति, त्रिरत्न पंक्ति और पूर्णघट पंक्ति का अंकन था।

स्तूपपट्टों से लक्षित होता है कि अण्ड के स्कन्धभाग में एक बड़ी पद्ममाला अंकित थी जिसे लेखों में अब्दमाला (=अब्जमाला) कहा गया है और उसके ऊपर एक पंक्ति में कमल के फुल्ले और तालपत्र अंकित थे।

स्तूप के मस्तक पर २४ फुट की चौकोर महा हर्मिका थी। इस देवसदन के ठीक बीच में मोटी यष्टि स्तूप के अण्ड भाग में गहराई तक प्रविष्ट थी और उसके ऊपर छत्र लगा हुआ था। हर्मिका के चारों ओर वेदिका की वेष्टिनी थी। अण्ड के पार्श्व भागों में नचक देव और पूजा करते हुए मालाधारी देवों की मूर्तियाँ थीं और उनके नीचे गाते-बजाते यक्ष थे।

इस प्रकार के विविध-रूपों से उत्कीर्ण शोभापट्टों का विकास कई शताब्दियों में परिपूर्ण हुआ। अमरावती के महाचैत्य में पाषाणिक शिल्पियों ने उससे पूरा लाभ उठाया। समस्त आन्ध्र देश में धान्यकटक का महास्तूप सबसे विशाल था जो परिमाण में भरहुत और भट्टिप्रोलु से दुगुना था। वास्तुविद्या के जिन आचार्यों ने इस महाचैत्य का विन्यास किया, वे कल्पना की मौलिक और विशाल चिन्तनशक्ति से सम्पन्न थे। वास्तु निर्माण के क्षेत्र में इस प्रकार का विलक्षण साहस अत्यन्त दुर्लभ है। सातवाहन युग का वैभव इस महान स्तूप में मूर्तिमान हो उठा था।

आन्ध्र स्तूपों की आन्तरिक रचना में भी कुछ विकास देखा जाता है गोली, भट्टिप्रोलु और गुडिवाडा के स्तूप ठोस ईंटों की चिनाई द्वारा एक के ऊपर एक चेजा गर्भित करके बनाए गए हैं। जगय्यपेट्ट के बड़े स्तूप में माल-मसाले और मेहनत में कमी करने की दृष्टि से रचना विधि में कुछ फेरफार किया गया और ईंटों के चेजे को बदलते हुए कुटी हुई मिट्टी की परतें भरी गईं। घण्टशाल में निर्माण विधि अधिक वैज्ञानिक देखी जाती है, अर्थात् बीच में दो चौकोर स्तम्भ, पहला ठोस और दूसरा पोला, उसके बाद आड़ी दीवारें और दो गोल ईंटों के घेरे, जिनके बीच के पोले कोठे मिट्टी और रोड़ों को कूटकर भरे गए हैं, एवं गोलों के बाद फिर बढ़ी हुई दीवारें और अन्त में ईंटों की चिनाई का खोल। इस प्रकार बड़े पैमाने पर ईंटों की चौकोर आड़ी और गोल चिनाई से स्तूप का बड़ा भीतरी ठाट खड़ा किया गया। अमरावती स्तूप का बिलकुल सफाया हो जाने के कारण उसकी भीतरी रचना के

बारे में कुछ कहना कठिन है। किन्तु मूल स्तूप २०० ई० पू० के लगभग आरम्भ हुआ, अतः अनुमान होता है कि उसकी आन्तरिक रचना ईंटों से ठोस रूप में की गई थी। ज्ञात होता है कि आरम्भ में यह छोटे परिमाण का अल्पेशाख्य स्तूप था किन्तु कालान्तर में आकार वृद्धि के साथ इसे महेशाख्य स्तूप में परिवर्तित कर दिया गया और यह समस्त वेंगी प्रदेश एवं मध्य भारत और पश्चिमी भारत के सब स्तूपों में महत्तम स्तूप संसिद्ध हुआ। स्तूप के आकार को बढ़ाने की नवीन युक्ति यही ज्ञात होती है कि बीच के ठोस गर्भ के चारों ओर आड़ी दीवारें खड़ी करके उनके बीच के पोले भागों को महीन मिट्टी (=श्लक्ष्ण मृत्तिका) और इण्टोरों (=इष्टका चूर्ण) से भरकर स्तूप की यथेष्ट कलेवर-वृद्धि की जाय। स्तूप के भीतर की ईंटे आकार में काफी बड़ी हैं (२४″×१८″×४″)। उन ईंटे पाथने वालों (=इष्टका वर्धकी) की यह सफलता है कि उन्होंने बड़े आवों में ईंटों को इतने अच्छे ढंग से पकाया कि बाईस सौ वर्ष बीतने के बाद भी आज वे वैसी ही मजबूत और कोर-कगार से सच्ची हैं। स्तूप का निचला अधिष्ठान भाग और उसके ऊपर का लगभग १०० फुट ऊँचा अण्डभाग किसी भी प्रकार फटा या फूटा नहीं किन्तु काल के धक्कों को सहता हुआ अडिग बना रहा, और निर्माणकर्त्ताओं की वैज्ञानिक योग्यता का परिचय देता रहा। यह कुछ कम प्रशंसा की बात नहीं।

आन्ध्र स्तूपों की तीन विशेषताएँ थीं—एक संगमरमर जैसा मक्खन के रंग का श्वेत पाषाण (मेदवण्ण पाषाण); दूसरे, अनेक प्रकार से उत्कीर्ण शिलापट्टों पर रूप और अलंकरण; और तीसरी विशेषता, वे धातुगर्भ से निकलती हुई मंजूषा सदृश चार आयक मञ्च, जिनसे कालान्तर में ब्राह्मण देव मन्दिरों की रथिकाओं का विकास हुआ।

मूर्तियाँ

अमरावती के महा चैत्य से बची हुई मूर्तियों की संख्या आंध्र स्तूपों में सबसे अधिक है। कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और विभिन्न अभिप्रायों से युक्त हैं, जिनमें लगभग ५०० वर्षों के विकास की साक्षी उपलब्ध है। शैली और लेखों की लिपि के आधार पर इनमें तिथिक्रम के चार स्तर देखे जाते हैं—

(१) आरम्भ काल, लगभग द्वितीय शती ईसवी पूर्व जब स्तूप की स्थापना हुई। उस युग की मौर्य-शुंग लिपि में कई लेख मिले हैं।

(२) मध्य काल, लगभग प्रथम शती, सातवाहन सम्राट वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समकाल (९६-११९ ई०, जिसका लेख यहाँ पाया गया है, शिवराममूर्ति, ASMM, No. 51)।

(३) चरमोत्कर्ष या परिपक्व अवस्था, लगभग १५०-२०० ई०, श्रीयज्ञ शातकर्णि (१६०-१८९ ई० जिसका लेख यहाँ मिला है, फर्गुसन, ट्री एण्ड सर्पेंट वर्शिप, पृ० २६१)।

(४) अन्तिम अवस्था, तृतीय शती, इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के समकालीन। नागार्जुनीकोण्ड के लेखों की लिपि में भी कुछ लेख अमरावती में मिले हैं।

इस प्रकार अमरावती स्तूप का क्रमिक विकास वहाँ से प्राप्त लेखों की लिपियों से सूचित है। जब कभी स्तूप के कलेवर में परिवर्तन, परिवर्धन और प्रतिसंस्कार हुआ तो उसकी स्मृति उन लेखों में बच गई जो यहाँ मिले हैं। इस प्रकार प्रामाणिक साक्षी हमारे सामने उपलब्ध होती है।

आरम्भ काल की मूर्तियों के उकेरने की शैली और वेशभूषा वैसी है जैसी भरहुत की मूर्तियों में और अजन्ता की दसवीं और नवीं गुफाओं के चित्रों में है। इस युग की मूर्तियाँ संख्या में कम और प्रायः खण्डित हैं। मूर्तियों के चेहरे सम्मुखीन हैं, मस्तक पर भारी पगड़ी और कानों में वप्राकार शैली के कुण्डल हैं, जिनका अग्रभाग चौकोर और पिछला घुमावदार है, उनके गले में कई हार हैं जिनके पदक चौकोर हैं, और नेत्र कुछ तिरछे हैं। अंगों में कुछ निश्चलता और भाव की अभिव्यक्ति में भी कुछ स्थिरता है। बाहु और अंगुलियाँ कठपुतलियों जैसी जोड़ी हुई सी लगती हैं और उनके आभूषण भी वैसे ही हैं। स्त्री मूर्तियों की मेखला चौड़ी पट्टी की और सामने की ओर चौड़े पदक से बँधी है। पुरुष मूर्तियों का कटि-बन्धन शूकरान्त्रक प्रकार का, अर्थात् सूअर की मोटी आँतों की भाँति का, आकार में लपेटुवाँ या गोल है। स्त्री मूर्तियों में मेखला के ऊपर कायबन्धन भी है। जंघा-भाग की साड़ी पर और नीचे की किनारी पर दोहरी रेखाएँ हैं, जो सलवटों की सूचक हैं। मूर्तियों के पैर एड़ी के पास जुड़े हुए और पंजों की ओर खुले हैं।

इस अवधि में कहीं भी बुद्ध मूर्ति नहीं है, किन्तु कई बौद्ध प्रतीकों का अंकन है। वेदिक उष्णीष पर महामाल्य को कन्धों पर वहन करती हुई छोटी यक्ष मूर्तियाँ हैं, जैसी भरहुत, साँची और पश्चिम
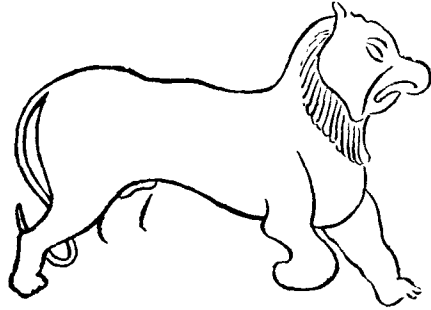
चित्र ४१३ चित्र ४१४
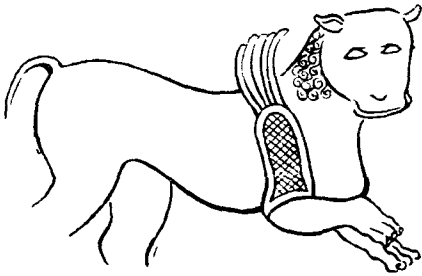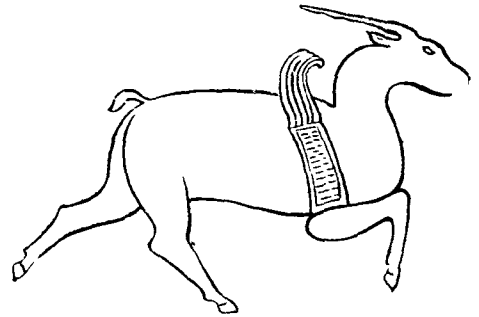
चित्र ४१५ चित्र ४१६

भारत की गुफाओं में हैं। कई पंक्तियों में हाथी के मस्तकों से युक्त घटोदर या लम्बोदर यक्ष मूर्तियाँ हैं जिनसे कालान्तर में गणेश मूर्तियों का विकास हुआ (चित्र ४१३)। ईहामृग पशुओं में श्येनव्याल अर्थात् गरुड़ मस्तक के साथ सिंह शरीर की आकृतियाँ बलिष्ठ और प्रभावशाली हैं (चित्र ४१४)। उनसे शिल्पियों के समृद्ध रूप-भण्डार का परिचय प्राप्त होता है जिसके कितने ही आकार भारत से ईरान और पश्चिम एशिया तक कला में व्याप्त थे। यही स्थिति भरहुत और साँची

के स्तूपों की है। वे स्तम्भ जिनके सिरे पर पूर्णघट और उसके ऊपर गज संघाट अंकित हैं उन्हीं प्राचीन परम्पराओं के द्योतक हैं। यहाँ भी प्राचीन स्तूपों के उष्णीषों पर अंकित घंटापंक्तियों का अलंकरण गोट या किनारी के रूप में गृहीत हुआ है (चित्र ४१७)। मकर के कराल मुख से बलखाती हुई लतर निकलती दिखाई गई है (चित्र ४१८-२०)।

चित्र ४१७

चित्र ४१८

चित्र ४१९

चित्र ४२०

विकास की दूसरी अवस्था में अंकन की शैली अधिक स्वाभाविक है और कई प्रकार की नई अंग मुद्राओं की वृद्धि हुई है। इस काल की सामग्री स्तूप-कंचुक के कुछ शिलापट्टों के रूप में बची है। अंकन की शैली मथुरा की आरम्भिक कुषाण कला से मिलती है। अभिप्रायों की संख्या में भी वृद्धि हुई और जनता के सामाजिक जीवन से उन्हें अपनाया जाने लगा। मथुरा की भाँति यहाँ भी बुद्ध के प्रतीक और मूर्तियाँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं। यह वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का काल था जब महान् सातवाहन संस्कृति अपने पूरे रूप में चमक रही थी। साम्राज्य का वैभव पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच व्याप्त था, जैसा नासिक गुफा के एक लेख से विदित होता है जिसमें धान्यकटक के कुछ भिक्षुओं के परिग्रह के लिए दान का उल्लेख है। इस काल के शिलापट्टों पर बुद्ध की जीवन-घटनाओं के दृश्य

हैं, जिनपर अधिकांश तो बौद्ध प्रतीक हैं और केवल दो-एक बार बुद्ध की मूर्ति है। बुद्ध मूर्तियों के मुख की सरल अध्यात्म मुद्रा मथुरा के कटरा बोधिसत्त्व की मुखमुद्रा जैसी है। कुछ में बुद्ध के अभिनिष्क्रमण और मार-विजय जैसे दृश्य हैं। मथुरा के समान ही स्त्रियों का वेष झीना है यद्यपि वे वस्त्र पहने हैं, पर नग्न सी लगती हैं।

अमरावती की कला में तीसरी अवस्था उस परिपक्व काल की है, जब वास्तु और शिल्प दोनों उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे। द्वितीय शती ईसवी के पूर्वार्द्ध में सातवाहनों की साम्राज्यलक्ष्मी सौन्दर्य, सम्पत्ति और यश के परमोच्च शिखर पर थी। उसका प्रमाण अमरावती महास्तूप के बहुसंख्यक वेदिका-स्तम्भ, उष्णीष, सूची, आयक-मञ्च, आयक-खम्भ, मेधि पर आश्रित वेदिका और अण्ड की शोभापट्टी के शिलापट्ट और स्तूपपट्ट, चक्रपट्ट, स्वस्तिकपट्ट, पूर्णघटपट्ट, त्रिरत्नपट्ट, बुद्धपट्ट, आदि विविध उत्कीर्ण पट्टों और बुद्ध की जीवन-घटनाओं के दृश्यों से उत्कीर्ण अन्य अनेक शिलापट्ट आदि शिल्प-सामग्री के रूप में उपलब्ध होता है। महाचैत्य के महेशाख्य स्वरूप का विकास शिल्पियों की मौलिक सूझ एवं भिक्षुओं और उपासकों की गम्भीर धार्मिक भावना और दृढ़ भक्ति का परिणाम था। समुद्र की तरंगों की भाँति इन सबके मन में कला और धर्म की जो नई हिलोर उठी, उसी से स्तूप के कलेवर की साज-सज्जा में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। त्रिकलिंगाधिपति सम्राटों का अमित ऐश्वर्य महास्तूप के रूप सम्पादन में अपनी अमिट छाप छोड़ गया। मूर्तियों में बहुमुखी भाव और अंग विन्यास मानों स्वर्ग की अमरावती के आनन्द को पृथिवी पर प्रकट करते हैं। सदामत्तक या नचक देवों की क्रीड़ाएँ अतुलनीय आनन्द की परिचायक हैं जिनसे पृथिवी और आकाश का अन्तराल भर उठा था। बुद्ध के पार्थिव चूड़ा की पूजा के लिए स्वर्ग के देवता लालायित हो गये जिसका अंकन चूड़ामह शिलापट्ट पर उपलब्ध है।

स्तूप की भूमिगत १३ फुट ऊँची महावेदिका का निर्माण इसी काल में हुआ जिसके विषय में कहा जाता है कि महान् आचार्य नागार्जुन ने उसकी प्रेरणा दी थी। स्तम्भों के गोल और अधखिले फुलों पर, उनके उकेरे हुए चार पहलों पर, सूचियों के परिचक्र-पुष्करों पर और उष्णीष, वेष्टिनी के अग्रभाग और पृष्ठभाग पर उत्कीर्ण अभिप्राय, अलंकरण और सजावट की जो महती शोभा है उसकी तुलना में भारत का कोई अन्य स्तूप या दरीगृह नहीं ठहरता। स्तूप कञ्चुक के ऊर्ध्वपट्ट भी वैसी ही श्रेष्ठ कला के साक्षी हैं, जो आन्ध्र के पाषाणिक शिल्पी और नवकर्मिकों की प्रतिभा और दक्षता के मूर्त रूप हैं। १० से १३ फुट तक लम्बे शिलापट्टों पर अनेक दृश्यों को आड़ी और खड़ी हुई पंक्तियों में बड़ी स्पष्टता से अलग-अलग और एक दूसरे के साथ कथासूत्र को जोड़ते हुए अंकित किया गया है। प्रत्येक ऊर्ध्वपट्ट के दर्शन से ऐसी अनुभूति होती है कि किसी विलक्षण आनन्द के जगत् में देव, मनुष्य और पशुओं को समभागी बनाया गया। वस्तुतः, प्रत्येक शिलापट्ट पर मन के लिए इतना अधिक अर्थ और नेत्रों के लिए ऐसा सौन्दर्य भरा है कि मनुष्य बहुत काल तक उस आनन्द में निमग्न रह जाता है। मूर्तियाँ कम या अधिक उभरी हुई हैं और उनके अंगों में भाँति-भाँति की मोड़-मुड़क, लचक, तरलता और गति है। महाचेतिय के कलाकारों ने उकेरी के रूप में शिल्प की किसी अभूतपूर्व लिपि का प्रयोग किया है जैसे कांगड़ा के चित्रकार अपने चित्रों में करते थे।

बौद्ध प्रतीकों में पादुकापट्ट सबसे अधिक हैं जिसके साथ अग्निस्कन्ध (=अग्निस्तम्भ) भी दिखाया गया है। अग्निस्कन्ध प्रज्ञा के महान् स्तम्भ या स्तूप का रूप था जिसके मूर्त दर्शन भगवान् बुद्ध स्वयं थे। उस समय के धार्मिक दर्शन की यह कल्पना थी कि भगवान् बुद्ध के प्रज्ञा-शरीर से
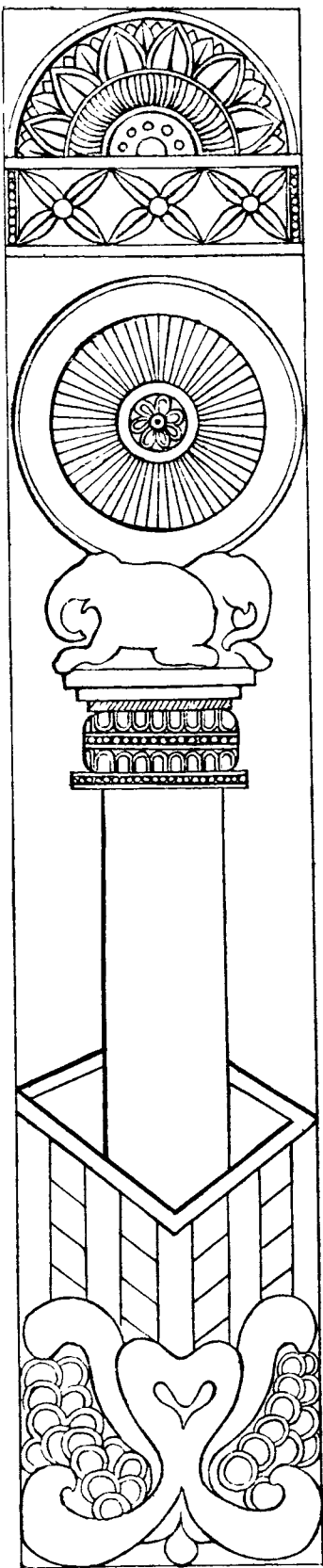
चित्र ४२१

चित्र ४२२
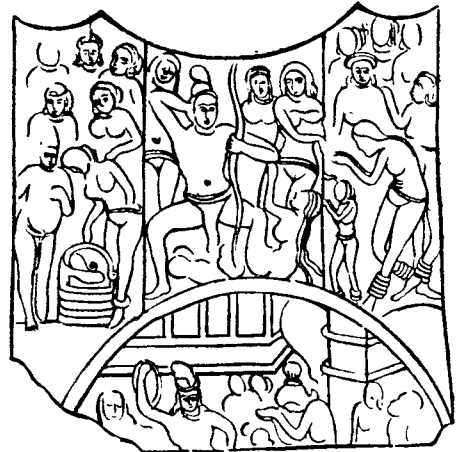
चित्र ४२३

उत्पन्न होने वाली एक किरण तीनों लोकों में और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रही थी। लोकोत्तरवादी आचार्यों ने बुद्ध के अतिमानवी स्वरूप की जो कल्पना की, उसका यह प्रमुख लक्षण था कि बुद्ध मानवी नहीं किन्तु लोकोत्तर पुरुष हैं और उनके सहस्रात्मक या अनन्त स्वरूप में समस्त देव, सिद्ध, गन्धर्व लोकपाल और मानव सम्मिलित हैं, उनका बहुमुखी दर्शन स्तूप के रूप में सबके लिए सुलभ हो रहा है। अग्नि का महान् स्कम्भ उस सूर्य का ही एक अंग है जिसके वंश में बुद्ध का जन्म हुआ था।

अनेक प्रकार के वस्त्रालंकार पहने हुए सुन्दर स्त्री-पुरुष जिस माल्य का अपने कन्धों पर वहन करते हैं, वह पुण्डरीक-सहस्र माला इसी तीसरे युग में उत्कीर्ण की गई। शतसहस्रपुष्करों से युक्त उसका स्वरूप अत्यन्त भव्य था। श्रेष्ठी और महाश्रेष्ठियों की पूजा में क्रमशः उसके दो रूप थे—एक पुष्करशतिक और दूसरा पुण्डरीकसहस्रिक। केवल स्तूप ही नहीं किन्तु चक्रवर्ती सम्राटों की बड़ी राजधानी को भी इस प्रकार की बड़ी माला से परिवेष्टित समझा जाता था और उसे मालाधारी देवों की रक्षापंक्ति कहते थे। नगर की पाँच रक्षापंक्तियों में वह एक थी जिसका विधान शोभा और रक्षा दोनों के लिए किया जाता था। गन्धार कला में जैसी काम-कुमारों की छोटी मूर्तियाँ हैं और भरहुत-साँची के स्तूपों में जैसी यक्ष मूर्तियाँ हैं, उनसे कहीं अधिक विशिष्ट और रूपसम्पन्न अमरावती के मालाधारी स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ हैं, जिनमें इस अभिप्राय का चरम उत्कर्ष देखा जाता है। ज्ञात होता है, इस प्रकार के महामाल्य की कल्पना आंध्र शिल्पियों के निजी मनोबल और कला कौशल से उत्पन्न हुई। उनके हाथों में इस अभिप्राय का रूप शुद्ध भारतीय हो गया और इसमें कई प्रकार की दिव्य कल्पनाओं का समन्वय किया गया। इसका सांकेतिक उद्देश्य यह था कि सब मानव पुष्करस्रज की भाँति एक सूत्र में ग्रथित हैं और मिलकर देवतात्मा स्तूप के शरीर की पूजा कर रहे हैं। माला या पुष्पदाम को कभी मकरमुख से निकलता हुआ, जो महासमुद्राधिपति वरुण का वाहन था, और कभी यक्ष के, जो वैश्रवण कुबेर का अनुचर था, मुख से निकलता हुआ दिखाया गया है। इस प्रकार कमल की यह बड़ी लतर वरुण के ऐश्वर्य और वैश्रवण के धन का उभयनिष्ठ प्रतीक थी। कालान्तर में भागवतों ने इसे सहस्रपुष्पों की उस माला के रूप में कल्पित किया, जो विष्णु आदि देवताओं को समर्पित की जाती थी। जैसे सहस्रनाम-स्तोत्र वैसे ही सहस्रपुष्पस्रज और सहस्रघटाभिषेक की समतुल्य भावना थी।

बहुत सी मूर्तियों का एक साथ संपुंजन इस युग के अमरावती शिल्प की विशेषता थी, जैसे राजगृह की सड़क पर नलगिरि हस्ती के दमन दृश्य में (चित्र ४२२), अथवा सम्राट उदयन का अपने भयभीत अन्तःपुर के ऊपर बाण वृष्टि के दृश्य में (चित्र ४२३)। पट्ट के सीमित स्थान में अनेक आकृतियों के स्पष्ट संपुंजन में शिल्पी ने पर्याप्त कुशलता व्यक्त की है।

द्वितीय शती के उत्कृष्ट शिल्प का जिसमें कला के अनेक गुण विद्यमान थे, उतार तीसरी शती के शिलापट्टों में देखा जाता है जो नागार्जुनीकोण्ड स्तूप के युग में उत्कीर्ण किए गए। कञ्चुक के कितने ही शिलापट्टों को छीलकर उन पर नए दृश्य उत्कीर्ण किए गए अथवा उनके पृष्ठभाग को सामने करके उन्हें नए दृश्यों से, जिनमें पहले जैसी गतिशीलता न थी, उत्कीर्ण किया गया। उकेरने और सजावट की शैली अब कुछ रूढ़िग्रस्त हो गई थी। तक्षकों की चुटकी में पहले जैसी तरलता नहीं देखी जाती। शिल्पियों की कल्पनागत स्वतंत्रता मानों बन्धन में आ गई थी और उनकी नए विचारों की शक्ति और नए रूप-विधान की भावना कुण्ठित हो गई थी। मूर्तियाँ कुछ लम्बी और छरहरी हो गई हैं और उनपर मोतियों के हार और झुग्गों का बाहुल्य है। स्त्री और पुरुषों की मूर्तियों पर मुक्ताफल-यज्ञोपवीत और सूक्ष्म मोतियों की मालाओं का रिवाज पहली ही बार देखने में आता है जो बाद में चलकर गुप्त काल में बहुत

बढ़ गया। इस युग की कला में पहली ही बार सीमन्त-मकरिका नामक शिरोभूषण का अंकन पाया जाता है, जिसमें दो मकरमुखों को सटाकर उनके मुखों से मोतियों के झुग्गे निकलते हुए दिखाए जाते थे। गुप्त युग में यह आभूषण बहुत लोकप्रिय हो गया था। सिंहमुख या कीर्त्तिमुख या नाहरमुखी 'ग्रास' नामक अभिप्राय इस युग के आभूषणों में पहली बार दिखाई देता है। इसका स्पष्ट अंकन एक नागराज मस्तक पर है। विकट वामन या बौने यक्षों की मूर्तियों के उदरभाग में सिंहमुख अंकित किया गया है।

इस काल के गोल घेरों में फूल-पत्तियों की छोटी बेल बनाई जाने लगी, जो नागार्जुनीकोण्ड के फुलों पर सर्वत्र छाई हुई है। गवाक्ष वातायनों से झाँकते हुए स्त्री-पुरुषों के मुखड़ों का अंकन भी इस युग का विशेष लक्षण था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमरावती की कला के चौथे चरण में मुक्ताफल-यज्ञोपवीत, सीमन्त-मकरिका आभूषण, कीर्तिमुख अभिप्राय, झाँकते हुए स्त्री-पुरुष सहित गवाक्ष-वातायन, मकर-तोरण युक्त ऊँची आसंदी एवं पत्रलता का अलंकरण विशेष रूप से पहली बार प्राप्त होते हैं जिनसे उसकी शृंखला गुप्तकला के साथ जुड़ जाती है।

ये सब अलंकरण और अभिप्राय गुप्तकला के अजन्ता, सारनाथ, मथुरा, बाघ आदि दूरवर्ती केन्द्रों में पाये जाते हैं। कला के अभिप्रायों की प्रत्येक युग में प्राप्त होनेवाली अन्तर्यामी एकता कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। यहाँ कला और संस्कृति की इस एकता के दो-एक उदाहरण देना समीचीन होगा। बाण ने सीमन्त-मकरिका का कई बार उल्लेख किया है। इसी प्रकार कुमार भास्करवर्मन् ने जो कुण्डलितपट उपहार रूप में हर्ष के लिए भेजा था, उसका हूबहू अंकन अहिच्छत्रा के एक मृण्मय फलक पर देखा जाता है। यों ये विभिन्न आभूषण और वस्त्र देशव्यापी संस्कृति के अंग बन जाते थे। ये तो कतिपय उदाहरण हैं किन्तु इनके और सहस्रगुणित रूप हैं, जिनसे कला और संस्कृति की राष्ट्रगामी एकता प्रतिपादित होती है। जैसा बाण ने लिखा है कि मन्दाकिनी नाम की मुक्तावली माला नागार्जुन ने अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन सम्राट को भेंट में दी थी, और वहाँ से वह कई हाथों में होती हुई उत्तरापथ के महाराजाधिराज हर्ष के स्वामित्व में आई। इससे संकेत होता है कि किस प्रकार वेंगी प्रदेश की कलात्मक वस्तुएँ उत्तरापथ तक पहुँचती थीं। इस व्यापक आदान-प्रदान का दूसरा उदाहरण आसाम के तेजपुर मन्दिर का उत्कीर्ण द्वार है, जिस नमूने के अन्य द्वार देवगढ़ और भूमरा के मन्दिरों में हैं। इस आदान-प्रदान की पृष्ठभूमि में सार्थवाहों का ताना-बाना था, जिसके अन्तर्गत सम्राट् और गृहपति दोनों ही सम्मिलित थे। कला के जो अभिप्राय एक प्रदेश में विकसित किए जाते थे, उनमें अन्यत्र के लोगों को अभिरुचि होती थी और वे दूर-दूर तक फैल जाते थे। साहित्यिक साक्षी से ज्ञात होता है कि अन्तरप्रान्तीय वाणिज्य द्वारा सोने-चाँदी के आभूषण, रत्न, दन्त-फलक, वस्त्र, सोने-चाँदी के तारों से बुने हुए वस्त्र, और पाषाण शिल्प की मूर्तियाँ भी आयात-निर्यात द्वारा सर्वत्र फैल जाती थीं।

आदान-प्रदान का यही तथ्य अमरावती और नागार्जुनीकोंड के बीच में हुआ। इन दोनों स्तूपों में कलाशिल्प का सादृश बहुत अधिक है, जैसा हम आगे देखेंगे। इन दोनों स्थानों के शिल्पि-संघों और स्थपति सम्राटों में भी घनिष्ठ-पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होता है।

विषय

अमरावती के महास्तूप की वास्तुगत महिमा की तुलना वहाँ के शिल्प-विषय से की जा सकती है। इसमें अनेक प्रकार की स्त्री-पुरुषों की शिरोभूषा, आभूषण, हारयष्टि, मेखला, केश-विन्यास और घरेलू

शयनासन सामग्री है। केश-विन्यास में कोकिलकेशपाश उल्लेखनीय है, जिसमें शुक्लांशुक के व्यूहात्मक अट्टालक के ऊपर काली लटें दिखाई जाती हैं, मानों श्वेत पुष्पों से लदे हुए वृक्ष पर कोयल बैठी हो (चित्र ४२४–५)। यह विन्यास मथुरा कला के वेदिका स्तम्भ पर और कपिशा के दन्त-फलक पर भी पाया गया है, जो अमरावती से कुछ पूर्वकालीन हैं। इन्द्र का स्वरूप सूर्पाकृति मुकुट की दृष्टि से

चित्र ४२४

चित्र ४२५

अमरावती, मथुरा और गंधार में एक जैसा है। इससे भी ज्ञात होता है कि इन तीन दूरवर्त्ती कला-केन्द्रों में पारस्परिक संबंध था। पहले युग के शिलापट्टों पर इस प्रकार के दृश्य हैं, जैसे—जटिलों का धर्म-परिवर्तन, बुद्ध की शरीरधातुओं का विभाजन, महाभिनिष्क्रमण, मारधर्षण, संबोधि-प्राप्त बुद्ध का पूजन, चूड़ामह, भिक्षापात्र की पूजा (पात्रमह), हाथी आदि पशुओं द्वारा स्तूप पूजा, बन्दरों द्वारा बुद्ध को मधु-प्रदान, बुद्धपादुका-पूजन।

द्वितीय युग (प्रथम शती)—सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, संबोधि-प्राप्त बुद्ध का पूजन, रामग्राम स्तूप का उद्घाटन, बुद्ध का धर्मोपदेश, बुद्ध द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन, बोधिवृक्ष के प्रतीक रूप में संबोधि, स्तूप पूजा, बुद्ध द्वारा नागराज को धर्म कथन, मायादेवी का स्नान।

तीसरा युग (द्वितीय शती)—नलगिरि हाथी को वश में करना, राजगृह की सड़क पर भगदड़, बन्धुमान् द्वारा सोने की मञ्जूषा और चन्दन काष्ठ का प्रदान, बुद्ध के भिक्षा पात्र का नृत्य-गीत के साथ देवलोक को ले जाया जाना, छद्दन्त जातक, अशोक-वनिका में शुद्धोदन और मायादेवी, सोमणस्स जातक (सं० ५०५), राजकुमार द्वारा मिथ्या परिव्राजक की पहिचान, सर्वंदद अवदान जो शिवि जातक का दूसरा रूप है जिसमें राजा कबूतर की रक्षा के लिए अपना मांस-दान दे रहा है, बुद्ध के जीवन दृश्य जैसे, राजप्रासाद का परित्याग, संबोधि-प्राप्त बुद्ध, चूड़ामह अर्थात् देवों द्वारा बुद्ध के केशों का स्वर्ग को परिवहन, विदुर पण्डित जातक, स्तूप पूजा, भद्दवग्गिय युवकों का धर्म-परिवर्तन, अवक्रांति अर्थात् बुद्ध का श्वेत हस्ती के रूप में अवतरण, मयूर द्वारा धर्मोपदेश, त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में बुद्ध का अपनी माता को उपदेश, मांधातावदान (चक्रवर्ती मांधाता और उसके सप्तरत्न, मांधाता की देवों और नागों पर विजय, स्वर्ग में पारिजात वृक्ष के नीचे मांधाता, सुधर्मा सभा में मांधाता, मांधाता इन्द्र के अर्धासन पर), क्रोधावेश में उदयन की कथा, चक्रपूजा, अजातशत्रु द्वारा बुद्ध का दर्शन, सपेरा और उसका बन्दर, चुल्लधम्मपाल जातक (सं० ३५८), यश की दीक्षा, बुद्ध का अग्निप्रातिहार्य, हाथियों द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा, अंगुलिमाल डाकू की कथा, बुद्ध की जीवन घटनाएँ (राहुल का जन्म, बुद्ध का गृहत्याग, प्रथम

धर्मोपदेश, यशोधरा, शुद्धोदन का दूत-प्रेषण, बुद्ध का कपिलवस्तु में पुनरागमन), बुद्ध को मार द्वारा प्रलोभन, शरीर धातुओं का बँटवारा, लोसक जातक (सं० ४१) जिसमें अभागे मित्तविन्दक की कथा है, सुमन नामक माली की कथा, कविकुमारावदान, महिलामुख जातक (सं० २६), दूत जातक (२६०), मत्तङ्ग जातक (सं० ४९७), चुल्लकल की स्त्रियों द्वारा अपने पति की प्राप्ति, महापनाद जातक (सं० ४८७), आदि।

चौथा युग (तीसरी शती ई०)—वेसंतर जातक, बुद्ध के जीवन दृश्य, मार धर्षण, संबोधि, नागों द्वारा रक्षित रामग्राम स्तूप, नन्द की धर्म-दीक्षा, राहुल का उत्तराधिकार, माया का स्वप्न और उसका फलकथन आदि।

नागार्जुनीकोंड का महास्तूप

वेंगी प्रदेश का अन्य महान् स्तूप नागार्जुनीकोंड (नागार्जुन की पहाड़ी) में है। यह गुन्टूर जिले के पलनाड तालुके में, माचरला स्टेशन से १९ मील दूर कृष्णा के दक्षिणी तट पर स्थित है। यह स्तूप कर्णाटक मार्ग पर बनाया गया था। कागउडावन सीध में यह स्तूप अमरावती से साठ मील दूर है। नागार्जुनीकोंड के तीन ओर पहाड़ियों की रक्षापंक्ति है और चौथी ओर कृष्णा नदी है। अतः इक्ष्वाकु राजाओं ने इसे अपनी राजधानी के लिए चुना। उनके लेखों में इसका नाम विजयपुरी है। टॉलमी ने कृष्णा का नाम मैसोलो दिया है और उसे समुद्र में बहुत ऊपर तक नौ-संचार के योग्य बताया है। यह नौ मार्ग से नागार्जुनीकोंड, अमरावती, जग्गय्यपेट्ट, घंटसाल, गुम्मडिडुर्रु, बैज़वाड़ा, भट्टिप्रोलु आदि केन्द्रों को एक दूसरे के साथ मिलाती थी। विजयपुरी के पास कृष्णा घाटी में बहुत से टीले और स्तंभसमूह हैं जो प्राचीन स्तूप और मण्डपों के अवशेष हैं। उनके बीच में एक बड़े राज-प्रासाद के खँडहर हैं। द्वीपान्तर और रोम साम्राज्य के साथ एवं भारत के महामार्गों से होनेवाला स्थल व्यापार विजयपुरी की महती समृद्धि का कारण था, उसी ने यहाँ के महान् स्तूप और अन्य बौद्ध विहार-मण्डप आदि संस्थानों में मूर्त रूप ग्रहण किया।

इस स्थान का पता १९२६ में लगा। सौभाग्य से इसके अवशेष बस्ती से दूर बहुत घने जंगल में थे जिसके कारण वे मानवीय विध्वंस से बच गए। लाँगहर्स्ट के उत्खनन (१९२७–३१) के फलस्वरूप यहाँ अनेक विहार, वृत्तायत चैत्यघर, स्तूपों के खंडहर, लेख, सिक्के, धातु-मञ्जूषाएँ, मृत्पात्र, मूर्तियाँ और लगभग ४०० से अधिक सुन्दर उत्कीर्ण शिलापट्ट प्राप्त हुए जो अमरावती की शिल्प शैली के सदृश हैं और अमरावती के चौथे युग की शिल्प-कला के प्रतीक हैं। इनका निर्माण इक्ष्वाकु राजाओं के राजत्व काल में हुआ। यह सब सामग्री स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित थी जो अब नागार्जुनसागर बाँध बनने के कारण पहाड़ी के ऊपर नया संग्रहालय बनाकर उसमें सजा दी गई है और इष्टिका-निर्मित स्तूप को भी ज्यों-का-त्यों वहाँ ले जाया गया है। दक्षिणी भारत में यह शिल्प सामग्री संख्या और सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वातिशायी है।

श्री रामचन्द्रन् ने १९३४–४० में पुनः उत्खनन का कार्य कराया और फिर दूसरी बार १९५४ से से १९५९ तक नागार्जुनसागर के निर्माण से पूर्व खुदाई का कार्य हुआ जिससे और भी शिल्प-सामग्री, विहार, स्तूप, शिला-मण्डप, चैत्यगृह, तथा हारीती, कार्त्तिकेय और शिव के मन्दिर मिले।

नल्लमलई या प्राचीन श्रीपर्वत की घाटियों में इक्ष्वाकु राजाओं के समय के और भी बहुत से अव-शेष प्राप्त हुए हैं। इन राजाओं का मूल निवास संभवतः दक्षिण कोसल में था, और वे पहले ल०

द्वितीय शती के द्वितीयार्ध भाग में सातवाहन राजाओं के सामन्त रहे और वहाँ से आकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप में विजयपुरी में वासिष्ठीपुत्र श्री क्षान्तिमूल के समय अपनी राजधानी बनाई।

इक्ष्वाकुवंशीय राजा वैदिक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किन्तु उनकी रानियाँ बौद्ध धर्म की भक्त थीं और उन्हीं की प्रेरणा से विजयपुरी के बौद्ध अवशेषों का निर्माण हुआ।

युवाङ् चाङ् ने यहाँ के विहार के विषय में लिखा है: "यह विहार पंचभूमिक था और इसमें मण्डपों की लंबी वीथियाँ थीं। प्रत्येक खण्ड में चार विहार और चार मण्डप थे। प्रत्येक खण्ड के विहार में बुद्ध की सोने की काय-परिमाण मूर्ति थी जो कला का उत्तम नमूना थी।"

ऐतिहासिक सामग्री और लेख—यहाँ आयक खम्भों पर सत्रह लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का वृत्तान्त ज्ञात होता है। राजा ब्राह्मणधर्मी थे पर उनकी रानियाँ बुद्ध की भक्त थीं और उन्होंने ही स्तूपों और विहारों के निर्माण के लिए प्रेरणा और धन प्रदान किया। एक प्रतापी राजा क्षान्तिमूल था। उसकी बहन क्षान्तिश्री का नाम नौ स्तम्भ लेखों में आया है। उसने क्षान्तिमूल के पुत्र वीरपुरिसदत्त के छठे राज्य संवत्सर में बहुत-सा धन व्यय करके महा स्तूप का निर्माण कराया। इसी राजा का एक लेख जग्गय्यपेट्ट में मिला है जो उसके राज्यकाल के बीसवें संवत्सर में लिखाया गया था। महाचेतिय के पूरब में क्षान्तिश्री ने राजा के अठारहवें वर्ष में एक चैत्यगृह और विहार का निर्माण कराया। इसी लेख में चतुःशाल से युक्त शैल मण्डप का उल्लेख किया गया है (चातुसाल परिगहितं सेल मंटवम्)। महा विहार का दान अपरमहाविनशैलिय आचार्यों की स्वीकृति के लिए किया गया था। वीरपुरिसदत्त की बुआ क्षांतिश्री के अतिरिक्त और भी राजघराने की अनेक महिलाओं ने इन अवशेषों के निर्माण में भाग लिया। उपासिका बोधिसिरी ने एक अन्य चैत्यगृह का निर्माण कराया। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बोधिसिरी के बड़े लेख में कहा गया है कि उसने अपना दान ताम्रपर्णी (सिंहल) के भिक्षुसंघ को दिया; कश्मीर, गन्धार, चीन, तोसलि (उड़ीसा), अपरान्त (कोंकण), वंग, वनवास (कर्णाट), यवन (सम्भवतः अलसन्द या अलेक्जेंड्रिया) में धर्म प्रचार किया। उसने घंटसाल के स्तूप के पूर्वी द्वार पर एक शिलामण्डप का भी निर्माण कराया। उस पहाड़ी का नाम, जहाँ उसका स्तूप है, चुल्ल धम्मगिरि था और यह स्थान श्रीपर्वत के महाचेतिय से दो मील है।

लेखों में दो विहारों के नाम भी हैं—एक कुलह विहार और दूसरा सीहल विहार (सिंहल विहार जो सिंहल के भिक्षुकों के लिए था)। अमरावती में पूर्वसेलिय भिक्षुसंघ का अधिकार था और यहाँ अपरमहासेलिय संघ के भिक्षुओं का। आन्ध्र देश में थेरवादी भिक्षु निकाय की शाखा मही-सासक का भी प्रभाव था और उसका भी नागार्जुनीकोंड में केन्द्र था। महासंघिकों के एक भेद गोकुलिक निकाय की बहुश्रुतिय (बहुसुलिय) शाखा भी यहाँ थी। संघ की स्थानीय संगठन-व्यवस्था के अतिरिक्त उसका अवान्तर भेद, जिसमें बाहर से आनेवाले भिक्षु थे, चातुर्दिश (विदेशी छात्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध संघ) कहलाता था। कालान्तर में देवपाल के नालन्दा लेख में यह नाम आया है। अपने धम्मकथिक, देसक और वाचक नामक धर्मगुरु और धर्माचार्यों के निर्देशन में यहाँ का संघ अत्यन्त सक्रिय था।

लेखों में वास्तुकला के बहुत से पारिभाषिक शब्द भी आये हैं, जैसे—महाचेतिय, महाथूप, महाविहार, विहार, चेतियघर, चतुसाल (चतुःशाल), पधानसाला (ध्यान के लिए एकत्र होने का मुख्य मण्डप), बोधिरुक्ख पासाद (बोधिघर प्रासाद), सेलमंटव, ओवरक (भि [illegible])

अलिंदा (प्रवेश मण्डप या द्वारप्रकोष्ठ), तडाक (तटाक या पुष्करिणी), खनिय (= पानीयपोढ़ि = पानी की द्रोणि), खम्भ, सेलखम्भ, सेलथम्भ, पट (शिलापट्ट), सपटसंथर (पत्थर का फर्श), उनिस (= उष्णीष, किन्तु यहाँ स्तूप के शिलापट्टों के ऊपर शोभापट्टी के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है) और द्वार। रानियों ने वास्तुकर्म की पूर्ति के लिए नवकर्म्मिक नामक अधिकारी नियुक्त किये थे जैसा अमरावती में भी था। गन्धार के लेखों में भी इस अधिकारी का नाम आता है। बाद में इन्हें कर्म-स्थानीय (हिन्दी कमठान) कहा जाने लगा। उसकी देखरेख में काम करनेवाले संगतराश सेलवढ्ढकि कहलाते थे, जिन्हें अमरावती लेखों में पाषाणिक कहा गया है। इन्हीं के साथ ईंटों की चिनाई करनेवाले वास्तु-विशेषज्ञ आवेसनि (आवेसनिन्) कहलाते थे।

विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए सैकड़ों अवशेषों से ज्ञात होता है कि तीसरी शती ई० में विजयपुरी बहुत बड़ी राजधानी थी और दक्षिण भारत में उसकी ख्याति सर्वत्र थी।

यहाँ नदी के किनारे जहाजों के लिए एक बड़ी गोदी या घाट भी था (२५० फु०×५० फु०; जल के छलके की तरफ ६ फुट ऊँचा)। अन्य अवशेषों में बड़ी ईंटों की चिनाई है (२०″×१०″×३″ जैसी बुलन्दी बाग में मिली है); उनकी जुड़ाई गारे से की गई। दीवारों पर सुधा कर्म या चूने की गचकारी का काम था जिसके ऊपर चित्रकारी और सुनहले पत्रों की सजावट की गई थी। आयक खम्भ, कुट्टिम और उत्कीर्ण ऊर्ध्वपट्ट एवं मूर्तियाँ संगमरमर जैसे श्वेत पाषाण की बनी हैं जिसे हल्के मखनिया या घियाले रंग के कारण मेदवण्ण पासाण कहते थे। यह विशेष पत्थर वहीं स्थानीय खानों से प्राप्त किया जाता था।

महाचेतिय

उत्तरापथ के स्तूपों के भीतर ठोस ईंटों की चिनाई है, किन्तु नागार्जुनीकोंड का यह स्तूप चक्राकृति है जिसमें नाभि, अर और नेमि के समान तीन भाग हैं। इनके बीच की पोली जगह मिट्टी, गिट्टी, कत्तल, और इंटोरों के भराव से दृढ़ की जाती थी और सबसे अन्त में ईंटों का कंचुक चढ़ाया जाता
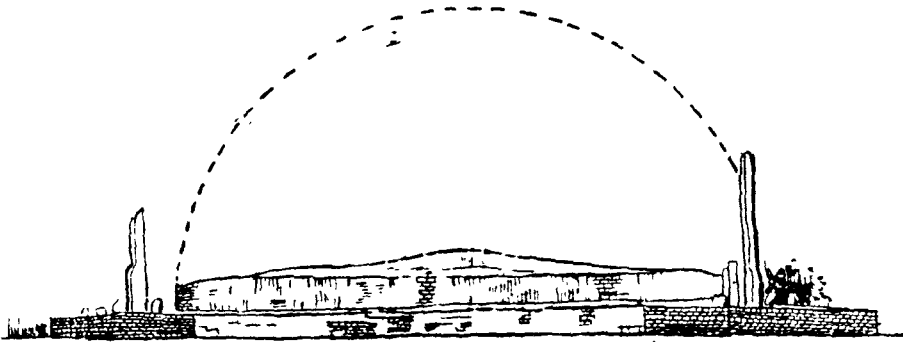
चित्र ४२६

था। स्तूप के मस्तक की ओर उठती हुई दीवारों की रचना छत्राकार जान पड़ती थी जिनका पिछला सिरा ऊँचा और आगे का नीचा होता जाता था। दीवारें ऐसी लगती थीं मानों खुले हुए विराट् छत्र की तीलियाँ हों और बीच का चौकोर या गोल स्तम्भ उन तीलियों को पकड़ रखने के लिए छत्र के ञमाले के सदृश था। (चित्र ४२६)

स्तूप छोटे-बड़े कई आकार के थे। सबसे छोटे का व्यास २० फु० और सबसे बड़े महाचेतिय का १२० फु० है। छोटे स्तूपों में बीच की नाभि का रूप चौकोर स्तम्भ जैसा किन्तु बड़े स्तूपों में वह गोल होता था। मिट्टी की भराई और ईंटों की चिनाई पूरी होनेके बाद स्तूप पर मोटा गचकारी का खोल चढ़ाया जाता था। उसे 'सुधाकम्म' कहते थे। स्तूप के मस्तक पर हर्मिका में यष्टि और छत्र चढ़ाया जाता था जिसके लिए 'छत्तकम्म' शब्द था। नीचे का भाग अधिष्ठान था और उसके ऊपर ऊँचा अण्ड भाग बनाया गया था जिसकी ऊँचाई व्यास के अनुपात से ल० ६० फु० से ९० फु० तक रक्खी जाती थी। अधिष्ठान की ऊँचाई के समतल चार आयक मंचों की रचना की जाती थी जिन पर पाँच-पाँच आयक खम्भ बनाये जाते थे। यह सभी आन्ध्र स्तूपों का विशेष लक्षण था।

चित्र ४२७
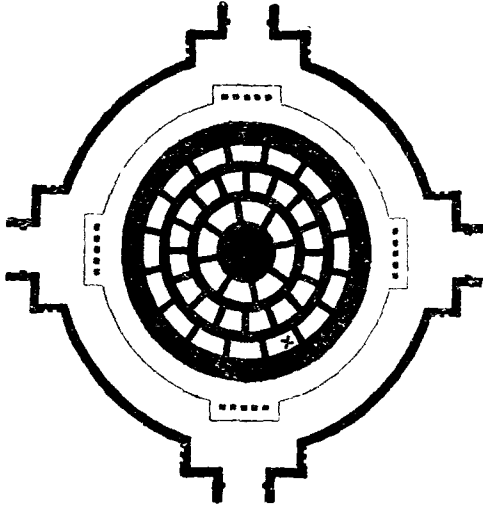
आयक मंच की ऊँचाई पर ही बीच की वेदिका और मेधि बनाई जाती थी और वहाँ तक पहुँचने का मार्ग आयक मंचों के दोनों ओर बने हुए सोपान थे। स्तूप की चार दिशाओं में तीन छोटे मंड बनाये जाते थे, जिन्हें पुष्पाधान या पुष्पग्रहणी वेदिका कहा जाता था। बीच के मण्ड का सूत्र आयक मंच के गर्भसूत्र से मिलता था। आयक मंच और उनके खम्भों को सँवारने-सजाने में भरसक यत्न किया जाता था। नागार्जुनीकोंड स्तूप के आयक मंचों से जो शिलापट्ट और उतरंगे मिले हैं, उनसे यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

नागार्जुनीकोंड में दो प्रकार के स्तूप हैं, एक सादे और दूसरे उकेरी सहित। स्तूपपट्टों पर जो उनकी आकृतियाँ हैं और जो वास्तविक अवशेष मिले हैं, उन दोनों से यह बात सिद्ध होती है। सादा स्तूपों का समापन सुधाकम्म से हो जाता था किन्तु कालक्रम से स्तूप के कलेवर को उत्कीर्ण शिलापट्टों के कंचुक से सजाने की प्रवृत्ति बढ़ी। यह शिलामय आच्छादन देवतात्मा स्तूप को पहनाया गया वस्त्र था, जिसे देवदूष्य कहते थे। इसी कारण स्तूपों के लिए 'दूष्यस्तूप' यह विशेषण प्रचलित हुआ (महावंश ३१।११)। इस प्रकार के बृहत् स्तूप की रचना उस समय की जनता भी चमत्कार (ऋद्धि) समझती थी। सादा स्तूपों के ऊपरी अण्ड भाग पर सन्तानक माला का अलंकरण बनाया जाता था जो सम्भवतः गचकारी के काम का था। स्तूप के अधिष्ठान भाग के चारों ओर वेदिका थी और आयक मंच की ऊँचाई पर भी वेदिका अलंकरण तथा कुछ जातक दृश्य उत्कीर्ण किये जाते थे।

दूसरे प्रकार के स्तूपों पर उत्कीर्ण शिलापट्टों की कई पंक्तियाँ कंचुक के रूप में लगाई जाती थीं। ये शिलापट्ट अधिष्ठान के पादमूल से आयक मंचों की ऊँचाई तक पाये गये हैं। उनसे ऊपर के अण्ड भाग पर अलंकरण गचकारी या सुधाकर्म द्वारा बनाया जाता था क्योंकि अण्ड के गोल भाग पर ऊर्ध्वपट्टों पर लगाना दुष्कर था। आयक मंच के भूमिगत सम्मुख भाग में बुद्धपट्ट या बुद्ध की जीवन-घटना से अंकित कोई अन्य पट्ट लगाया जाता था। उसी की पंक्ति में लगे हुए दूसरे पट्टों पर जातक कथाएँ अथवा बुद्ध के जीवन की अन्य घटनाएँ अंकित की जाती थीं।

दूसरी पट्ट पंक्तियों या सुहावटियों में स्तूप पट्ट, पूर्णघट पट्ट, चक्र पट्ट, नचक देवता, तुरियवादक देवा, अंजलिपग्गहा देवा, नाटक स्त्री, बहुत भाँति के पद्मक या कमल, पुष्प पंक्ति, चतुष्पद पंक्ति आदि से अलंकृत शिलापट्टों का विन्यास किया जाता था। धातुगर्भ या स्तूप के कलेवर को इस प्रकार के रूपों से सजाकर शेष भाग में सोने की पन्नी या पत्तर चढ़ाई जाती थी। इसे 'हेमकुट्टिम' कहा जाता था।

आरम्भ में नागार्जुनीकोंड का महास्तूप उत्कीर्ण शिलापट्टों से अलंकृत न था किन्तु वह केवल इष्टिकामय स्तूप था (ईंटों की नाप २०″×१०″×१०″)। उसका भीतरी गर्भ विशाल घन चक्कर जैसा था जिसमें नाभि से चारों ओर निकलती हुई आड़ी दीवारें नेमि तक बढ़ी हुई थीं। इस भीतरी भाग को ठोस भराव से पूरा करके बाहर ईंटों का खोल चढ़ाया गया और उस पर सुधाकर्म या गचकारी का काम बनाया गया। केवल आयक मंच और आयक खम्भ पाषाणघटित हैं। महास्तूप का व्यास १०६ फु० और ऊँचाई ७० से ८० फुट तक थी। भूमितल पर १३ फुट चौड़ा प्रदक्षिणापथ था जो काष्ठशिल्प की वेदिका से घिरा हुआ था और वेदिका स्तम्भों की आलम्बन पिंडिका या चौकी ईंटों की थी। आयक मंच २२ फु० लम्बा और ५ फु० चौड़ा था। इसी के समतल ७ फु० चौड़ा बीच का प्रदक्षिणा पथ बना हुआ था। वह भी वेदिका से परिवेष्टित था। अण्ड के मस्तक पर हर्मिका थी, जिसके बीच में भारी शिलायष्टि थी। उसके ऊपर तीन छत्रों का 'छत्तकम्म' बनाया गया था। इनमें से सबसे निचला छत्र मानुषी (मानुष छत्त), बीच का देवों का छत्र (दिव्य छत्र), और सबसे ऊपर का छत्र मोक्ष का सूचक (विमुक्ति छत्र) माना जाता था (महावंश ३१।९१)।

इन तीन छत्रों को दृष्टि में रखते हुए बुद्ध का वह विशेषण समझ में आता है जिसमें उन्हें त्रिछत्रधारी लोकनाथशास्ता कहा गया है, अर्थात् तीनों लोकों का शासन करने वाले त्रिछत्रधारी। यह आवश्यक समझा जाता था कि उनकी शरीर धातुओं की पूजा छत्र के द्वारा की जाय (धातु छत्तेन पूजेसि)। स्तूपपटों पर जो स्तूप की आकृति बनी है उससे ज्ञात होता है कि बीच की त्रिछत्रावली के उभय पार्श्व में सप्त छत्रावली भी बनाई जाती थी। सम्भवतः ये सात छत्र सप्तलोक कल्पना के प्रतीक थे। इन्हीं के साथ मालाधारी देव, अंजलिपग्गहा देव और पूर्णघटधारी देव और वामन यक्षमूर्तियाँ बनाई जाती थीं। आयक शिलापट्ट, जिन पर स्तूप के ये सब विवरण उत्कीर्ण हैं, कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

उत्खनन से ज्ञात हुआ कि स्तूप के भीतर उसके तल विन्यास में ४० बड़े कोठे थे। उनमें से बीच के गर्भ से उत्तर-पश्चिम की ओर हटे स्थान से एक धातु मंजूषा प्राप्त हुई थी। धातु-निधान की यही रीति नागार्जुनीकोंड के सब स्तूपों में बरती गई। सोने की मंजूषा स्तूपाकृति चाँदी की मंजूषा में रक्खी हुई थी और उसमें कुछ स्वर्ण-पुष्प, मोती, तामड़े और स्फटिक के रत्न-पुष्प भी पाए गए। स्तूप के मलबे में कोई भी उत्कीर्ण शिलाखण्ड नहीं मिला, जिससे ज्ञात होता है कि वह आरम्भ से ही बिलकुल सादा था।

लेखों में कहा है कि महाचेतिय का निर्माण बुद्ध पूजा के लिए किया गया और सम्भव है कि उसकी मंजूषा में बुद्ध की शरीर-धातु का कोई अंश रक्खा गया हो। यह अनुमान होता है कि मूल स्तूप छोटा था और बाद में उसका विस्तार किया गया अर्थात् अल्पेशाख्य स्तूप को महेशाख्य स्तूप में परिवर्तित करने की युक्ति काम में लायी गई जैसा कि दिव्यावदान में पाया जाता है। विस्तार का यह कार्य सम्भवतः क्षान्तिश्री ने कराया था।

लौंगहर्स्ट को घाटी में ९ स्तूपों के खंडहर मिले थे, उनमें से चार पर शिलामय कंचुक का अलंकरण था, जिसका विकास उस समय तक हो चुका था। उसके पीछे यह भावना थी कि स्तूप स्वयं लोकोत्तर बुद्ध का दिव्य शरीर है। इसी विश्वास की प्रेरणा से अमरावती, नागार्जुनीकोंड और सारनाथ के महान् स्तूपों का 'विस्तार' किया गया। ऐसे स्तूप साहित्य में 'वैस्तारिक' कहे गए हैं।

स्तूप सं० २ और ३ आकार में छोटे हैं, पर सुन्दर शिलापट्टों और आयक कंचुक से अलंकृत थे, जिनके अवशेष मिले हैं। वस्तुतः विजयपुरी का सबसे सुन्दर शिल्प इन्हीं दो स्तूपों के पट्टों पर उपलब्ध है। स्तूप सं० २ के समीप दो वृत्तायत चैत्यघर और कई विहार मिले हैं।

स्तूप सं० ४ भी अनलंकृत था, किन्तु उसके आयक मंच और खम्भों पर सजावट थी और उसके गर्भ में कुछ आचार्य भिक्षुओं की शरीर धातुएँ पाई गई हैं जो सम्भवतः वहीं के स्थानीय विहारों में रहते थे। स्तूप सं० ५ की भी यही स्थिति थी।

स्तूप सं० ६ (व्यास ४०') अलंकृत कंचुक से युक्त था, जो विहारों से थोड़ा हटकर बनाया गया। इसमें आयक-मंच और शिलापट्ट एवं आयकखम्भ लगे थे। मंच के सामने पट्ट पर धर्म्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में भगवान बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण थी। मंजूषा में दो सुनहली गोल पतली पत्रियों पर
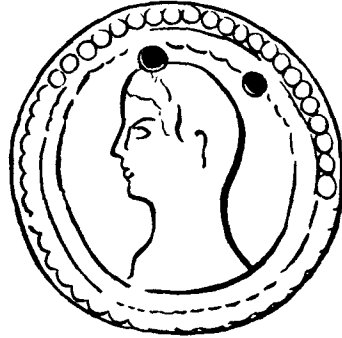
चित्र ४२८ चित्र ४२९

स्त्री-पुरुष की मूर्तियों के ठप्पे मिले थे। इनकी शैली परिपक्व युग की है जैसा उनके केश-विन्यास और नेत्रों से विदित होता है (चित्र ४२८-२९)। सम्भवतः सोने की डिब्बी में रक्खी हुई अस्थि देशान्तर के आए हुए किसी आचार्य की थी, जिसके सम्मान में स्तूप बनाया गया।

स्तूप सं० ७ महाविहार के पास स्थित है, जिसके भीतर ६० फुट का चौकोर मंडप था जो खम्भों पर आश्रित और अपवरकों से युक्त था। स्तूप सं० ८ में सुरक्षित धातुमंजूषा सबसे श्रेष्ठ कलाकृति है। यह मंजूषा स्तूप-सदृश आकृति के बड़े कलश में रक्खी गई थी, जिसकी ऊँचाई १६ इंच थी और उस पर हर्मिका और छत्र भी बना था। इसका छोटा छत्र पत्थर का है और उसे लोहे की सलाई में पिरोया गया है। इस मंजूषा को पत्थर की ४ फाँकों में बनाकर जोड़ा गया है और उसके अण्ड भाग पर माला का अलंकरण है। माल्यदाम का यह अलंकरण आन्ध्र से लेकर गंधार तक के स्तूपों और मंजूषाओं पर पाया गया है। पत्थर की मंजूषा के भीतर ६" ऊँची मिट्टी की वैसी ही मंजूषा थी, जिस पर काँच का हरा पोत चढ़ा हुआ है। इसके भीतर ४ इंच की ताँबे की वैसी ही मंजूषा थी। उसमें दो इंच की चाँदी की मंजूषा थी, जिसके भीतर १½ इंच ऊँची स्तूपाकृति की सोने की

सुन्दर मंजूषा थी। सोने की अन्तिम मंजूषा में शरीर-धातु का एक टुकड़ा, स्वर्ण-कमल, सुनहले जाति पुष्प और कुछ मोती और प्रवाल के मनके थे (चित्र ४३०)।

स्तूप सं० ९ (व्यास ४२ फीट) अलंकृत कंचुक से युक्त था, जिसके अधिकांश ऊर्ध्व पट्ट वहीं मिल गए थे।

१९५४ के उत्खनन में और भी स्तूप, विहार और मन्दिर प्राप्त हुए। स्तूपों की आन्तरिक रचना चक्र के आकार की थी, जिसके लिए चैत्यावर्त (प्राकृत-चेतियावट्ट) यह शब्द प्रचलित था, अर्थात् चैत्य का स्वरूप आवर्त्त या उठते हुए घिरारों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। पहाड़ी पर बना हुआ हारीती का मन्दिर भी मिला। वहाँ तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ भी काटी गई थीं। हारीती की बैठी हुई मूर्ति ४–५वीं शती की शैली में है। पुष्पभद्रस्वामी शिव एवं कार्त्तिकेय के दो अन्य मन्दिर भी उल्लेख योग्य हैं।
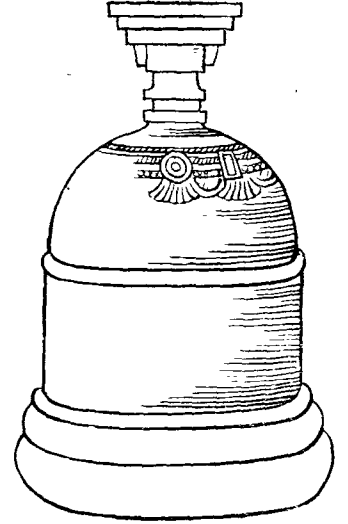
चित्र ४३०

राजप्रासाद

विजयपुरी के दुर्गस्थान में परिखा, प्राकार और द्वारतोरण भी प्राप्त हुए हैं, जो नगर-विन्यास पर प्रकाश डालते हैं और इक्ष्वाकुओं के उत्कर्ष युग के अवशेष हैं। नगर का परकोटा १६ फुट ऊँचा है। उसका पहला रूप मिट्टी का वप्र था और उसी की चौड़ी नींव पर पीछे इष्टका-प्राकार या ईटों का परकोटा चुना गया। यह परकोटा ९′ से १४′ फुट चौड़ा है। यह कहीं पर पुरानी मिट्टी की बुनियाद पर और कहीं भरी हुई ईंटों पर, अथवा कहीं केवल चट्टानी सतह पर बनाया गया है। इस परकोटे के चारों ओर केवल दक्षिणी दिशा को छोड़कर एक दौड़ती हुई पानी की खाई थी जो १२ फुट गहरी और ७४ से १३२ फुट तक चौड़ी थी।

पूर्वी द्वार के भीतर से प्रवेश करते हुए प्रासाद की प्रथम कक्ष्या में पहुँचा जाता था। उसमें सैनिकों के लिए कोठरियाँ, राजवल्लभ अश्वों के लिए मंदुरा और सुन्दर गचकारी से सजी हुई पुष्करिणी प्राप्त हुई है जो राजधानी और प्रासाद के वास्तु-विन्यास में सुसंगत हैं। पश्चिमी द्वार केवल १९ फुट चौड़ा था और वह कृष्णा नदी की ओर खुलता था। उसके बराबर में और भी एक छोटा पार्श्व द्वार था।

आक्रीड या मल्लशाला

प्रासाद के उत्तर की ओर जो अखाड़ा या मल्लशाला मिली है, वह नागार्जुनीकोण्ड के अवशेषों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसकी प्राचीन संज्ञा अक्षवाटक थी। यद्यपि साहित्य में मल्लशालाओं के अनेक वर्णन हैं, किन्तु कृष्णा तट पर विजयपुरी के अखाड़े के अतिरिक्त और कोई अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। ज्ञात होता है, मल्लशाला का आकार विपुल था और इसकी

कल्पना बड़े पैमाने पर की गई थी। अखाड़े के पश्चिमी कगार पर बने हुए मंडप में बैठकर राजा-रानी और अन्तःपुर के जन पहलवानों की कुश्ती और व्यायाम देखते थे।

अखाड़ा ३०९ फुट लम्बा, २५९ फुट चौड़ा और १५ फुट गहरा था जिसमें उतरने के लिए चारों तरफ सोपान थे जिनमें २ फुट चौड़ी बैठने की जगती या सीढ़ियाँ बनी थीं। पूरा अखाड़ा पकी हुई ईटों से चिना गया था। अखाड़े के चारों ओर ११ फुट चौड़ा पक्का पाल या कगार था जिस पर बैठकर लोग मल्लक्रीड़ाओं का आनन्द लेते थे। दक्षिण की ओर अखाड़े में उतरने के लिए ६ सीढ़ियाँ
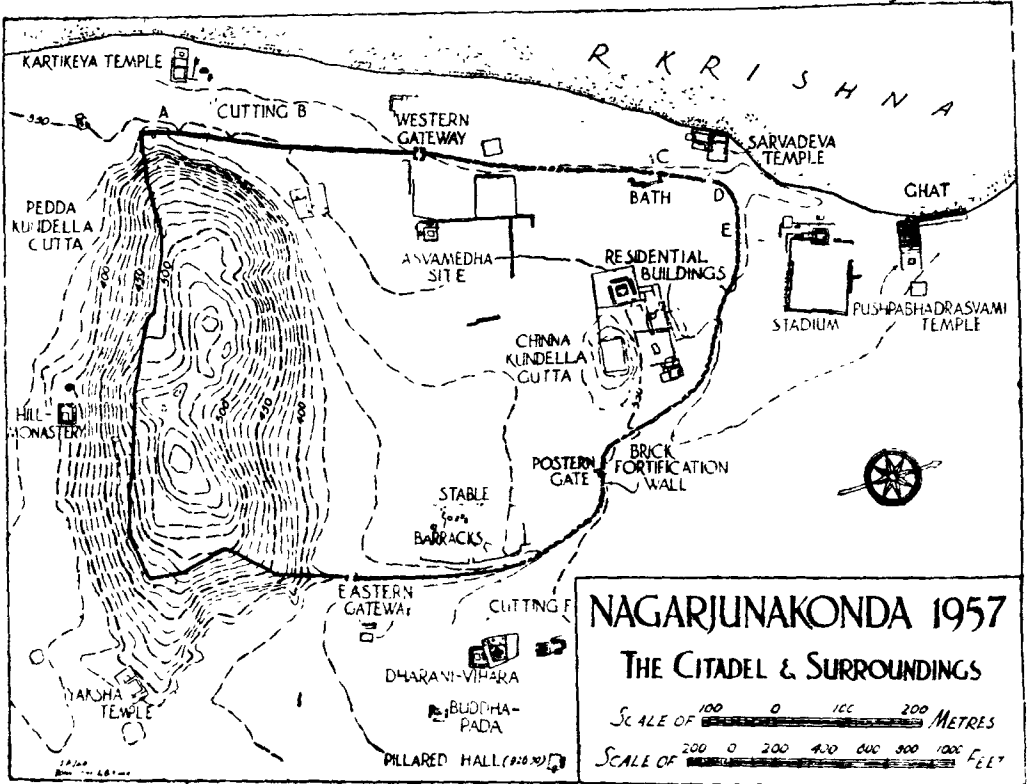
चित्र ४३१

(६ फु० लम्बी) बराबर दूरी पर बनी हुई हैं। उनकी जगतियों पर काष्ठ-फलक जड़े हुए थे। पश्चिमी कगार पर बना हुआ मंडप कालक्रम की तीन अवस्थाओं का परिचय देता है। फर्श में कटी हुई चौकोर या आयत चूलें सूचित करती हैं कि आरम्भ में मंडप लकड़ी के खम्भों पर बना था और खपड़ों से छाया हुआ था जिनकी टूट बिखरी हुई मिली है। मंडप की नाप कालक्रम से इस प्रकार थी—८४'×३९', ६९'×३३' और ५०'×४४'। अन्तिम अवस्था में मंडप को दीवार से घेर दिया गया था जिसमें पश्चिम की ओर प्रवेश द्वार था। तीसरी अवस्था में बने हुए मंडप के मलबे पर ९' मोटी नदी की मिट्टी की तह और उसके ऊपर १० से १२ फुट मोटी बालू की तह पाई गई। नदी की किसी भयंकर बाढ़ में ऐसा हुआ होगा। अखाड़े की उत्तरी दीवार पर २ फुट चौड़ी नाली मेह के पानी को बहाने के लिए थी।

मूर्ति-शिल्प

नागार्जुनीकोंड के स्तूप अमरावती के समान मूर्ति-शिल्प के धनी हैं। उत्कीर्ण शिलापट्टों में सौन्दर्य और विषय-बाहुल्य की विशेषता है। ये ऊर्ध्वपट्ट आयक मंच, अधिष्ठान और अण्डभाग में लगे हुए थे अर्थात् स्तूप का कंचुक उन्हीं के द्वारा सजाया गया था। इनमें सर्वाधिक संख्या स्तूप पट्टों की है। आयक मंच के अग्रभाग में प्रायः बुद्धपट्ट लगाए गए हैं। अधिष्ठान के ऊपरी भाग में अण्ड पर लगे हुए शिलापट्ट २ फुट चौड़े, ३ से ४ फुट तक ऊँचे और कुछ उन्नतोदर या झुके हुए हैं जिससे वे अण्ड की गोलाई पर ठीक मढ़े जा सकें। ऊर्ध्वपट्टों की उकेरी को तीन भागों में बाँट कर अण्ड के चारों ओर सुहावटी निकाली गई थी। शिलापट्टों के ऊपर कंचुक का शीर्ष भाग गचकारी के मोटे लेप से सम्पन्न किया गया। कभी-कभी इन पट्टों के ऊपर छोटी पट्ट-पंक्ति आड़े दाँव लगाकर उस पर पुष्करमाला अंकित की जाती थी। यह मालाधारी देवों की रक्षापंक्ति थी।

लौंगहर्स्ट द्वारा प्राप्त पट्टों पर ये दृश्य थे-१-तुषित स्वर्ग में देवों द्वारा बोधिसत्त्व से पृथिवी पर जन्म लेने की प्रार्थना। बोधिसत्त्व दाहिना पैर मोड़कर बाँया पैर लटकाए अर्धमहाराजलीलासन में बैठे हुए हैं। बोधिसत्त्व दाहिने हाथ की मुद्रा से देवों की प्रार्थना स्वीकार कर रहे हैं और उनके चारों ओर आठ देवता खड़े और बैठे हुए हैं। चित्रों का संपुंजन समभागों में हुआ है और मूर्तियों की वेश-भूषा और अलंकरण की उकेरी भी नेत्रों को सुखकर है। पट्ट के ऊर्ध्व भाग में तीन प्रकार की गोट है, पहली में कमल की लतर है, दूसरी में व्याघ्र पंक्ति है और तीसरी में त्रिरत्न माला है (लौंगहर्स्ट, नागार्जुनीकोंड स्तूप, फलक १९ सी)।

२—श्वेत हाथी के रूप में बुद्ध का अवतरण (गर्भावक्रान्ति)। देवों द्वारा बुद्ध की पूजा और बुद्ध के विमान का कन्धों पर परिवहन (वही, फ० १९ डी)। (चित्र ४३२)

३—स्वप्न कथन—राजा शुद्धोधन जन्मफल सुन रहे हैं। उनसे कहा गया कि बालक बड़ा होने पर महाचक्रवर्ती या महायोगेश्वर बनेगा। बाईं ओर शुद्धोधन और माया बैठे हैं। दाहिनी ओर माया के गर्भ की रक्षा के लिए चार देव बैठे हैं। सामने नीचे ब्राह्मण वेषधारी भविष्यवक्ता बैठा है। झारी लिए हुए बीच में इन्द्र है।

४—जन्म और सप्तपदी—रानी माया देवी कुसुमित शालवृक्ष के नीचे खड़ी हैं। बाईं ओर चामरग्राही और पानी की झारी है जो प्रथम अभिषेक के लिए है। दाहिनी ओर एक छत्रग्राहिणी स्त्री और दो चमर अदृश्य बुद्ध के लिए हैं। चार लोकपाल बुद्ध के सप्तपदी चिन्हों से अंकित लम्बा उत्तरीय लिए खड़े हैं। सप्तपदी की कल्पना प्राचीन वैदिक थी और बौद्धों ने वहीं से उस प्रतीक का ग्रहण किया। लौंगहर्स्ट, फलक २० बी में बुद्ध की सप्तपदी का सटीक अंकन है।

५—असित का आगमन—बुद्ध के जन्म से त्रयस्त्रिंश देवों के स्वर्ग में और कपिलवस्तु के राज-प्रासाद में बड़ा हर्षोल्लास मनाया गया। वृद्ध ब्राह्मण असित बुद्ध जन्म का समाचार सुनकर राज-प्रासाद में आए, और उन्होंने राजा की प्रार्थना पर जन्मकुंडली बनाई और बालक के महान् भविष्यफल का कथन किया। एक पट्ट पर बालक सिद्धार्थ को लेकर उसके माता-पिता कपिलवस्तु से बाहर शाक्य-वर्धन चैत्य की पूजा करने जा रहे हैं (लौंगहर्स्ट, फलक १९ ए)। चैत्य का अधिष्ठातृ यक्षदेवता स्वयं प्रकट होकर अञ्जलि मुद्रा में बालक को प्रणाम कर रहा है। बुद्ध के पदचिह्न कपड़े पर अंकित हैं जिसके दोनों ओर चामरग्राही हैं। दाहिनी ओर मण्डप के नीचे तोरण युक्त आसन पर राजा शुद्धोधन बैठे

हुए हैं। उनके पीछे दो चामरग्राही और माया देवी बैठी हैं। सामने जटाधारी ऋषि बैठे हैं, उनकी गोद में बालक बुद्ध हैं जो वस्त्र पर अंकित पदचिह्न से दिखाए गए हैं।

६—अभिनिष्क्रमण—पट्ट का दाहिना भाग जाता रहा, किन्तु वाम भाग पर गौतम द्वारा छन्दक से लौटने के अनुरोध का दृश्य है। बोधिसत्त्व के पीछे एक व्याधा है जिसके साथ उन्होंने वेष का परिवर्तन किया। अञ्जलिमुद्रा में तीन देवता बोधिसत्त्व (या बुद्ध) के कल्पित केशों को स्वर्ग ले जाने की प्रतीक्षा में हैं। पट्ट के दाहिने कोने में छन्दक और कन्थक घर लौटने की मुद्रा में हैं (लौंगहर्स्ट, फलक १९ बी)।

७—गौतम के उष्णीष को देवों द्वारा स्वर्ग में ले जाना और वहाँ उसके सम्मान में चूड़ामह उत्सव मनाना—आन्ध्र स्तूपों की शिल्प कला में यह बड़ा प्रिय विषय था। केन्द्र में एक देव बुद्ध के जड़ाऊ उष्णीष की चंगेरी को अपने मस्तक पर उठाए हुए है, उसके साथ दो देव एवं पट्ट पर और भी बहुत से सदामत्तक या नर्त्तक देव अंकित हैं जो चूड़ामह के अवसर पर नृत्य में आत्मविभोर हो रहे हैं (लौंगहर्स्ट, फलक २२ ए)।

८—मारधर्षण और संबोधि—इस पट्ट पर दाहिनी ओर मार अपनी दो पुत्रियों के साथ बुद्ध को विचलित करने में असफल हो जाने से व्याकुल मुद्रा में है। बाईं ओर मार के आयुधधारी कुरूप अनुचर हैं। बीच में बोधिवृक्ष के नीचे पद्मासन में बैठे हुए छायामण्डलयुक्त बुद्ध हैं (लौंगहर्स्ट, फलक २२ बी)।

अन्य पट्ट पर नाग मुचलिन्द अपने फणाटोप का छत्र बनाकर ध्यान में बैठे हुए बुद्ध को वृष्टि से बचा रहा है। बोधगया के समीप उरुविल्व ग्राम के एक सरोवर में नागराज मुचलिन्द का निवास स्थान था।

९—बुद्ध द्वारा मानव जाति को धर्मोपदेश करने का संकल्प—बोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध ४९ दिन तक बोधिवृक्ष के नीचे समाधि में बैठे रहे। यह दृश्य गन्धार कला के बाहर कम देखा जाता है। वहाँ कंकालरूप में बुद्ध का अंकन परिचित था। सुजाता की दी हुई खीर खाकर बुद्ध इस संशय में रहे कि वे अपने धर्म का उपदेश मानव जाति को दें या नहीं। देवों ने उनसे इसके पक्ष में अनुरोध किया और बुद्ध ने उनकी प्रार्थना मान ली। इस दृश्य में बुद्ध बोधिवृक्ष के नीचे पद्मासन में बैठे हुए देवों का निवेदन स्वीकार कर रहे हैं (लौंगहर्स्ट, फलक २३ ए)।

१०—प्रथम धर्मोपदेश का निश्चय करने के अनन्तर बुद्ध ने अपने पहले साथी पाँच भिक्षुओं के विषय में सोचा जो उस समय वाराणसी के मृगदाव नामक बाह्योद्यान में थे। वे बोधगया से चलकर वाराणसी आए और वहाँ मृगदाव में, जिसे [1]सारनाथ कहते हैं, धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया। (लौंगहर्स्ट, फलक २४ ए)। दृश्य में बुद्ध ऊँचे पद्मासन में बैठे हैं। उनके आसन के समीप दो मृग हैं और उभय पार्श्व में दो चामरग्राही, दो भिक्षु और दो राजकुमार हैं। इस दृश्य में प्रथम उपदेश और यश की धर्म दीक्षा इन दोनों का सम्मिलित अङ्कन ज्ञात होता है।

११—अन्य शिलापट्टों पर ये दृश्य हैं—बुद्ध दो धातु मञ्जूषा लिए हैं और उनके सामने पानी की झारी लिए हुए नाग मूर्तियाँ हैं। ऐसी मञ्जूषाएँ स्तूप-गर्भ में मिलती हैं (लौंगहर्स्ट, फलक २४

---

१ सारङ्ग=हिरन। वहाँ के स्थानीय देवता शिव थ सारङ्गनाथ।

बी); राजा कप्पिण की धर्मदीक्षा (लौंगहर्स्ट, फलक २५ ए); चक्रवर्ती सम्राट और उसके सप्तरत्न (लौंगहर्स्ट, फलक ३० बी); आलवक (आटविक) यक्ष की धर्म दीक्षा (वही, फलक ३१ बी); सिद्धार्थ का महाधनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना; नलगिरि हाथी को वश में करना (वही, फलक ३२ बी); दीपंकर द्वारा बुद्ध की पूजा (वही, ३४ ए); छह शाक्य राजकुमार और उपालि की धर्मदीक्षा (वही, फ० २४ बी); नन्द को साथ लेकर बुद्ध का स्वर्ग गमन (वही, ३५ ए); पांशुप्रदान (अर्थात् पूर्व जन्म में बालक अशोक द्वारा बुद्ध के भिक्षापात्र में धूल की मुट्ठी डालना); बाईं ओर सिंह-मकर पर एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री खड़ी हुई है, जिसे आन्ध्रकला में सर्वश्रेष्ठ नारी मूर्ति माना जाना चाहिए और आन्ध्र की जनता उसे "आन्ध्र सुन्दरी" के नाम से जानती होगी; सुवन और नागराज पण्णक (वही, फलक ३७ ए); अमरा और चार प्राज्ञ पुरुष, चापेय्य जातक (वही, ३८ बी); मांधाता जातक (वही, ३९ ए-बी); नागराज अपलाल पर बुद्ध की विजय (४० ए-बी); शिबि जातक (४२ ए); पञ्चशिख गन्धर्व और इन्द्र द्वारा बुद्ध का दर्शन (४४ ए-बी); दशरथ जातक (४५ ए); महापदुम जातक (४५ बी), घट जातक (४६ ए), दीघिति कोसलजातक (४७ ए)।

नागार्जुनीकोंड के उत्कीर्ण शिलापट्टों पर कलासौंदर्य का ऐसा विशिष्ट रूप है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इनमें आन्ध्र शिल्प की पूर्णाहुति देखी जाती है। तक्षण की ऐसी स्वच्छता, सचाई और बारीकी, संपुंजन की ऐसी निपुणता, वस्त्रालंकारों का संयम और मनोहर रूप, स्त्री-पुरुषों के स्वस्थ मांसल शरीर और स्फूर्तियुक्त अंगविन्यास, विषयों की बहुलता और नवीनता, इन सबका मन पर विलक्षण सम्मिलित प्रभाव होता है, जैसे हम कुछ काल के लिए सौंदर्य के स्वर्ग में पहुँच गए हों; अथवा देवों का सुखावती लोक ही पृथ्वी पर उतर आया हो। आंध्रकला का तेजस्वी रूप शाश्वत आराधना के योग्य है। शिलापट्टों को एक दूसरे से मिलाने वाले ऊर्ध्वपटों पर नाटक-स्त्रियों (नाटकत्थी) का अनेक मुद्राओं के अंकन में उन आचार्यों की प्रतिभा का दर्शन मिलता
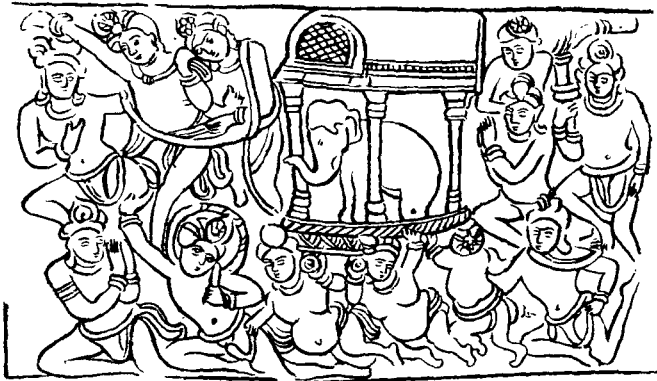
चित्र ४३२
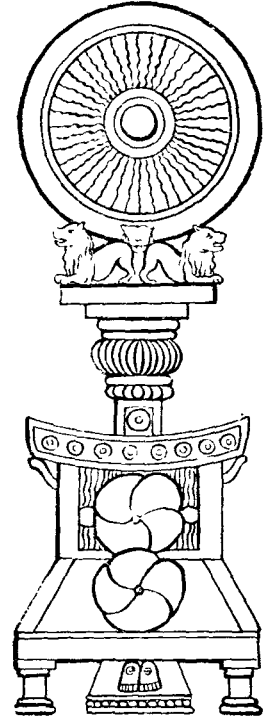
चित्र ४३३

है जिनके पीछे ५०० वर्षों की दीर्घ परम्परा थी। इन्हीं नाटकस्त्री मुद्राओं से कालान्तर में प्रेक्षणिका, शालभञ्जिका, मदनिका, अलसकन्या, सुरसुन्दरी या देवाङ्गना मूर्तियों का विकास हुआ जो मध्यकालीन मन्दिरों में नाना भाव और मुद्राओं में पाई जाती हैं।

आन्ध्र कला में शरीर की बहुसंख्यक विभिन्न मुद्राओं का विन्यास उसकी विशेषता है। प्रणाम करती हुई स्त्रियों के अंगों में ऐसी भंगिमा है कि शरीर बीच की ब्रह्मसूत्र रेखा के दोनों ओर सहज रीति से लास्य करता हुआ जान पड़ता है और अपना संतुलन बनाये रखता है। इन्हीं मुद्राओं के लिए सहृदय कलाविदों ने कहा था—लसतीव च भूलम्बः, अर्थात् मूर्ति की भूलम्ब रेखा अपने दोनों पार्श्वों में नृत्य करती हुई या स्पन्दित होती हुई जान पड़ती है (विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३,अ०४३।२१)। जैसे दन्तकार और स्वर्णकारों का सूक्ष्म कौशल प्रसिद्ध हो गया है, इस कला में विचक्षण शिल्पी तथा कलाचार्य दोनों ने ही उस भाँति अपूर्व मनोयोग का परिचय दिया। इसमें बाह्यरूप और आन्तरिक अध्यात्म भावना दोनों ही संपृक्त हैं। शिलापट्टों पर मूर्तियाँ माधुर्य से हंस रही हैं और अपने स्फूर्तियुक्त अंगसंचालन से सजीव सी जान पड़ती हैं (सजीव इव दृश्यति)।

अध्याय १३

१३. भारतीय मृण्मय मूर्तियाँ

भारतीय कला में मृण्मय मूर्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी सामग्री बहुत है और प्राचीन भी है; और मूर्तियों में ढाले गये विषय भी विविध प्रकार के हैं। सिंधु सभ्यता से लेकर अद्यावधि पार्थिव मूर्तियों का प्रचलन रहा है। कहना चाहिए कि खिलौनों की कला शिलामयी मूर्तियों से भी अधिक काल तक जीवित रही। बंगाल में सोलहवीं-सत्रहवीं और अठारहवीं शती में अलंकृत ईंटों के कितने ही मन्दिर बने जिनमें पकाई हुई मिट्टी के फलक और मूर्तियाँ लगी हैं जब कि पत्थर की मूर्तियों या पाषाण प्रतिमाओं की रचना शेष हो चुकी थी।

उत्तरी भारत के कई ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई में मनुष्य और पशुओं की आकृति के बहुत से खिलौने और बड़ी मूर्तियाँ भी मिली हैं। उस सामग्री के आधार पर प्रत्येक युग के लिए मृण्मूर्तियों की वर्गीकृत सूची बनाई जा सकती है।

महाभारत और उत्तरकालीन साहित्य में मृण्मय मूर्तियों के उल्लेख पाये जाते हैं। द्रोण के शिष्य एकलव्य ने अपने गुरु की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की। भद्र देश का राजकुमार अश्वपति बचपन में मिट्टी के घोड़े बनाकर उनसे खेलता था। भद्दसाल जातक में लिखा है कि राजकुमार को ननिहाल की ओर से हाथी-घोड़े और अन्य खिलौने खेलने के लिए दिये जाते थे। मृच्छकटिक नाटक

चित्र ४३४

चित्र ४३५

का नाम मिट्टी की गाड़ी के आधार पर रक्खा गया है जिससे चारुदत्त का लड़का रोहसेन खेला करता था। नागार्जुनीकोंड के शिलापट्ट पर पहियेदार छोटी गाड़ी का चित्र है जिसे एक बच्चा धागे से बाँधकर खींच रहा है। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की महीमयी या मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है जैसी अभी तक नवरात्र के समय बनाई जाती है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में एक चित्रित मयूर या मिट्टी के रंगीन मोर का उल्लेख किया है जो बालक भरत के मन बहलाने का खिलौना था।

गुप्त युग में कला की दृष्टि से सुंदर खिलौने बनते थे, किन्तु उन्हें और भी सुंदर बनाने के लिए उन पर केश, आँख, वस्त्र आदि की सजावट रंग-बिरंगी चित्रकारी से की जाती थी। ऐसे कई नमूने

अहिच्छत्रा, राजघाट, भीटा आदि की खुदाई में मिले हैं। गुप्त युग में बड़े आकार की मृण्मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगीं, जैसी पाषाण की प्रतिमाएँ होती थीं। अहिच्छत्रा से शिवमंदिर में लगी हुई गंगा और यमुना की लगभग कायपरिमाण मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। इस संबंध में साहित्यिक उल्लेख भी प्राप्त हैं। बाण ने लेप्यकार और पुस्तकृत् नाम से मिट्टी और गचकारी के खिलौने बनाने वाले दो कारीगरों का उल्लेख किया है। बुद्धघोष ने मिट्टी की इस कला को 'पोत्थक रूप' कहा है। हाथी दाँत के काम को दान्त रूप और ढलाई के काम को लौह रूप कहा गया है। बाण की अपनी मित्रमण्डली में मनचाहे खिलौने बनाने वाला कुमारदत्त नामक एक पुस्तकृत् उसका विशेष मित्र था। राजशेखर ने (नवीं शती का अन्त) लिखा है कि राजसभा में लेप्यकृत् को भी चित्रकार, स्वर्णकार, वैकटिक (रत्न तराश) आदि के बराबर स्थान सभा के पश्चिमी भाग में मिलना चाहिए। हरिषेण (दसवीं शती) ने लिखा है कि राजा की आज्ञा से एक पुस्तकृत् बहुत बड़ी गचकारी की मूर्ति बनाने के काम पर लगाया गया। इससे उन मूर्तियों का स्मरण होता है जो नालन्दा के विहार और मंदिरों में बच गई हैं।

गुप्तयुग और उसके काल के कुछ बड़े मन्दिर जो अलंकृत ईंटों, मृण्मय मूर्तियों और फलकों से बने हैं अभी तक इस कला के महत्त्वपूर्ण पद की सूचना देते हैं। कानपुर के पास भीतर गाँव का मंदिर, सीरपुर का लक्ष्मण मंदिर, सारनाथ का छोटा मृण्मयस्तूप, पहाड़पुर का बड़ा स्तूप जिसकी सजावट में हजारों मिट्टी की मूर्तियाँ लगी थीं और महास्थान (बोगरा जिला) के अवशेष इस बात के साक्षी हैं कि मिट्टी की मूर्तियों की कला ने कितनी उन्नति की थी और पाषाण शिल्प के समकक्ष स्थान प्राप्त कर लिया था। अहिच्छत्रा के त्रिमेधि एड्डक या शिवमंदिर में लगे हुए मिट्टी के बड़े फलक बहुत ही सुंदर मृत्कला के परिचायक हैं। मीरपुर खास (सिंध) में प्राप्त बड़े बौद्ध स्तूप के अवशेष मृण्मय मूर्तियों और अलंकृत इष्टिकाओं की रचना में नये सौष्ठव का परिचय देते हैं। बाण ने कादम्बरी में लिखते हुए चतुर्विध कलाओं का उल्लेख किया है—जैसे, वास्तु कला जिसमें स्तम्भ प्रधान होते थे, शिल्प कला जिसमें उत्कीर्णन क्रिया मुख्य होती थी, चित्रकला जिसमें आलेखन प्रधान होता था और पुस्त कर्म जिसमें मिट्टी की मूर्तियों और गचकारी का काम मुख्य होता था। उन्होंने अपने युग में इन दृश्यों की ओर हाथ उठाते हुए कहा है कि दिशायें इन चार कलाओं से भर गई थीं (पुस्तमयीव चकासते ककुभः)। ईंटों और मिट्टी की मूर्तियों का एक ताँता गंगा और प्रयाग तक छाया हुआ था। उनके अवशेष अभी तक फैले हुए हैं। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री के विवाह के समय बहुत से पुस्तकार बुलाये गये थे (लेप्यकारकदम्बकक्रियमाणमृण्मयमीनकूर्ममकरनालिकेरकदलीपूगवृक्षकम्। हर्षचरित, उच्छ्वास ४)। जब राज्यश्री का विवाह हुआ तो अञ्जलिकारिका नामक गूजरियाँ या गूजर स्त्रियाँ वेदी के चारों ओर सजाई गई थीं, जैसे आजकल भी बनती हैं।

सबसे प्राचीन मिट्टी के खिलौने लगभग २५०० ई० पू० सिंधु में पाए गए हैं जो हाथ से डौलिया कर बनाए गये हैं, अर्थात् उनके निर्माण में साँचों का प्रयोग नहीं हुआ। उनके वर्ण्य विषय ये हैं—(१) स्त्री मूर्तियाँ (२) पशु-पक्षियों के रूप। पहले वर्ग की मूर्तियाँ मातृदेवी की हैं। उसकी पूजा किसी समय भूमध्य-सागर से लेकर गंगा के काँठे तक लोकप्रिय थी। वेदों में जिसे 'मही माता' और महानग्नी कहा है वह यही ज्ञात होती है। ये प्राचीन मूर्तियाँ पृथुश्रोणी प्रकार की हैं, उनके उन्नत स्तनों पर कई हार और कटि प्रदेश में चौड़ी मेखला है, सिर पर भारी केश-विन्यास और कानों में वैसे ही आभूषण हैं, उदर भाग में गंभीर नाभि है। मातृ मूर्तियों की यह परम्परा सिन्धु युग के बाद भी चालू रही। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि स्थानों से मौर्य-शुंग युग की पुरानी मातृ मूर्तियाँ मिली

हैं, वे उसी परम्परा में हैं। कला की दृष्टि से सैन्धव मृण्मूर्तियाँ भौंड़ी हैं किन्तु चित्रण की दृष्टि से वे प्रभावशाली हैं और उनके मुख और शरीर दोनों से भाव प्रकट किए गए हैं। दूसरी ओर काँचले मसाले और मिट्टी के बने हुए पशु-मूर्तियों के खिलौने कहीं अच्छे और वास्तविक बन पड़े हैं। जैसे, वृषभ और व्याघ्र की मूर्तियों में उनके शरीर का बल स्फुट रूप में दिखाया गया है।

ऐतिहासिक युग के खिलौने यद्यपि सैन्धव काल से लगभग दो सहस्र वर्ष बाद के हैं फिर भी शैली और विषय की दृष्टि से अपने पूर्ववर्त्ती खिलौनों से संबन्धित हैं। निर्माण प्रक्रिया की दृष्टि से पाटलिपुत्र, मथुरा, और अहिच्छत्रा की प्राचीनतम मृण्मूर्तियों के कुछ लक्षण सैन्धव परम्परा में हैं जिससे उनका भी मातृ-मूर्ति होना प्रकट होता है। उन्हें कुम्हारों ने हाथ की चुटकी से बनाया है। मौर्य काल में साँचे प्रयुक्त न थे। वे सर्व प्रथम शुंग काल से मिलते हैं। तीसरी-दूसरी शती ई० पू० के लगभग साँचे काम में आने लगे। साँचों को 'संचक' या 'मातृका' भी कहते हैं क्योंकि साँचों से ही बहुत से ढार या नमूने तैयार किये जाते थे। ज्ञात होता है कि मूल 'मातृका' या साँचा कुशल कलाकार तैयार कर देता था तब उसमें कमाई हुई मिट्टी को भर कर दबाने से इच्छानुसार ढार तैयार कर लिए जाते थे। एक ही साँचे के कई ढार भी मिले हैं। शुंग और कुषाण काल के असली नमूने भी खुदाई या खोज से प्राप्त हुए हैं। मौर्य युग के वास्तविक खिलौनों की प्रामाणिक सामग्री सीमित है। अतः उस विषय की लेखबद्ध सामग्री का प्रायः अभाव है। तथापि पटना शहर, बुलन्दीबाग, कुमराहार—इन प्राचीन मौर्य-कालीन स्थानों से जो सामग्री मिली है उसे मौर्य युग में रक्खा जा सकता है। शैली की दृष्टि से उनमें कई विशेषताएँ हैं जिन्हें शुंगकाल से पूर्व का मानना होगा। इनमें सबसे विशिष्ट वे मूर्तियाँ हैं जो पाटलि-पुत्र से मिली थीं और विशेष प्रकार की प्रभावशालिनी नर्तकी या नाट्य-स्त्रियों की मुद्रा में हैं। उनके मस्तक पर विपुल शिरोभूषा है और कटि-प्रदेश में नीचे से चौड़ा घाघरा पहने हैं, जैसे उड़ने के लिए पंख
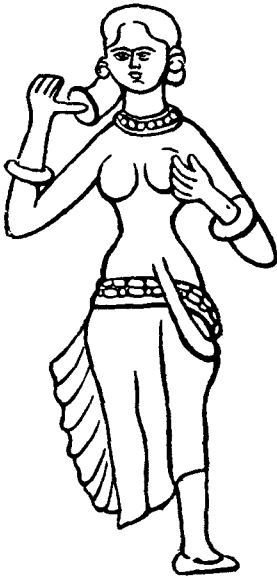
चित्र ४३६ चित्र ४३७

खुले हों। पटना संग्रहालय में इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ हैं, उनमें से एक ११·५ इञ्च ऊँची है और

बेजोड़ है। निर्माण विधि की दृष्टि से यह मूर्ति हाथ से डौलिया कर बनाई गई है, केवल मस्तक अथवा मुख साँचे से बना है। हाथ से बनाने के बाद कई तरह के मिट्टी के काम के टुकड़े ऊपर से संलग्न किये गये हैं। उदाहरण के लिए शिरोभूषा के ऊपर चिपटाई हुई लटें, जिनके ऊपर खिला हुआ कमल है, दोनों ओर की निर्गत शिरोभूषा के बीच में बड़ा कमल, कानों में डमरू जैसी बड़ी डट्टक और बायें कान में कर्णवेष्टक या गिप्पल जैसा कुण्डल, मणिबन्ध में कड़ा, गले में कण्ठा, और कटि प्रदेश में किंकिणी जाल से युक्त सन्तानक मेखला, दाहिनी भुजा कोहनी और कलाई पर मुड़ी हुई है जो कंधे की ओर उपर्युक्त मुद्रा में उठी हुई थी। मूर्ति की पूरी भावभंगी नर्तकी जैसी है (चित्र ४३७)। शुंगकालीन मिट्टी के टिकरों पर जो स्त्री-पुरुषों के मुख हैं, उनसे कुछ विलक्षण या भिन्न ही इन स्त्री-मूर्तियों की मुखाकृति है। एक दूसरी मूर्ति (६ इं० ऊँची) पटना शहर के गोलकपुर मुहल्ले की खुदाई में मिली थी। उसकी अब केवल मध्ययष्टि सुरक्षित है एवं मस्तक और पैर टूट गये हैं। खड़े होने की मुद्रा, उभरी हुई पेशियाँ, आभूषण आदि में यह मृण्मूर्ति हू-बहू दीदारगंज यक्षी के समान है। इसके कबंध भाग को पहले हाथ से बनाया गया। वह ग्रीवा में स्थूल मोती-माला पहने है, जिसके पृष्ठभाग में लम्बूषक या फुँदने हैं । छाती पर गोल और लंबोतरे मनकों का दोहरा हार है। बाईं छाती के पास पदक है और हार के छोर में मोती पिरोये है। हार बायें कंधे से दाहिने कटिपार्श्व तक और फिर पृष्ठभाग में उसी प्रकार पहनाया गया है जैसे कालान्तर में वैकक्ष्यक हार होते थे। पतली कमर में चौड़ी और चिपकी हुई मेखला है जिसके बीच में पदक है जिसमें बायीं ओर तीन लम्बूषक या फुँदने हैं और उत्तरीय का निचला भाग मेखला के नीचे से निकला हुआ है। कटि-प्रदेश में कई प्रकार के मनकों से गूँथी हुई चौलड़ मेखला है। यह मूर्ति लगभग २०० ई० पूर्व की ज्ञात होती है और प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का बहुत ही सुन्दर नमूना है (चित्र ४३८)।
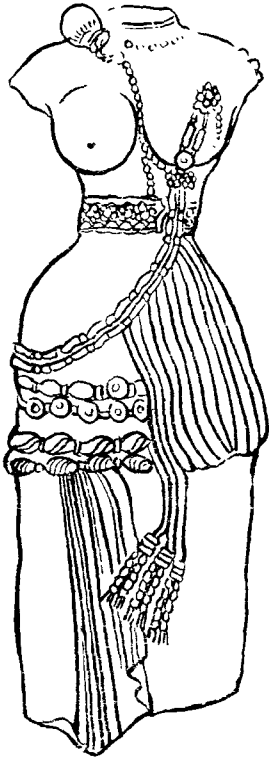
चित्र ४३८

बसाढ़ (प्राचीन वैशाली)—शुंगकालीन खिलौनों का दूसरा केन्द्र था। एक टिकरे पर (५½ इञ्च ऊँची) एक मूर्ति कमल वन में खड़ी हुई है जो दोनों हाथों में सनाल कमल लिये है। उसके दोनों कंधों पर दो पंख हैं। स्तन पुरुष मूर्तियों की भाँति चपटे हैं। कानों में गोल कुण्डल (कर्णवेष्टन), गले में चपटा कंठा (ग्रैवेयक), हाथों में कटकावली, कलाई में पहुँची जिनमें मोतियों के झुग्गे लगे हैं, चौड़ी करधनी और नुपूर इसके आभूषण हैं। प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से यह सपक्ष लक्ष्मी की अनुपम मूर्ति है। कमल श्रीलक्ष्मी के साथ इसकी पहचान का संकेत देते हैं। ग्रन्थों में सपक्ष षष्ठी का उल्लेख आता है और सम्भव है उसी ढंग पर सपक्ष श्रीलक्ष्मी की कल्पना भी की गई हो। कामदेव की कई मृण्मूर्तियाँ सपक्ष हैं, उनसे ही इस मूर्ति का संबंध ज्ञात होता है। दोनों बाहुकक्षों के नीचे दो छोटे छेद हैं जिनमें पिरोकर यह भीत पर लटकाई जाती थी। (चित्र ४३९)

इसी से मिलता-जुलता दूसरा नमूना कोसम से मिला था जो अब प्रयाग संग्रहालय में है (५″×३½″)। यह मूर्ति पुरुष की है यद्यपि पटना की मूर्ति के समान ही आभूषण पहने हुए हैं।

पटना की मूर्ति में भी स्तन नहीं जैसे हैं। प्रयाग की मूर्ति के हाथ भी नीचे से उठते हुए दो कमलपुष्पों का स्पर्श कर रहे हैं। दाहिने कंधे की ओर का एक पंख अभी बच गया है जिससे कामदेव की मूर्तियों
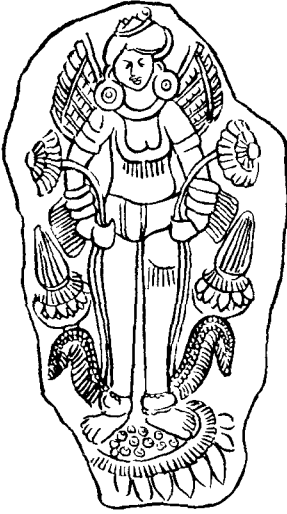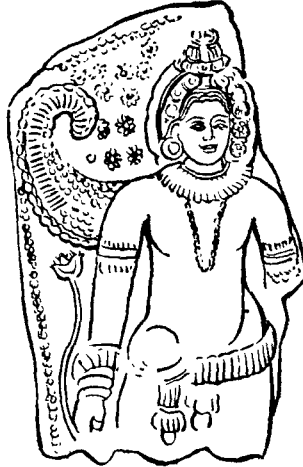
चित्र ४३९ चित्र ४४० चित्र ४४१

से इसका भी संबंध सूचित होता है। यों कई लक्षणों को देखते हुए प्रयाग और पटना की मूर्तियों में अद्भुत साम्य है और दोनों की कल्पना एक ही स्रोत से हुई लगती है। (चित्र ४४०)। भारतीय गाथा शास्त्र में कामदेव लक्ष्मी का पुत्र माना जाता है, इस दृष्टि से मूर्ति का कमलों के साथ संबंध और श्रीलक्ष्मी से साम्य समझा जा सकता है।

शुंगकालीन मिट्टी के टिकड़ों में सबसे सुन्दर वे हैं जिन पर मिथुन या दम्पती मूर्तियाँ हैं। कौशाम्बी में शुंगकालीन मृण्मूर्तियों का जो कला सौष्ठव और दृश्यों की बहुलता पाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। शुंग युग की पत्थर की मूर्तियाँ कौशाम्बी से बहुत कम मिली हैं, किंतु उस समय की मृण्मूर्तियों का तो यहाँ कुवेर का भण्डार ही था और वे बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं।

एक टिकड़े पर (४$\frac{1}{4}$"×३$\frac{1}{2}$") जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है, एक दम्पती बड़ी आसन्दी पर बैठे हैं जिसके तीन ओर बौलियों की वेदिका है और पाये खरादे हुए हैं। टिकड़े की पृष्ठभूमि छोटे चौखुड़िया पुष्पों से भरी हुई है।

कौशाम्बी से प्राप्त प्रयाग संग्रहालय में एक टिकड़ा है (२$\frac{1}{4}$"×२$\frac{1}{4}$") जिस पर आपानगोष्ठी का दृश्य है। पुरुष और स्त्री आमने-सामने वेत्रासन पर बैठे हैं। स्त्री उठे हुए दाहिने हाथ में एक मधुपात्र लिये है, जिस पर ढक्कन है, और वह बायें हाथ से पुरुष का आलिंगन कर रही है, पुरुष के दाहिने हाथ में छोटा चषक और बाएँ में वंशी है। दोनों की शिरोभूषा भरहुत के स्त्री-पुरुषों जैसी है (चित्र ४४१)।

कोसम से मिला हुआ गोष्ठीयान जिसमें लोग विहार और वन-भोजन के लिए जा रहे हैं अपने ढंग का अपूर्व नमूना है। इस खिलौने की एक ही साँचे से निकाली हुई कई ढार मिली हैं जो भारत कलाभवन में हैं। इस प्रकार के विहार को उद्यानिका (या 'उजानी' कहा जाता था) जिससे निकला
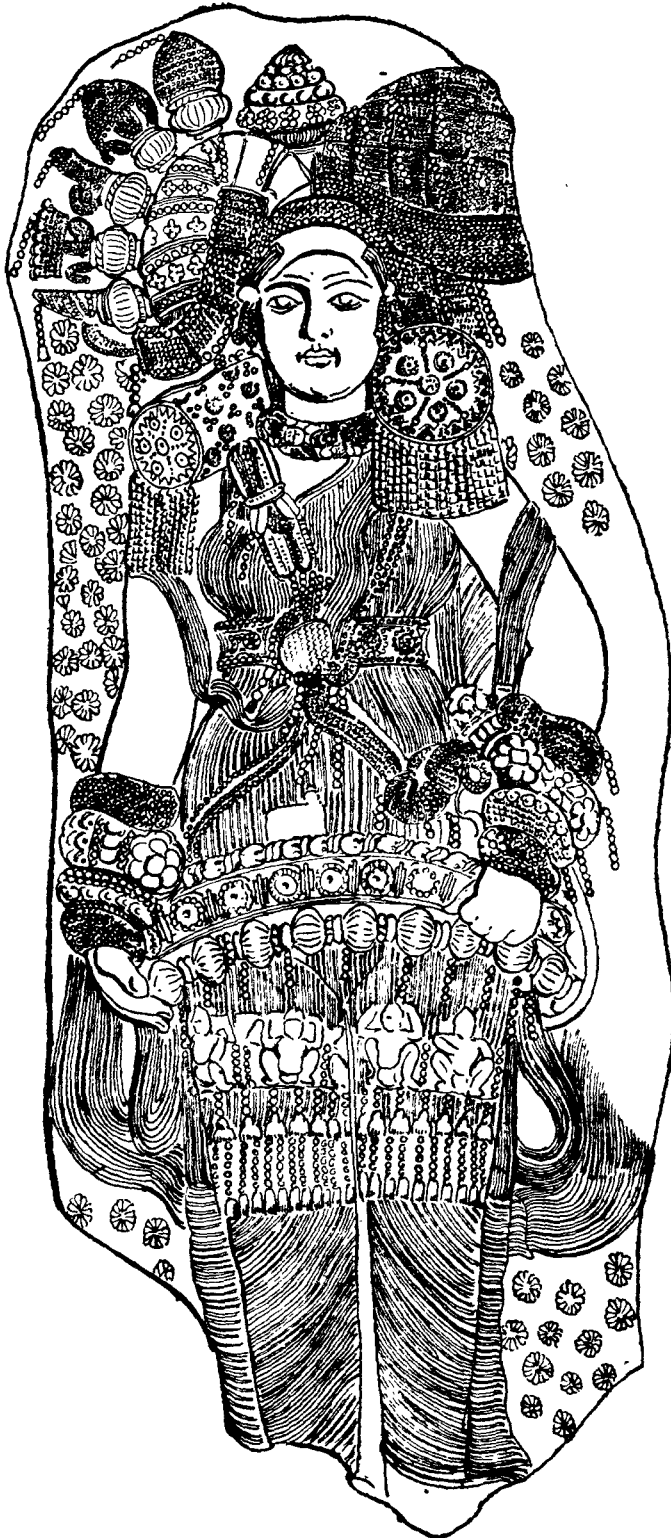
चित्र ४४२

चित्र ४४३ कोसम

चित्र ४४४ अहिच्छत्रा

हुआ 'उजानी' शब्द गुजराती में अब भी प्रचलित है। गोष्ठी में चार पुरुष और दो स्त्रियाँ हैं। वे यान के दो पार्श्वों में तीन-तीन की पंक्ति में सुख से बैठे हैं। दाहिनी ओर की पंक्ति में पहले पुरुष के हाथ में सप्ततंत्री वीणा और कोण है। उसके बराबर एक दम्पती है जिसमें पुरुष स्त्री के अधर रस का पान कर रहा है। दूसरी ओर दम्पती स्त्री-पुरुष में स्त्री अपने पति की ओर मानमुद्रा में पीठ किए बैठी है। तीसरा व्यक्ति वेश और मुद्रा से विदूषक ज्ञात होता है। दोनों पंक्तियों के बीच में बड़े थाल में भोज्य पदार्थ रक्खे हैं, जिनमें मूलियाँ साफ पहचानी जा सकती हैं, गोल सुहाल और गुंझियाँ, और गोल मधु पात्र या ढक्कनदार सुराघट हैं। गोष्ठीयान में बढ़िया गलीचा बिछा है। मृच्छकटिक नाटक में गोष्ठी-यान का उल्लेख आया है, वहाँ यह भी लिखा है कि आपान के मध्य में लाल मूली खाई जाती है (आपानकमध्यप्रवेशरक्तमूलक)।

कोसम के एक खिलौने में ($3\frac{1}{2}$ इंच) दाहिने हाथ में लीला कमल लिए हुए एक स्त्री दिखाई गई है जिसका बायाँ हाथ कंधे की ओर कुछ झुके हुए मस्तक की ओर है।

वहीं से प्राप्त दूसरे खिलौने में ($5\frac{1}{4}$ इञ्च) एक हँसतामुखी नर्तकी है। उसकी देहयष्टि का भार दाहिने पैर पर है, बाईं जानु कुछ झुकी है और दोनों हाथ सामने की ओर आलिङ्गन मुद्रा में हैं। उसके मस्तक पर वेलित उष्णीष, ललाट पर मोतियों की दुहरी माला है, दाहिने कान में गोल कर्ण-वेष्टक है, और बायें कान में ढोलनाकार झूमका है, गले में चपटा ग्रैवेयक और छाती पर मोतियों की माला है, हाथों में भारी कटक और कटि प्रदेश में चपटे मनकों की चौड़ी मेखला है।

शुंगकालीन खिलौनों की लोकव्यापी टकसाली शैली उन चौकोर टिकरों में पायी जाती है जिनमें उकेरी की सज नीची या विविक्त है। ऐसे टिकरे मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र, बानगढ (बंगाल) आदि दूरवर्ती स्थानों से मिले हैं।

कौशाम्बी से प्राप्त खिलौने में एक स्त्री मूर्ति है जो आक्सफोर्ड के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। उसकी शिरोभूषा के बीच में कमल का फुल्ला और दोनों ओर निकलते हुए पार्श्वभागों में माङ्ग-लिक चिह्न अंकित हैं जिनसे उसका दिव्यपद सूचित होता है (चित्र ४४२)। अहिच्छत्रा से प्राप्त मिथुन मूर्तियों में भी स्त्रियों की शिरोभूषा में बाणाग्र, ध्वज, अंकुश ये तीन मांगलिक चिह्न अंकित हैं (चित्र ४४३)।

कोसम की एक टूटी हुई स्त्री मूर्ति की केश-भूषा में दाहिनी ओर पुष्पस्रज् और बाईं ओर पाँच मांगलिक चिह्न हैं जिनमें अंकुश, परशु स्पष्ट हैं और दर्पण तथा शराव संपुट या वर्धमान और विमान-गृह कुछ स्फुट हैं। इसी प्रकार के केश और मांगलिक वेश बानगढ़ से प्राप्त शुंगकालीन खिलौने में पाये गए हैं ($2\frac{3}{4}''$; प्रथम शती ई० पू०)। इतने दूर क्षेत्र में व्याप्त यह किसी मातृदेवी की मूर्ति थी।

अहिच्छत्रा से प्राप्त टिकरों पर मिथुन मूर्ति प्रायः अंकित है (चित्र ४४४)। ये टिकरे साँचे से बने हैं और उस युग के हैं जब हाथ से डौलियाने और कुछ अंग साँचे से निकालने का संक्रान्ति काल बीत चुका था। स्त्री मूर्तियों में केश और हारों में मांगलिक चिह्न हैं किन्तु साथ की पुरुष मूर्ति सप्ततन्त्री वीणा लिए है (वही, पृ० ११० चि० सं० १२)। आरम्भ में टिकरों पर मिथुन या स्त्री-पुरुष का अंकन था और कुछ काल बाद वही दम्पति या पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो गया (वही, पृ० ११३, चि० सं० २२)। दोनों का भेद यह है—

(१) मिथुन प्रकार के टिकरों में स्त्री-मूर्ति पुरुष के दाहिनी ओर है और दम्पति टिकरों में वह बायीं ओर है।

(२) मिथुन टिकरों के किनारे टेढ़े-मेढ़े हैं, किन्तु दम्पति टिकरे एकदम सीधे, सच्चे और फूलों की गोट और पृष्ठभूमि से युक्त हैं।

(३) मिथुन मूर्तियाँ दम्पति की अपेक्षा अधिक गहनों से लदी हैं।

(४) दम्पति टिकरों पर शुंगकालीन भरहुत की पाषाण मूर्तियों के सदृश ही वस्त्र, आभूषण, केश-विन्यास, भारी उष्णीष, गोल मुख और दबकी उकेरी हैं।

(५) मिथुन मूर्तियों में धार्मिक भाव है और कहीं भी काम की अभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु दम्पति मूर्तियों में प्रेमासक्ति का भाव है।

अहिच्छत्रा के उत्खनन में प्राप्त मूर्तियों के आपेक्षिक स्तर सूचित करते हैं कि मिथुन मूर्तियाँ अधिक गहराई में और दम्पति मूर्तियाँ उसके बाद के स्तर (लगभग १०० ई० पूर्व—१०० ई०) में प्राप्त हुईं। दम्पति टिकरों की परंपरा कुषाण और गुप्तकालीन दम्पति मूर्तियों में भी देखी जाती है। राजघाट से प्राप्त एक टिकरे पर (३½ इञ्च; भारत कलाभवन में) आलिङ्गन मुद्रा में दम्पति अंकित हैं।

मृण्मय मूर्तियों के इतिहास की एक विशेषता यह है कि प्रायः प्रत्येक युग में ही देश्य शैली की मूर्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिन पर विदेशी प्रभाव अंकित है। उत्तर शुंग और आरम्भिक कुषाण काल की मूर्तियों का एक वर्ग ऐसा है जिस पर पह्लव प्रभाव है जो बसाढ़, राजघाट, कोसम, मथुरा और अहिच्छत्रा से मिला है। इसी वर्ग की बसाढ़, कोसम और मथुरा से मिली कुछ मूर्तियाँ सपक्ष हैं। दूसरे वर्ग की कुछ स्त्री मूर्तियाँ बहुत बोझिल, प्रावार जैसी साड़ियाँ पहने हैं जिसने सारे शरीर और दोनों कंधों को और दोनों भुजाओं को ढँक रक्खा है। ये लक्षण[1] सैलुसिया से प्राप्त पह्लव युग की मूर्तियों से मिलता हैं।

एक इस ढंग की टकसाली मूर्ति पटना से मिली है (५½")[2]। मूर्ति साँचे में ढली है और निर्भूषण है। सिर का जूड़ा ओढ़नी से ढँका हुआ है जो शरीर के ऊर्ध्व भाग और स्तनों को पूरी तरह छिपाये है। कानों में भारी गोल कुण्डल हैं और हाथों में फूलों के कड़े हैं, और गहनों का अभाव है। मथुरा, अहिच्छत्रा और पटना इन तीन स्थानों से ऐसे कुछ ही नमूने मिले हैं।

कोसम की भाँति मथुरा भी मूर्तियों का बड़ा केन्द्र था। वहाँ प्राग्कुषाण काल की काली मिट्टी की स्त्री-पुरुषों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें एक टकसाली स्त्री मूर्ति ऐसी है जिसकी पहचान मातृदेवी से की जा सकती है। इस वर्ग की मथुरा मूर्तियों के मोटे तौर पर ये लक्षण हैं :—

(१) मस्तक साँचे में ढाला गया है और शरीर का शेष भाग हाथ से डौलिया कर बनाया गया है।

(२) ऊपर से चिपकाये हुए अंगीय या अलंकार।

(३) खचित वृत्तों से आभूषणों का संकेत।

(४) खड़ी मुद्रा जिसमें टाँगें ठिंगनी और एक दूसरे से अलग हटी हुई हैं। अथवा कुछ मूर्तियाँ टाँग लटकाये हुए "यूरोपीय" ढंग या ललित-पर्यंक आसन में बैठी हैं।

(५) आँखें छीमी के कटाव की लंबोतरी हैं जिनमें पुतलियाँ दिखाई गई हैं, जिनसे मुख का भावपूर्ण आकर्षण बढ़ गया है।

---

१. वान इंगन, सैलुसिया से प्राप्त वस्त्रावृत स्त्री (१९३९), पृ० ७८ आदि, फलक सं० ८–१२।

२. JISOA भाग ७ (१९३९), फलक ९, चित्र ५।

उपलब्ध सामग्री से इनकी निश्चित पहचान सम्भव नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि महीमाता या मातृदेवी का कोई रूप इनमें अंकित है। ऋग्वेद में महीमाता का उल्लेख आया है, वहाँ देवमाता के रूप में उसे अदिति कहा है। किन्तु लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व की प्राचीन सभ्यताओं में उसी प्रकार की महीमाता की पूजा प्रचलित थी। उसे सुमेर देश में इन्निनी (स्वर्ग की देवी) और बावेरू में इस्तर कहते थे। वही आगे चलकर ईरान में रक्षासूत्र पहनने वाली अतर्गती और तारकांकित मुकुट पहनने वाली अनाहिता देवी के रूप में मान्य हुई। उसे ही शक लोग नानी या ननादेवी के रूप में पूजते थे जैसा उनके सिक्कों से विदित है। उसी की प्रतिमूर्ति मथुरा की इन पार्थिव नारी मूर्तियों में जो शहरात शकों के समय की हैं, ज्ञात होती है। अहिच्छत्रा में मथुरा के ढंग की इन मातृमूर्तियों के जैसी दो-तीन मूर्तियाँ सबसे नीचे के स्तरों से प्राप्त हुई हैं (लगभग २०० ई० पू०)। उनमें से सबसे प्राचीन स्तर सं० ७ (३००–२०० ई० पू०) से मिली हैं। ज्ञात होता है अहिच्छत्रा में ये मूर्तियाँ मथुरा से लाई गई हैं, पर दुर्भाग्य से मथुरा में उत्खनन के ऐसे वैज्ञानिक प्रमाणों का अभाव है जिनसे इन मूर्तियों के आपेक्षिक तिथिक्रम पर प्रकाश पड़ता। मथुरा में इस वर्ग की मृण्मूर्तियों के एक सहस्र से अधिक नमूने अब तक मिल चुके हैं जिससे सूचित होता है कि इस देवी की पूजा वहाँ अत्यधिक लोकप्रिय थी (चित्र ४४५–६)। इस वर्ग को अभी शुंग काल में रखना उचित होगा। इनकी मिट्टी बहुत अधिक गूँथ कर इतनी पकाई गई है कि वह पत्थर जैसी कड़ी हो गई है। मूर्तियों का रंग धुमैला या काला है और कुछ पर काला पोत भी चढ़ाया गया है जिसमें कोई ऐसा मसाला मिलाया गया जिससे पकाते समय उसमें चमक आ जाय। कुछ मूर्तियों पर यह काली चमक अभी तक है। मूर्तियों के काले रह जाने का कारण यह है कि उन्हें ऐसे आँवों में पकाया गया जो बिल्कुल बन्द थे और जिनका धूआँ बाहर न निकल कर भीतर ही घुटता रहा। सिर्फ पाँच-चार नमूने लाल मिट्टी के भी हैं। पहली शती ई० के बाद तो इस शैली की मूर्तियों का सर्वथा अभाव है। इस वर्ग की एक बड़ी मूर्ति (५½″ ऊँची) मथुरा संग्रहालय में और दूसरी (६½″ ऊँची) कलकत्ता संग्रहालय में है। तीसरी लगभग सम्पूर्ण मूर्ति दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। मूर्ति के बायें कान की लौ में बड़ा मृणाल कुण्डल है। गले में ग्रैवेयक या चिपटा कण्ठा है, छोटा हार और एक बड़ा प्रालंब हार जो कंधों से स्तनमूल तक है, कटि प्रदेश में कायबन्धन जिसमें मीन-मिथुन का लम्बन है और दोहरी मेखला है, ऊपर की मेखला में चक्र चिह्न चिपटाकर लगाये गये हैं।

चित्र ५४५

चित्र ४४६

इन स्त्री-मूर्तियों पर विचार करते हुए हमारे सामने काली मिट्टी की पुरुष मूर्तियों का भी बहुत बड़ा वर्ग है जैसा मथुरा के सिवाय और कहीं नहीं मिला। उनके मुखों की आकृति पर विदेशी प्रभाव है। इनकी आकृतियों में ठुड्डी पर खसखसी दाढ़ी या कहीं-कहीं गाजरपूँगी या झालरदार दाढ़ी का चित्रण है, जैसा शुद्ध भारतीय शैली की मूर्तियों में नहीं मिलता। मस्तक पर उभयतः शृंगी

---

१. वा० श० अग्रवाल, उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका, भाग ९, खण्ड २ (जुलाई १९३६) पृ० १७।

पगड़ी है। गालों की हड्डी उभरी हुई है। कुछ मूर्तियों में एक ही ओर को उठी हुई नुकीली पगड़ी, लम्बी दाढ़ी और टेढ़ी ठुड्डी और धोती तहमद की तरह बिना कच्छ के है, जैसी आज तक शामी जातियों के व्यक्ति पहनते हैं। ये मस्तक भी सहस्रों की संख्या में मिले हैं और स्त्रियों की मूर्तियों की भाँति ही प्रतिवर्ष लगभग उन्हीं के साथ मिलते रहते हैं। ये पुरुष मूर्तियाँ मथुरा कला तक ही सीमित हैं और उन्हें नितान्त स्थानीय उपज मानना उचित है। अभी तक मथुरा से बाहर अन्यत्र कहीं वे नहीं मिलीं। (चित्र ४४७-८)। सम्भव है कि स्त्री मूर्तियाँ पहले बनी हों और पुरुष मूर्तियाँ उसके कुछ बाद में, लगभग प्रथम ईसवी शती के आरम्भ में। इस विषय में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। एक कल्पना यह होती है कि प्रथम शती ईसवी पूर्व के आरम्भ में मथुरा में जो शक-क्षहरात वंशी राजाओं का राज्य हुआ उस समय अनेक ईरानी शक भी यहाँ आकर बसे। उन्हीं की आकृतियों के अनुकरण में स्थानीय कुम्हारों ने इन मस्तकों और मूर्तियों का निर्माण किया जिनके चेहरे विदेशी प्रभाव से युक्त हैं। सैकड़ों की संख्या में जब इन्हें हम सामने रक्खा हुआ देखते हैं तब इनकी नुकीली टुड्ढी, उभरी हुई गाल की हड्डियाँ, ढलुआ मस्तक, दो खुम्भों वाली छोटी पाग और बकर-दाढ़ी एवं तहमद से एक अपरिचित वातावरण में पहुँच जाते हैं। इसमें आकृति और वेश की सभी विशेषतायें बाहर की हैं। अभी तो इनकी पहचान के सम्बन्ध में यही सम्भावना सामने विदित होती है कि ये शक जाति के पुरुष हैं और जिस मातृदेवी के खिलौनों की ऊपर चर्चा की गई है वह इनकी देवी थी। उसके तारकांकित मुकुट से भी कुछ ऐसा संकेत मिलता है। भारतीय कुम्हारों की यह कर्म-परिपाटी ही बन गई कि वे प्रत्येक युग में विदेशों से आने वाली जातियों के चेहरे-मोहरे मिट्टी की मूर्तियों में ढालते थे। कुषाण और गुप्त युग के खिलौनों में भी ऐसी विदेशी मूर्तियाँ पाई जाती हैं जैसा हमने अपने 'अहिच्छत्रा के खिलौने' शीर्षक लेख में विस्तार से दिखाया है।

चित्र ४४७

चित्र ४४८

मथुरा की शुंगकालीन मूर्तियों में एक तीसरा वर्ग हाथी की मूर्तियों का है जो काली मिट्टी के बने हैं और अच्छे बड़े आकार के हैं (५½"×९")। मौर्य-शुंग काल में हाथी जनता में बहुत प्रिय पशु
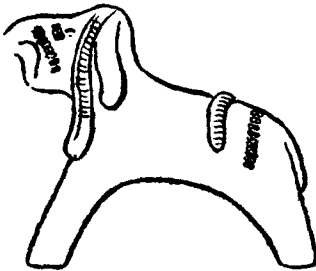
चित्र ४४९
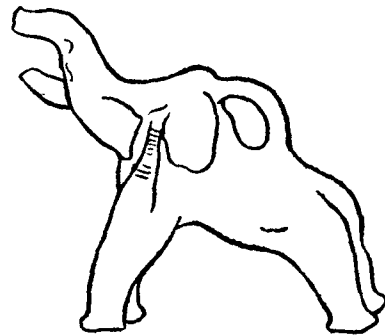
चित्र ४५०

था उसी का प्रमाण ये मृण्मूर्तियाँ है (चित्र ४४९-'५०)। हाथियों के शरीर पर कई प्रकार के आभूषण और

झूल आदि गुदने की भाँति खचित छोटे वृत्तों से दिखाये गये हैं। इनकी मुद्रायें भी कई प्रकार की हैं। कुछ झमक कर चल रहे हैं, कुछ भाग रहे हैं, कुछ की पीठ पर आरोहक महावत हैं और कुछ सूँड़ ऊपर को उठाए हुए नंदन्त-मुद्रा में हैं। हाथियों का ऐसा घनिष्ठ अध्ययन भारतीय कला में कम देखा जाता है। अर्थशास्त्र में क्षुरप्रमाला की गिनती हाथियों के आभूषण में की है। जैसा नाम से प्रकट है इस प्रकार के कंठे में खुरपे की आकृति के टिकरे पिरोये रहते हैं। इसी से मिलता-जुलता एक वर्ग अहिच्छत्रा से मिला है जिसमें पकाई हुई काली मिट्टी के बने हुए बैलों के नमूने हैं (चित्र ४५१)। वे भी उसी प्रकार के डीलडौल वाले और बलिष्ठ पशुओं के नमूने हैं। ये दोनों ही हाथ से बनाए गये हैं और बहुत भाँति से अलंकृत हैं। कोसम से शुंगकालीन कितने ही रथ मिले हैं जिनके कूबर और पहियों पर फूल छितराए हुए हैं और जिनमें सामने बैलों के जोड़े (गोयुग्म) जोते जाते थे।

चित्र ४५१

ज्ञात होता है कि प्रत्येक केन्द्र के चतुर कुम्हार विभिन्न पशुओं की आकृति में रुचि लेते थे और साथ ही कुछ ऐसे खिलौने भी बनाते थे जिनमें सबको रुचि हो।

इस प्रकार भारतीय खिलौनों के विकास में कई सुनिश्चित युग-न्यास प्राप्त होते हैं। सर्व प्रथम मातृदेवी की परम्परा के सूचक खिलौने हैं। इसके अनन्तर नृत्य और गान में प्रसक्त स्त्री-पुरुषों के घरेलू जीवन की मूर्तियाँ मिलती हैं जो शुंगकाल की विशेषता थी। कौशाम्बी से प्राप्त टिकरों में कुछ रतिबन्ध या आसनों की मूर्तियाँ भी हैं जिनका उस समय सीमित प्रचार ज्ञात होता है। धार्मिक विषयों से लौकिक विषयों की संक्रान्ति एक ऐसा तथ्य था जो ध्यान देने योग्य है। स्त्री और पुरुषों के खड़े होने और बैठने की धार्मिक मुद्राएँ लोक जीवन के दृश्यों में भी परिगृहीत हुईं। ठीक वैसे ही जैसे उत्तरकुरु के धार्मिक दृश्य उद्यान क्रीड़ा और सलिल क्रीड़ा के अंग बन गए और वेदिका स्तम्भों पर उनका स्वच्छन्द अंकन होने लगा। स्त्रियों के कितने ही शुंगकालीन टिकरों में उसे दर्पण लिए हुए, वेणी-प्रसाधन करते हुए या पंखा झलते हुए या शुक-सारिकाओं के साथ क्रीड़ा करते हुए दिखाया गया है। मथुरा और कोसम में ऐसे बहुत से खिलौने हैं। उनकी मुखाकृति, आभूषण और वेशभूषा शुंगकालीन शिल्प मूर्तियों से मिलती है। अतः उनके तिथिक्रम के विषय में शैली के आधार पर दृढ़ भूमि प्राप्त होती है।

कुषाण काल में पाषाण शिल्प का गौरव बहुत बढ़ गया जैसा मथुरा के वेदिका स्तम्भों से ज्ञात होता है, पर उसके साथ मृण्मय मूर्तियाँ अपना गौरवशाली पद नहीं रख सकीं। कुषाण युग के पार्थिव खिलौने प्रायः घटिया किस्म के हैं और उनकी बनावट भोंडी है। मथुरा और अहिच्छत्रा दोनों स्थानों से कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों की संख्या बहुत कम है और ज्ञात होता है कि कौशाम्बी में तो यह कला प्रायः मूर्छित हो गई थी। मथुरा की इक्की-दुक्की मूर्तियाँ ही ऐसी हैं जिनमें कुषाण युग में भी शुंग कला की छटा ज्यों की त्यों निखरी हुई है। इनमें कामदेव की मूर्ति का एक सुन्दर टिकरा है जिसमें

वह अपने शत्रु शूर्पक के शरीर पर खड़ा है (चित्र ४५२)। उसके दाहिने हाथ में बाणावली या बाणों का मुट्ठा और बाएँ में लम्बा धनुष है। कथा है कि राजकुमारी कुमुदवती का प्रेम शूर्पक नामक मछुए से हो गया पर उसने उस प्रेम का कोई उत्तर नहीं दिया। तब कामदेव ने अपने धनुष बाण से उस मछुए को परास्त किया। अश्वघोष ने बुद्धचरित (३०।११) और सौन्दरनन्द (८।४४) में इस लोक कथा का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन चतुर्भाणी ग्रन्थ में इस कथा को लेकर लिखे हुए 'कुमुदवती प्रकरण' का नामोल्लेख आया है। मथुरा के इस खिलौने में इसी कहानी का अंकन है। कामदेव का शरीर फूलों के गहनों से सजा है। उसकी मुद्रा भी नेत्रप्रिय है।
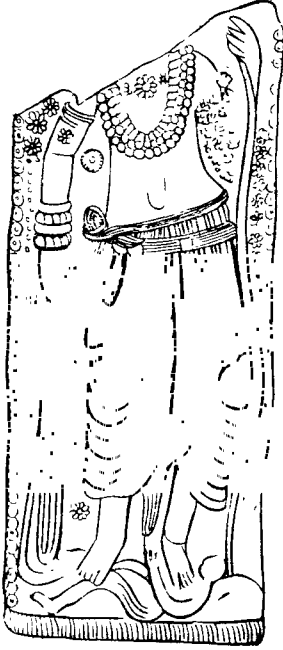
चित्र ४५२

चित्र ४५३ नागी

कलात्मक शैली में जो ह्रास हुआ, उसकी कुछ पूर्ति लक्षणयुक्त प्रतिमाओं के रूप में हो जाती है, जैसे नागी, कुबेर, हारीती, वसुधारा आदि की मूर्तियों में (चित्र ४५३-५)। अहिच्छत्रा

चित्र ४५४ कुबेर-हारीती
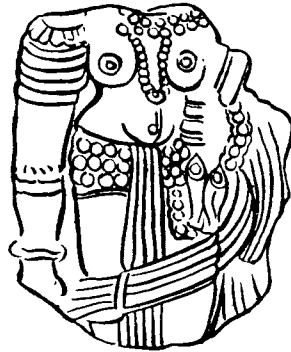
चित्र ४५५ वसुधारा
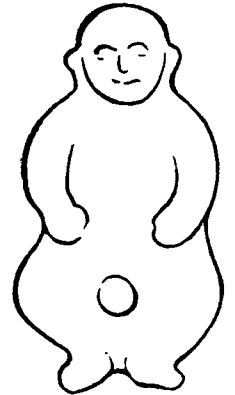
चित्र ४५६

में कुषाण-कालीन मृण्मूर्तियों में नंगे बबुओं की मूर्तियाँ सौ से अधिक मिली हैं। उनकी विकट और बौनी आकृति के कारण उसका वर्ग ही अलग है। मूर्ति की टाँगें घुटने पर मुड़ी हैं और हाथ छाती पर रक्खे हैं या बाँहें शरीर के बराबर कटि प्रदेश तक लटकी हुई हैं। इसके घुटने एक दूसरे से हटे हुए पर पैर जुड़े हुए हैं (चित्र ४५६)। इसी से मिलते-जुलते और भी विकृत शरीर वाली मूर्तियाँ हैं जो राजघाट से मथुरा तक मिली हैं। कुषाण मृण्मूर्तियों में कुछ मूर्तियाँ उथले पुष्कर या पोखर की हैं जिनके चारों ओर कगार है और किनारे पर सीढ़ीदार मकान और कुछ बाजा बजाते हुए व्यक्ति हैं। उन्हें बंगाल में

अभी तक यमपुकुर अर्थात् यमराज की पुष्करिणी कहते हैं जो पूजा में काम आती है। ज्ञात होता है यह प्रथा बहुत पुरानी थी। तक्षशिला की खुदाई में भी उस प्रकार का यमपुष्कर प्राप्त हुआ है जो बिल्कुल पूरा है। इनके किनारों पर प्रायः सीढ़ियाँ बनी हैं और छोटे दीवट रखे हैं।

साहित्य में इन स्थूलकाय विकट मूर्तियों को वामन, गण, कुम्भाण्ड, कुब्जक आदि कई नामों से कहा गया है। उन्हें शिव, कार्तिकेय और कुबेर गणपति के अनुचर माना जाता था। यद्यपि इनकी आकृति विषम है और लम्ब-सूत्र से हटी हुई है, तथापि कुबेर की खर्व, निखर्व, मुकुन्द आदि निधियों के रूप में इन्हें मांगलिक समझा गया। स्वयं कुबेर शब्द का अर्थ है टेढ़े-मेढ़े शरीर वाला देवता और वही लक्षण इन मूर्तियों में भी है। पुराणों में इनके नाम और रूप बहुत प्रकार के हैं और इन्हें अरूप, विरूप और सरूप कहा है। ये मनुष्य और पशुओं के विविध मुखों से युक्त बनाये जाते थे (नानामुख, ईहामृगमुख), कुछ के मुख खुले हुए (व्यादितास्य), कुछ के चपटे (चिपिटानन) और कुछ के भयानक (कराल) होते थे। इनकी कई सूचियाँ पुराणों में हैं। कभी इन्हें अच्छे गण और कभी दुष्ट असुर माना जाता था। दोनों को ही शिव का अनुचर मानकर मन्दिरों में स्थान दिया जाता था। सम्भव है, कुषाण युग में शिव पूजा के प्रचार के साथ गण पूजा को भी पाशुपत आचारों में प्रश्रय दिया गया हो।

शक-सातवाहन युग में दक्षिणापथ की पार्थिव कला या मृण्मूर्तियों में विशेष सौन्दर्य भी देखा जाता है (प्रथम-द्वितीय शती)। हैदराबाद के कोण्डापुर स्थान से इस प्रकार के बहुसंख्यक सातवाहन खिलौने मिले हैं। ये क्योलिन नाम की सफेद मिट्टी के बने हैं। वे भीतर से पोले हैं और दो या अधिक साँचों में दबाकर निकाले गये हैं, पहले साँचों में कच्चे बनाकर तब उन्हें जोड़कर पकाया जाता था। कुछ पर रंग देकर उन्हें वर्णचित्रित भी किया गया। मनुष्य मूर्तियों में अधिकांश सुन्दर
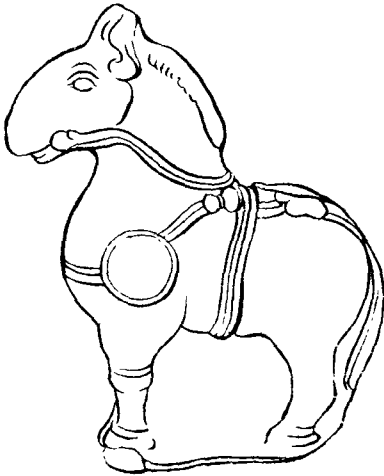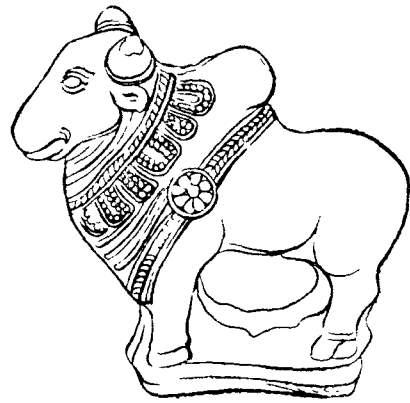
चित्र ४५७ चित्र ४५८

मस्तक हैं जिन पर कुञ्चित केश या उष्णीष सुशोभित हैं जिनपर आन्ध्र मस्तकों की भाँति एक ओर पगड़ी बाँधने के लिए उभरी हुई पाग या फुल्ला है जैसा अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड में मिलता है। स्त्री मस्तक मुखाकृति और केश-रचना के सौन्दर्य में और भी बढ़े चढ़े हैं। इनके लिए साँचे बनाने का काम बड़ी निपुणता से किया जाता था जिनमें सौन्दर्य और वास्तविकता, दोनों का सम्मेलन है। यहाँ बहुत-सी पशु मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जैसे—सिंह, वृषभ, अश्व, मेढ़ा, तोते इत्यादि (चित्र ४५७-८)।

गुप्त युग के आरम्भ से उत्तर भारत के अनेक केन्द्रों में कलात्मक मूर्तियाँ बनाने का आन्दोलन वेग से प्रवृत्त हुआ। मथुरा, पवाया (प्राचीन पद्मावती), अहिच्छत्रा, श्रावस्ती, भीटा, राजघाट आदि केन्द्रों में मृण्मूर्तियों का नया निर्माण होने लगा। गुप्त काल में पार्थिव मूर्तियों के बनाने वाले पुस्तकृत् कलाकारों को नया सम्मान प्राप्त हुआ जो पहले नहीं था। कला और सौन्दर्य का सन्देश मृण्मूर्तियों के माध्यम से जनता में प्रचारित किया गया क्योंकि खिलौने मूल्य में बहुत सस्ते और अधिक संख्या में शीघ्रता से तैयार किये जा सकते थे। धार्मिक आवश्यकता और मनोरंजन, दोनों की पूर्ति उनसे होती थी। खिलौनों को धनहीन वर्ग की शिल्पकला कहना चाहिए। जनतन्त्र में सौन्दर्य के प्रचार के लिए मिट्टी के खिलौनों जैसा दूसरा सुलभ माध्यम नहीं है। छोटी मूर्तियों के अतिरिक्त मिट्टी के बड़े फलक भी मन्दिरों और घरों में लगाने की प्रथा चल पड़ी थी जिनमें भाँति-भाँति के धार्मिक और सामाजिक दृश्य ढाले जाते थे। कभी-कभी कायपरिमाण की मृण्मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, जैसे अहिच्छत्रा से प्राप्त मकर-वाहिनी गंगा और कच्छप-वाहिनी यमुना की मूर्तियाँ जो शिव मन्दिर के पार्श्व स्तम्भों में लगी थीं। मिट्टी के बड़े फलक और मूर्तियाँ पाषाण शिल्प के समान काम में लायी जाती थीं। गुप्त युग के कितने ही मन्दिर नीचे से ऊपर तक अलंकृत ईंटों और मृण्मय फलक-पंक्तियों से निर्मित किये गये थे। उनमें से कुछ अभी तक बचे हैं, जैसे कानपुर जिले में भीतर गाँव का मन्दिर (लगभग ५-६ शती)। उसी समय का एक बड़ा स्तूप सिन्ध के मीरपुर खास स्थान में मिला है जिसमें अलंकरण-युक्त ईंटों और मिट्टी के सुन्दर फलकों का उपयोग किया गया था। इस स्तूप में गुप्त कला का पश्चिम की ओर बढ़ाव देखा जाता है जिसमें मध्यदेश की गुप्त शैली और उत्तरापथ की गन्धार शैली, दोनों का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ की बहुत-सी मूर्तियाँ बम्बई संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मध्य प्रदेश में सीरपुर का लक्ष्मण मन्दिर ईंटों की वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें सातवीं शती की ईंटे और फलक लगे हुए हैं।

वर्गीकरण की दृष्टि से गुप्त मृण्मय मूर्तियाँ तीन प्रकार की है :—१—धार्मिक—ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देव-देवियों की मूर्तियाँ जैसे विष्णु, सूर्य, शिव, कार्त्तिकेय, पार्वती, महिषासुर-मर्दिनी आदि २—सुन्दर स्त्री और पुरुष मूर्तियों से अंकित टिकरे या मस्तक जो साँचों से बने हैं। उनकी शैली गुप्तकालीन उत्कृष्ट कला का नमूना है। उनसे केश विन्यास की विविधता भी प्रकट होती है। कुछ मूर्तियों पर चित्रकारों ने कई प्रकार के रंगों से (काली, हरी, पीली आदि) चित्रकारी भी की है। उस प्रकार के गुप्तकालीन छोटे टिकरों और मस्तकों की संख्या लगभग दो सहस्र के होगी जो मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, राजघाट, भीटा आदि स्थानों से मिले हैं। उनमें सौन्दर्य की वही पराकाष्ठा है जिसका वर्णन कालिदास, बाण आदि के ग्रन्थों में मिलता है। इनके सान्निध्य में पहुँच कर मानों हम किसी सौन्दर्य-वीथी के दर्शन करते हैं। इन सभी स्थानों से प्राप्त मूर्तियों में केश-विन्यास का सादृश्य है, जैसे अलकावली जिसमें बीच की केशवीथी के दोनों ओर वलीभूत् केश या छल्लेदार लटें पंक्तिबद्ध रूप से सँवारी हुई दिखाई जाती हैं। अलकावली को कालिदास ने स्त्री-सौन्दर्य का सुन्दर लक्षण कहा है, जैसे रघुवंश ८-५३ में इन्दुमती के केश-विन्यास का वर्णन करते हुए। ऐसे ही पति के वियोग में यक्षी की अलकावली केश-रचना न करने के कारण कन्धों तक आती हुई कही गई है। पुरुष मस्तकों में भी केश-रचना अलकावली के रूप में दिखाई गई है जो मस्तक के दोनों ओर बड़े भव्य रूप में सज्जित है। मार्शल का कहना है कि जो पुरुष इस प्रकार अपने केशों को सजाते थे, वे बहुत ही छैल रहे होंगे। ईरान के सासानी सम्राटों के केश विन्यास की जो शोभा है, अथवा इटली के पोप ग्रिगोरी के मस्तक पर केशों का जो आटोप है अथवा

फ्रांस की रानी अण्टियोनेट की केश-रचना में जो परिष्कार है उन सबसे कहीं अधिक सौन्दर्य और सम्मानित गौरव इन गुप्तकालीन मस्तकों के केश-विन्यास में प्राप्त होता है। इन्होंने रोम देश की अभिजात महिलाओं को भी पीछे छोड़ दिया था।

केशरचना की दूसरी शैली मोर के फैलाये हुए पंखों जैसी थी जिसे साहित्य में लीलामयूरबर्हभंगी केशपाश कहा गया है। बीच की माँग के दोनों ओर फैले हुए केश इसकी विशेषता है।[१] केशरचना की तीसरी शैली मधुमक्षिका के छत्ते जैसी थी। इसमें माँग के दोनों ओर केशों को क्षौद्-पटल या छत्तों के आकार में सजाया जाता था। केश-विन्यास की यह शैली पह्लव-पुरुषों से ली गयी थी जो उनके खिलौनों में सुरक्षित देखी जाती है। कहा जाता है कि रोम देश की कुलीन स्त्रियाँ भी केश-रचना की इस शैली को पसन्द करती थीं और इस प्रकार इस केश-विधि ने अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली थी।[२]

गुप्तकालीन पार्थिव मूर्तियों का तीसरा वर्ग उस प्रकार के फलक हैं जो वास्तु-शिल्प में प्रयुक्त होते थे। इनमें पौराणिक आख्यानों और अलंकरण के विषय हैं। अहिच्छत्रा से प्राप्त एक फलक पर किन्नर-मिथुन अंकित है जो मथुरा[३] की कुषाण कला से भी पूर्व प्राप्त होता है।

अहिच्छत्रा के दो फलकों में दक्ष-यज्ञ विध्वंस का चित्र है, एक में शिव के गण यज्ञ संभार की लूट मचाकर उसका विध्वंस कर रहे हैं।[४]

जिस प्रकार पाषाण-शिल्प में, वैसे ही मृण्मूर्तियों में भी गुप्तकला में एक राष्ट्रव्यापी शैली का विकास हुआ जो पूर्व में तेजपुर मंदिर से पश्चिम में मीरपुरखास स्तूप तक पाई जाती है। उत्तर में भीतर गाँव के मन्दिर से लेकर मध्यप्रदेश के लक्ष्मण मन्दिर के रूप में उसका परिचय मिलता है। मीरपुर-खास के स्तूप में जो खड़ी हुई पुरुष मूर्ति है उसकी मुद्रा, वेशभूषा और केश-रचना मध्यदेश से प्राप्त पुरुष मूर्तियों से मिलती है। मूर्ति के दाहिने हाथ में सनाल कमल है और कटि प्रदेश में छोटा अधोवस्त्र है।

प्राचीन वाराणसी या राजघाट से प्राप्त पार्थिव मूर्तियाँ गुप्तकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं जो भारत कला भवन में सुरक्षित हैं। एक टिकरे पर झूला झूलती हुई एक युवती का अंकन है जिसका उत्तरीय हवा में फहरा रहा है। इसका विषय और मुद्रा अजन्ता[५] भित्ति-चित्रों में देवी इरन्दती के प्रेङ्खाविहार से मिलती है।

राजघाट से प्राप्त ऊर्ध्वकाय स्त्री मूर्ति पर चित्रकारी का पीला रंग अभी तक सुरक्षित है। मूर्तियों को आँवे में पकाने के बाद उन पर मुलतानी मिट्टी का पोत चढ़ाया जाता था और फिर उस

१. राजघाट के पार्थिव खिलौने, उत्तर प्रदेश की इतिहास-पत्रिका, भाग १४ (जुलाई १९४१) पृ० ३, चित्र १।

२. राजघाट के खिलौने, वही, पृ० ३, चित्र ८, अहिच्छत्रा के खिलौने, प्राचीन भारत, सं० ४, पृ० १४३, फलक एल चित्र सं० १५५-५६।

३. वही, संख्या ४, पृ० १७० फलक ६५।

४. वही, फलक ६१।

५. यजदानी, अजन्ता, भाग २, पृ० ४४, फलक ४१ ए।

पर लाल-पीले रंग की चित्रकारी की जाती थी और आभूषण और वेशभूषा को काली और रंगीन रेखाओं से अंकित करते थे।

राजघाट से ढोलक या मृदंग बजाने में मस्त कई छोटी मार्दंगिक मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। राजघाट से धार्मिक मूर्तियाँ बहुत कम मिली हैं। उनमें एक शिव का मस्तक (५″ ऊँचा) बहुत ही भव्य और प्रभावपूर्ण है, जिसमें अर्धचन्द्र, तृतीय नेत्र और जटाएँ सुन्दरता से प्रदर्शित हैं। विष्णु की एक मूर्ति भी उल्लेखनीय है जिसमें वे जंघिका और वनमाला पहने हुए, चक्र और गदा के साथ दिखाये गये हैं।

अहिच्छत्रा, राजघाट और भीटा की मूर्तियों में एक वर्ग गृहपति पुरुषों का है जिनकी उदारता और संस्कृतिप्रेम गुप्तकालीन सभ्यता का आधार था। उसके कुछ सुन्दर उदाहरण प्रयाग संग्रहालय में हैं।

ईंटों के और मिट्टी की फलकाकृति मूर्तियों के मन्दिर किसी समय बिहार में भी थे जैसा चम्पारन जिले में नन्दनगढ़ की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से विदित होता है। यहाँ वास्तुसंस्थान द्वितीय शती ई० पूर्व में बनाया गया था, किंतु उसका अस्तित्व कालांतर में भी रहा और कुषाण, गुप्त एवं गुप्तोतर काल में उसकी वृद्धि और विकास होता रहा। यहाँ मिट्टी के बहुत से मस्तक और ऊर्ध्वकाय मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी घूरती हुई नेत्र-दृष्टि में बकरे की आँखों जैसी आकृति है। उनमें कुछ सासानी और विदेशी प्रभाव है।[1] इन मूर्तियों में हाथ से डौलियाये हुए काम की जोरदार छाप है जो घोसी (जिला आजमगढ़) से प्राप्त मिट्टी की बड़ी मूर्तियों में देखी जाती है।[2] वे किस गहराई पर मिली थीं इसका कोई लेखा नहीं है। शैली की दृष्टि से इन मूर्तियों का समय छठी-सातवीं शती है। इस प्रकार के खिलौने और मस्तक उत्तर भारत में कई ऐतिहासिक स्थानों से मिले हैं। राजघाट और अहिच्छत्रा में भी वे पाये गये हैं। इससे सूचित होता है कि उनकी रचना में भारतीय कुम्हारों ने बाहर से आनेवाली किसी जाति की मुखाकृतियों का अनुकरण किया था। संभवतः ये हूण जाति के लोग थे। भारतीय कुम्हारों की यह पुरानी विशेषता थी और वे विदेशी आकृतियों को खिलौनों में ढालने के चिर अभ्यस्त थे। मिट्टी की इन मूर्तियों की तुलना में पाषाण शिल्प के उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं।

पहाड़पुर (जिला राजशाही) के स्तूप में गचकारी के काम के साथ मिट्टी की फलक मूर्तियों का भी उपयोग किया गया।[3] पूर्व मध्यकाल में वास्तु निर्माण की यह विशेषता थी जैसा नालन्दा में भी पाया जाता है। पहाड़पुर स्तूप की पहली और दूसरी मेधि के उत्खनन में सबसे अधिक संख्या प्राप्त मिट्टी की फलक मूर्तियों की है। वहाँ से लगभग ५८० मूर्तियाँ या फलक मिले जिनमें अधिकांश समग्र और कुछ खण्डित हैं। बहुत से फलक यथास्थान भी लगे हुए थे। प्रत्येक फलक औसतन १४″ लंबा है और यदि उन्हें एक पंक्ति में रक्खा जाय तो वह ¾ मील लंबी होगी। पहाड़पुर की पार्थिव कला से सूचित होता है कि मृण्मय मूर्तियों के देशव्यापी अन्दोलन में बंगाल भी सम्मिलित था। वस्तुतः वहाँ

---

१. पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, १९३६, फलक २२, चित्र १-१२, फलक २३, चित्र १३-१६।
२. उत्तर प्रदेश इतिहास पत्रिका, भाग १०, खण्ड २ (जुलाई १९३७) पृ० ४९-६४।
३. पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, १९२७-२८, पृ० १०१।

के पुस्तकृत् शिल्पियों ने इस कला में एक नई शक्ति भर दी, जिसके फलस्वरूप सोलहवीं, सत्रहवीं, अठारहवीं शती तक मिट्टी और अलंकृत ईटों के फलक और मूर्तियों का निर्माण होता रहा, जिनमें से अभी तक कुछ सुरक्षित हैं। इन फलकों पर बाहर से आनेवाले पुर्चगाली और वलन्देजी पुरुषों का भी अंकन है।

सिंध में मीरपुरखास का स्तूप गुप्त कालीन मृण्मय कला का बहुत बड़ा भण्डार था। बीकानेर में रंगमहल भी उसी प्रकार का दूसरा केन्द्र था जहाँ गुप्तकालीन ईंटों और फलकों के शैव और वैष्णव मंदिरों का निर्माण किया गया, कानपुर का भीतरगाँव मंदिर और श्रावस्ती का स्तूप गुप्तकालीन पार्थिव कला के भण्डार थे। भीतरगाँव के बहुत से फलक तो अभीतक वहाँ के मंदिर में लगे हैं। उन पर बैसवाड़ा प्रदेश की प्राचीन मल्ल-विद्या या कुश्तियों के दाँव-पेंच के बहुत से दृश्य हैं। एक फलक पर घायल मल्ल की आकृति बहुत ही करुणाजनक है। श्रावस्ती की अलंकरण युक्त ईंटों की सामग्री अब लखनऊ संग्रहालय में रक्खी हुई है। नालन्दा का बड़ा स्तूप और सीरपुर का लक्ष्मण मंदिर भी इस कला की उत्कृष्टता के द्योतक हैं। पाषाण शिल्प की अपेक्षा मृण्मय शिल्प सामान्य कलाकारों के हाथों में था किन्तु जनता की सहज प्रेरणा से इस कला का अत्यधिक प्रचार हुआ। मृण्मय टिकड़ों और फलकों पर घरेलू जीवन और लोकवार्ता की कथा-कहानियों को अधिक स्थान मिला। इसे प्राणवंत लोक कला का उदाहरण माना जा सकता है। लोक कहानियों को पहाड़पुर में न्यूनतम संकेतों से या संक्षिप्त रूप में दिखाया गया है। जैसे, एक फलक पर दूसरे के काम में टाँग अड़ाने वाले बंदर की कहानी का अंकन है, जब वह चीरे जाते हुए लट्ठे में फँसकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। दूसरी कहानी वह है जिसमें छोटा खरगोश सिंह को बहकाकर कुएँ तक ले गया और सिंह कुएँ में कूदकर मुक्ति को प्राप्त हो गया। अन्य फलक पर हाथी और मूषक की कथा है जिसमें कृतज्ञ चूहे ने फंदा काटकर हाथी को छुड़ाया। ये दृश्य सूत्र रूप में हैं, पर इनकी कहानियाँ लोगों में फैली हुई थीं और इसलिए इनके समझने में कठिनाई न थी। पहाड़पुर के फलकों पर बंगाल के पशु-पक्षी और वृक्ष-वनस्पति का घनिष्ठ अंकन पाया जाता है। जैसे—व्याघ्र और चीता, बनैला सूअर और हिरन, हाथी और घोड़ा, गीदड़, और कुत्ते, गाय और भैंस, बत्तख और हंस, मोर और सुग्गे; एवं वनस्पतियों में तालवृक्ष और कदली, चम्पक और कदम्ब। इनका बहुधा अंकन हुआ है। फलकों पर शबर और पर्णशबर जाति के पुरुषों का भी अंकन हुआ है जो पत्तों के बने हुए वस्त्र पहने हैं और धनुष-बाण लिये हुए शिकार कर रहे हैं। इन फलकों पर कुछ धार्मिक विषय भी हैं, जैसे—विभिन्न मुद्राओं में बुद्ध मूर्ति, बोधिसत्व पद्मपाणि, पुस्तक लिये हुए मंजुश्री, ब्राह्मण धर्म संबंधी देवता जैसे शिव, ब्रह्मा, विष्णु और गणेश कई फलकों पर दोहराये गये हैं। कुछ संयुक्त शरीरवाली काल्पनिक मूर्तियाँ भी हैं, जैसे—मनुष्य का शरीर और सुपर्ण के पंख और पैर, सिंह मुख और मनुष्य के पैरों का पर्यस्त आसन, मनुष्य शरीर पर सर्प का फणाटोप। छठी-सातवीं शती में बंगाल की जनता के मन पर ये काल्पनिक मूर्तियाँ जादू का-सा प्रभाव डालती थीं। अधिकांश फलक प्रतिदिन के घरेलू जीवन के हैं, जैसे तलवार और ढाल लिये सैनिक, मँजीरा, घड़ियाल, तुरही या ढोल बजाते हुए वादक, कला दिखाते हुए नट, ध्यान करते हुए कंकालप्राय साधु और योगी। इन विषयों के अंकन ने पहाड़पुर की मृण्मय कला में चार चाँद दिए हैं।

महास्थान (जिला बोगरा) से भी कुछ फलक, टिकरे, खिलौने और अलंकृत ईटें मिली हैं, जो उत्तर गुप्तकालीन कला के नमूने हैं। मिट्टी के एक पात्र पर बड़ा विचित्र दृश्य है, जिसमें चार घोड़ों के

रथ पर बैठा हुआ एक व्यक्ति आ रहा है और वह अपने धनुष से मृगों के झुण्ड पर बाण-वृष्टि कर रहा है। यह भीटा के अभिज्ञानशाकुन्तल टिकरे का स्मरण दिलाता है।

इस मृण्मय कला ने बंगाल की भूमि में गहराई तक अपनी जड़ें जमा लीं। दक्षिणी बंगाल के उत्तरी-पूर्व भाग में मथुरापुर का मंदिर इस तथ्य का अच्छा नमूना है। वहाँ का देउल ७० फुट ऊँचा है और उसके अधिष्ठान का व्यास १२½ फुट है। उसमें गोले-गलते की सजावट की और शोभा पट्टियों की ऊपर नीचे उठती हुई अनेक पंक्तियाँ हैं। सोहावटी के फलक घरेलू और ग्रामीण जीवन से अंकित हैं। उनपर कीर्तिमुख, सिंह व्याल, रामायण, महाभारत के अनेक पौराणिक दृश्य तथा वल्लरी-प्रधान एवं रेखा-प्रधान आकृतियाँ अंकित हैं। यह मंदिर सोलहवीं शती का है, इसकी कला में सौन्दर्य के साथ गति और बल का भी प्रदर्शन है। दक्षिण बंगाल के पवना जिले के हन्डियाल गाँव में ईटों के एक मंदिर में कला का और भी जोरदार रूप सुरक्षित है, जिसमें बंगाल की यह मृण्मय परम्परा और और भी अधिक उत्कृष्ट रूप में पाई जाती है। यह बँगलेनुमा मंदिर जिसमें अम्बारी जैसी छत और कारनिस है अपेक्षाकृत नया होते भी (१७वीं शती का अन्त) बंगाल की परम सुन्दर मृण्मय कला का रत्न है। इससे सूचित होता है कि कलाकारों ने मिट्टी के काम को किस पूर्णता तक पहुँचा दिया था। युद्ध, राजकीय जुलूस, वास्तविक और काल्पनिक पशु, पौराणिक आख्यान, फूल-पत्ती का बारीक काम, चौपड़ की जाली का काम—इन सबके एकत्र सम्मिलन से यह मंदिर अपने सौन्दर्य के कारण देश भर के मंदिरों में अनुपम है।

बर्दवान जिले में देउलिया नामक स्थान में प्राप्त ईटों के मंदिर का शिखर नागर जाति का है, जिस पर आमलक बनाया गया है और उस पर चैत्य-गवाक्ष और पत्रलता का सुन्दर अलंकरण है।

खड़े हुए स्तम्भ, पड़े हुए गोले-गलते और सुहावटी बनाने का काम अलंकृत ईंटों की सहायता से बहुत सरल हो जाता था। उन पर समुदहिलोर, चौपड़, चौफुलिया और पंखुड़ियाँ, सिंहमुख की दनदानेदार ग्रास-पट्टियाँ, औंधा पंचपट्टिक अलंकरण, वातायन, घुड़ियादार डाट, सूर्यमुखी के फुल्ले, कमल और कोकाबेली—ये सब अलंकरण बने हुए थे।

मनुष्याकृतियों से अंकित फलक और नाना पटों से अलंकृत ईंटों की पंक्तियों को अदल-बदल कर इस प्रकार लगाया गया है कि उनके जैसा सौन्दर्य पाषाण कला में भी नहीं मिलता।

चैतन्य ने बंगाल के वैष्णव धर्म को जो नयी चेतना प्रदान की उसका साक्षात् फल काष्ठशिल्प, चित्रकर्म और मृण्यय शिल्प में अभिव्यक्त हुआ। नलडगा से प्राप्त एक फलक पर वृक्ष के नीचे कृष्ण वंशी बजाते हुए त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हैं। उनके पास थैली लिए हुए एक दूसरा व्यक्ति खड़ा है, जिसके मस्तक के पीछे तेजचक्र है। इस फलक में वही कौशल और सौन्दर्य है, जो पहाड़पुर की मूर्तियों में है।

विक्रमपुर से उपलब्ध एक फलक पर कृष्ण की दानलीला का एक दृश्य बड़े तेजस्वी रूप में अंकित किया गया है। एक दूसरे फलक पर एक स्त्री मण्डप के नीचे खड़ी हुई मृग-चेटक को प्यार कर रही है। यह दृश्य प्रायः मुगल चित्रों में परिवर्धित रूप में भी पाया जाता है और 'छिताईवार्ता' ग्रन्थ की चित्र सूची में भी इसका उल्लेख है।

सोलहवीं शती के एक फलक पर अशोक-वाटिका में बैठी हुई सीता का दृश्य है, उसके पास एक ढोलिया ऊँघ रहा है और हनुमानजी पेड़ के ऊपर से सीता के हाथ में अँगूठी दे रहे हैं। इस

फलक पर विविध अंकन सर्वथा स्फुट और स्पष्ट हैं। उनमें बंगाल की पार्थिव कला का श्रेष्ठ रूप दिखाई पड़ता है।

सोलहवीं-सत्रहवीं शती में पुर्तगाली सिपाही बंगाल के भीतरी गाँवों में जाने लगे। स्थानीय कुम्हारों ने उनकी मिट्टी की मूर्तियाँ बनाईं। ये लोग आरामतलबी पसन्द करते थे और मधुपान के भी आदी थे। जैसोर से प्राप्त दो फलकों पर मधुपान और आखेट के दृश्य हैं। एक फलक पर पुर्तगाली सिपाही घोड़े पर सवार है, उसके पीछे ढाल-तलवार लिए पैदल सिपाही है और बराबर में एक कुत्ता है। अश्वारोही टोप, कोट पतलून और बूट पहने हैं और तलवार बाँधे है। उसके बायें हाथ में घोड़े की रास और दाएँ में चाबुक है। दूसरे फलक पर एक पुर्तगाली सेनापति आराम से कुर्सी पर वैठा हुआ मुँह में सुराही उड़ेल कर मधुपान कर रहा है। उसके सामने दो सिपाही हैं, उनमें से एक प्याला लिए है।

इस प्रकार भारतीय मृण्मय मूर्तियों की कला चार सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इस माध्यम के द्वारा जनता के घरेलू और सामाजिक जीवन का अपूर्व चित्रण किया गया है। यह एक ऐसी पुस्तक है, जिसके पूरे अर्थों को भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिए दुहना आवश्यक है। यह कला भूमि में बद्धमूल थी और जनता को सहज सुख देती थी। इन मूर्तियों का मूल्य न्यून था, इनका उत्पादन सरल था और इनका उठाना-धरना भी सुखकर था, अतः भारत के ग्रामों और नगरों में मृण्मय मूर्तियों की कला सब जगह छा गई थी। इस प्रकार भूतकाल में या अतीत युगों में, वैसे ही भविष्य काल में भी मिट्टी के खिलौने के लिए बहुत अवकाश और क्षेत्र है।
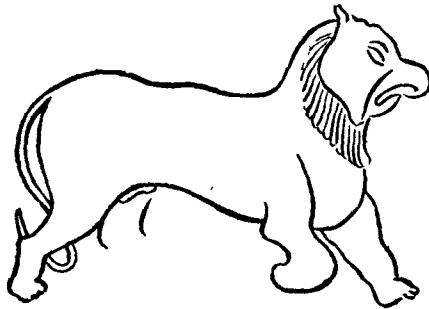
अध्याय १४

१४. संस्कृत-युग की कला में प्रतीक और मूर्तियाँ

भारतीय कला के विकास का मूलहेतु यही था कि इसका स्रोत और प्रेरणा धार्मिक एवं भद्रात्मक है (भद्रकृत्)। वैदिक साहित्य में ब्रह्म की शक्ति के रूप में अनेक देवता और भौतिक जगत् के पदार्थों का अनेक प्रकार से उल्लेख आता है। वे लोक और मानव के लिए मंगलात्मक हैं (भद्राणि) और जो उनके विपरीत है वह अभद्र या अमंगलकाय है। वैदिक युग में इस प्रकार के अनेक भद्र रूपों की कल्पना की गयी जिनसे द्यावापृथिवी का अन्तराल भरा हुआ है। कहा है कि देवमाता अदिति के गर्भ से उत्पन्न देव भद्र और अमृत के बन्धु थे (देवा भद्र अमृतबन्धवः, ऋग्वेद १०-७२-५)। वैदिक युग में सर्वोत्तम मंगल-प्रतीक पूर्णघट या भद्रकलश था (ऋ० ३-३२-१५) और कहा है कि प्रत्येक घर में पूर्णकुम्भधारिणी स्त्री के मांगलिक चिह्न की प्रतिष्ठा की जाती थी (अथर्व ३-१२-८)। ऋग्वेद में भद्र का पर्याय मंगल है और सब प्रकार मंगलों की अधिष्ठात्री वधू को सुमंगली कहा गया। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में अग्नि को मंगलों का विधान करने वाला कहा गया है। सब मांगलिक प्रतीकों में श्रेष्ठ चिह्न स्वस्तिक है। यह सूर्य का प्रतीक था, क्योंकि सूर्य जीवन के सब मंगलों का स्रोत है। जीवन के स्वस्ति-भाव (कल्याण-रूप) का प्रतीक ही स्वस्तिक है। द्यावापृथिवी के मण्डल के चतुर्भुजी आधार का प्रतीक स्वस्तिक है। सूर्योदय और सूर्यास्त के साथ सम्बन्धित चार दिशाओं का मूर्त रूप स्वस्तिक में देखा जाता है। इसे ही दिक् स्वस्तिक कहते हैं। स्वस्तिक का मण्डल ही दिक् चक्रवाल है। स्वस्तिक की चार भुजाओं को यदि दिक् चक्रवाल से घेर दें तो वही सुदर्शनचक्र बन जाता है। सूर्य से सम्बन्धित अनेक भाव 'सु' उपसर्ग से आरम्भ होते हैं, जैसे सुदृषीक, सुप्रतीक (सुन्दर मुखवाला), सुद्रविण, सुनद्र, सुदेवता, सुचक्र, सुविज्ञान (सुन्दर बुद्धि युक्त), सुरूपकृत्नु आदि। कालक्रम से इस प्रकार के मंगलात्मक मूर्त रूपों और भावों की संख्या में अतिशय वृद्धि हुई और उन सब के लिए यज्ञ में 'मांगलिकेभ्यः स्वाहा' इस आहुति का विधान किया गया (अथर्व० १९-२३-२८)।

धार्मिक विचार और कर्मकाण्डीय विधि के रूप में मंगल प्रतीक समाज के हर स्तर पर व्याप्त हो गये, बड़े और छोटे सभी उनकी ओर आकृष्ट हुये। मांगलिक चिह्न इस प्रकार बद्धमूल हो गये कि उनकी परम्परा आज तक चली आती है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सभी धर्मों में उन्हें स्वीकृत किया गया, जैसे स्वस्तिक, चक्र, पूर्णघट, श्रीलक्ष्मी सब धर्मों में मान्य हैं। इनमें धार्मिक स्वत्व की कल्पना नहीं है, किन्तु ये सार्वजनिक पूजा-मान्यता के अंग थे। स्तूपों के अलंकरण में पूर्णघटपंक्ति, चक्रपंक्ति, पद्ममाल्य आदि का सन्निवेश पाया जाता है। नगर की पञ्जरक्षा पंक्तियों में भी इनकी गणना की गयी, जैसे उदकनिःसृत नाग, करोटपाणि देव, मालाधारी देव, सदामत्तक देव, चार महाराज देव, या लोकपाल देवता। घरेलू वास्तु कला में भी शंख और पद्म प्रतीकों को अपनाया गया जो द्वार के पार्श्व स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये जाते थे। कालक्रम से पूर्वयुग के प्रतीकों का अनेक भाँति से विस्तार हुआ। आहत मुद्राओं पर लगभग पाँच सौ चिह्न मिलते हैं (लगभग ७ वीं ई० शती पूर्व से १ ली ई० शती)। जनपद-मुद्राओं पर भी इनकी संख्या और रूपों में वृद्धि हुई (ई० पूर्व २०० से २०० ई० तक)। मिट्टी की मुद्राओं पर भी मांगलिक चिह्नों का विस्तार पाया जाता है (२०० ई० से ५०० ई० तक)।

देवी और देवताओं की प्रतिमाओं का लक्षण निश्चित करते समय धार्मिक प्रतीकों की आवश्यकता हुई। इसके लिए धार्मिक आचार्यों और शिल्पियों ने प्राचीन मांगलिक चिह्नों पर ध्यान दिया और उन्हें विभिन्न देव-मूर्तियों के लिए स्वीकार किया, जैसे शंख, चक्र और पद्म को विष्णु की मूर्ति में, चक्र और पद्म को बुद्ध की मूर्ति में, चक्र, सिंह और श्रीवत्स को तीर्थङ्कर मूर्ति में, पूर्णघट, कमल और हाथियों को श्रीलक्ष्मी की मूर्ति में, मकर और कच्छप को गंगा-यमुना की मूर्तियों में, इस प्रकार बहुत-से मांगलिक प्रतीक देव-देवियों के साथ जुड़ गये। लगभग प्रथम शती ईसवी से धार्मिक प्रतीक या चिह्नों का यह नया स्वरूप सामने आने लगा और संभवतः भक्ति-धर्म के फलस्वरूप ऐसा हुआ, क्योंकि देव-मूर्तियों की आवश्यकता उसी धर्म में अधिक थी। हरिवंश में अष्टोत्तरशत मंगलों की सूची है। और भी ऐसी सूचियाँ है, जैसे वास्तु-रत्नकोष में छः प्रकार के अष्टोत्तरशत मंगलों की सूची पायी जाती है[1]।

मंगलात्मक चिह्नों की सूची में परिवर्तन संभव था। साँची स्तूप के उत्तरी तोरण पर दो मंगलक माला अंकित हैं—एक में ११ और दूसरी में १३ मांगलिक चिह्न हैं। प्रथम शती ईसवी के लगभग इनकी सूची आठ चिह्नों तक रूढ़ हो गयी थी—जिसे अष्टमंगलमाला कहा जाता था उसका अंकन मथुरा जैन आयागपटों पर हुआ है। यह सूची देश और काल में सर्वमान्य हुई, क्योंकि बौद्ध महावंश, जैन अंगविज्जा और हर्षचरित, सर्वत्र इसका उल्लेख है।

प्राचीन मांगलिक प्रतीक जो मूर्तियों की रूप-कल्पना या प्रतिमा-लक्षणों में स्वीकृत किये गये, इस प्रकार थे।

पशु और सरीसृप—

मत्स्य, कूर्म, वराह, मकर, गोधा, मृग, सिंह, अश्व, हस्ती, गो, नाग, अज, नकुल; व्याल आदि विकट ईहामृग जो संयुक्त कलेवर के रूप में अंकित हैं।

पक्षी—गरुड़, सारस, श्येन आदि।

मानव—मुनि, अष्टकन्याएँ, अष्टदिक्कुमारिकाएँ, चक्रवर्ती, सात बहनें, नर (कुबेर के विशेष वाहन), शिशु, देवयोनि।

अर्धदेव—नाग, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, सुपर्ण, कुम्भाण्ड, लोकपाल, अप्सराएँ, वृक्षकाएँ, चतुर्महाराजिकदेव।

लता-वनस्पति—

वृक्ष, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पद्म, पीपल, वट, माला, मुचकुन्द, ताल तथा और भी वल्लरी-प्रधान अलंकरण।

अचेतन पदार्थ—

पात्र, मणि, भद्रमणि, कौस्तुभ, शंख, मुक्ता, अष्टनिधिमाला, कण्ठा, हार, छत्र, नकुली (थैली), रथ, विमान, शकट, पर्वत, नदी, वारुणी घट, पूर्णघट, कार्षापण, मेखला, चामर, आदर्श (दर्पण), यूप (स्तम्भ), स्थूणाराज (बड़ा खम्भा), स्तूप, देवगृह (या विमान), कुटी या पर्णशाला, कपि-

१. राजस्थान पुरातनग्रन्थमाला, ग्रन्थ ४५, पृ० ३३–३६।

शीर्षक (कंगूरे), विषाण, रत्न, मुकुट, चंगेरी (पुष्परत्न, माल्य, वस्त्र पत्र पट्टक या अलंकार आदि की), वीणा, वंशी, मृदंग, मंजीरे, देववाद्य इत्यादि ।

शस्त्रास्त्र—

त्रिशूल, शूल, वज्र, चक्र या रथाङ्ग, धनुष, बाण, हल, मूसल, गदा, खड्ग, गट्वांग, चर्म, ढाल, कवच आदि ।

अभिप्राय और प्रतीक—

स्वस्तिक, श्रीवत्स, श्रीचक्र, श्रीवृक्ष, त्रिरत्न, नन्दिपद, चक्र, पञ्चक (थापा) आदि ।

इन प्रतीक-चिह्नों को प्रतिमाओं के लक्षणों में स्वीकार करने की पूरी छूट थी। इस प्रकार विभिन्न धर्मानुयायी इच्छानुसार कई चिह्नों को एक-एक प्रतिमा या मूर्ति में स्वीकार करके पुनः उनके माहात्म्य का वर्णन करते थे। विभिन्न देवताओं के साथ जुड़ जाने से प्रतीक-चिह्नों का नया महत्त्व हो जाता था और अनेक शतियों की परम्परा से उनका जो माहात्म्य था उसमें कोई कमी न आने पाती थी। उदाहरण के लिए वैदिक सुपर्ण विष्णु का वाहन गरुड़ बन गया, चक्र बुद्ध और महावीर का धर्मचक्र और विष्णु का सुदर्शन चक्र हो गया। इन्द्र का शत्रु ओजायमान अहिवृत्र बुद्ध, महावीर, शिव और विष्णु के जीवन में सर्प या नागराज माना गया।

इन प्राचीन मांगलिक प्रतीकों के प्रचार और स्वीकरण के अध्ययन से भारतीय कला के कितने ही रूपों को समझा जा सकता है। यह एक ऐसी कुञ्जी है जिससे देव प्रतिमाओं के विविध रूपों के ताले खोले जा सकते हैं। इन प्रतीकों की परम्परा प्राचीन काल से चली आती थी और कैसे इनका सम्मिलन प्रतिमा-रूपों के साथ हुआ, यह नवीन धार्मिक आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रतीकों के विषय में उनकी धार्मिक पृष्ठभूमि और प्रतिमा–लक्षण—ये दोनों दृष्टिकोण देश-व्यापी धार्मिक आन्दोलन के अंग थे। यह कार्य बहुत ही समन्वयात्मक वातावरण में संसिद्ध हुआ, जैसा विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। कुषाण और गुप्त युग उस द्वार-देहली के समान हैं जिसपर खड़े होकर हम आगे और पीछे के कला-रूपों का अध्ययन कर सकते हैं। प्रत्येक प्रतीक के पूर्व और अग्रिम इतिहास को जाने बिना भारतीय कला का मर्म और अर्थ समझना कठिन है। ये प्रतीक उस युग की कला में भरे हुए हैं। विभिन्न कला-रूपों को समन्वित करने के लिए यह एक महान् प्रयोग था जो संस्कृत युग में या पुराण-काल में किया गया। यह एक ऐसा महापात्र था जिसमें सभी लोगों ने आहुति हृदय की पूरी उमंग से अर्पित की।

इन प्रतीकों का घनिष्ठ (निकट) अध्ययन आवश्यक है।

श्रीलक्ष्मी

यह प्राचीन देवी थी। श्री लक्ष्मी के रूप में विष्णु की दो पत्नियों का उल्लेख यजुर्वेद के श्रीसूक्त में आता है, वहाँ उन्हें विष्णु की पत्नी कहा गया है। इनकी पूजा अलग-अलग या सम्मिलित रूप में की जाती थी। श्री और लक्ष्मी नामक दो देवियों को मिलाकर एक ही श्री-लक्ष्मी की कल्पना की गई। ऋग्वेद के श्रीसूक्त में इनका पृथक् और एक साथ भी वर्णन किया गया है। इसके विकास में और कई मांगलिक चिन्हों का सम्मिलन हुआ जैसे, इसका एक रूप वह था जिसमें कमल के वन में

कमल पर खड़ी हुई (पद्मासना) और हाथों में कमल लिये हुए (पद्महस्ता) श्रीदेवी पद्मिनी के रूप में दिखाई जाती थी। फिर दूसरा रूप वह हुआ जिसमें पद्मिनी श्रीदेवी के दोनों ओर सनाल कमलों पर बने हुए हाथी आवर्जित घटों से देवी का अभिषेक करा रहे हैं। उसे गजलक्ष्मी कहा गया। वैदिक युग में श्रीमन्त लोगों को ही राजा की ओर से हाथी की सवारी की अनुमति दी जाती थी और उन्हें द्विभ्य पदवी प्रदान की जाती थी। देवी का तीसरा रूप वह था जिसमें उसका संबंध पूर्णघट से माना गया। चौथे रूप में वह स्वर्णमाला और रत्नों के भंडार की अधिष्ठात्री देवी थी। इस रूप में राजाओं के रत्न-भंडार में सोने की मालाओं या हारों से सुशोभित हेममालिनी यष्टि प्रतिष्ठापित की जाती थी। साँची के उत्तरी तोरण के स्तम्भ पर इस प्रकार के कंठों और मालाओं से युक्त यष्टि का अलंकरण है। पाँचवें रूप में श्रीलक्ष्मी गऊओं और गोष्ठ की अधिष्ठात्री देवी मानी गयी जब उसके लिए करीषिणी अर्थात् गोबर में रहने वाली यह विशेषण प्रयुक्त हुआ। उसका एक विशिष्ट रूप गोल चकियों पर पाया जाता है जिन्हें प्राचीन परिभाषा के अनुसार श्रीचक्र कहते थे। इन चकियों पर तालवृक्ष या श्रीवृक्षों के पार्श्व में जो मातृदेवी की मूर्ति है उसे श्रीदेवी ही कहना चाहिए। इन चकियों पर हाथी, मकर, मृग, गोधा, सुपर्ण, सिंह आदि पशु-पक्षियों का अंकन है जिसके आधार पर इसे पशु-पक्षी जगत की महीमाता माना जा सकता है। यह गर्भ धारण और प्रजनन की देवी थी जिसकी पहचान भू देवी या पृथ्वी से की जाती थी। लौरियानन्दनगढ़ से प्राप्त सोने की पत्री पर ठप्पे से बनी हुई पृथ्वी मूर्ति में इसी देवी का आरम्भिक रूप पाया जाता है जो हूब-हू श्री चक्रों की मातृदेवी का भी है। कालान्तर में इस देवी का संबंध बच्चों से भी माना जाने लगा जैसा दन्दान उइलिक की चित्र-लिखित श्री लक्ष्मी मूर्ति से ज्ञात होता है। गुप्त युग में श्री लक्ष्मी का पद राष्ट्रीय देवी के रूप में मान्य हुआ जैसा गुप्तों की स्वर्ण मुद्राओं पर अंकित चित्र से सूचित होता है और वही मूर्ति गांगेय देव के सोने के सिक्कों पर जारी रही। श्रीलक्ष्मी को समुद्र की पुत्री माना गया जो चंचला के रूप में पुरुषों की भाग्य-विडम्बना के अनुसार आती-जाती है। पद्मिनी रूप में श्रीलक्ष्मी अष्ट-निधियों की अधिष्ठात्री देवी मानी गई—पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्द, नील, शंख, ये आठ निधियाँ हैं। इनमें पद्म और महापद्म स्वर्ण और रत्नों के प्रतीक थे जैसा पद्मिनी विद्या के अन्तर्गत मार्कण्डेय पुराण में कहा है।

मकर—मकर वरुण के समुद्र का प्रतीक था जिसके मुख-कुहर से विनिर्गत होती हुई अनेक पद्मलताएँ कला में अंकित की गई हैं। मकर-मुख की दंष्ट्राओं से मणियों को अपहरण करने के लिए अनेक मूर्तियों में यक्ष-मकर संघर्ष चित्रित किया गया है। मकर को उस सम्पत्ति का प्रतीक माना गया जो शस्त्राओं के व्यापार से प्राप्त होती थी। मकर पहले असुरों के अधिपति वरुण का वाहन था और आगे चलकर वह देवनदी गंगा का वाहन मान लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि शुंगकाल में स्तूपों के तोरणों पर मकर-मुखों अंकन किया गया जिसके कारण उन्हें शिशुमारशिरः कहा जाने लगा। भरहुत के समान मथुरा की कला में भी इस प्रकार के शिशुमारशिरः मिले हैं। मकरमुखी या गाहा-मुखी टोटियाँ बहुत संख्या में मिली हैं। गुप्तकालीन सीमन्तमकरिका आभूषण में भी मकर-मुख अलं-करण लिया गया।

कूर्म—यह भी वैदिक प्रतीक था जो द्युलोक और पृथ्वी दोनों के सम्पुट का सूचक था। द्यावा-पृथिवी का उभयनिष्ठ रूप ऐसा ही है जैसा कूर्म के पृष्ठभाग और उदर भाग का। कालान्तर में कूर्म का

संबंध श्रीलक्ष्मी से माना जाने लगा जैसा साँची तोरण की एक मूर्ति से ज्ञात होता है जो कूर्म-पृष्ठ पर अधिष्ठित लक्ष्मी की मूर्ति है। अंत में गुप्तकाल से कुछ पूर्व कूर्म यमुना का वाहन हो गया।

मुकुन्द निधि का स्वरूप निश्चित नहीं किन्तु यह संभवतः वर्षधर मूर्ति का सूचक था जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के व्यञ्जनों या चिह्नों का संकर पाया जाता है। मुकुन्द निधि का स्वामी संगीत और नृत्य में रुचि लेता है और गंधर्व या अप्सराओं के समान व्यवहार करता है। महापुरुषों की प्रतिमाओं में संयुक्त वीणा-विद्याधरों का अभिप्राय इसी निधि से संबंधित माना जा सकता है। विद्याधर शब्द की निश्चित व्युत्पत्ति अज्ञात है किन्तु सम्भाव्य यही है कि नृत्य, गीत, वादित्र आदि विद्याओं को धारण करनेवाला व्यक्ति या देवता इस उपाधि से अलंकृत होता था। इस प्रकार के कई विद्याधर देवता थे, जैसे वीणाविद्याधर जो हाथों में वीणा लिए रहते थे, माल्यविद्याधर जो हाथों में माला लिए रहते थे और गुलिका तथा हारविद्याधर जो हाथों में गुरिया या मणियों के हार लिये रहते थे। नन्द निधि का संबंध नन्दिपद प्रतीक से ज्ञात होता है जो आहत मुद्राओं से लेकर गुप्तकालीन मिट्टी की मुद्राओं और भाण्डों पर अंकित पाया जाता है। नील निधि का संबंध नीलोत्पल या इन्द्रनील रत्न से ज्ञात होता है। शंख निधि का अंकन भरहुत और मथुरा में मिलता है जिसके उदर से आहत मुद्राओं की पंक्ति निकलती हुई दिखाई जाती थी। कल्पवृक्ष के साथ शंख निधि का संबंध शुंग युग में ही मान लिया गया था। बाद में इसे लक्ष्मी का प्रतीक माना गया और अन्त में इसे विष्णु के आयुधों में स्थान मिला।

दूसरा लोकप्रिय प्रतीक श्री-वत्स था, जिसका शाब्दिक अर्थ श्री का पुत्र है। मातृ देवी के रूप में श्री के गोद में प्रायः एक बच्चा दिखाया जाता है। इसका छोटा अनगढ़ मस्तक और ठूंठ जैसे हाथ-पैर होते हैं। यह बच्चे की भौंडी आकृति है। यह श्रीवत्स चिह्न अष्टमंगलों में गिना जाने लगा और जैन धर्म में तीर्थङ्कर मूर्तियों के वक्षस्थल पर इसका अंकन किया जाने लगा। बाद में विष्णु मूर्तियों के साथ भी श्रीवत्स चिह्न का संबंध जुड़ गया।

इस प्रसंग में श्रीवृक्ष की ओर भी ध्यान जाता है जो श्रीदेवी का पवित्र वृक्ष था। वह प्राण और जीवन का प्रतीक समझा जाता था। ईरान और ऐशिया में भी वर्धमान ताल वृक्ष के रूप में इस प्राण सूचक प्रतीक की पूजा की जाती थी। एक के ऊपर एक सदृश अभिप्रायों को दुहराने से इस प्रतीक का रूप बनता था। वराह मिहिर ने देव-मन्दिरों के द्वार स्तम्भ का वर्णन करते हुए श्री वृक्ष अभिप्राय का उल्लेख किया है। देवगढ़ के द्वार-शाखा स्तम्भ पर तालपत्रों को दुहरा कर बनाए हुए अभिप्राय से श्रीवृक्ष की पहचान संभव जान पड़ती है। अतः इस विशेष अलंकरण को हमने सर्वत्र श्रीवृक्ष कहा है। श्रीदेवी की चकियों पर या श्रीचक्रों के अलंकरण में ताल-वृक्ष का अंकन बहुधा हुआ है। ये चकियाँ मौर्य-शुंग काल की हैं। अतः श्रीवृक्ष की परम्परा इससे भी प्राचीन होनी चाहिए। गुप्तयुग के ब्राह्मण और बौद्ध मन्दिरों पर एवं कुषाण युग के स्तम्भों पर भी श्रीवृक्ष का अभिप्राय पाया जाता है। अतः कला के अंकन में छह सात सौ वर्षों की लम्बी परम्परा श्री वृक्ष के संबंध में ज्ञात होती है। जान पड़ता है कि कलाकार इस प्राचीन प्रतीक को नये प्रसङ्ग में अपनाने को इच्छुक थे जहाँ उसे सुन्दर और सार्थक रूप भी दिया जा सके।

यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में और वाल्मीकि रामायण में श्री और लक्ष्मी को पृथक् देवी कहा गया है (बभूव देवी च कृता सुहस्ता लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता)। इसे रामायाण और महाभारत में एक साथ पद्मश्री भी कहा गया है (एवं ते भासमाणोस्य पद्मश्री रूपतिष्ठतां, अयोध्या, ७९-१५); अभजत् पद्मरूपाश्री स्वयमेव शरीरिणी, महाभारत ३-२२९-३)। अथवा, केवल श्री नाम से भी उसका

उल्लेख किया गया है। किन्तु श्रीदेवी की पूजा-मान्यता में स्वतन्त्रता को स्थान था। उसे नारायण विष्णु की पत्नी अथवा कुबेर की भी स्त्री माना गया। भद्रा और हारीती के साथ, लक्ष्मी का अंकन कुबेर के साथ भी मथुरा की कई मूर्तियों में पाया गया है। श्रीलक्ष्मी, भद्रा और षष्ठी तीन पृथक् देवियों के रूप में ब्राह्मी सभा में विद्यमान थीं (सभापर्व ११-४०)। इस समूह में श्रीलक्ष्मी की मान्यता सबसे ऊपर उभर आई। लिखा है कि लंका में रावण के राजप्रासाद में श्री की मूर्ति अंकित की गई थी।

पद्माश्री की मान्यता से सम्बन्धित पद्मवन (नलिनी, पुष्करिणी) की पूजा का भी स्थान था क्योंकि पद्म-सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हाथियों के साथ पद्माश्री और गजलक्ष्मी का निवास समझा जाता था। इस प्रकार की सलिल क्रीडा के लिए संभवतः प्राचीन काल में 'तड़ाग मह' उत्सव मनाया जाता था। पद्म पुष्प की धार्मिक मान्यता के भी कई रूप थे। एक तो पद्मों से भरे हुए सरोवर के रूप में जिसे पद्मवन या पद्मषण्ड कहा जाता था। दूसरे पद्माश्री या पद्मिनी देवी के साथ कमल का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया। तीसरे स्तूपों के चारों ओर वेदिका पर पद्म पंक्ति का अलंकरण बनाया जाने लगा जिसे पद्मवर वेदिका कहते थे। इसी का एक रूप सहस्र कमलों की माला थी (पुण्डरीक-सहस्र स्रज) जो वेदिका के अतिरिक्त स्तूप के शरीर पर भी ऊर्ध्व पटों पर या गचकारी में अंकित की जाती थी। कमल की महिमा को और भी कई प्रकार से बढ़ाया गया है। कहा है ये सारा विश्व भूपद्म कोष है जो विष्णु की नाभि से उत्पन्न होता है और जिस पर बैठकर ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। चार दिशाओं में पृथ्वी का विस्तार चतुर्दल कमल है। इस अनन्त विश्व का प्रतीक सहस्रदल कमल है। इसी का व्यष्टि रूप दहर-पुण्डरीक या हृत्कमल है। इस प्रकार कमल के प्रतीक से नये-नये अर्थों की व्याख्या की गई।

बलराम—बलराम की मूर्ति के विविध अंग इस प्रकार अपनाये गये—नाग पूजा से फनों का घटाटोप, क्षेत्रपाल देवताओं से महाहल, यक्ष मूर्तियों से मुद्गर या गदा (मोग्गरपाणि यक्ष)। बलराम मूर्ति की प्राचीन आकृति मथुरा के जुनसुटी गाँव से प्राप्त मूर्ति में है। हल के सिरे पर सिंहलांगूल या पूँछड़िया शेर की मूर्ति है। इस प्रकार के सिंहलांगूल का उल्लेख महाभारत के ध्वजचिह्नों में आया है और मथुरा कला में शक-क्षहरात समय की मूर्तियों में उसका अंकन मिला भी है।

मधुपान गोष्ठी में निरत कुबेर की मूर्तियों का कुछ प्रभाव भी बलराम मूर्तियों पर पड़ा जिसके कारण उनके हाथ में चषक दिखाया गया। इस प्रकार इन कई लक्षणों को मिलाकर संकर्षण मूर्ति की कल्पना की गई और हिन्दुओं के देव समाज में एक नये रूप का प्रवेश हुआ। भागवतों ने भी बलराम की इस मूर्ति को स्वीकार किया और गुप्त युग में वनमाला को मूर्ति का अतिरिक्त लक्षण माना गया।

विष्णु—मांगालिक चिह्न और प्रतीकों की धार्मिक व्यवस्था में विष्णु मूर्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुषाण युग के आरंभ में ही उसकी कल्पना की गई।

विष्णु के कई रूप माने गये। सर्वप्रथम लक्ष्मी के साथ विष्णु मूर्ति जिसमें पुरुष सूक्त का भाव मूर्त किया गया अर्थात् श्रीलक्ष्मी को महानारायण विष्णु की पत्नी मानकर विष्णुमूर्ति की कल्पना की गई। गरुड़ या सुपर्ण की परम्परा का भी विष्णु प्रतिमा में सन्निवेश हुआ। सुपर्ण वैदिक देवता था, किन्तु पुराणों में गरुड़ के रूप में उसे विष्णु का अनुचर कहा गया। भागवत में तो सृष्टि के विराट छन्द को गरुड़ कहा गया है (छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः)।

वेदों में चार दिशाओं का सर्वमान्य दार्शनिक सिद्धान्त था। उसे दिशाव्रत कहा गया। उसी का रूप एक ओर स्वस्तिक प्रतीक में सर्वमान्य हुआ। दूसरी ओर ब्रह्मा के चार मुख और विष्णु की चार भुजाएँ उसी चतुष्टय कल्पना की रूप थीं। विष्णु की मूर्ति एक ओर चतुर्भुजी थी दूसरी ओर उसे ही अष्टभुजी रूप में बनाया गया। प्राचीन धर्म के शंख, चक्र, पद्म, गदा आदि प्रतीक विष्णु मूर्ति के साथ सम्बन्धित किये गये। विष्णु की सबसे आरम्भ की मूर्तियों में उनका एक हाथ अभयमुद्रा में है और दूसरे में अमृत कलश है। ये दोनों यक्ष मूर्तियों की परम्परा से लिये गये। बोधिसत्त्व मैत्रेय की कुषाणकालीन मूर्तियों में भी वे पाये जाते हैं।

इस प्रकार विश्लेषण करने से विष्णुमूर्ति का सूत्र कुछ इस प्रकार सामने आया—शंख+पद्म+चक्र+गदा+गरुड़+लक्ष्मी+श्रीवत्स+वनमाला+अनन्त शेष+समुद्र।

शनैः शनैः गुप्तयुग में विष्णु की मूर्तियों में और भी विकास हुआ जब उनकी लीलाओं और अवतारों का अंकन किया जाने लगा। इनमें एक त्रिविक्रम मूर्ति थी। दूसरी महाविष्णु की मूर्ति थी जिसके एक कन्धे पर वराह और दूसरे पर नृसिंह का मस्तक दिखाया गया। यह रूप पंचरात्र भागवतों को अधिक प्रिय था। मथुरा कला में इस स्वरूप की छोटी-बड़ी कई मूर्तियाँ मिली हैं। दो-एक मूर्तियों के बृहत् छाया मण्डल पर आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्यों का तथा सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार इन चार ऋषियों का अंकन है।

बौद्धों ने महामायूरी सूची में विष्णु को द्वारका का यक्ष कहा है। विष्णु के हाथ की गदा नारायण स्थाम या नारायण के बल की सूचक थी जिसे वेदों में विष्णु का पराक्रम या वीर्य कहा है। वैदिक साहित्य में एक, दो, तीन, सात और बहुत-से सुपर्णों का उल्लेख आया है। उन सबका अन्तर्भाव गरुड़ की कल्पना में हो गया और वैदिक सुपर्णाख्यान हेर-फेर के साथ गरुड़ोपाख्यान बन गया। जैसे वेद के सुपर्ण स्वर्ग से अमृत लाये थे, वैसा ही पराक्रम महाभारत के गरुड़ ने भी किया है। इसी कथा के साथ वह आख्यान भी सट गया जिसमें सौपर्णेय और काद्रवेय अर्थात् ज्योति और अमृत के प्रतीक गरुड़ एवं अन्धकार और मृत्यु के प्रतीक नागों का युद्ध हुआ, जिसमें अन्तिम विजय गरुड़ की हुई। यह सूर्य सम्बन्धी प्राचीन आख्यान था जिसे पुराणों में उपबृंहित करके मूर्तियों में ढाला गया। विष्णु के त्रिविक्रम या तीन चरणन्यास, तीन लोक और गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन तीन छन्दों की तालयुक्त गति की परस्पर संगति को पुराण लेखकों ने सर्वथा स्वीकार किया और इसी कारण छन्दोमय गरुड़ का विष्णु के साथ सटीक मेल बैठ गया। मथुरा और गन्धार कला की मूर्तियों में गरुड़ और नाग के द्वन्द्व-संघर्ष के कई दृश्य पाये गये हैं (फोगल, सर्पेन्ट लोर, फलक १५)।

विष्णु की नयी मूर्तियों की कल्पना में मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह और वामन इन पाँच प्रतीकों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनकी पूजा मान्यता प्राचीन काल से चली आती थी। वैदिक हिरण्यगर्भ विधि मत्स्य अवतार का मूल थी। मत्स्य प्राणमयी अंडज सृष्टि का सर्वोत्तम निदर्शन है। द्यावा और पृथ्वी के मंडल या सम्पुट की संज्ञा कूर्म थी। मेद से भरा हुआ वराह सूर्य का प्रतीक था जो प्रथमच्छद समुद्र से ब्रह्माण्ड या पृथ्वी का उद्धार करता है। अमृत और मर्त्य, स्वर्ग और पार्थिव, वन्य और ग्राम्य इन द्विविध प्राणों का प्रतीक नृसिंह मूर्ति में पाया जाता है जिसमें एक ओर सिंह की अयज्ञीय शक्ति और उधर मानव की सीमित शक्ति का सम्मिलन है। आरम्भ से ही वामन और विराट विष्णु इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध माना गया था। जो वामन है वही विराट बनता है। प्राणमय रूप वामन (वामनोह विष्णुरास) और भूतमय रूप वैष्णव या विराट होता है। इस प्रकार विष्णु के

अवतारों की कल्पना प्राचीन वैदिक प्रतीकों से हुई जिनके अर्थों की व्याख्या और भी कई प्रकार से सम्भव है।

क्षीर समुद्र में शेषशायी विष्णु का रूप पुराने कई प्रतीकों से सम्पन्न हुआ। एक ओर वेदों में सृष्टि को आपः-समुद्रम्-सलिलम् या जल से उत्पन्न कहा गया है और दूसरी ओर लोक में समुद्रमह के रूप में समुद्र की पूजा और उत्सव मनाया जाता था। वस्तुतः जल का दूध में परिवर्तन ही सृष्टि है। अतः सृष्टि के अधिदेवता विष्णु को क्षीर समुद्र में निवास करने वाला कहा गया। इस स्वरूप के साथ वह विष्णु सहस्रशीर्षा या अनन्त रूप वाला है। वह सृष्टि में व्याप्त होने से विष्णु है। वह सृष्टि में सीमाबद्ध है किन्तु उसी महानारायण विष्णु का दूसरा रूप अनन्त है। जो सृष्टि या ब्रह्माण्ड से अवशिष्ट रहता है उसे ही उच्छिष्ट या शेष कहते हैं। उस अज्ञात शक्ति का प्रतीक अनन्त सर्प है। ससीम विष्णु का अनन्त शेष आधार है यही शेषशायी विष्णु मूर्ति का अभिप्राय है। इस नवीन विष्णु मूर्ति का उत्तम उदाहरण उदयगिरि की गुफा में पाया जाता है। कालिदास ने भी इस रूप का वर्णन किया है (रघुवंश, १३)। अनन्त शेष की कल्पना नयी थी किन्तु उसका मूल अहिवृत्र में पाया जाता है जो अहिर्बुध्न्य के रूप में समुद्र के जलों में छिपा है, वहीं से प्रकट होकर इन्द्र या विष्णु के सामने आता है। उसी महासमुद्र की पुत्री लक्ष्मी विष्णु की पत्नी मानी गई जो नारायण के साथ एक ओर समुद्र में और दूसरी ओर इन्द्र के वैकुंठ में निवास करती है। सृष्टि विद्या के ये सूत्र एक ओर आख्यानों में और दूसरी ओर कला में अपनाए गए। पद्मा लक्ष्मी सब रत्नों की अधिष्ठात्री है और वे रत्न समुद्र-मंथन से उत्पन्न होते हैं। जैसा कहा जा चुका है विष्णु के स्वरूप निर्माण में कमला को भी विशेष स्थान दिया गया और यह विश्वरूपी पद्मकोष विष्णु की नाभि से उत्पन्न माना गया। नाभि या केन्द्र में अमृत का स्रोत है जिससे भरा हुआ घट समुद्र-मंथन का उद्देश्य था। वह अमृत घट देवों को मिल गया। वहीं से उसका अंश ब्रह्मा के कमंडलु में एवं यक्ष, विष्णु तथा मैत्रेय की मूर्तियों के अमृत घट में आया। लोगों का विश्वास था कि यक्षों के पास अमृत है। अथर्ववेद में यक्षों की अपराजिता ब्रह्मपुरी को अमृत से आवृत कहा गया है इसीलिए जनता में यक्ष-पूजा का इतना अधिक प्रचार था।

शिव—शिव के धार्मिक स्वरूप और मूर्ति में निम्नलिखित अंग पाये जाते हैं—

(१) शिव का कैलाश पर्वत जिसके कारण वे गिरिषंत देव कहे जाते हैं। प्राचीन स्वर्ण पर्वत सुमेरु का ही वह नया रूप है। जैसे सुमेरु के चार तटों से चतुर्विध लोक सृष्टि होती है वैसे ही कैलाश से भी मानी गई जिसका वर्णन तिब्बती कैलाश पुराण में आया है। सिंधु, शतद्रु, सरयू और ब्रह्मपुत्र, ये चार महानद मानसरोवर या अनवतप्त सरोवर से उत्पन्न होते हैं।

(२) महाव्याल या सर्प जो शिव के शरीर में लिपटे हुए हैं और जो मृत्यु के रूप हैं। उन पर विजय पाने के कारण शिव मृत्युञ्जय देव हैं।

(३) चन्द्रमा जो शिव के मस्तक पर है। चन्द्रमा वैदिक तत्त्व दर्शन में अमृत का प्रतीक था। चन्द्रमा के अमृत से ही शिव मृत्युञ्जय देवता माने गए।

(४) गंगा—यह स्वर्ग की शाश्वती प्राणधारा का प्रतीक है जो शिव के जटाजूट में स्वर्ग से उतरी है। अनन्त पंचभूत ही शिव की जटाएँ हैं। भूतों में प्राण का अवतार यही गंगा के अवतरण का रहस्य है।

(५) नन्दी वृष—चार आजानेय पशुओं में वृष की मान्यता थी। पीछे उसे वृषा काम या नन्दी का प्रतीक माना गया क्योंकि दोनों में रेत-सिंचन का गुण समान है।

(६) त्रिशूल—यह इन्द्र के वज्र का ही रूपान्तर था और तीन पुर या पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यु, इन तीन लोकों या सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों को प्रतीक के रूप में तीन शूलों का लक्षण माना गया।

(७) अम्बिका—इसकी पूजा वैदिक मही माता की परम्परा से ली गई।

(८) वैश्रवण—यक्षों के अधिपति वैश्रवण को शिव का सखा माना गया और कुबेर की अलका शिव के कैलाश के समीप कही गई। कालिदास ने लिखा है कि शिव का निवास अलका के बाह्योद्यान में है और बड़े-बडे यक्ष अपनी पत्नियों के साथ शिव के यश का गान करते हैं। इसमें यक्ष-पूजा और शिवपूजा का सान्निद्धय देखा जाता है जो लोक-धर्म का वास्तविक तथ्य था।

(९) अनेक गण जिन्हें यक्ष और राक्षस भी कहा गया है एक ओर कुबेर के और दूसरी ओर शिव के अनुयायी थे।

(१०) गणेश और स्कन्द दोनों शिव के पुत्र थे जिन्हें गणों का नायक माना गया।

(११) शिव में प्राचीन दिगम्बर या वातरशना मुनियों की परम्परा भी जुड़ गई। मानों शिव वैदिक लोकवार्ता के महानग्न पुरुष थे और काली महानग्नी देवी थी। शिव को योगेश्वर माना गया और अध्यात्म साधना की सभी धाराएँ शिव के साथ संबंधित हुईं। शिव के दो रूप माने गए—एक स्थाणु अर्थात् ध्रुव और शाश्वत, एवं दूसरा नटेश या नटराज जो सृष्टि के लिए नृत्य करते हुऐ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। ऋग्वेद में इन्द्र को नृतु कहा है और पुराणों में शिव को नटराज। अनेक बातों में इन्द्र और शिव की एकता है। इन्द्र गिर्वण अर्थात् गिरा या वाणी का पारखी है और शिव संगीत के आदि आचार्य हैं।

तीर्थङ्कर—जैन तीर्थङ्कर मूर्ति के निर्माण के लिए इन लक्षणों को स्वीकार किया गया। सिंहासन + योगी (पद्मासन और ध्यानासन मुद्रा में) + कायोत्सर्ग मुद्रा + नासाग्रदृष्टि + दिगम्बरत्व + श्रीवत्स + नागफणाटोप (तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ + सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति में) + चक्रध्वज (चक्रांकितासन) + त्रिरत्न + पार्श्वचर + चामरग्राही + स्तूप पूजा + महापुरुष लक्षण + अष्टमाङ्गलिक चिह्न। इन प्राचीन माङ्गलिक प्रतीक और मुद्राओं में से आवश्यकतानुसार चुनकर तीर्थङ्कर प्रतीमाओं की नूतन कल्पना की गई।

जैन तीर्थङ्करों के लाञ्छन कुषाण काल की मूर्तियों में नहीं पाए जाते। किन्तु कालान्तर में प्राचीन पशु, वृक्ष आदि भद्र प्रतीकों में से यथेष्ट चुनकर उन्हें लिया गया। जिन प्रतिमाओं के लिए यक्ष पूजा से भी सहायता ली गई और प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ एक यक्ष और एक यक्षी का संबन्ध निश्चित किया गया।

ऐसा जान पड़ता है कि तीर्थङ्कर की प्रतिमा में मानवीय लक्षणों को हटाकर या न्यूनतम करके दिव्य या लोकोत्तर लक्षणों को अधिकाधिक स्थान दिया गया है। यही बुद्ध प्रतिमा के साथ भी हुआ। उनकी मूर्ति की कल्पना लोकोत्तर पुरुष के रूप में की गई है।

बुद्धमूर्ति—यक्ष, नाग, योगी और चक्रवर्ती की जो प्राचीन कल्पनाएँ थीं उनमें से इच्छानुसार लक्षणों को एक साथ मिलाकर बुद्ध मूर्ति की रचना की गई।

योगी	चक्रवर्ती
पद्मासन	सिंहासन
नासाग्रदृष्टि	३२ महापुरुष लक्षण
कपर्द	राजकीय वस्त्र और
उष्णीष, ऊर्णा, आदि	आभूषण (जैसे बोधिसत्त्व मूर्तियों में)
संघाटी भिक्षापात्र	चामरग्राही और
विद्याधर और गन्धर्वों	पार्श्वचर
द्वारा दिव्य पुष्प वृष्टि, आदि	छत्र
पार्श्वचरदेव (इन्द्र और ब्रह्मा)	चक्रवर्ती सम्राट् का चक्र
छाया और प्रभामण्डल	
(अन्तिम लक्षण ईरानी परम्परा से	
लिया गया जहाँ उसे	
अहुर मज्द देव का ह्वर्र = सं०	
स्वर या फर्र कहते थे)	
तथागत बुद्धों और अर्हतों	
का धर्मचक्र।	

इनके अतिरिक्त और भी प्रतीक और मुद्राएँ बुद्ध प्रतिमा की समग्र कल्पना करते हुए परिगृहीत हुई।

बोधिवृक्ष
सिंह—शाक्य सिंह
चक्र—चौकी पर, या स्तम्भ पर
त्रिरत्न और अन्य प्रतीक
मुद्राएँ—संबोधि या ध्यान,
वरद मुद्रा,
अभय मुद्रा,
भूमि स्पर्श,
धर्मचक्र प्रवर्तन या
व्याख्यान मुद्रा

ब्रह्मा—कई लक्षणों को एक साथ रखकर ब्रह्मा की मूर्तियों की कल्पना कुषाण काल में हुई।

इस मूर्ति के स्रोत इस प्रकार थे। दिशाव्रत नामक वैदिक दर्शन से लिए गए चार मुख, जटाजूट या यज्ञोपवीत और कमण्डलु सहित ऋषि मूर्ति, स्रुक-स्रुवा सहित पुरोहित, वैदिक ज्ञान-विज्ञान

सहित प्रजापति, कमल दिव्य राजहंस था (जो वेदों में इन्द्र का रूप था; १०।१२४।९ हंस निचिक्युः कवयो मनीषा और परिहंस, हिरण्य पक्ष शकुनि अथर्व १०।८।१८ में कहा गया है)। मानसरोवर = ब्राह्मसर + अमृत कमण्डलु + सरस्वती + घटोदर, सावित्री या शतरूपा जो वैदिक अदिति का रूप थी।

ब्रह्मा के चार मुख चार दिशाओं के प्रतीक थे जिनसे स्वस्तिक का रूप संपन्न होता था। ऋग्वेद में चार दिशाओं का उल्लेख अनेक बार आता है (तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः, १।१६४।४२)। चार समुद्र और चार दिशाओं के नानात्व को लेकर ही पुराणों में सुमेरु के चार तटान्तों की कल्पना की गई जिनमें अपने-अपने सरोवर, अपने-अपने द्वीप, पर्वत, नदी, पशु, देवता आदि हैं। इन विभिन्नताओं की समष्टि चतुर्मुख ब्रह्मा की रचना या विश्व है।[1]

ब्रह्मा अग्नि-प्रजापति का रूप थे जिनके लिए यज्ञवेदी की रचना की जाती थी। वे चारों ऋत्विजों के प्रतिनिधि बनकर ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विज् के रूप में यज्ञ के अध्यक्ष माने जाते थे। चारों वेदों की वाणियों का पर्यवसान ब्रह्मा में है (ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम, ऋ० १।१६४।३५)। इसीलिए ब्रह्मा के हाथ में वेदों की पुस्तक भी दिखाई जाती है। ब्रह्मा के कृष्णाजिन, जटा, यज्ञोपवीत और पद्मासन का समन्वय आदर्श ब्राह्मण तपस्वी रूप से था जिसकी कल्पना प्राचीन वैदिक युग में ही हो चुकी थी। यक्षों को ही अथर्ववेद में ब्रह्म कहा है और ब्रह्मा के घटोदर और अमृतघट लक्षण वहीं से लिए गए। ब्रह्मा का मानसरोवर सृष्टि के आपः, सलिल या समुद्र का सूचक था। ये जल मातृरूप हैं और वे जब गर्भ धारण करते हैं तो मानों प्राणरूपी हंस उनके ऊपर तैरने लगता है अथवा वही लोक पद्म के रूप में उतराता आता है जो ब्रह्मा का आसन है। ब्रह्मा की पत्नी शतरूपा यही नाना रूप वाली अनन्त प्रकृति है। इसे ही सावित्री, सरस्वती, गायत्री, ब्रह्माणी कहा गया है—

> शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते ३।३१।
> सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परंतप।
> ततः स्वदेहसंभूतामात्मजामित्यकल्पयत्॥ मत्स्य पु० ३।३२

ब्रह्मा का कमण्डलु जिसमें सृष्टि का अमृत कलश भरा हुआ है, जो वैदिक पूर्णघट का प्रतीक है। कुषाण कला में महा चमस के रूप में इसका स्वतंत्र भी निर्माण किया गया।

सूर्य—भारतीय कला में सूर्य के दो रूप हैं। एक चार घोड़ों के रथ पर भारतीय वेश में जैसा बोधगया के वेदिका स्तम्भ पर अंकित है; दूसरा दो घोड़ों के रथ पर उदीच्य वेशधारी सूर्य जैसा मथुरा की आरम्भिक कुषाण कला में मिलता है। सूर्य के परिवार में दण्ड, पिंगल, राज्ञी, निक्षुभा, उषा और प्रत्यूषा का भी गुप्तकाल में अंकन होने लगा। इनमें उषा, प्रत्यूषा भारतीय एवं राज्ञी, निक्षुभा एवं दण्ड-पिंगल ईरानी परम्परा से लिए गए हैं। सूर्य के दाहिने हाथ में कमल और बायें हाथ में ऊना कटार है। रथ में सामने की ओर कभी अरुण की मूर्ति भी अंकित है। रथ में कभी दो कभी चार और कालान्तर में सात अश्व दिखाये जाने लगे। मित्र (मिथ्र) देवता के रूप में सूर्य की पूजा

---

१. चतुर्वर्गं फलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्॥
रघुवंश १०।२२

ईरान से भारत तक प्रचलित थी और शकजातीय कुषाणों के समय में उसका विशेष रूप से प्रचार हुआ। भारतीय लक्षण कमल और ईरानी लक्षण कवच इन दोनों को सूर्य मूर्ति की रचना में स्वीकार किया गया। प्राचीन भारतीय लोकधर्म की सूची में सूर्यमह और चन्द्रमह हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वैदिक युग से ही लोक में सूर्य-चन्द्रमा की पूजा-मान्यता प्रचलित थी। घरेलू चित्रों में भी वे लिखे जाते थे। पह्लवों ने भी उनकी पूजा को प्रोत्साहन दिया। चन्द्रमा की मूर्तियाँ कम हैं, मथुरा कला में मिट्टी के एक ठिकरे पर हिरनों के रथ में बैठे हुए चन्द्रमा का अंकन है। उसकी पत्थर की मूर्ति गढ़वा से प्राप्त शिलापट्ट पर उत्कीर्ण है जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में है।

वैश्रवण कुबेर—अथर्ववेद में वैश्रवण कुबेर उसके पुत्र कावेरक और उसके अनुचर इतर-जन और पुण्य जनों का उल्लेख आया है—तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्, अथर्व-वेद, १०,१४। उच्च धर्म की मान्यता के अनुसार उत्तर दिशा का अधिपति सोम, पूर्व का अग्नि, दक्षिण का इन्द्र और पश्चिम का वरुण था। किन्तु बौद्ध साहित्य और साँची-भरहुत के स्तूपों से ज्ञात होता है कि लोक की मान्यता भिन्न थी, उसके अनुसार पूर्व का लोकपाल धृतराष्ट्र गन्धर्वों का राजा, दक्षिण का कुम्भाण्डों का राजा विरूढ़क, पश्चिम में नागों का राजा विरूपाक्ष और उत्तर में यक्षों का राजा वैश्रवण कुबेर था। इन्हें लोक में चातुमहाराजिक या चार बड़े देवता कहा जाता था। इनके नाम और उनकी पूजा का उल्लेख अथर्व में कई बार आया है, वहाँ उन्हें गन्धर्वाप्सरसः, कुम्भमुष्क (कुम्भाण्ड), नाग, और पुण्यजन कहा गया है—अथर्व वेद, ११।९।१७; अथर्व वेद ८।६।१५।

चार महाराजिक देवों की पूजा-मान्यता सार्वजनिक थी, किंतु उनमें भी कुबेर सबसे अधिक लोकप्रिय था। कालान्तर में वही बचा रहा और तीन भूल में पड़ गये। कुबेर की मूर्ति का यह रूप स्थिर हुआ—कुबेर या कुत्सित शरीरवाला, घटोदर और स्थूलकाय पुरुष, हाथ में नेवला या थैली जिसे नेवले के आकार की होने के कारण नकुली कहा जाता था। समृद्ध अलंकार, हँसतामुखी चेहरा एवं अनेक प्रकार के यक्ष, गण, राक्षस आदि अनुचर या पार्श्वचरों का स्वामित्व, उन्हें किंकर रूप में अंकित किया जाता है (अथर्व वेद ८।८।२२) और सभापर्व में किंकर देवों का उल्लेख आया है। सभापर्व के अनुसार किंकर या गुह्यक कुबेर की वैहायसी या विमान का वहन करते हैं। पश्चिमी भारत के चैत्यगृहों में एवं भरहुत-साँची के स्तूपों पर उन्हें ऊर्ध्वबाहु रूप में इसी मुद्रा में दिखाया गया है।

कुछ काल बाद कुबेर की आकृति धनिक श्रेष्ठी के रूप में अंकित की गई, जिसमें वह गले में मोटा कंठा, कानों में भारी कुण्डल पहने तुंदिल सेठ या महाजन जैसा बनाया गया है। क्रमशः उसे बौद्ध मन्दिरों और चित्रों में अधिक सम्भ्रान्त रूप दिया गया और सम्मान्य स्थान प्राप्त हुआ। यूनानी देवता बाकस की धार्मिक मान्यता भारत में कुबेर पूजा के साथ घुल-मिल गई और कुबेर को आपान-गोष्ठी के मध्य में अंकित किया गया। इस प्रकार की कई प्रभावशाली मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं जिनमें कुबेर कैलास पर बैठे हुए हैं और उनका परिधान भारतीय है। कुबेर की पत्नी हारीती और भद्रा की एक साथ मूर्तियाँ भी मथुरा में बनाई गईं। उनके सामने गहरे और चौड़े मधुपात्र या मधु-कुण्ड रक्खे हुए हैं जो मथुरा में प्राप्त पत्थर के बड़े मधुकुण्डों से मिलते हैं।

राजधानी अलका का घनिष्ठ संबंध कुबेर से जोड़ा गया। वह अलका प्राचीन उत्तरकुरु का ही विकसित रूप था। जैसे उत्तरकुरु में वैसे ही अलका में भी कल्पवृक्षों से वस्त्राभूषण, मधु, शृंगार-

प्रसाधन की नानाविध सामग्री इच्छा मात्र से सुलभ हो जाती है। इस विश्वास का उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है और यह भी लिखा है कि यक्षों के घरों में अक्षय निधियों का कोष है। अलका में कुबेर का वैभ्राज वन माना गया जैसा उत्तरकुरु का पारिजात नामक उद्यान था। प्राचीन उत्तरकुरु संबंधी लोकधर्म की कल्पना विकसित होती हुई अलका के रूप में प्रतिष्ठित हुई। हारीती, रेवती और जातहारिणी की लोकमान्यता का भी कुबेर की मान्यता से मेल हुआ। हारीती तो कुबेर जम्भल या पांचिक की पत्नी ही मानी गई और इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ मथुरा और गंधार में बनीं। हारीती के दो रूप थे—एक घोर और दूसरा भद्र। आरम्भ में वह घोर या भीमा देवी थी। राजगृह में जरा नाम की राक्षसी और कुरुक्षेत्र में उलूखल-मेखला नाम की यक्षी उसी के रूप थे। ये मांस-शोणित से तृप्त होती थीं। होती मर्दान के पास भीमादेवी भी उसी का रूप था। किंतु बौद्ध धर्म के साँचे में ढलकर वह शिवात्मक बन गई और मगध से गंधार तक बच्चों की रक्षक देवी के रूप में वह सर्वत्र फैल गई। ऋग्वेद में बहुप्रजा निर्ऋति देवी का उल्लेख है। उसी की परम्परा लोक में बहुपुत्रा हारीती या भद्रा के रूप में विकसित हुई। किसी देवी या देवता के स्वरूप को लोक में देशकाल विशेष में कोई घढ़ने नहीं बैठता, किंतु कालक्रम से स्वतः ही लोक विश्वास के साँचे में वे ढलते रहते हैं। इसके अध्ययन में कला के रूपों से विशेष सहायता मिलती है।

जैसा हम ऊपर लिखा चुके हैं यक्ष और यक्षी महत्त्वपूर्ण लोकदेवता थे। उनकी पूजा का व्यापक प्रचार था। सच तो यह है कि वे आज भी वीरों या यकसों के नाम से कश्मीर से केरल और बंगाल से सौराष्ट्र तक पूजे जा रहे हैं। साहित्य उनके उल्लेखों से भरा हुआ है। पुष्कलावती से सूर्पा-रक तक और द्वारावती से तोसली तक के विशाल भूप्रदेश में पूजे जानेवाले यक्षों की नयी सूचियाँ बनाई गईं, जैसी महामायूरी विद्याराज्ञी ग्रंथ में है। स्तूपों की वेदिका पर अनेक यक्षियों का चित्रण नाट्य-स्त्रियों के रूप में या शालभंजिका मुद्रा में किया गया। यह स्वाभाविक आदान-प्रदान किसी दबाव से नहीं हुआ, किंतु लोक-मानस की स्वाभाविक प्रेरणा और रुचि से हुआ। इन विशिष्ट मुद्राओं को ही हम अष्टकन्या, षोडश कन्या या बत्तीस नाटकस्त्रियों के रूप में देखते हैं। आगे चलकर इन्हीं को उड़ीसा के मंदिरों पर अलस कन्याओं के रूप में, या राजस्थानी मंदिरों पर प्रेक्षाणिका रूप में, या सौराष्ट्र के मंदिरों पर सुरसुंदरी देवांगना या अप्सराओं के रूप में और खजुराहो में मदनिकाओं के रूप में देखते हैं। इनके रूपों और नामों में परिवर्तन हुआ किंतु शिल्प के मूल रूपों के स्रोत में परि-वर्तन नहीं हुआ।

संस्कृत के मार्गीय युग में प्राचीन प्रतीकों और धार्मिक मान्यताओं को मूर्ति शिल्प के लिए नए रूपों में प्रयुक्त किया जा रहा था। उसी का सुन्दर फल अनेक देव प्रतिमाओं के रूप में प्राप्त हुआ जो आज भी उपलब्ध है।

नागदेवता—यक्ष पूजा के समान नाग पूजा भी लोकप्रिय, व्यापक और कुण्डलों के साथ अधिकांश पुरुष विग्रह में थी। नागविग्रह की मूर्तियाँ बहुत कम हैं। उनके दाहिने हाथ की अभयमुद्रा उनके देवत्व पद की सूचक है। उनके बाएँ में हाथ में प्रायः चषक देखा जाता है। भरहुत कला में नाग देवताओं को जल से निकलते हुए दिखाया गया है। वाल्मीकि रामायण और दिव्यावदान के अनुसार उनकी संज्ञा उदकनिःसृत देव थी और उनकी गिनती पाँच रक्षा-पंक्तियों में की जाती थी। कुषाण काल में उन्हें तड़ाग और पुष्करिणी के तट पर स्थापित किया जाने लगा, क्योंकि वे पृथ्वी के नीचे

की जलधाराओं के अधिष्ठातृ देवता माने जाते थे। उनका स्वामी विरूपाक्ष चार लोकपालों में था। संभावना यही है कि नागपूजा यक्षपूजा से भी अधिक प्राचीन है और यक्ष स्थानों की भाँति नाग स्थान भी देश भर में फैले हुए थे।

सप्तमातृका—नागों की देवी मनसा के बहुत से स्थान और लोकगीत हैं। कालबेलिये जैसे इनके बहुत से सम्प्रदाय भी हैं। सात माताओं की पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में ही आता है, वहाँ उन्हें सप्तमातरः कहा जाता है। उन्हें सप्तस्वसारः या सात बहनें भी कहा जाता था। वे ही सात अप्सराएँ थीं, जिनमें उर्वशी मुख्य थी। लोक कथाओं में उन्हें सात अछरा माई कहा गया है। ये सात माताएँ एक महीमाता अदिति के ही सात रूप थे। वह सात आदित्य देवों की माता थी। अदिति ही आगे चलकर बड़ी-बड़ी देवियों के रूप में विकसित हुई, जैसे—सावित्री, सरस्वती, ब्रह्माणी, लक्ष्मी, पार्वती। भारतवर्ष के धर्मों और कलाओं में देवियों का प्रमुख स्थान है। आर्यावती, कोट्टवी, षष्ठी, चर्चिका, दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी आदि देवियों में रूपभेद और युगभेद है, किन्तु उनकी मूल कल्पना का सूत्र एक ही है जैसा प्रत्येक के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से ज्ञात होता है। कुषाण और गुप्तकाल में सप्तमातृकाओं की बहुत-सी मूर्तियाँ बनीं और उनका साहित्यिक उल्लेख भी बहुत बार आता है। पर हम देखते हैं कि प्राचीन सात माताओं को अब एक नये साँचे में ढाला गया और उन्हें सात नये देवताओं की शक्तियों के रूप में अंकित किया गया। जैसे—ब्रह्माणी, विष्णु की वैष्णवी, शिव की माहेश्वरी, वराह की वाराही, नरसिंह की नारसिंही, कुमार की कौमारी और यम की चामुण्डा। कुषाणकाल में मातृका पट्ट सीधे-साधे थे, पर आगे चलकर उनमें पृथक् आयुध और वाहनों का अंकन होने लगा। देवीमाहात्म्य में उनके विकसित रूपों का वर्णन है। चामुण्डा घोर मातृका थी। वह प्रेतवाहना, शुष्कस्तनी और कंकालरूपिणी दिखायी जाती है जो सम्भवतः वैदिक कृत्या ही विकसित परम्परा में थी।

अन्य छुटभैये देवता—कितने ही प्राचीन उपदेवताओं का सम्बन्ध महान् देवों के साथ कल्पित करके उन्हें लोकधर्म की पूजा-मान्यता में स्वीकार किया गया। ये कुछ देवता इस प्रकार थे—किन्नर, सुपर्ण, गंधर्व, विद्याधर।

ऐसे ही कुछ प्राचीन प्रतीक भी थे। जैसे—ऋद्धिशृङ्ग जिसे शक देवी आरडक्सो और लक्ष्मी के प्रतिमा लक्षण में ग्रहण किया गया। अथर्ववेद में वधू की शोभायात्रा के प्रसंग में हाथ में शृंग या विषाण लिये हुए व्यक्तियों के चलने का उल्लेख है (हस्ते शृंगाणि बिभ्रतः)। राम के अभिषेक के प्रसंग में कुरंग शृंग का उल्लेख है (अयोध्या १६-२३)। सुग्रीव के अभिषेक के समय ऋषभशृंग का वर्णन है (किष्किन्धा २६.२४), कर्णपर्व में हाथियों के दाँत, गैंडे के सींग और बैलों के सींग का उल्लेख है जिनमें जल भरकर तोयपूर्ण विषाण मांगलिक कार्यों में काम में लाया जाता था। इन्हें मणिशुक्तियों से सजाया जाया था जिससे वे भद्र चिह्नों के रूप में और भी अच्छे लगें। आरडक्सो नना देवी का ही शक भाषागत रूप था और कुषाण मुद्राओं पर उसके हाथ में ऋद्धिशृंग या विषाण दिखाया जाता है जो आगे चलकर कुछ लक्ष्मी मूर्तियों में भी अंकित किया गया।

भद्रमणि—भद्रमणि या मांगलिक मणि का सम्बन्ध एक ओर मणिभद्र के कोष से था और दूसरी ओर वह चक्रवर्ती सम्राटों के राजप्रासाद के मध्य में रक्खी जाती थी। कुबेर का सखा मणिभद्र जो इस मणि का रक्षक था सार्थवाहों का अधिष्ठातृ देवता माना जाता था। मणिभद्र के भक्तों

की एक गोष्ठी पद्मावती या पवाया में थी। मथुरा के परखम गाँव में मिली यक्ष मूर्ति मणिभद्र की है। यह भद्रमणि समुद्र मंथन से उत्पन्न कौस्तुभ मणि ही थी जिसे नारायण विष्णु ने अपने कंठ में धारण किया और यही चिंतामणि हुई जिसे देवताओं के मुकुट में अंकित किया गया। भद्रमणि की पूजा-मान्यता का विकास चौदह रत्नों के रूप में हुआ और कालान्तर में अपने-अपने वर्ग में प्रवर या श्रेष्ठ वस्तुओं का परिगणन उसी मान्यता के अंतर्गत किया जाने गया। लोक-विश्वास में मणियों का सम्बन्ध नाग देवताओं से जोड़ा गया। वरुण के वाहन और समुद्र के जलचर जीवों के स्वामी मकर की दंष्ट्राओं में भी मणियों का निवास माना गया। कई स्थानों पर यक्ष देवताओं को मकरमुखकुहर से मणियों का समुद्धरण करते हुए दिखाया गया है। भद्रमणि को अमृतत्व और समृद्धि का प्रतीक भी माना गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनेक छोटे-बड़े देवों की स्वरूप-कल्पना और मूर्ति रचना में प्राचीन धार्मिक मान्यताओं और मांगलिक प्रतीकों से भरपूर लाभ उठाया गया। नये भागवत धर्म के वेगशाली आन्दोलन में इस प्रकार की सार्वजनिक प्रवृत्ति को पूरा स्थान मिला। कुषाण और गुप्तकाल के प्रतिमा लक्षणों का सूक्ष्म अध्ययन भारतीय कला के घनिष्ठ परिचय के लिए कल्पवृक्ष के समान है। वैदिक युग से चली आती हुई लोकमान्यताएँ महासमुद्र के समान थीं, उनके मंथन से धर्म और कला के क्षेत्र में अनेक रत्न प्राप्त किए गए।
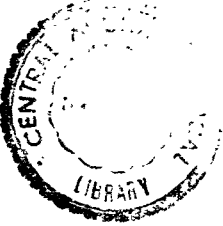
१ हड़प्पा दुर्ग : खुदाई के समय उत्तर-पश्चिमी भाग

२ हड़प्पा दुर्ग के उत्तरी सिरे से दृश्य जिसमें सामने कर्मकरों के चबूतरे तथा प्राचीन नदी घाटी है
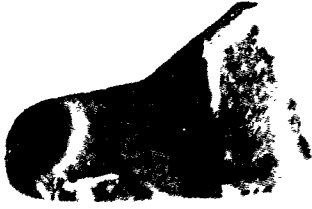
२६–३४ पत्थर, काँचली मिट्टी तथा मिट्टी की विविध वस्तुएँ, मोहनजोदड़ो

३९

३८

३५

३७

३६

३५–३९ पत्थर, काँचली मिट्टी तथा मिट्टी की विविध वस्तुएँ, मोहनजोदड़ो
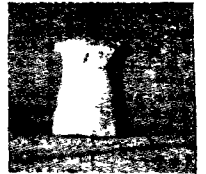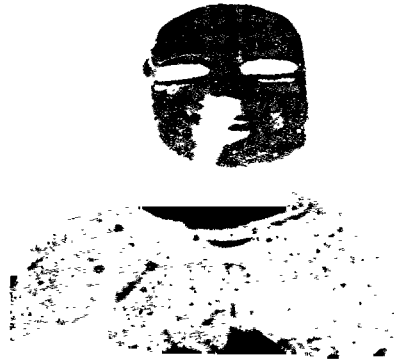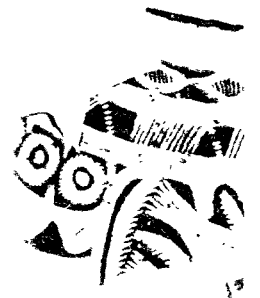
४०–४६ पत्थर की जाली, मिट्टी की मूर्तियाँ तथा मृत्पात्रों के टुकड़ों पर प्राप्त अभिप्राय, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा झोब

८७ प्राचीन आहत कार्षापण
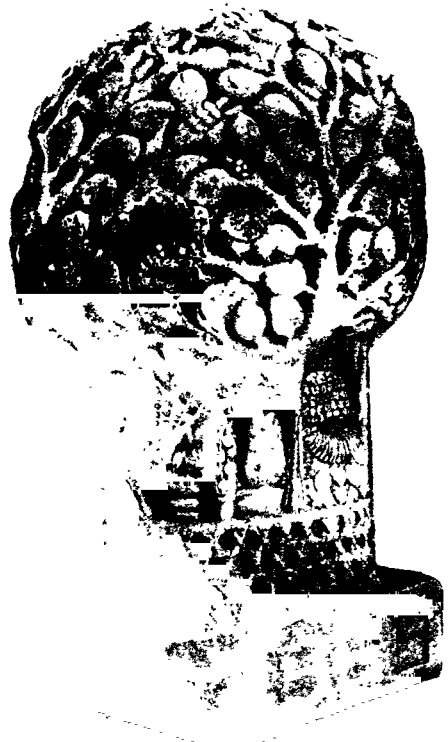
८८ कल्पद्रुम, बेसनगर

८९ त्रिमुख यक्ष, राजघाट
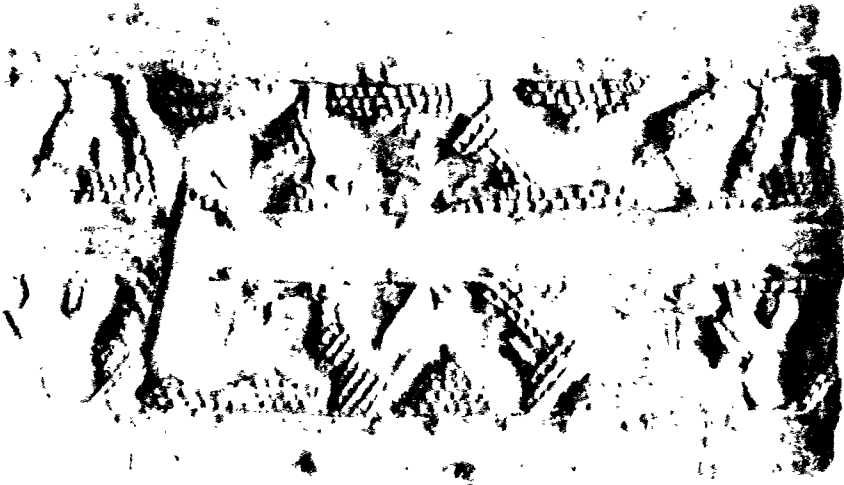
५० पत्थर की लंबोतरी गोल मुद्रा, राजघाट

५१ वही
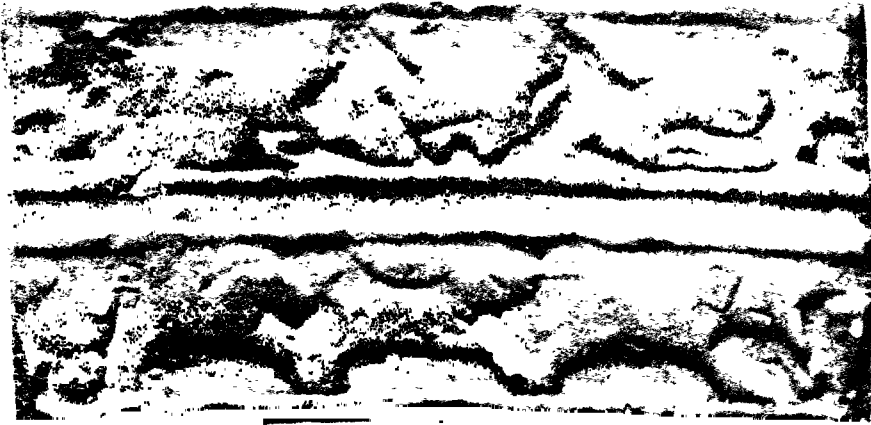
५२ शाल-प्राकार, बुलंदीबाग, पटना
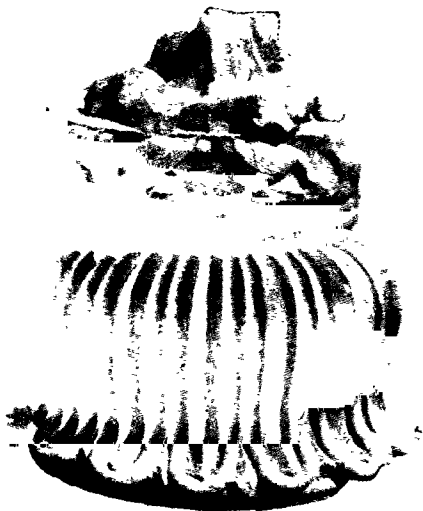
५३ सिंहशीर्षक, अधोभाग, रामपुरवा
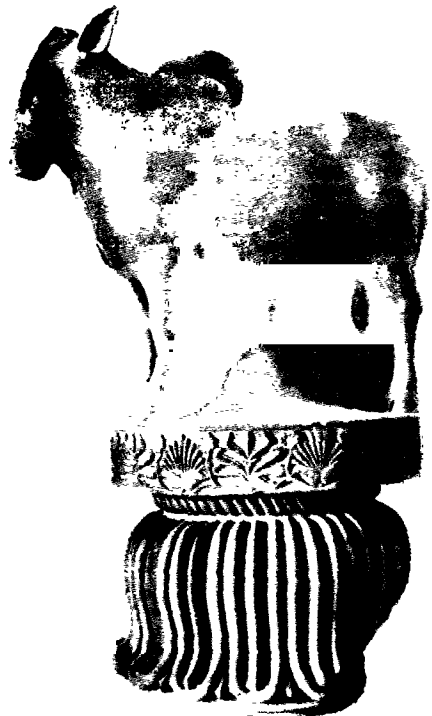
५४ वृषशीर्षक, रामपुरवा
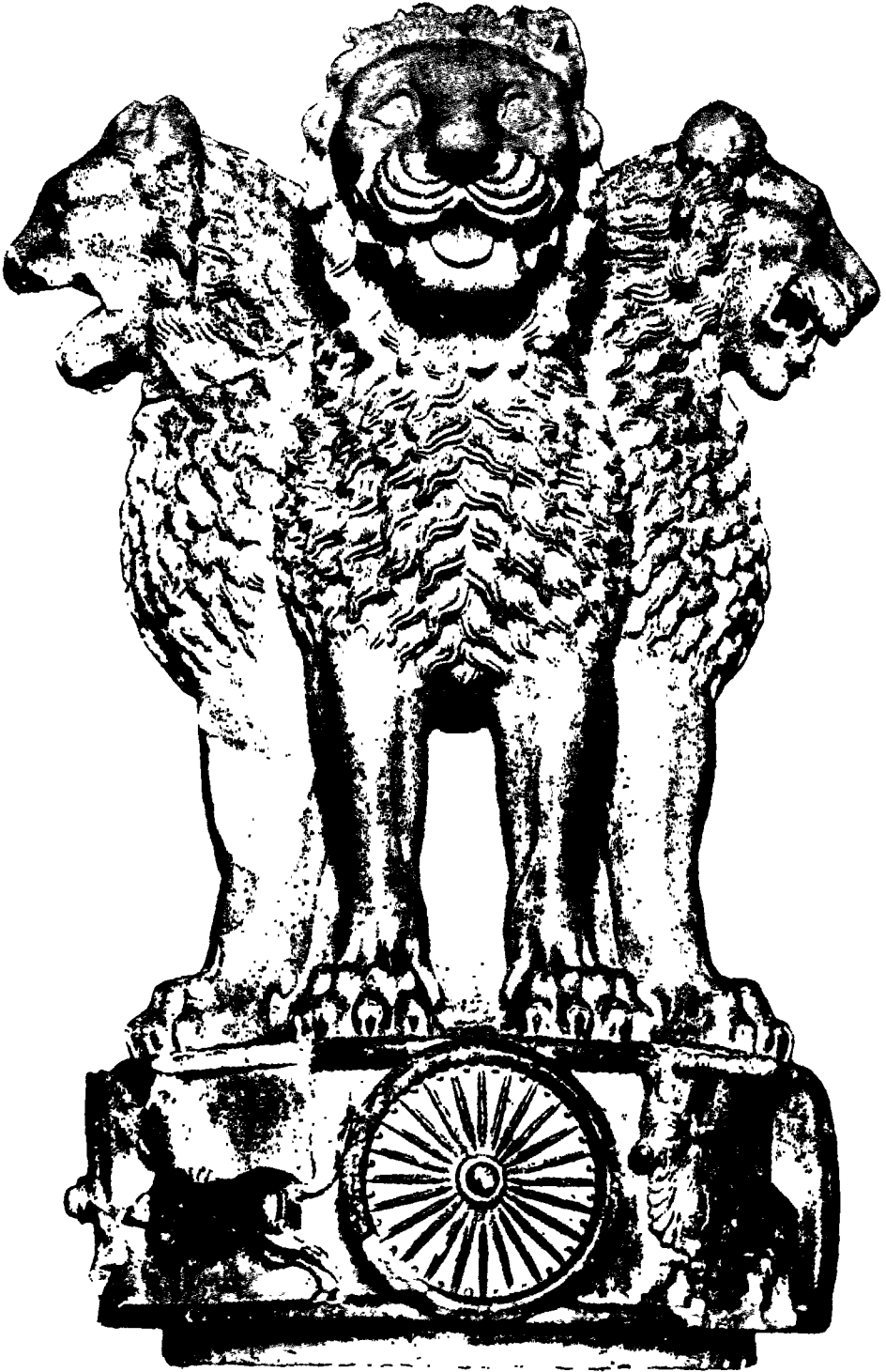
११ सिंह शीर्षक, सारनाथ

५६ गुहा का मुहार, लोमस ऋषि गुहा

५८ यक्ष, बम्बई

५७ मनुष्य शीर्ष, सारनाथ

५९ यक्षी, मेहरौली

६० दोमही यक्षी
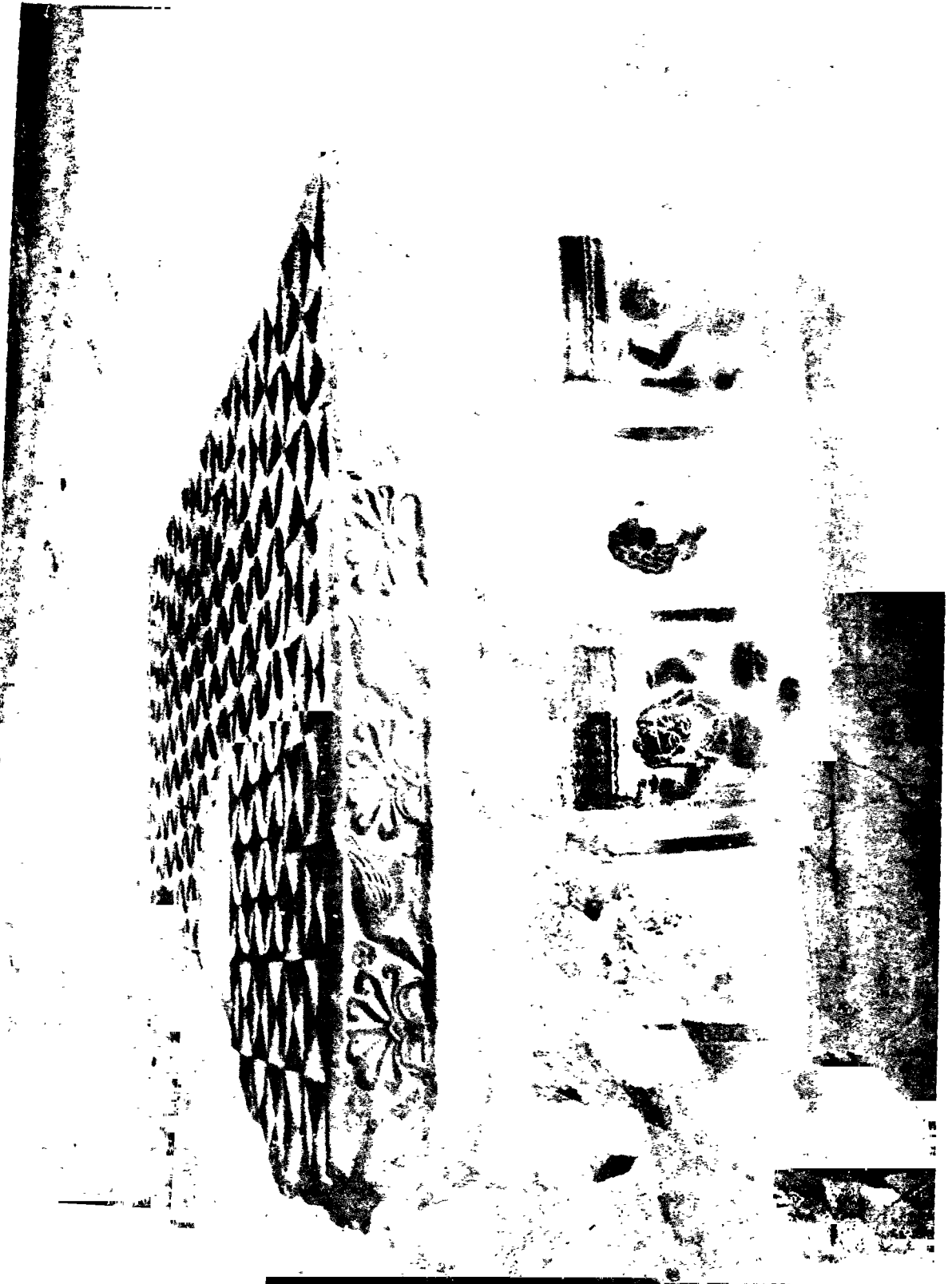
६२ पत्थर की वेदिका, पटना
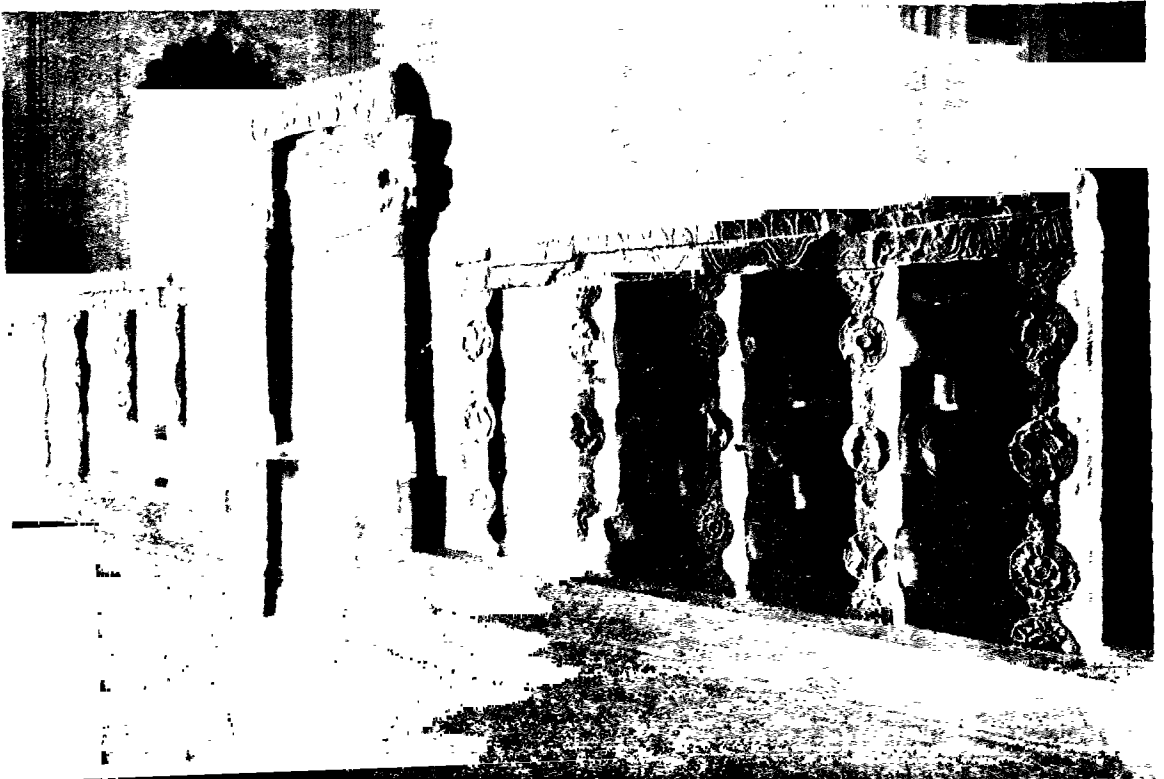
६३ मथुरा के प्राचीन जैन स्तूप की पुनर्निर्मित वेदिका
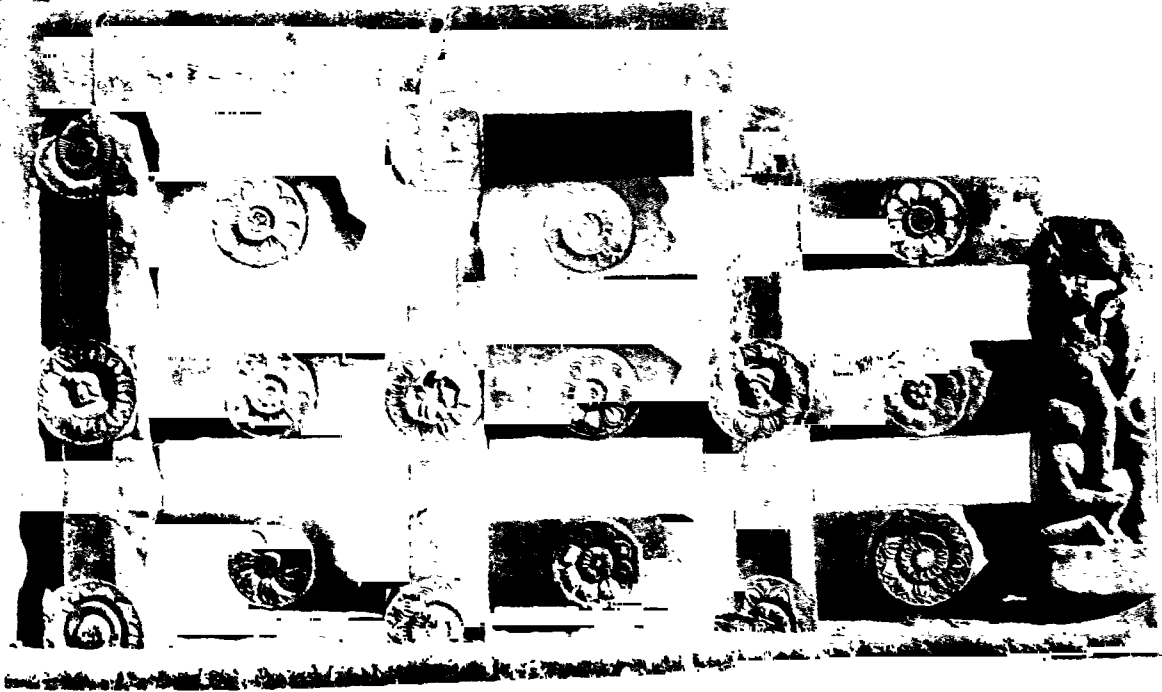
६४ प्रस्तर वेदिका, बोधगया
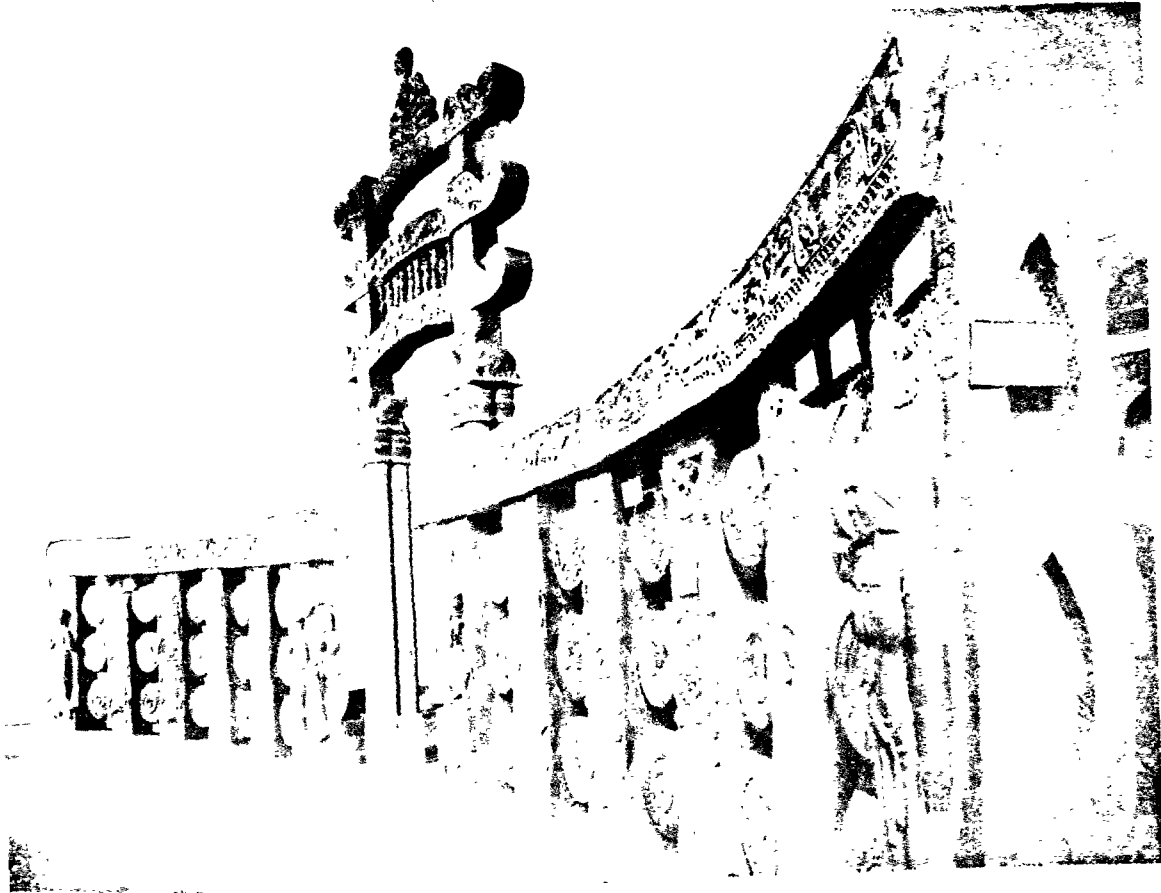
६५ भरहुत स्तूप की पुनर्निर्मित वेदिका

६६ हंसतामुखी बालिका, पटना

६७ नर्तकी, बुलंदीबाग

६८ मातृदेवी, मथुरा

६९ नारी रुण्ड, गोलकपर

७० मुदर्गना यक्षी भरहुत स्तूप

७१ चूलकोका देवता

७३

७४ वेदिका पद्मक, भरहुत

सांची
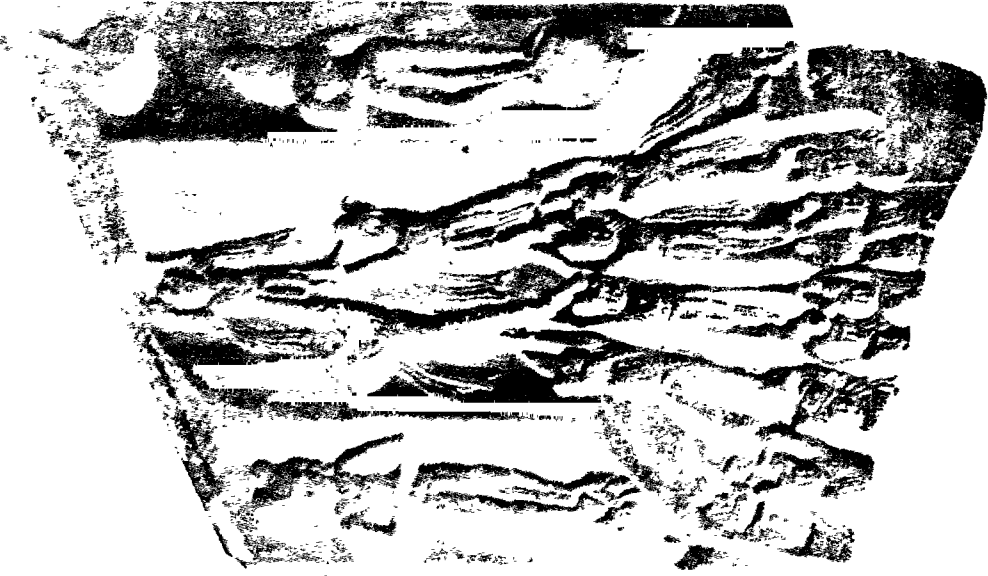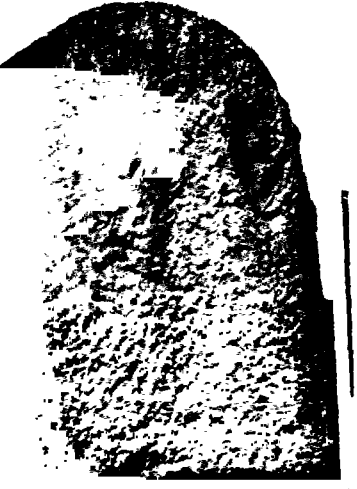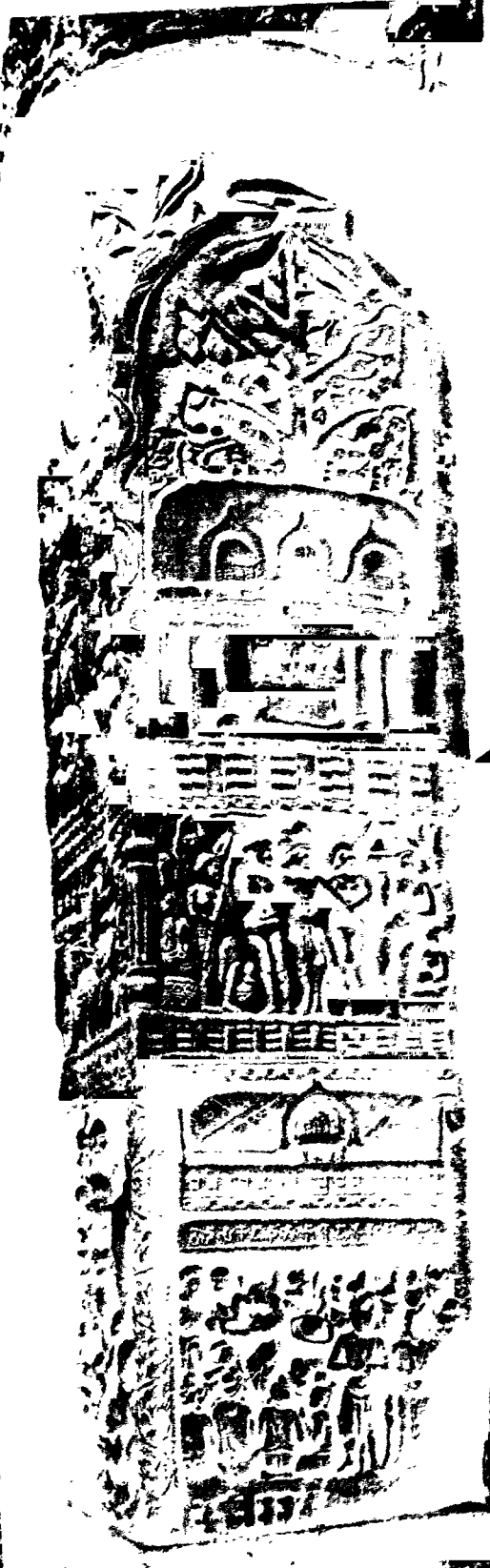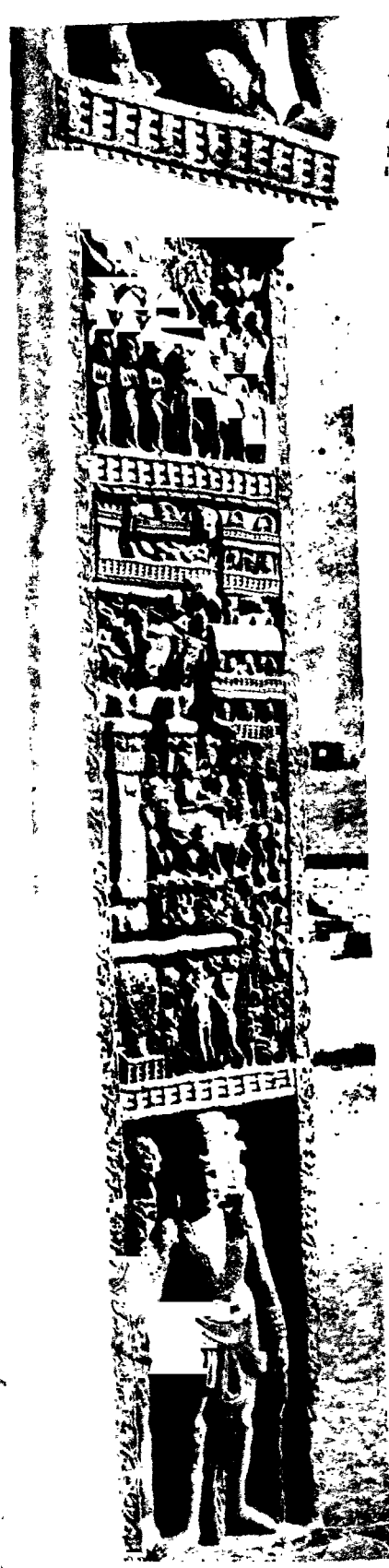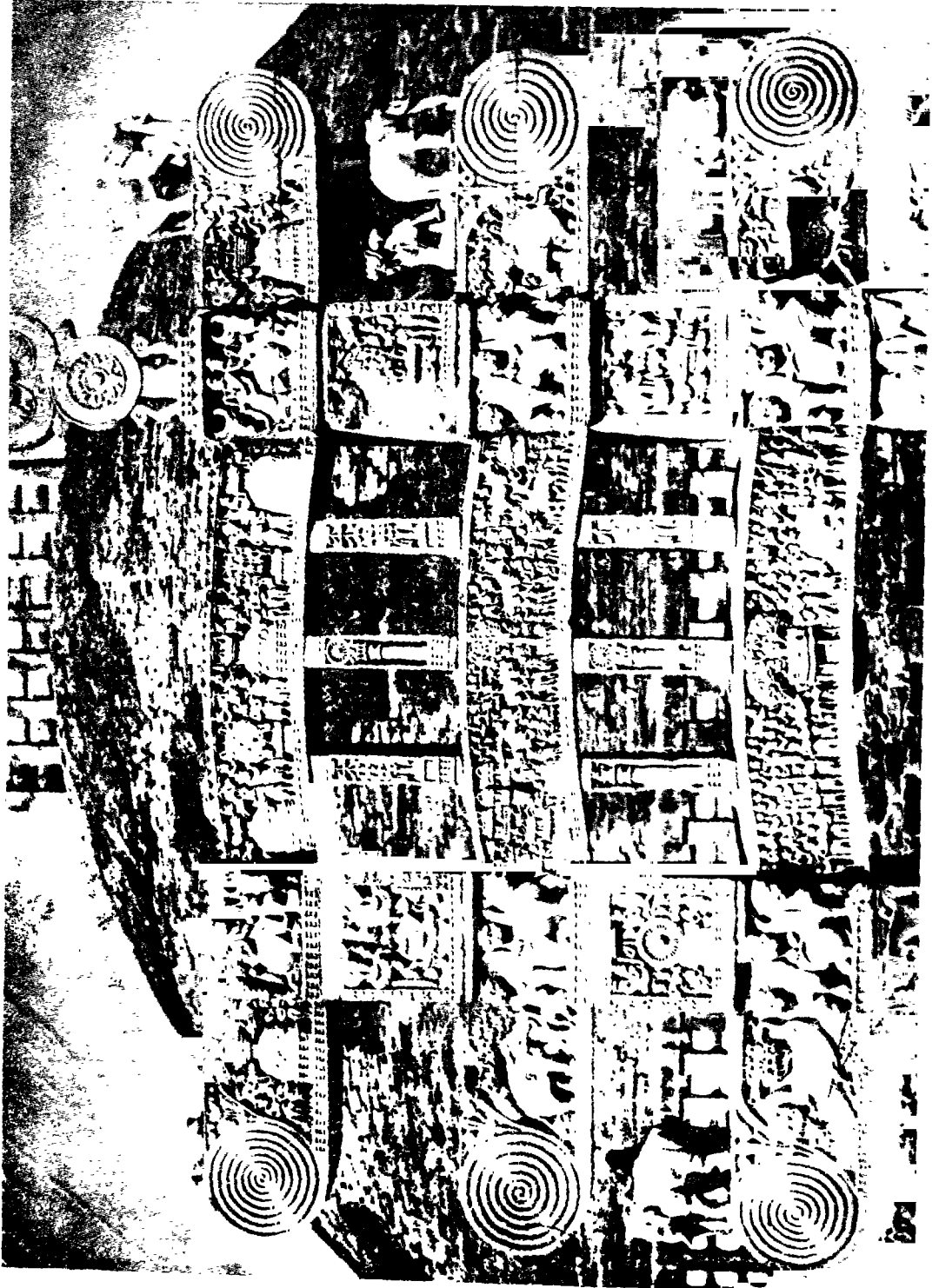
७७ महास्तूप का पूर्वद्वार, साँची
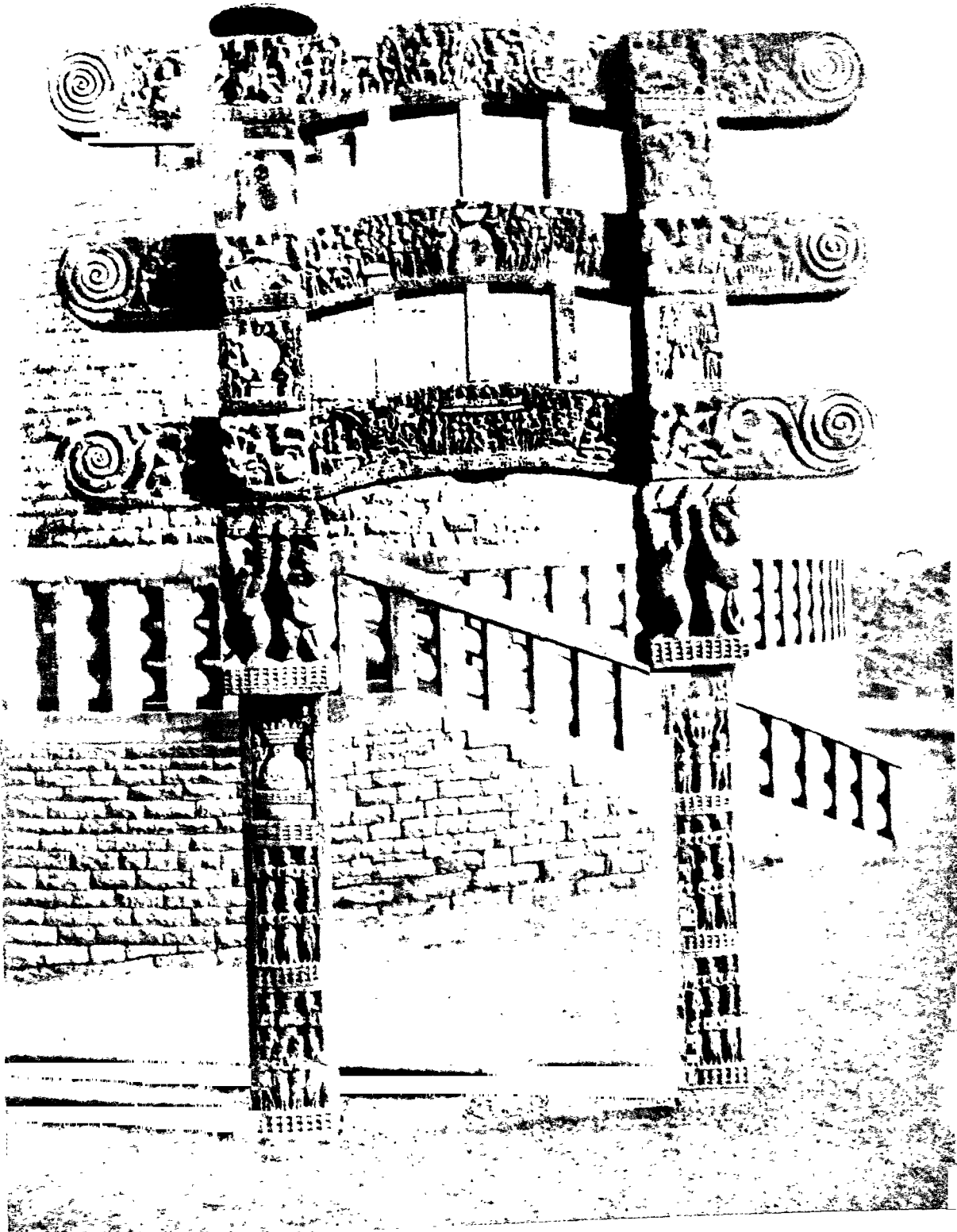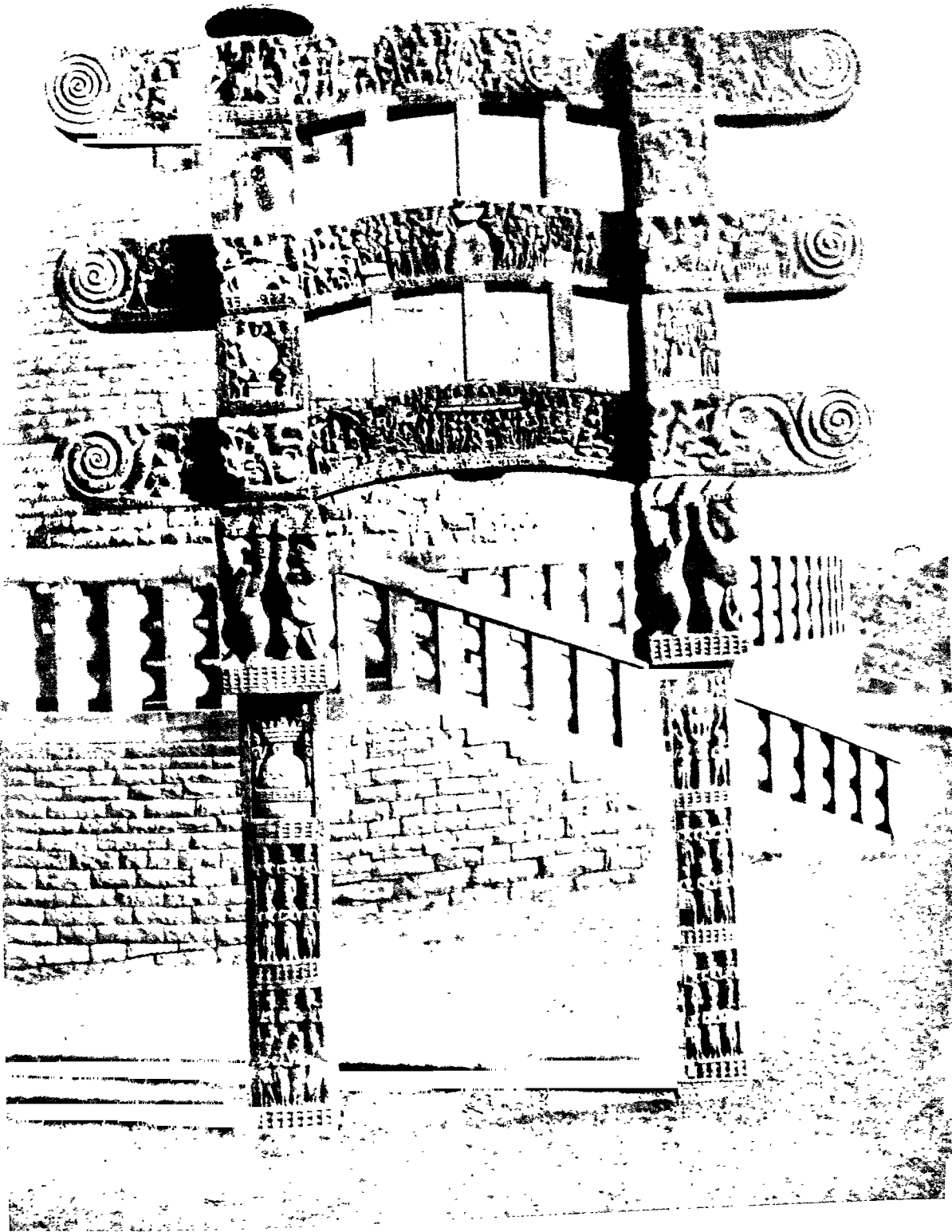
७८ स्तूप तीन का तोरण, साँची

७८ स्तूप तीन का तोरण, सांची

७९ वामन संघाट, सांची
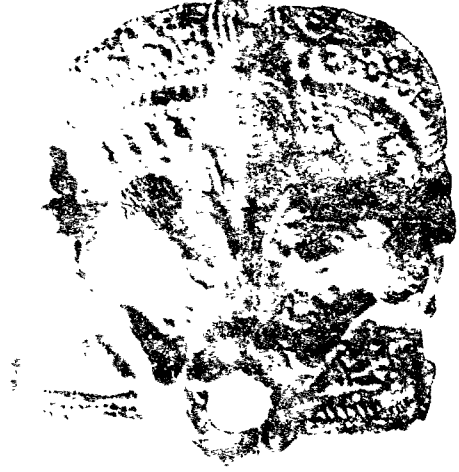
८१ वृषभ, मृण्मूर्ति, कौशाम्बी

८० सिंह संघाट, साँची

८२ देवता, मृण्मूर्ति, कौशाम्बी

८३

८४

उत्तरकुरुमें मांधाता
भाजा चैत्यघर, द्वि० शती ई० पू०
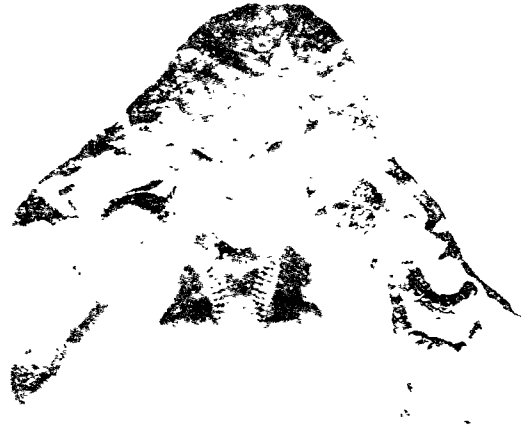
विहार नं० २० का अनरंग शिल्प, भाजा

८५

८६

८७
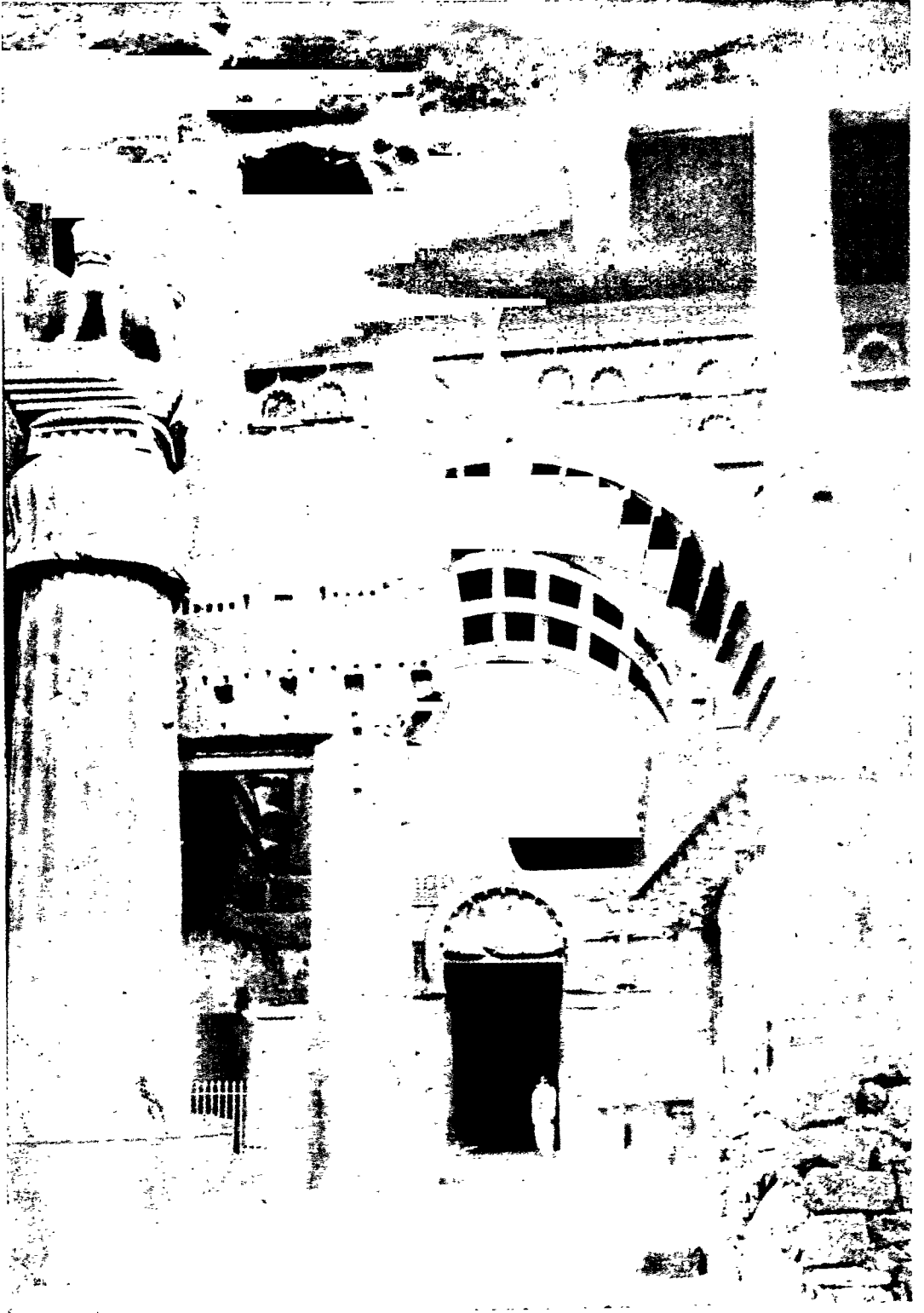
८८ कीर्तिमुख एवं कीर्तिस्तंभ कार्ले चैत्यघर, द्वि० शती ई० पू०

८९ ऊपरी मंजिल में शिल्प-पंक्ति, रानीगुम्फा, उड़ीसा

९०

मथुरा

९१

९२ वृष्णिवीर, मथुरा ९३

९५

९४ मथुरा ९६

९७

९८

९९

१००

मथुरा कला

१०१

१०२

१०३

१०४

१०५
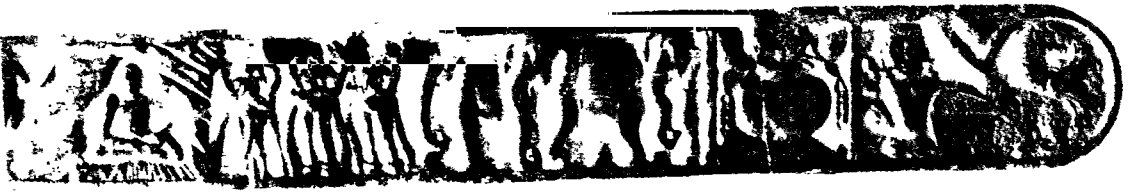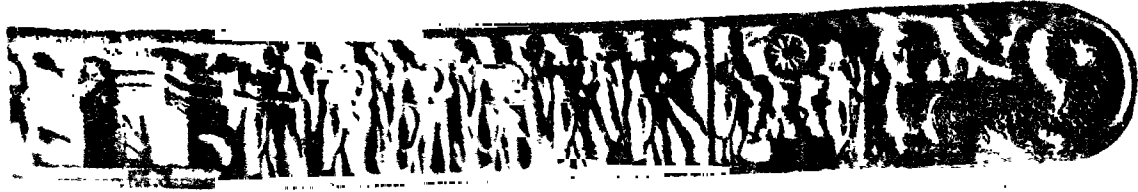
१०६

१०७

१०८

१०९

उत्कीर्ण वास्तुखंड,
मथुरा

११०

१११

लेखयुक्त बोधिसत्त्वमूर्तियाँ, मथुराकला

११३ स्थानक

११४ पद्मासनस्थ

११२ स्थानक

११५

११६

११८

मथुरा

११७

११९
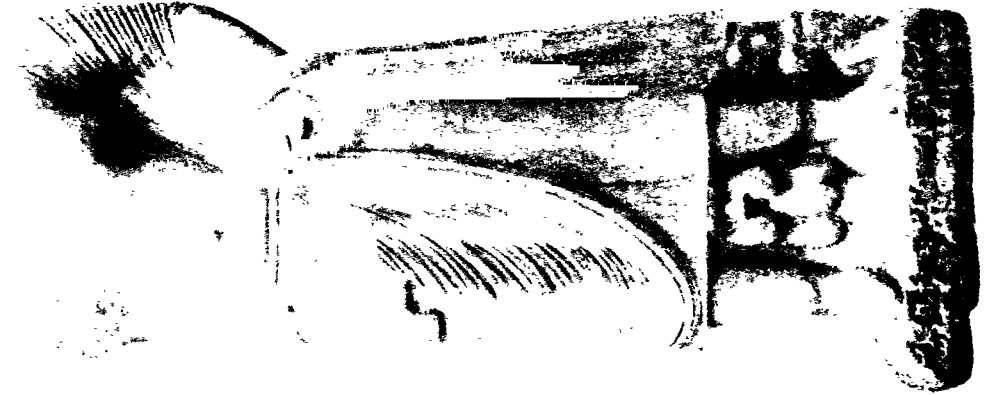
१२०
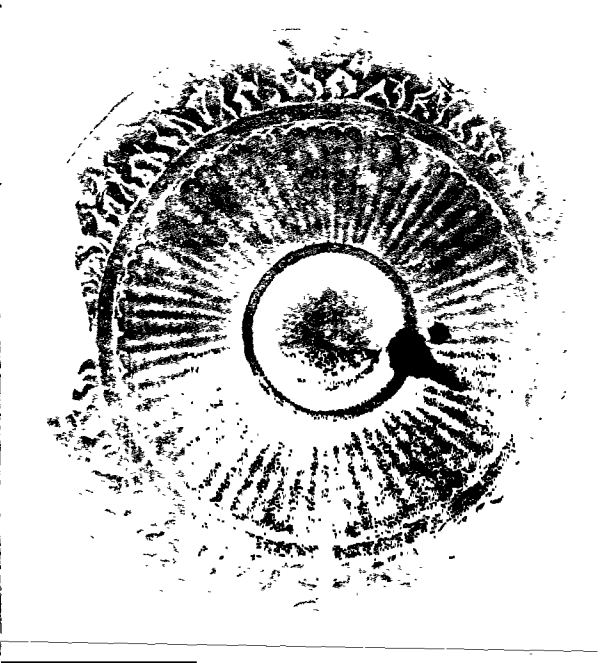
१२१

१२३

१२२

१२०–२२ चाँदी की तश्तरियाँ, प्राप्तिस्थान अज्ञात, १२३ लम्प्सकस से प्राप्त

१२५

१२४

आभूषण

१२६

१२७

१२८

गंधार शिल्प, द्वि० शती

स्त्रीशीर्ष, गचकारी, ५वीं शती

१२९